राजनीति और दर्शन

[राजनीतिशास्त्र का दार्शनिक विवेचन]

डॉ० विश्वनाथप्रसाद वर्मा
[पटना-विश्वविद्यालय]

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
पटना—३

प्रकाशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
सम्मेलन-भवन, पटना—३

प्रथम संस्करण; वि० सं० २०१३; सन् १९५६ ई०

मूल्य—१२॥) सजिल्द १४)

मुद्रक
मोहन प्रेस
पटना—३

समर्पण

ईश्वरभक्ति, सदाचार और सरलता की साक्षात् मूर्ति
परम आदरणीय पूज्य पिता
श्री रामचरित्रप्रसादजी (१८८९–१९५६ ई०)
की पवित्र स्मृति में

वक्तव्य

बिहार-राज्य के शिक्षा-विभाग के तत्त्वावधान में यह परिषद् पाँच-छः साल से हिन्दी-साहित्य की अभाव-पूर्त्ति का यथाशक्य प्रयत्न कर रही है।

उस शुभ प्रयत्न में सफलता पाने के लिए यह परिषद् अनुसंधान-परायण विद्वानों से गवेषणापूर्ण ग्रंथ लिखवाने अथवा प्राप्त करने के अतिरिक्त प्रतिवर्ष विशिष्ट विषयों पर विशेषज्ञ विद्वानों से भाषण भी कराती और उन्हें ग्रंथाकार में प्रकाशित करती है।

यह ग्रन्थ भी एक स्वाध्यायशील विद्वान् का भाषण ही है। ग्रन्थकार ने अपनी भूमिका में भाषण-सम्बन्धी सभी ज्ञातव्य बातों का उल्लेख कर दिया है। आशा है कि उन्होंने भारतीय राजनीतिज्ञों और दार्शनिकों के विषय में जो कई विचारणीय और विचारोत्तेजक बातें लिखी हैं, उनकी ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुए बिना न रहेगा।

ग्रन्थकार बिहार-राज्य के सारण जिले के निवासी, एक प्रखर वक्ता और मननशील लेखक हैं। राजनीति और दर्शन का सुन्दर समन्वय उपस्थित करके उन्होंने अपनी विद्वत्ता और प्रतिभा का प्रशंसनीय परिचय दिया है। इस ग्रन्थ पर ग्रन्थकर्ता को बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से १९५५–५६ का, एक सहस्र मुद्रा का, ग्रन्थपुरस्कार भी मिला है।

हमें विश्वास है कि राजनीतिशास्त्र का यह दार्शनिक विवेचन राजनीति और दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन करनेवाले सुधी पाठकों के लिए यथेष्ट उपयोगी सिद्ध होगा।

रामनवमी, सं० २०१३ वि०

शिवपूजन सहाय
(परिषद्-मंत्री)

विषय-सूची

भूमिका

सन् १९४० से १९४५ ईसवी तक मैं विश्व के इतिहास का अध्ययन करता रहा। इन पाँच वर्षों में मैं इतिहास का ही मुख्यतः विद्यार्थी और प्राध्यापक था। इस समय मैंने अनुभव किया कि मानव-जीवन की मूल समस्याओं और लक्ष्यों का समाधान इतिहास से नहीं होता। मैंने ऐसा भी देखा कि इतिहास का लेखन बहुधा असत्य से ग्रस्त रहता है। अतः मैंने दर्शनशास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ किया। सन् १९४५ से १९४७ ईसवी तक मैंने बौद्धधर्म और वेदान्तदर्शन का अध्ययन किया। अनेक पंडितों और दार्शनिकों की सहायता से त्रिपिटक का भी अध्ययन किया। इस अध्ययन के फलस्वरूप मैंने 'बौद्धदर्शन के उद्भव' पर एक महानिबंध (थिसिस) लिखा। सन् १९४७ में मैं अमेरिका चला गया, और, इसीलिए वह महानिबंध अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका है।

वेदान्तदर्शन और बौद्धधर्म के अध्ययन के क्रम में मैंने यह अनुभव किया कि हमारे देश के दार्शनिकों और यूरोप के दार्शनिकों में एक बड़ा अन्तर है। प्लेटो, अरस्तू, काण्ट तथा हैगेल महादार्शनिक थे; किन्तु साथ-ही-साथ सामाजिक और राजनीतिक विचारों के इतिहास में उनकी देन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यदि कहा जाय कि ये चार दार्शनिक यूरोपीय राजनीतिशास्त्र में प्रकाशस्तम्भ और युग-विधाता हैं तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। किन्तु हमारे देश में बुद्ध, नागार्जुन, शंकर, पतंजलि और शान्तरक्षित की कोई सम्बद्ध राजनीतिक और सामाजिक विचारधारा उपलब्ध नहीं होती। बौद्ध-ग्रंथों में छिटपुट, बुद्ध के राजनीतिक कथन, अवश्य उपलब्ध होते हैं। शंकर ने अपने भाष्यों में तत्कालीन समाजव्यवस्था का समर्थन अवश्य किया है। किन्तु राजनीतिशास्त्र के मूलभूत प्रश्न—संप्रभुता, विधि, न्याय, राज्य आदि पर भारतीय दार्शनिकों की कुछ उल्लेखनीय देन नहीं है। दूसरी ओर जिन अर्थशास्त्रकारों और स्मृतिकारों—कौटिल्य, कामन्दक, शुक्र, मनु, याज्ञवल्क्य आदि—ने राजनीति पर विचार किया है, वे कोई महान् दार्शनिक नहीं थे। संक्षेप में कह सकते हैं कि हमारे देश में एक ओर तो महान् दार्शनिकों

की परम्परा है और दूसरी ओर अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्रकारों की ; किन्तु दार्शनिक राजनीतिशास्त्रवेत्ताओं (Political philosophers) की नितान्त कमी है। कितना अच्छा होता कि वाचस्पति, दिङ्नाग, शांतरक्षित आदि की भी राजनीतिक विचारधारा हमें प्राप्त रहती, जिस प्रकार एक्वायनास, ह्यूम, ग्रीन और बोसांक्वेट की हमें प्राप्त है। आधुनिक भारत में राजनीतिक दर्शन के निर्माण के लिए सर्वोत्तम योग्यता रखने वाले पुरुष लोकमान्य तिलक थे। अपार बौद्धिक तेजस्विता, प्रचण्ड शास्त्रीय ज्ञान तथा दार्शनिक मनन के साथ-साथ लोकमान्य का यूरोपीय विधिशास्त्र का भी अच्छा अध्ययन था। किन्तु व्यावहारिक राजनीति क झंझटों के कारण वह अपेक्षित समय तिलक को नहीं प्राप्त हो सका जिसकी आवश्यकता दार्शनिक-राजनीतिक-शास्त्र के निर्माण के लिए थी। मेरी यह इच्छा हुई कि इस क्षेत्र में कुछ अध्ययन करूँ।

सन् १९४७ से १९५० ईसवी तक मैं अमरीका में राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र का अध्ययन करता रहा। इन साढ़े तीन वर्षों में मैंने राजनीतिक दर्शन या दार्शनिक राजनीतिशास्त्र (Political Philosophy या Philosophical foundations of polit c) पर दो महानिबंधों की रचना की। पहला महानिबंध कोलम्बिया विश्वविद्यालय को अर्पित किया गया और इसके फलस्वरूप मुझे राजनीति-विज्ञान में एम० ए० की उपाधि मिली। इस महानिबंध का विषय था– 'मार्क्सवाद के सैद्धान्तिक आधार'। अमरीका के विचारकों ने इस थिसिस की पर्याप्त प्रशंसा की। सेंटपीटर्सबर्ग विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र के भूतपूर्व अध्यक्ष और हार्वर्ड विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र के तत्कालीन महाध्यापक डाक्टर सोरोकिन ने इस महानिबंध को बर्ट्रण्ड रसल और सिडनी हूक के ग्रन्थों से भी उत्कृष्टतर घोषित किया। इस प्रकार की सम्मति प्राप्त कर मुझे महान् संतोष हुआ और आत्मविश्वास की अपार वृद्धि हुई। शिकागो विश्वविद्यालय में अध्ययन करते हुए मैंने एक दूसरे महानिबंध की भी रचना की। इसका विषय था—'हिन्दू राजनीतिक विचारधारा और उसका दार्शनिक आधार'। इस थिसिस के ऊपर मुझे शिकागो विश्वविद्यालय से डॉक्टरेट की उपाधि मिली। यह थिसिस सन् १९५२ से १९५३ ई० तक जर्नल आफ बिहार रिसर्च सोसायटी में प्रकाशित हुई और १९५४ में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई।

भारत लौटने पर एक स्वतंत्र राजनीतिक दर्शन के प्रणयन की मेरी इच्छा दृढ़ हो गई। किन्तु मैंने सोचा कि अभी कुछ दिन और मुझे अन्य राजनीति तत्त्ववेत्ताओं के विषय में ही अनुसंधान करना चाहिए। अतएव १९५२ में योगी अरविन्द के राजनीतिक दर्शन पर मैंने एक महानिबंध लिखा। बड़े आकार के ४५० टाईप-पृष्ठों में यह थिसिस समाप्त हुई। सन् १९५३ के अन्त में आचार्य डॉक्टर धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री

के प्रयत्नों के फलस्वरूप बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से राजनीतिशास्त्र के दार्शनिक आधार पर भाषण करने का मुझे निमंत्रण मिला। शास्त्रीजी की प्रेरणा से ही मैंने सन् १६४६ से ही हिन्दी में दार्शनिक विषयों पर लिखना आरम्भ किया था। उन्हीं के कहने पर 'अद्वैतवाद और वेद', उपनिषद् की विचारधारा' और 'बुद्ध का रहस्यवाद' आदि निबन्धों की रचना मैंने की। ये निबंध प्रकाशित हैं। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के निमंत्रण पर मैंने दार्शनिक राजनीति-शास्त्र पर भाषणमाला तैयार की। मैं अपने भूतपूर्व प्राध्यापक डाक्टर शास्त्रीजी का अत्यन्त ऋणी और आभारी हूँ। परिषद् के संचालक-मंडल का भी मैं अतिशय आभार स्वीकार करता हूं जिसने डाक्टर साहब के प्रस्ताव का समर्थन कर भाषण करने का अनमोल अवसर मुझे प्रदान किया।

आज संसार के अनेक विचारक प्राच्य और पाश्चात्य के समन्वय की बात करते हैं। इस प्रकार के समन्वय की आज अत्यन्त आवश्यकता है। इस समन्वय के द्वारा हमें एक विशालतर सांस्कृतिक परम्परा प्राप्त होगी। ऋग्वेद में हमें ऋत और धर्म की उदात्त विचारधारा मिलती है। इस विचारधारा ने भारतीय चिन्तन को आदर्शानु-प्राणित किया है। बौद्धधर्म में शील और विनय का सनातन सिद्धान्त उद्घोषित हुआ। वेद, वेदान्त और बौद्धधर्म द्वारा प्रवर्तित और अनुमोदित नीतिसम्मत आदर्शवाद की, नूतन भारत के निर्माण में, आवश्यकता है। भगवद्गीता में उपदिष्ट व्यवसायात्मिका बुद्धि, कर्मयोग, साम्य, स्वधर्म आदि शब्दों और विचारों को हम समाजशास्त्रीय दृष्टि से भी समझ सकते हैं और दार्शनिक राजनीतिशास्त्र के निर्माण में इन विराट् शब्दों का सम्यक् उपयोग कर सकते हैं। प्राचीन अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र तथा स्मृतिग्रंथों से हमें शब्दों के संकलन में सहायता मिल सकती है। दूसरी ओर भारतीय परम्परा के साथ-साथ हमें पाश्चात्य विचारकों और तत्ववेत्ताओं से भी सहायता लेनी है। प्लेटो, अरस्तू, सिसेरो, सेनेका, अगस्तीन, अक्वायनास, लौक, रूसो, हेगेल, मार्क्स, मिल आदि विचारकों का भी यदि हम आलोचनात्मक अध्ययन करें तो आज की युगधारा के अनुरूप विचारों को प्राप्त कर सकते हैं। पूर्व और पश्चिम के इस विशाल विचारात्मक समन्वय पर ही दार्शनिक राजनीतिशास्त्र का निर्माण हो सकता है। इस समन्वय को अधिक प्रशस्त और पुष्ट बनाने के लिए आवश्यक होगा कि चीन, इसलाम और अफ्रिका की संस्कृतियों और विचारधाराओं को भी ध्यान में रखा जाय। नवीन का निर्माण करने के लिए मैं यह अत्यन्त आवश्यक मानता हूँ कि प्राचीन की उपादेय और संग्रहणीय आवश्यक विचारधारा की मजबूत चट्टान पर ही नूतन का निर्माण किया जाय। प्राच्य और पाश्चात्य की विचारधारा पर संस्थित राजनीतिक दर्शन ही हमें वर्तमान को समझने

और भविष्य के निर्माण की प्रेरणा देगा। विशाल समन्वय ही सर्वदा भारतीय संस्कृति का मूलमंत्र रहा है। इस ग्रंथ में यही आदर्श ध्यान में रखा गया है।

इस ग्रंथ के निर्माण में पूर्व और पश्चिम के अपने अध्यापकों का मैं ऋण स्वीकार करता हूँ जिन्होंने मेरा बौद्धिक ज्ञान बढ़ाया है और मुझे प्रेरणा दी है। परम पूज्य पिताजी ने मुझे सदा तिलक महाराज के बौद्धिक उत्कर्ष को सामने रखने की शिक्षा दी है। मेरी धर्मपत्नी प्रोफेसर प्रमिला वर्मा ने अंग्रेजी ग्रंथों से उद्धरण लिखने में मेरी सहायता की है। मेरे अनुज वैद्यनाथप्रसाद वर्मा ने मुझे उत्साहित किया है। यह भाषणमाला २६,३०,३१ मार्च, १६५४ ई० को पटना कालेज बी० ए० लेक्चर थियेटर हॉल में दी गई थी। मैं वहाँ उपस्थित श्रोतृवृन्द का भी धन्यवाद करता हूँ जिसकी उपस्थिति से मुझे बड़ा संतोष रहा। इन तीन दिनों में ब्रह्मचारी शास्त्रीजी ने जो मेरा स्वागत किया और जिन स्नेहपूर्ण शब्दों में मेरे व्याख्यान की प्रशंसा की, उसके लिए मैं उनका चिरऋणी हूँ।

मेरी यह अभिलाषा है कि यह ग्रंथ हिन्दी जनता के हाथों में पहुँचे। जो आलोचक इसकी उचित समीक्षा करेंगे, मैं उनका धन्यवाद करूँगा। इस ग्रंथ का मूलभूत विषय है— दार्शनिक राजनीतिशास्त्र अथवा राजनीतिक दर्शन। सरलता को ध्यान में रखकर ही मैंने इस ग्रंथ का नाम 'राजनीति और दर्शन' रखा है।

यह ग्रंथ मैंने परम पूज्य पिताजी की स्मृति में समर्पित किया है। इसको प्रकाशित देखकर सबसे अधिक प्रसन्नता उन्हीं को होती। बड़ा दुःख है कि वे आज पार्थिव रूप में यहाँ नहीं हैं।

पटना
१६ मार्च, १६५६ ई०

—विश्वनाथप्रसाद वर्मा

राजनीति और दर्शन

प्रथम अध्याय

राजनीतिशास्त्र की दार्शनिक समीक्षा

मनुष्य स्वभावतः ही पारस्परिक सन्निकर्ष और संबंध का अभिलाषी है। वैयक्तिक जीवन-धारण की वृत्ति जिस प्रकार उसमें निसर्गजात है, उसी प्रकार सामूहिक, पूगमय, और व्रातमय जीवन-यापन की भावना भी उसमें स्वभावनियत और सहज है। जीवन की विकसित अवस्था में कोई कलाकार, दार्शनिक या वीतराग महात्मा कुछ समय के लिए एकात्मप्रचिंतन में भले ही निरत हो, किन्तु ध्यान से देखने पर मालूम पड़ता है कि वस्तुतः वह भी पूर्णतः समूहापेक्षी है। सामाजिक उत्पादन-प्रक्रिया की अप्रतिहत गति पर ही प्रत्यगात्माभिमुख पुरुषों का भी साधारण दैनिक जीवन-यापन संभव है। यदि समाज और राज्य की शांति, सुरक्षा और व्यवस्था का यंत्र सम्यक् रूप से कार्य न करे तब आत्मनिदिध्यासन और समाधिसंसिद्धि भी संभव नहीं है। मनुष्य का जन्म समाज में होता है और वह सामूहिक भावनाओं का अपने गुण, कर्म, संस्कार के द्वारा प्रतिनिधित्व और विलक्षण केन्द्रीकरण करता है। समाज को व्यवस्थित और संगठित करने के लिए राज्य की आवश्यकता होती है। राज्य का उदय यद्यपि सामाजिक शक्तियों के बीच होता है तथापि राज्य नियंत्रण और दण्ड का केन्द्रित आगार है। राज्य का लक्ष्य मानव-उन्नति और निःश्रेयस के निमित्त आवश्यक समस्त बाह्य उपकरणों की योजना करना है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शक्ति और बल का एकमात्र वैधानिक एकाधिपत्य राज्य के पास है। पूर्ण आन्तरिक और बाह्य शांति की व्यवस्था से ही मानव-समाज जागतिक अभ्युदय और वैयक्तिक श्रेय की प्राप्ति कर सकता है। किन्तु सर्वविध शांति की रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि समाज-विरोधिनी उन समस्त ताकतों को नियंत्रित रक्खा जाय जिनसे समूह छिन्न-भिन्न और नष्ट होता है। इसीलिए राज्य द्वारा व्यवस्थित नियंत्रण की महती आवश्यकता है। दण्ड की समुचित व्यवस्था के अभाव में पशुत्व और मात्स्यन्याय उपस्थित हो जाता है।

वैयक्तिक शरीरबल और शस्त्रादि के आधार पर मनुष्य अनभिप्रेत ताकतों से न खेलने लगे, इसीलिए राज्य को ही दण्ड का पूर्णतः एकाधिकार है।[१]

वैधानिक शक्ति अथवा नियंत्रणकारी विधिसम्मत दण्ड का विषय ही राजनीति-शास्त्र का विषय अबतक रहा है। प्राचीन भारतीय शास्त्रों में दण्डनीति का बड़ा ही प्रकृष्ट वर्णन है। आचार्य श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—"दण्डो दमयतामस्मि"।[२] उशना के मतानुसार दण्डनीति ही एकमात्र विद्या है और आन्वीक्षकी, त्रयी और वार्ता उसी दण्डनीति में ही प्रतिबद्ध हैं।[३] यूरोपीय राजनीति-शास्त्र में भी दण्डवाद का सिद्धान्त बड़े वेग से उद्घोषित हुआ है। कभी-कभी यह दण्डवाद राजनैतिक जीवन का एकमात्र साध्य भी माना गया है। यूनानी विचारक थ्रैसिमैकस, कैलिक्लस, गौर्गियास, ब्रिटिश राजनीति-शास्त्रवेत्ता हाब्स तथा जर्मन विचारक नीत्शे, टाइट्शके आदि ने दण्डवादी राजनीति-शास्त्र का बड़े बुलन्द शब्दों में समर्थन किया है।[४] किन्तु इस दण्डवादी राजनीति शास्त्र को हम घोर या उग्र राजनीति ही समझते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में हम राजनीति-शास्त्र का दार्शनिक विवेचन कर रहे हैं। दार्शनिक समीक्षा के अनुसार दण्ड की व्यवस्था, राजनीति का प्रकृष्ट पुरुषार्थ नहीं है, किन्तु साधन है। राजनीतिशास्त्र का लक्ष्य

१. तुलनीय—"न ह्येवंविधं वशोपनयनमस्ति भूतानां यथादण्ड इत्याचार्याः। नेति कौटिल्यः। तीक्ष्णदण्डो हि भूतानामुद्वेजनीयः। मृदुदण्डः परिभूयते। यथार्हदण्डः पूज्यः। सुविज्ञातप्रणीतो हि दण्डः प्रजा धर्मार्थकामैः योजयति। दुष्प्रणीतः कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वानप्रस्थपरिव्राजकानपि कोपयति किमंग पुनर्गृहस्थान्। अप्रणीतं हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति। बलीयानबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे। तेनगुप्तः प्रभवतीति।"
—अर्थशास्त्र १।४।

× × × ×

राज्ञः स्वधर्मः स्वर्गाय प्रजा धर्मेण रक्षितुः।
अरक्षितुर्वा क्षेप्तुर्वा मिथ्यादण्डमतोऽन्यथा॥
दण्डो हि केवलो लोकं परं चेमं च रक्षति।
राज्ञा पुत्रे च शत्रौ च यथादोषं समंधृतः॥ —कौटिल्य अर्थशास्त्र ३।१।

२. भगवद्गीता, १०।३८। तुलनीय—
द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्वं सत्ववतामहम् (गीता १०,३६)।

३. कौटिल्य अर्थशास्त्र १।२।

४. Thrasymachus; Callicles; Gorgias; Hobbes, Leviathan, The citizen; Treitschke: Politics (दो खंड); Nietzsche: Thus Spake Zarathustra, The Genealogy of Morals.

संतुष्ट, उन्नतिपथगामी, श्रेयान्वेषी समाज को स्थापित करना है ।[१] दण्ड और शक्ति स्वतः अभीप्सित नहीं हैं । श्रेय के मार्ग में जो बाधाएँ, आवरण और विपथगामी कण्टक उपस्थित होते हैं, उनका अतिक्रमण ही दण्ड का मूलभूत लक्ष्य है। अतएव दण्ड साधन है, निःश्रेयस् साध्य है। समाज में वर्तमान मनुष्यों का सर्वविध मंगल और कल्याण ही राजनीतिक कार्यों का उद्देश्य है और इसी महान् प्रयोजन को क्रियान्वित करने के निमित्त ही दण्ड, शक्ति और बल का प्रयोग होना चाहिए।

राजनीतिशास्त्र की दार्शनिक मीमांसा सामाजिक और वैयक्तिक अभ्युदय और हित को ही प्रधान लक्ष्य मानती है। इस मीमांसा के मूल सिद्धान्तों को ग्रहण करने के लिए आवश्यक है कि दर्शनशास्त्र की तात्त्विक समीक्षा की जाय और राजनीतिशास्त्र से उसका संबंध बताया जाय। मानव-जीवन में जिन वृत्तियों, अनुभवों तथा घटनाओं का संघात उपस्थित होता है उनका क्रमबद्ध, समन्वयात्मक परीक्षण ही दर्शनशास्त्र का विषय है। दृश्यमान सत्ता का विचारात्मक विन्यास तथा बौद्धिकीकरण और प्रत्ययीकरण ही दर्शन है।[२] परिदृष्ट वस्तुओं में सत् और असत् की दृष्टि से, शिव और अशिव की दृष्टि से, विश्लेषण करना ही दर्शन का मूल लक्ष्य रहा है। जीवन, समाज और इतिहास में भी पूर्णता का आंशिक दर्शन करना तथा असंबद्ध और विकल्पग्रस्त सिद्धान्तों में भी वैज्ञानिक तर्कणा द्वारा यह स्थापित करना कि वे पूर्णतः विरोधी न होकर पूरक हैं, इस प्रकार की पद्धति का नाम ही दार्शनिक पद्धति है। संक्षेप में कह सकते हैं कि वर्तमान और दृश्यमान वस्तुओं में व्यवसायात्मिका बुद्धि का प्रवेश ही दर्शन का लक्ष्य है। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि किसी भी शास्त्र के पूर्ण ऊहापोहयुक्त विचारात्मक समीक्षण को ही उसका दर्शन कहते हैं। शास्त्रश्रवण, दर्शन या अन्तर्दृष्टि की पहली अवस्था है। किन्तु जब पृथक् रूप से शास्त्रश्रवण की अवस्था का अतिक्रमण कर हम शास्त्रों के मौलिक सिद्धान्तों की तुलना करते हैं, उनके प्रतीयमान व्यतिक्रम का समाहार करते हैं, उनको तात्त्विक दृष्टि से व्यवस्थित और अधिक मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित करते हैं, तब इस प्रकार के शास्त्रीय अन्तस्सम्बन्ध का व्यापक ज्ञान ही दार्शनिक ज्ञान समझा जाता है।[3] दर्शन शब्द का इसी कार्त्स्न्य ज्ञान के अर्थ में प्लेटो

---

१. W. G. S. Adams: 'The Philosophical Study of Politics' Philosophy, खण्ड १४, १९३९ पृष्ठ १५-२३; Leo Strauss: Natural Right and History; Bertrand Russell: Philosophy and Politics.

२. Hegel: The Logic of Hegel (वालस का अंग्रेजी अनुवाद) पृष्ठ ४, २८,३८,४४,३५४,३७६,

३. इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ।। गीता, ११ । ७

और अरस्तू ने व्यवहार किया है। जब हम विचार-प्रणाली का अनुसरण करते हैं तब सत्ता और नैतिक सत्य की दृष्टि से वस्तुओं में तारतम्य उपस्थित होता है। कुछ वस्तुएँ आत्कालिक हैं, कुछ चिरवर्तमान हैं। कुछ वस्तुओं से समाजक्षय और कुछ से सर्वभूतहित होता है। कुछ वस्तुओं में तीव्र बाह्य आकर्षण होता है तो कुछ में अन्तिम रूप से कल्याण करने की शक्ति। अतएव सदसद्विवेचनात्मिका प्रकृष्टतत्त्वोद्बोधिका, बुद्धिसंस्थिति ही दर्शन का आधार है।

कभी-कभी प्रत्यगात्मदर्शी दार्शनिकों ने योगपद्धति का आश्रयण कर तात्त्विक अवबोध के लिए बुद्धि का दौर्बल्य स्वीकार किया है। वेदान्तशास्त्र में जगदतीत तत्त्वों के परिनिष्पन्न ज्ञान के लिए तर्क को अप्रतिष्ठित कहा है, श्रुतिसम्मत तर्क को स्पृहणीय बताया है और शास्त्रप्रवचन की कमजोरी का उल्लेख किया है।[१] संत प्लोटायनस, जैकब बोहमे, एकहार्ट और बर्गसाँ ने भी बुद्धि की शक्तिहीनता की ओर संकेत किया है।[२] किन्तु जगदतीत संभाव्य सत्ताओं के लिए भले ही निदिध्यासन या ऋतम्भरा प्रज्ञा की आवश्यकता होती हो, जगत् में वर्तमान वस्तुओं के ज्ञान के लिए परिष्कृत और शास्त्रमार्जित बुद्धि ही ज्ञान का परम साधन है। जब हम कहते हैं कि विज्ञान या समाजशास्त्र या इतिहास का भी दार्शनिक अध्ययन अभिवांछित है तब हमारा तात्पर्य इन शास्त्रों के द्वारा वर्णित वस्तुओं और घटनाओं का कैवल्यगत अवस्था में दिव्य दर्शन करना नहीं है, किन्तु इनके क्रमबद्ध, पारस्परिक अन्तःसम्बन्धों का परिदर्शन ही है। समाधि और

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ।। गीता, ११, १३
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ।। गीता, १३, ३३
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।। गीता, १०, ४२
प्रकृतिंस्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ।। गीता, ९। ८
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ।। गीता, ७, २९

१. **तर्काप्रतिष्ठानादपि अन्यथानुमेयमिति चेत् एवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः।**
(वेदान्तसूत्र २।१।११)

× × ×

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण साधयेत्।
प्रकृतिभ्यः परंयत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम् ।। (महाभारत)

२. Inge: The Philosophy of Plotinus; N. Berdyaev: The Meaning of History; Underhill: Mysticism.

ऋतम्भरा प्रज्ञा या दिव्यबोधि या ब्रह्मनिर्वाण का खण्डन करना हमारा यहाँ लक्ष्य नहीं है। ये योग के विषय हैं और वैयक्तिक अपरीक्षणीय, अपरिवहनीय अनुभूति ही इनका आधार है। किन्तु दर्शनशास्त्र से हमारा तात्पर्य निगूढ़ सत्वसमाविष्ट बुद्धि के द्वारा स्थापित तत्त्वशास्त्र से ही है। अतः भौतिक और सामाजिक शास्त्रों का भी मेरे अनुसार दार्शनिक अध्ययन अत्यन्त ही आवश्यक है।

यद्यपि दर्शन का मुख्य लक्ष्य व्यापक मौलिक सिद्धांतों का निर्माण ही है और यद्यपि समग्रता और कार्त्स्न्य का दर्शन कराना ही उसका प्रयोजन है, तथापि एक दूसरे अर्थ में भी हम दर्शन शब्द का प्रयोग करते हैं। वस्तुओं के प्रति नैतिक दृष्टि रखना भी दर्शन-शास्त्र का अवांतर लक्ष्य रहा है। वेदान्तशास्त्र में परमोत्कृष्टज्ञान के लिए शम, दम, वैराग्य, उपरति, तितिक्षा आदि नैतिक गुणों का साधनरूप में विवेचन है। बौद्धधर्म मे भी निर्वाणात्मिका, निर्णयात्मिका बोधि के निमित्त आचारशास्त्रात्मक आर्य अष्टांगिकमार्ग की चर्चा ह।[१] नैतिक दृष्टि का अवलम्बन करने के कारण ही सुकरात, ईसा मसीह, टाल्सटाय और गाँधीजी दार्शनिक कहे जाते हैं। यह ठीक है कि बहुत से तत्त्ववेत्ताओं ने तत्त्वतः नीतिशास्त्र के व्रतों और अनुशासनों को देशकालसापेक्ष मानकर उनकी निस्सारता सिद्ध करने की चेष्टा की है तथापि नैतिक दृष्टि को हम दार्शनिक दृष्टि से पूरा सबद्ध मानते हैं। हमारा लक्ष्य समाज को अभ्युन्नत और हितान्वेषी बनना है और इस कार्य में नीति-नियमों की व्यापक आवश्यकता है। नीतिमार्ग का तिरस्कार कर तत्वज्ञान भी प्राप्त नहीं हो सकता। तत्वज्ञानात्मक अन्तःसंबद्धता के बोध के लिए सातत्यदृष्टि अभिप्रेत है। वस्तुओं को स्वनिष्ठित मानना दार्शनिक दृष्टि नहीं है। उनका तारतम्यपूर्ण क्रमनिर्धारण ही दार्शनिक क्रिया है। इस प्रकार की, सातत्य और समग्रहव की, दृष्टि प्राप्त करने के लिए हमें अपने कल्पित देहमन के क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठना होगा। जगत् की अनेक वस्तुओं में शनैः-शनैः हम पूर्णता का दशन करें, इसके निमित्त आवश्यक है कि जिन वस्तुओं को हम अपना कह कर पकड़े हुए हैं, उनके सीमित स्वरूप का हमें ज्ञान हो जाय। अपनी इयत्ता का अतिक्रमण नैतिक निःश्रेयस् और दार्शनिक तत्त्वज्ञान दोनों के लिए अति आवश्यक है। नैतिक दृष्टि का आधार ही है स्वत्व का असली रूप समझना। जब व्यापक आदर्शों के साथ तादात्म्य प्राप्त करना हम सीखते हैं तब हम नीतिमार्ग का अनुसंधान करते हैं। अतएव नैतिक दृष्टि का अवलम्बन भी दार्शनिक ज्ञानप्राप्ति का आवश्यक अंग है और इसीलिए नैतिक दृष्टि का अपने जीवन में धारण और उसका शास्त्रीय समर्थन भी तत्त्वज्ञान से

१. बुद्ध के अनुसार सत्य-प्राप्ति की तीन शर्तें हैं--(क) श्रद्धा, (ख) दर्शन, (ग) भावना। इनका वर्णन 'मज्झिम निकाय' में आता है।

संबद्ध है।[1] इस प्रकार दर्शनशास्त्र के दो मूलभूत अर्थों और प्रयोजनों का हम विचार कर चुके।

वेद और वेदांत तथा यूनानीदर्शन में दर्शन का मूल तात्पर्य सत्ता और परमज्ञान का सम्यक् बोध है। किन्तु यांत्रिक और वैज्ञानिक सभ्यता के उदय के साथ ही दर्शन का, अब कुछ तत्वज्ञों द्वारा प्रक्रियात्मक अर्थ किया जा रहा है। पूर्ण सत्ता या निर्विशेष प्रत्यय के ज्ञान के स्थान म कुछ विचारकों ने यह सुझाव रक्खा है कि जो-कुछ जीवन-संघर्ष में सहयोग दे सके, जो व्यवहार में सफलता प्रदान करा सके, वही सत्य है और उसी का ज्ञान दर्शन है।[2] यह ठीक है कि ज्ञान को प्राप्त कर हम प्राकृतिक और सामाजिक शक्तियों के साथ उचित सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं और इस प्रकार ज्ञान शक्ति का प्रज्ञाता है। जिस वस्तु का हमें ज्ञान है उसके साथ हमारा यथाकामचार हो जाता है।[3] तथापि सफलता और व्यावहारिक सिद्धि को ही हम सत्य नहीं मान सकते। बहुत कार्यों से आरम्भ में हमें सामयिक सफलता प्राप्त होती है तथापि उनका अन्तिम परिणाम विषवत् होता है। अतएव आंशिक प्रयोगात्मक साफल्य के स्थान में तत्त्वज्ञान को ही हमें दर्शनशास्त्र समझना चाहिए। यह ठीक है कि वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए हमें अनेक प्रयोग, परीक्षण और कर्म करना होगा। किन्तु तत्वज्ञान की प्राप्ति तभी हो सकती है जब इस प्रकार वस्तुनिष्ठ परीक्षण के द्वारा प्राप्त ज्ञान का अन्तःसंबद्धता और कार्तस्न्य का परिदर्शन करानेवाली पद्धति के साथ, जो व्यवसायात्मिका धृति और बुद्धि से उत्पन्न होती है, क्रम और पूर्ण समन्वय प्रस्तुत किया जाय। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि दार्शनिक तत्त्वज्ञान का मूल उपादेय, कृत्स्नज्ञान ही है। इस प्रकार की व्यापक

---

१. तस्मादहंकारमिमं स्वशत्रुं
भोक्तुर्गले कण्टकवत्प्रतीतम् ।
विच्छिद्य विज्ञानमहासिना स्फुटं
भुङ्क्ष्वात्मसाम्राज्यसुखं यथेष्टम् ॥
ततोऽहमादेर्विनिवर्त्य वृत्तिं
संत्यक्तराग: परमार्थलाभात् ।
तूष्णीं समास्स्वात्मसुखानुभूत्या
पूर्णात्मना ब्रह्मणि निर्विकल्प: ॥
(शंकर विवेकचूड़ामणि ३०८-३०९)

२. Pierce, James, John Dewey का Pragmatism तथा Gentile का Neo-Hegelian Idealism.

३. बृहदारण्यक तथा छांदोग्य उपनिषद्। P. Deussen: Philosophy of the Upanishads; Gough: Philosophy of the Upanishads.

तत्त्वबुद्धि, नैतिक आदर्शों के सतत अनुसेवन तथा शास्त्रविचिंतन से प्राप्त होती है। विचारशक्ति का, बौद्धिक जनों के निरन्तर सन्निकर्ष से उद्दीपन कर ही हम सत्ता का तत्त्वरूप देख सकते हैं।[१] शाब्दिक प्रत्ययों के द्वारा ही हम सत्ता का वर्णन कर सकते हैं। किन्तु शब्दब्रह्म के महान् अर्णव के अवगाहन का हम संकल्प और प्रयास करें, इसके लिए आवश्यक है कि ऐहिक वर्तमान का मोह त्याग कर हम व्यापकता और पूर्णता की बांधि की ओर जानेवाली नैतिक दृष्टि का अवलम्बन करें।

अबतक राजनीतिशास्त्र और दर्शनशास्त्र का पृथक्-पृथक् स्वरूप विवेचन किया गया है। उनके पारस्परिक अन्तःसम्बन्ध की मीमांसा करने के पूर्व राजनीतिशास्त्र का कु विशेष विवेचन अपेक्षित है। राजनीति का सम्बन्ध मानवसमाज और संस्कृति से है। मनुष्य की भावनाओं और विचारधाराओं के निर्माण में संस्कृति का गहरा हाथ है। सांस्कृतिक परम्परा और सामाजिक विकासधारा के विपरीत किसी राजनीतिक संगठन का निर्माण सम्भव नहीं है। भारतवर्ष में मुगलों का साम्राज्य आल्पकालिक सिद्ध हुआ; क्योंकि जनता में व्याप्त सांस्कृतिक धाराओं और ताकतों के साथ उसका सम्बन्ध नहीं था। इसी विचारसरणि का अनुसरण कर प्रसिद्ध जर्मन इतिहासशास्त्री स्पेंगलर ने कहा था कि संस्कृति, राजनीति की अपेक्षा अधिक व्यापक और प्रभावशालिनी है, राजनीति संस्कृति के अन्तर्भूत होकर ही विकसित और फलवती होती है। सांस्कृतिक और सामाजिक परम्परा की विशालधारा से प्रभावित होने के कारण स्वभावतः राजनीति का संबंध मानव-हृदय और आत्मा से है। पृथिवी के संरक्षण और विवर्धन के क्रियाकलापों का शास्त्र होने के साथ ही राजनीति मानव आत्मा के विकास का इतिहास भी उपस्थित करती है; क्योंकि बाह्य वृत्तियों और चेष्टाओं के पीछे मानवसंकल्प और ऋतु का प्रकाशन विद्यमान है। इसीलिए कभी-कभी राजनीतिशास्त्र का सम्बन्ध मानव की आत्मिक अभिव्यक्ति के साथ किया जाता है। अतः संस्कृति, समाज और मानव आत्मा से संश्लिष्ट रहने के कारण, राजनीतिशास्त्र बाह्यप्रकृति के अध्ययन और परीक्षण से सम्बद्ध भौतिक शास्त्रों से भिन्न है।

भौतिक शास्त्रों में व्यापक नियमों का निदर्शन होता है। भौतिक नियम भावनानिरपेक्ष हैं और ध्रुवगति से स्वकर्मनिरत हैं। इतिहास में वर्णित घटनाएँ जगदाकाश में एक ही बार घटती हैं, उनकी उत्पत्ति फिर दूसरी बार नहीं कराई जा सकती। भगवान बुद्ध ने सारनाथ में धर्मचक्र-प्रवर्तन किया और पांच भिक्षुओं को मार्गबोध किया। कालाकाशकार्यकारणबद्ध आवर्त में यह घटना फिर दूसरी बार नहीं घट सकती। इतिहास पूर्णतः विशेषानुबद्ध है, तथा भौतिकविज्ञान पूर्णतः सामान्यग्राही।[२] राजनीतिशास्त्र मध्यमावस्था में है। प्रजातंत्र यदि ब्रिटेन में पनपा

---

१. **मनुस्मृति--'नित्यं बृद्धोपसेविनः'।**

२. Windelband तथा Rickert ने Idiographic तथा Nomothetic में अन्तर बताया है।

विचार करते हैं। इसमें विवेच्य तत्त्वों के ऐतिहासिक क्रमिक विकास से सन्तुष्ट न होकर उनकी बौद्धिक तर्कणात्मक परिपूर्णता पर हम ध्यान देते हैं। अर्थात् यदि राज्य की या समाज की हमें विवेचना करनी है तब केवल इंगलैण्ड और फ्रांस की राज्य-प्रणाली के वर्णन से हमें सन्तोष नहीं होगा। किन्तु इन ऐतिहासिक उदाहरणों के आधार पर हमें समाज और राज्य के परिपाक की मीमांसा करनी होगी। समग्र वर्णन इस प्रकार के परिपाकात्मक ज्ञान के लिए आवश्यक है। राजनीतिक विषयों का समग्ररूप से वर्णन करने के लिए न केवल उनकी आर्थिक, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, धार्मिक विषयों से अन्तःसंबद्धता बतानी होगी, किन्तु यह भी दिखाना होगा कि विकसित नीतिमान् मनुष्यों के ज्ञान और संकल्प की कहाँ तक इस राजनीतिक व्यवस्था से एकरूपता है। अर्थात् मनुष्य की पूर्णता की सिद्धि में राजनीति द्वारा प्राप्त ज्ञान की प्रयोजनीयता का निरूपण हमें करना होगा। राजनीतिक पदार्थों का मनुष्य की इच्छाशक्ति से गहरा सम्बन्ध है। सामूहिक मानवों के संगठित ईक्षण का ही परिणाम राजनीति है। इसीलिए राजनीति के दार्शनिक विवेचन में समाज और राज्य के विषय में समाज-शास्त्र, अर्थशास्त्र, इतिहास तथा राजनीति की समन्वित अन्तःसम्बद्धता से प्राप्त ज्ञान का मानव-जीवन के विराट् लक्ष्य की संसिद्धि में क्या स्थान है, यह हमें बताना ही पड़ेगा। संक्षेप में कह सकते हैं कि मानव, समाज, राज्य आदि के सम्बन्ध में विवेचनापूर्ण कृत्स्नज्ञानप्राप्ति और तज्जनित आधारभूत सिद्धान्तों का निरूपण दर्शनशास्त्रानुमोदित राजनीतिशास्त्र का प्रथम महान् उद्देश्य है।

नैतिक प्रवृत्तियों के परिपोषण और समर्थन को हम दार्शनिक प्रयास का अभिन्न अंश मानते हैं। अबतक समाजशास्त्रीय अध्ययन में मानव-स्वभाव के विषय में जो स्थापनाएँ की गई हैं, वे अधूरी हैं।[१] साधारणतः विकास-परम्परा से प्रभावित होने के कारण मनुष्य को हम पशुओं का बड़ा भाई समझते आये हैं। इस प्रकार की कल्पना भले ही पशु-जगत् से मानव-जगत् का सातत्य स्थापित करे, किन्तु इस प्रकार की भावना मानव-हृदय में वर्तमान देवत्व के अंशों को भूलने की प्रेरणा करती है। यदि कुछ लोकोत्तर ऋषिकल्प मनुष्य अपनी तपस्या, साधना और धृति से पशुत्व पर विजय प्राप्त कर सकते हैं तब हम

Bernard: Social Psychology; Kimbal Young: Social Psychology; Allport: Social Psychology; Klineberg: Social Psychology; Murphry: Experimental Social Psychology; Kardiner: The Individual and Society; Lasswell: Psychopathology and Politics.

क्यों समझें कि मानवमात्र का लक्ष्य पशुओं के समान भोगैषणा ही है ? भोगवाद हमारी अविकसित अवस्था का सूचक है, हमारी पूर्ण विकसितावस्था का विजयचिह्न नहीं। अभी पश्चिम की अधिकांश राजनीतिक और आर्थिक विचारधारा इसी भोगवाद को आधार मानकर चलती है। भोगवाद का प्रश्रय ही उसका चरम सन्देश है चाहे वह भोगवाद बेन्थम द्वारा प्रचारित हो या कार्लमार्क्स और लेनिन के द्वारा।[१] चरम भोगवाद का सिद्धान्त प्रचारित करना मानवहित के लिए घातक है। व्यापक आदर्शपूर्ण राजनीतिशास्त्र के लिए हमें मानव नीतिमान है, इस तत्त्व को लेकर आगे चलना होगा। राजनीतिशास्त्र बहुत अंशों तक आचारशास्त्र से प्रभावित है, ऐसा विचार प्राचीन यूनान में अरस्तू का और आधुनिक काल में ग्रीन और हाबहाउस का रहा है। बुद्ध, दयानन्द और गांधी ने बताया है कि शोषणरहित समाज-व्यवस्था के निर्माण के लिए हमें नीतिमान् पुरुषों की आवश्यकता है। राजनीति के दार्शनिक विवेचन के लिए आवश्यक है कि हम मानव-इतिहास में वर्तमान उपादेय और संग्रहणीय आदर्शों का विश्लेषण करें, वैज्ञानिक और तार्किक बुद्धि से उनका मनन करें और फिर मानव और समाज को इनके क्रियान्वयन के लिए तैयार करें। हमें जगदतीत उपादेय मूल्यों का स्थापन नहीं करना है, किन्तु नीतिमान् चेतनायुक्त आदर्श-समन्वित मानव को ही राजनीतिशास्त्र का आरम्भतत्त्व और मूलसूत्र बनाना है। अरस्तू, बेंथम और मार्क्स ने अपने राजनीतिशास्त्र का आरम्भ मानव को समाजप्रेमी और अर्थानुसंधानकर्ता मानकर किया है। हम, राजनीति के दार्शनिक 'विवेचन में मनुष्य को चैतन्ययुक्त, सन्मार्गान्वेषी और नीतिमान् मानकर शास्त्रविचार करना चाहते हैं। अन्ततः हम देखेंगे कि राजनीति का दार्शनिक विवेचन केवल तत्त्वचिंतन का ही आनन्द हमें नहीं प्रदान करता है, केवल आंशिक सत्य पर आश्रित अपसिद्धान्तों के उन्मूलन का मन्त्र ही नहीं देता है, बल्कि राजनीतिक दर्शन या दार्शनिक राजनीतिशास्त्र के रूप में हमें एक विशाल शास्त्र का दर्शन कराता है जिसकी शब्दराशि विनिश्चित अर्थवाहिका है, जो इतिहास तथा अन्य सामाजिक शास्त्रों की अन्तःसम्बद्धता बताता है तथा जो राजनीतिक विवेचन की एक समन्वित अनेकशास्त्राश्रित पद्धति उपस्थित करता है।[२]

प्राचीन भारत और यूरोप की प्राचीन और आधुनिक राजनीतिक विचारधारा में हम प्रायः चार ऐसे युगों का उल्लेख कर सकते हैं जब राजनीतिशास्त्र का दर्शनिक विवेचन उपस्थित किया गया था। इसमें पहला युग वेद और वेदान्त के अध्यात्मवाद का था। ऋग्वेद के समय से

१. Bentham: Fragment of Government; Marx and Engels, The German Ideology.

२. W. Willoughby: The Nature of the State.

ही इस देश में ऋत और धर्म की कल्पना का विकास हुआ। ऋत और धर्म मानव-जीवन, समाज और राष्ट्र के ही धारणकर्ता नहीं समझे गये थे, अपितु समस्त पृथिवी, देवगण, लोक लोकान्तर इनके द्वारा विधृत घोषित किये गये। प्रारम्भ में ऋत और धर्म की विचारधारा जागतिक थी, कालक्रम में, विशेषतः धर्म का सामाजिक और नैतिक रूप भी प्रस्तुत किया गया।[१] राष्ट्र भी धर्म को क्रियान्वित करनेवाला यन्त्र है, ऐसा विचार प्रस्तुत हुआ। धर्म, क्षत्र का भी क्षत्र है, इस विचारधारा ने भारतीय राजनीतिशास्त्र में, साम्राज्यवाद के विचारों के उत्पन्न होने पर भी, भारतीय मस्तिष्क को सर्वदा नीति और अध्यात्म का पोषक ही बनाया।[२] समस्त जीवन को धर्मयज्ञ के रूप में देखना भारतीय दर्शन का अनोखा वैशिष्ट्य है। औपनिषदिक, योगवृत, मण्डलयोनि, षाड्गुण्य और जनपदनिवेश के सन्देशवाहक कौटिल्य ने भी धर्म को ही प्रधानता दी। राजा का स्वधर्म आनन्त्याभिमुखी ऐसा कौटिल्य ने कहा।[३] बुद्ध ने मध्यमप्रतिपदा, प्रतीत्यसमुत्पाद और निर्वाण का विचार प्रस्तुत किया। किन्तु लोकोत्तरदर्शी होने के साथ ही बुद्ध ने भारतीय सामाजिक और राजनीतिक जीवन को नीतिमान् बनाने में बड़ा योगदान किया और उनके उद्देश्यों का चरम साफल्य अशोक के महान् हृदयपरिवर्तन में व्यक्त हुआ।[४] यद्यपि बौद्धधर्म की अतिरंजित अहिंसा का भारतीय इतिहास पर अस्वास्थ्यकर प्रभाव पड़ा तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो व्यापक चरित्र-शुद्धि का मार्ग बुद्ध ने उपस्थित किया, उसका भारतीय राजनीतिक, सामाजिक और वैयक्तिक जीवन पर सार्वकालिक प्रभाव रहा। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय राजनीतिक शास्त्र और व्यावहारिक कर्मयोग का आधार मूलतः आध्यात्मिक

---

१. ऋत और धर्म की विस्तृत दार्शनिक और राजनीतिक मीमांसा के लिए द्रष्टव्य : V. P. Varma "Nature of the Concept of Dharma and its Influence on Hindu Political Philosophy", Journal of the Bihar Research Society, June 1952, पृष्ठ २९४-३४९।

२. क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा॥—रघुवंश, २।३५।

३. अनुशासद्धि धर्मेण व्यवहारेण संस्थया।
न्यायेन चतुर्थेन चतुरन्तां महीं जयेत्॥—(कौटिल्य अर्थशास्त्र)

४. Sir Charles Eliot: Hinduism and Buddhism, तीन खंड; Keith : Buddhist Philosophy in India and Ceylon ; Paul Carus: The Gospel of Buddha ; N. Datta : The Spread of Buddhism ; Oldenberg: Buddha.

और दार्शनिक था और इस आधार ने एक अत्यन्त तेजस्वी मूल्यवान धारा का प्रवर्तन भारतीय इतिहास में किया था।[१]

यूनानी राजनीतिशास्त्र का, जो दार्शनिक राजनीतिशास्त्र का दूसरा युग है, मूलमंत्र था—शीलवाद। शील का व्यापक अर्थ यूनान में किया जाता था। केवल नैतिक दृष्टि से सत्वसंशुद्धि और अध्यात्म-चिंतन करना ही इसका उद्देश्य न था, अपितु स्वकर्मदाक्ष्य भी इसका एक आवश्यक अंग था। प्लेटो के मतानुसार न्याययुक्त शील का पर्यवसान इसी में है कि मनुष्य समूचे समाज के व्यापक आनन्द को ध्यान में रखते हुए अपने कर्म में अतिशय वैशिष्ट्य और दाक्ष्य प्राप्त कर उसके द्वारा स्वकर्तव्यपूर्ति से सम्पूर्ण नगर के कल्याण का कर्ता सिद्ध हो। अरस्तू ने भी नैतिक और बौद्धिक शीलों का उल्लेख किया है।[२] यूनान की तात्कालिक राजनीतिक अवस्था से ये दोनों महान् विचारक गहरे रूप में असन्तुष्ट थे। यूनान देश में वर्तमान सोफिस्ट दार्शनिक वाग्जाल द्वारा राजनीतिक शक्तिसंचय को ही आदर्श समझते थे।[३] प्लेटो ने कहा था कि जनसमूह तो एक विशाल पशु के समान है। भावना के अतिरंजित उद्रेक से उस पशु की अभ्यर्थना अकल्याणकर मार्ग है। इसीलिए उसने बताया कि दृढ़गात देशभक्त जिसने अनेक वर्षों तक वैज्ञानिक और दार्शनिक अनुचिंतन से परात्पर परमकल्याण प्रत्यय का अनुदर्शन किया है, वही अपनी दिव्यदृष्टि के आधार पर मानव समाज और राष्ट्र का कल्याण कर सकता है। दार्शनिक-राज्यनायक की कल्पना के रूप में वर्णित, प्लेटो का उदात्त आदर्शवाद बड़ा ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ और अनेक पश्चात्वर्ती विचारकों—उदाहरणतः सिसेरो, अगस्तीन, टामस मोर और फिक्टे—की विचारधारा पर भी प्लेटो का प्रभाव व्यक्त हुआ।[४] लोकोत्तर नीतिवाद का उग्र संदेशवाहक न होने पर भी अरस्तू सर्वदा राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्रानुमोदित ही मानता था। प्लेटो के समान उसने भी एक आदर्श राष्ट्रव्यवस्था का विचार रक्खा। अरस्तू ने बताया कि मनुष्य को घोर भोगमय जीवन से ऊपर उठकर राजकीय कर्मयोग और दार्शनिक निदिध्यासन का समन्वय करना चाहिए।[५] शीलयुक्त कर्म को ही उसने आनन्द

---

१. V. P. Varma: 'The Gospel of Buddha' Patna University Journal, 1946--1947.
२. Aristotle : Nicomachean Ethics, Books II-VI.
३. Windelband: A History of Philosophy.
४. Cicero : St. Augustine, Thomas More, Fichte.
५. Aristotle: Politics, Books VII--VII, Nicomachean Ethics, Book X.

का मार्ग बताया और सर्वदा यह घोषित किया कि मानव तथा राज्य की न्याय-व्यवस्था और शील के सिद्धान्त एक ही हैं। इस प्रकार यूनान के इन दो उत्कृष्ट विचारकों में हम उस व्यापक आदर्शपूर्ण कृत्स्नदृष्टि और नीतिमत्ता का संदेश पाते हैं जिसे हमने राजनीति का दार्शनिक आधार कहा है।[१]

राजनीति के दार्शनिक आधार का अनुमोदन करनेवाला तीसरा काल जर्मन और ब्रिटिश विज्ञानवादियों का था। जर्मन विज्ञानवाद, जिसका जन्म काण्ट के दर्शन में हुआ और जिसकी चरम परिणति हेगेल के दर्शन में हुई, मनुष्य की आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का संदेशवाहक था।[२] स्वतन्त्रता ही मनुष्य का मूलतत्त्व है, रूसो के इस मंत्र के आधार पर ही जर्मन विज्ञानवाद का मनोवैज्ञानिक रूप प्रस्तुत किया गया था।[३] काण्ट ने बड़े उदात्त शब्दों में मनुष्य के नैतिक स्वरूप का वर्णन किया और व्यापक मानवआदर्शवाद को अपने राजनीतिक विचारों का आधार बनाया।[४] हेगेल के मतानुसार नैतिक व्यक्तिवाद का जन्म यद्यपि प्रोटागोरास और सुकरात की विचारधारा में ही हुआ तथापि ईसाई-धर्म ने ही मनुष्य का आध्यात्मिक निदर्शन करा कर आत्मा की अनन्त कर्तृत्वशक्ति को स्वतन्त्रता का मूल घोषित किया।[५] यद्यपि काण्ट और हेगेल दोनों मानव-स्वतंत्रता की आध्यात्मिक उपपत्तियों के बड़े वेगवान समर्थक थे तथापि जर्मनी की तत्कालीन दशा से प्रभावित होकर इन दोनों ने और विशेषतः हेगेल ने राज्य का अतिशय महत्त्व घोषित किया। हेगेल के मतानुसार राज्य विश्वात्मा के जागतिक पर्यटन का प्रकाश है और राज्यगत अनुशासनों और विधानों को स्वीकार करने से ही स्वतन्त्रता की प्राप्ति होगी, ऐसा

---

१. Nettleship: Lectures on the Republic of Plato; Bosanquet: A Companion to Plato's Republic; E. Barker: Political Thought of Plato and Aristotle; Barker: Greek Political Theory; Barker: Aristotle's Politics, द्रष्टव्य Wild, Ritter, Taylor आदि के ग्रंथ.

२. Stirling: The Secret of Hegel दो खंड, Mc Taggart, Studies in Hegelian Cosmology.

३. Edward Caird: Hegel पृष्ठ २०-२१।

४. Edward Caird: The Critical Philosophy of Kant दो खंड; Kant, Principles of Natural Law.

५. Hegel: Philosophy of Right.

विचार उसने व्यक्त किया।[१] राजतन्त्र के समर्थन के कारण जो कुछ कमियाँ हेगेल के राजनीतिक दर्शन में थीं, उनके परिहार का प्रयत्न ग्रीन ने किया। उसने सर्वहितवाद का सिद्धान्त समर्थित किया और नीतिशास्त्र तथा राजनीति दोनों को इसी सर्वहितवाद और चारित्र्यपूर्णतावाद के दार्शनिक आधारस्तम्भ पर खड़ा किया।[२] जबर्दस्त आध्यात्मिक आधारशीला के ऊपर ही मानव-अधिकारवाद को स्थापित करना ग्रीन की बड़ी विशेषता है। ब्रैडले और बोसांक्वेट ने यद्यपि राज्य की प्रधानता स्वीकार कर ली, तथापि उन दोनों ने भी मानव-कर्तव्यवाद और नैतिक स्वतन्त्रतावाद को दार्शनिक आधार पर व्यवस्थित किया।[३] इस प्रकार जर्मन और ब्रिटिश विज्ञानवाद राजनीति के दार्शनिक आधार को बतानेवाला दुनिया में तीसरा महान् युग था।

राजनीतिशास्त्र को नैतिक और दार्शनिक स्वरूप प्रदान करने वाला चौथा महान् युग आधुनिक भारत में राममोहनराय, दयानन्द, तिलक, विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ, महात्मा गांधी, श्रद्धानन्द, विपिन पाल, लाजपतराय और अरविन्द की विचारधारा में उपस्थित हुआ।[४] ये सब महापुरुष वेद और वेदान्त की शिक्षाओं से प्रभावित थे। मानव-समतावाद और जागतिक कल्याण की जो जबर्दस्त घोषणा आधुनिक भारत में हुई है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यदि एक ओर अमरीकी और फ्रान्सीसी स्वतन्त्रताघोषणापत्रों का प्रभाव आधुनिक भारत में रहा है तो दूसरी ओर इस देश में वेदान्त और बौद्ध-धर्म के नीतिमार्ग का भी समर्थन हुआ है। यह ठीक है कि ऊपर लिखित विचारकों में से एक ने भी राजनीतिशास्त्र पर दार्शनिक समीक्षात्मक ग्रन्थ की रचना नहीं की है तथापि इनके विभिन्न ग्रन्थों में इस प्रकार के अनेक वाक्य और परिच्छेद भरे पड़े हैं जिनके आधार पर एक दार्शनिक राजनीतिशास्त्र का निर्माण हो सकता है। इन विचारकों का भारत में बहुत ही महान और जगत् में भी आंशिक प्रभाव पड़ा है। तिलक के 'गीता-रहस्य', और अरविन्द के 'मानव-एकता का आदर्श' ग्रन्थ में क्रमशः नीतिशास्त्र और राजनीतिक इतिहास के दार्शनिक विवेचन का प्रयत्न है, किन्तु राजनीति-

१. Hegel: Philosophy of History, Philosophy of Right.

२. T. H. Green: Prolegomena to Ethics, Lectures on the Principles of Political Obligation; Muirhead, The Service of the State.

३. F. H. Bradley: Ethical Studies; Bernard Bosanquet, Philosophical Theory of the State, Social and International Ideals, Civilization and Christendom, Suggestions in Ethics.

४. Sri Aurobindo: The Ideal of Human Unity, The Human Cycle, The Ideal of Karmayogin, Bankim-Tilak-Dayananda,

शास्त्र के जो परम्पराप्राप्त विषय हैं, उनके विनिश्चित क्रमबद्ध विवेचन का वह प्रयास जो अरस्तू, ग्रीन, बोसांक्वेट आदि के ग्रन्थों में प्राप्त होता है, तिलक और अरविन्द में नहीं उपलब्ध है। राजनीतिशास्त्रीय दृष्टि से इन कमियों के होते हुए भी जो मानव के आत्मिक उत्कर्ष और नैपुण्य का उदात्त वर्णन दयानन्द, विवेकानन्द, गांधी आदि ने किया है। उसने आधुनिक भारत में नवजीवन फूंका है।[1] जर्मन और ब्रिटिश विज्ञानवाद में समूह और राज्य का महत्व स्वीकृत था। आधुनिक भारतीय विज्ञानवाद और अध्यात्मवाद मानवआत्मा के अतिशय विशाल नैतिक सर्जनात्मिका शक्ति का उद्घोषण करने में प्रकृष्टरूप से सफल रहा है। राजनीतिक कर्मयोग का किस प्रकार धर्मपूर्ण दार्शनिक और निदिध्यासनात्मक योग में पर्यवसान होता है इसका महान् मन्त्र दयानंद, तिलक और गांधी में प्राप्त होता है। गांधी ने सर्वदा राजनीतिक जीवन और जनसेवा को मोक्षमार्ग का साधन मानकर क्षुद्र भोगमय स्वार्थों से ऊपर जाने का प्रयास किया। सर्वहितवाद का जो व्यापक समर्थन भारतीय विज्ञानवाद में मिलता है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दयानन्द, विवेकानन्द तिलक आदि ने बताया है कि मानव-आत्मा अजर-अमर है और किसी भी राज-नीतिक और संगठित शक्ति से भय करने का कोई कारण नहीं है। गांधी की अहिंसा पीड़ित और शोषित एशिया और अफ्रीका के लिए ही नहीं, अपितु मदान्ध क्रूर शक्तिवादियों के लिए भी एक महान जादू भरे मन्त्र का कार्य करेगी।[2] श्री अरविंद ने ऋग्वेद और प्राचीन उपनिषदों के आधार पर परमविज्ञानात्मक जगत्कर्तृत्वशक्तिसम्पन्न ऋतचित् का दर्शन उपस्थित किया है जो यद्यपि बौद्धिक दृष्टि से अप्रतर्क्य और अविश्वसनीय भी प्रतीत होता है तथापि इतने अंश तक संग्रहणीय है कि इसके अनुसार राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों का समाधान केवल नूतन संस्थाओं के निर्माण से नहीं हो सकता अपितु संस्थासंचालक

---

१. V. P. Varma : 'Vivekananda, The Hero-Prophet', Patna College Magazine, September 1946; विश्वनाथप्रसाद वर्मा : बुद्ध और दयानंद, संस्कृति पटना १९५२; Romain Rolland : Vivekananda; The Complete works of Vivekananda, आठ खंडों में; Sister Nivedita : The Master as I Saw him; दयानंद, सत्यार्थ प्रकाश; Sarda (Edited), Dayananda Commemoration Volume; Lajpat Rai : The Arya Samaj.

२. Rene Fullop-Miller : Lenin and Gandhi; Stanley Jones, Mahatma Gandhi; Gandhi : Young India तीन खंड, Satyagraha in South Africa.

मनुष्यों के अन्दर एक आध्यात्मिक रूपान्तर की आवश्यकता है।[1] इस प्रकार भारतीय विज्ञानवाद को हम राजनीतिक दर्शन के विकास का चौथा युग कह सकते हैं।

स्वभावतः ही यह प्रश्न उठ सकता है कि राजनीतिक दर्शन की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण इन चार परम्पराओं के होते हुए भी मैं क्यों एक स्वतन्त्र राजनीतिक दर्शन का निर्माण करने का अभिलाषी हूँ। मैं मानता हूँ कि ये परम्पराएँ तेजस्वी और उदात्त होने पर भी पूर्ण नहीं हैं। राजनीतिक दर्शन की उत्पत्ति समयसापेक्ष होती है। मानव-आत्मा की नैतिकता और अध्यात्मभावापन्नता के मूलसूत्र को ध्यान में रखते हुए जगत् में वर्तमान सामाजिक और राष्ट्रीय प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत करना ही राजनीतिक दर्शन का मुख्य लक्ष्य है। यूरोप और अमरीका में आज राजनीतिक दार्शनिकों का अभाव है। ग्रीन, बोसांक्वेट और हाबहाउस की परम्परा और उत्कर्ष का स्मरण कराने वाले पुरुष नहीं मिल रहे हैं। आज पश्चिमी जगत् में राजनीतिक दर्शन का यदा-कदा उपहास भी होता है। राजकीय पदार्थों का युक्ति-युक्त याथातथ्य विवेचन ही पर्याप्त समझा जाता है। अतएव ध्यानपूर्वक देखने से बौद्धिक नैराश्य उत्पन्न होता है। राजनीतिक–दर्शन का स्थान आज प्रशासन-कला को दिया जा रहा है।[2] दार्शनिक का पद, वर्णनकार ले रहा है। आज पश्चिमी राजनीतिशास्त्र भयंकर संक्रमण से गुजर रहा है। वह पूर्णतः लक्ष्यविहीन हो गया है और उसके नैतिक और बौद्धिक दिवालियेपन का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि बहुत से पश्चिमी राजनीतिक विचारकों ने ऐसी उद्घोषणा की है कि राजनीतिशास्त्र तो भावनानिरपेक्ष, नीति और श्रेयनिरपेक्ष विज्ञान है, उसे मानव को सन्मार्ग पर लाने के प्रयास को नीतिशास्त्र और दर्शन के मत्थे छोड़ देना चाहिए और विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से वस्तुओं का केवल मात्र विश्लेषण करना ही राजनीतिक शास्त्र की इतिश्री है। पश्चिम की इस वैज्ञानिकता और नीतिनिरपेक्षता ने भारत के विचारकों के अन्दर भी उथल–पुथल पैदा कर दी है। ऐसी अवस्था में आवश्यक है कि विचारपूर्वक राजनीतिशास्त्र की विभिन्न धाराओं और उनके दार्शनिक आधार का ज्ञान प्राप्त किया जाय। राजनीतिक दर्शन की सबसे बड़ी आवश्यकता इस समय भारतवर्ष में है। सदियों की चैतन्यहीनता के बाद इस महान् देश ने आत्मबोध प्राप्त किया है। क्या हम ऐसी अवस्था में अपने

१. Sri Aurobindo: The Life Divine, The Synthesis of Yoga, Savitri, Essay on the Gita, Collected Poems and Plays, Letters चार खंड।

२. आज 'Public administration' की धूम हो रही है।

प्राणदायक महान् सांस्कृतिक आधारों का परित्याग कर अहम्मन्य पश्चिमी विचारकों का अन्धानुगमन ही करेंगे ? मेरी समझ में यह आत्मघातिनी नीति श्रीकृष्ण, बुद्ध, कौटिल्य, अशोक और तिलक के देशवासियों के लिए उपयुक्त नहीं है । अभी देशहित के लिए आवश्यक है कि प्राच्य और पाश्चात्य विचारधाराओं का समन्वय स्थापित हो ।[१] पश्चिम के अन्धानुवर्ती, वेदान्त तथा बौद्धदर्शन के द्वारा प्रणीत आत्मवाद तथा नीतिशास्त्र की भी पूर्णतः उपेक्षा करते हैं ।[२] पूर्व के अन्धानुवर्ती को लौक तथा रूसो और मार्क्स की सामाजिक और राजनीतिक विचारधारा में कोई वस्तु ग्राह्य तथा नूतन नहीं मालम पड़ती है । हम एक ऐसे राजनीतिक दर्शन की आवश्यकता है जिसमें भारत के आत्मवाद और पश्चिम की विशाल सामाजिकशास्त्रीय पद्धति का समन्वय हो । दर्शन ने हमें बताया है कि एकांशदर्शिनी बुद्धि समस्त कल्मषों को उत्पन्न करती है । जब हम समस्त का दर्शन करते हैं तब दुःख, दारिद्र्य और पाप रह नहीं सकते । इसलिए आवश्यक है कि राजनीतिशास्त्र में हम राज्य की सम्पूर्णता का दर्शन व्यक्त करें । किस प्रकार राज्य का ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टि से विकास कर, राजकीय परिपाक की ओर हम अग्रसर हो सकते हैं, इसपर विचार-विमर्श आवश्यक है । इतिहास, समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र से प्राप्त ज्ञान के आधार पर ही वैसा राजनीतिशात्र निर्मित हो सकता है जो राज्य की परिपूर्णता और परिपाक का दर्शन उपस्थित कर सके । प्लेटो, अरस्तू, हेगेल, मार्क्स आदि ने राजनीतिकशास्त्र के इस विराट् रूप की कल्पना की थी, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी से जो पद्धति प्रचलित है, उसमें राज्य के आंशिक अंगों और उपांगों की गहरी मीमांसा में हम इतने पूर्णतः तल्लीन हो गये हैं कि मनुष्य की ओर से हम उदासीन हैं । आवश्यकता इस बात की है कि पृथक्रूप से जो सामाजिक शास्त्रों की अभूतपूर्व उन्नति हुई है, उनके निष्कर्षों के समन्वय का प्रयास किया जाय ।[३] अन्यथा हाथी के अलग-अलग अंगों का हमें ज्ञान ही होगा, हाथी नामक जन्तु का नहीं । राजकीय और आर्थिक क्षेत्रों में पश्चिम की तुलना न करते हुए भी भारतीय संस्कृति में मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक स्वरूप का जो

---

१. V. P. Varma: 'Politics and Ideology', Calcutta Review, June 1952, 'Towards a New Political Thought', Patna College Magazine, April 1953.

२. विश्वनाथ प्रसाद वर्मा: 'अद्वैतवाद और वेद', पारिजात, सितम्बर, १९४६, 'उपनिषद् की विचारधारा', 'औपनिषदिक तत्त्वचिंतन', साहित्य १९५१–१९५२, 'बुद्ध की विचारधारा', किशोर १९४६, 'स्वामी रामतीर्थ के कुछ विचार', किशोर, १९४६ ।

३. Gurvitch (सम्पादित): Twentieth Century Sociolo

विश्लेषण किया गया है, वह जगत् के इतिहास में अनुपम है। प्रेम, करुणा, मैत्री, क्षमा, दया आदि दिव्य और विशाल भावनाओं पर ही समाज टिका रह सकता है। ये विशाल भावनाएँ मानव के नैतिक और आत्मिक स्वरूप से निःसृत होती हैं। भगवान् बुद्ध के जीवन में जो दैवी करुणा व्यक्त है, उससे बराबर शिक्षा ग्रहण कर ही हम एक संगठित नूतन समाज की रचना कर सकते हैं।

दर्शन के दो अर्थ हमने स्वीकृत किये हैं। (१) कृत्स्नज्ञान—राजनीतिशास्त्र के आधारभूत मूल सिद्धान्तों का ज्ञान हमें कोरी राजनीति से नहीं हो सकता। इसके लिए अन्य सामाजिक शास्त्रों का भी आश्रय लेना पड़ेगा। इतिहास, प्राचीनमानवोत्पत्तिशास्त्र,[1] निवासशास्त्र[2] आदि के द्वारा अनुमोदित सिद्धान्तों के सहारे ही हम उस व्यापक राजनीतिशास्त्र की स्थापना कर सकते हैं जो समग्रतः और तत्त्वतः राज्य की पूर्ण समीक्षा कर सके। उदाहरण के लिए, अबतक भारतीय इतिहास के ज्ञान के अभाव में, पश्चिमी राजनीतिशास्त्रवेत्ता इसी बात को प्रचारित कर रहे हैं कि धार्मिक सहनशीलता के विचार को प्रथम जान लौक ने व्यक्त किया और पश्चिमी सभ्यता के विस्तार के माध्यम से यह उसकी देन जगत् को है।[3] कहने की आवश्यकता नहीं कि अशोक का बारहवाँ शिलालेख धार्मिक सहनशीलता का ही पूरा पोषक है। यही नहीं, वेदांत और गीता की शिक्षाओं के आधार पर विवेकानन्द, गांधी आदि ने बताया है कि सहनशीलता से भी अधिक उत्कृष्ट सर्वधर्मसमभाव है, जिसे पूरी रीति से समझने के लिए पश्चिम को कुछ वर्षों तक प्रयत्न करना पड़ेगा। इसी प्रकार समाजशास्त्र के ज्ञान से दण्ड का व्यापक स्वरूप हम समझते हैं।[4] अतः आवश्यकता है कि हमारी दृष्टि विशाल और समन्वयदर्शिनी बने।[5] प्रस्तुत पुस्तक में इसी समन्वयात्मिका पद्धति का अवलम्बन होगा। राज्य की मीमांसा करने में हम केवल राजनीतिशास्त्रविशारदों की पुस्तक-राशि का ही प्रयोग न करेंगे, अपितु अन्य सामाजिक शास्त्रवेत्ताओं के विचारों के आलोचन में भी प्रवृत्त

---

१. प्राचीनमानवोत्पत्तिशास्त्र—Anthropology.

२. निवासशास्त्र—Human Ecology.

३. John Locke : Essays on Toleration; Robert Mac Iver : The Web of Government.

४. 'Sociology of Power' के लिए द्रष्टव्य Max Weber, Wirtschaft und Gesellschaft; Lasswell, Power and Personality.

५. तुलनीय, Aristotle. Politics III, "For he who would make a philosophical study of the various scie-

होंगे। (२) मानव के नैतिक और आध्यात्मिक स्वरूप का ग्रहण:—जिस प्रकार दार्शनिक पद्धति के प्रथम अर्थ के ग्रहण में हम पश्चिमी सामाजिक शास्त्रों से विशेष प्रभावित रहेंगे, उसी प्रकार उसके दूसरे अर्थ—अर्थात् मानव का नैतिक और आध्यात्मिक स्वरूप——में हम मूलतः भारतीय संस्कृति के संदेशवाहकों से प्रभावित हैं। आज सामाजिक योजना और राजकीय संगठन के नाम पर मानव को कुचलने का खतरनाक प्रयास जारी है। समाज के नाम पर अपने को होम करना ही जीवन का चरम लक्ष्य माना जा रहा है। युद्ध के समय में तो राज्यसूत्रधारकों की शक्ति प्राचीन बर्बर तानाशाहों की शक्ति से भी अधिक भयंकर साबित हुई है। ऐसे भयानक संक्रमण काल में आवश्यक है कि एक बार फिर भी मानव के सामाजिक और राजनीतिक स्वरूप का विश्लेषण किया जाय। मानव-सभ्यता को प्रत्यक्ष खतरे से बचाने के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक मानव यह समझे कि वह साध्य है, सामाजिक शक्तियों का केवल साधन नहीं। भगवान बुद्ध ने कहा था——"अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।" अगले अध्यायों में इसी नैतिक और आध्यात्मिक मानववाद को लक्ष्य में रख कर व्यापक सामाजिक शास्त्रों के निष्कर्षों को आधारभूत मानकर राजनीतिशास्त्र की मीमांसा की जायगी।

---

nces, and does not regard practice only, ought not to overlook or omit anything, but set forth the truth in every particular". वही, IV ; "In all arts and sciences which embrace the whole of any subject, and do not come into being in a fragmentary way it is the province of a single art or science to consider all that appertains to a single subject."

द्वितीय अध्याय

राजनीतिशास्त्र की अध्ययन-पद्धति

क. राजनीतिशास्त्र और इतिहास।

प्राचीनकाल से लेकर आजतक, राजनीतिशास्त्र का अध्ययन किस पद्धति से हो, इस प्रश्न पर विचार किया गया है। किन्तु इसका विशेष विवेचन अरस्तू, हाब्स, हेगेल, मार्क्स और मैक्स वेबर आदि में पाया जाता है। राजनीतिशास्त्र पर लिखनेवाला प्रत्येक व्यक्ति किसी पद्धतिविशेष का अनुगमन अवश्य ही करता है, किन्तु कुछ लेखक पद्धति का विशेष और स्वतन्त्र विवेचन करते हैं। राजनीति के दार्शनिक विवेचन में इन पद्धतियों के विवेचन की विशेषतर आवश्यकता है।[१] अबतक जो पद्धतियाँ राजनीतिशास्त्र के विवेचन की प्रचलित रही है, उनमें से कुछ प्रधान पद्धतियों की मीमांस करही हम एक समग्रमूलिका पद्धति का समर्थन कर सकते हैं।

इतिहास के साधारणतः दो अर्थ होते हैं। एक, समाज और राष्ट्र में बीती हुई घटनाएँ। जो कुछ होता है, वह सब इतिहास ही है। जहाँ-जहाँ गति है, परिवर्तन है वहाँ इतिहास है। यों कह सकते हैं कि सारा जगत् ही इतिहास है। जो कुछ कूटस्थ, अव्यक्त और निर्विशेष है, वह इतिहासातीत है। सारी प्रकृति और उसके परिणाम इतिहास हैं।[२] किन्तु इस व्यापक मीमांसा में न जाकर मानव-जीवन के सामूहिक अंगों से सम्बद्ध घटनाओं को ही हम इतिहास के अन्तर्गत मानते हैं। इतिहास का दूसरा अर्थ होता है, घटनाक्रमों का वर्णन करने वाला ग्रंथ। इस प्रकार राजतरंगिणी, महाभारत आदि इतिहास हैं। हेगेल और बोसांक्वेट राज्य

---

१. Max Weber: Methodology cf the Social Sciences; Felix Kaufmann, Methodology of the Social Sciences; Otto Neurath, Methodology of Social Sciences; Morris Cohen: Reason and Nature; F.S.C. Northrop, The Logic of the Sciences and the Logic of Humanities; Talcott Parsons, The Structure of Social Action, The Social System, Essays in Sociological Theory; David Easton, The Political System.

२. Hugh Miller : History and Science; M. Mandelbaum, The Problem of Historical Knowledge.

की दार्शनिक मीमांसा के लिए ऐतिहासिक पद्धति को अनावश्यक बताते हैं। दार्शनिक मीमांसा परिपाक की व्याख्या करती है और इसलिए बौद्धिक दृष्टि से राज्य की परिपूर्णता को परिकल्पित कर ही हमें राजकीय कर्तव्य का समीक्षण करना चाहिए। किन्तु हम इस विचार का खण्डन करते हैं। इतनी दूर तक हम हेगेल और बोसांक्वेट से सहमत हैं कि दार्शनिक मीमांसा परिपाक की ही हो सकती है। किन्तु यह परिपाक बुद्धिप्रकल्पित न होकर इतिहास को चरम विकसित अवस्था का द्योतक है। राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में इस प्रकार के इतिहासप्राप्त परिपाक की हम उपेक्षा नहीं कर सकते। स्वयं हेगेल ने 'राज्य के प्रत्यय' के विश्लेषण करने में तत्कालीन जर्मनी में वर्तमान राज्य का जबर्दस्त आधार ग्रहण किया है। बोसांक्वेट ब्रिटेन में वर्तमान प्रजातन्त्रीय शासन का हेगेल के आदर्शवाद से सम्मिश्रण करना चाहता था। यह ठीक है कि ऐतिहासिक विकास परम्परा को उपस्थित कर देना ही दार्शनिक मीमांसा नहीं है, किन्तु मैं यह कह रहा हूँ कि दार्शनिक पद्धति इतिहास की उपेक्षा नहीं कर सकती है। अट्ठारहवीं शताब्दी से यूरोप में 'इतिहास का दर्शन' शास्त्र की नींव पड़ी।[१] इतिहास के दर्शन से राजनीतिशास्त्र का सम्बन्ध है। किन्तु जो सामान्य सिद्धान्त इतिहास के दर्शन में उपस्थित किये जाते हैं वे राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्तों की अपेक्षा अधिक व्यापक रहते हैं। कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट होगा। हेगेल के मतानुसार समस्त इतिहास विश्वचैतन्य का जागतिक घनीभाव है और स्वातन्त्र्यान्वेषण का मूल ईक्षण इसमें व्यक्त हो रहा है। क्रोचे ने कहा है कि इतिहास विमोक्ष की कहानी है।[२] श्री अरविन्द के विचार में फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति और बंगाल के राष्ट्रीय-आन्दोलन काली-शक्ति के लीलानृत्य हैं।[३] ये विचार इतिहास के दर्शन से सम्बन्ध रखते हैं, किन्तु इस प्रकार के विचारों का सम्बन्ध उन लेखकों के धार्मिक और तात्त्विक मत से है। किन्तु राजनीतिशास्त्र में हम बहुत गहरे व्यावहारिक समीक्षण और बौद्धिक परीक्षण के आधार पर ही कोई सिद्धान्त व्यक्त कर सकते हैं। कहने का तात्पर्य ह कि इतिहास से प्रभावित राजनीतिशास्त्र, इतिहास के दर्शन की अपेक्षा अधिक पदार्थसंश्रयी और अनुभवापेक्ष होता है। यदि फ्रान्स और ब्रिटेन के प्रायः पचास वर्षों के आर्थिक इतिहास की मीमांसा के आधार पर हम यह कहें कि प्रजातन्त्र समाजवाद के बिना अपूर्ण है तब यह इतिहासानुमोदित राजनीतिशास्त्र के एक सामान्य विचार का उदाहरण हुआ।

इतिहास, राजनीतिशास्त्र के अनेक आधारशास्त्रों में एक है। इतिहास में घटी

१. N. Berdyaev: The Meaning of History.
२. B. Croce: History as the Story of Liberty.
३. Sri Aurobindo: The Ideal of the Karmayogin.

महत्त्वपूर्ण घटनाओं के आधार पर राजनीतिक विचारधारा का प्रणयन होता है। स्पार्टा और एथेंस के बीच जो भयंकर पेलोपोनेसियन संग्राम हुआ, उसके भयानक परिणामों को देखते हुए ही प्लेटो ने अपने महान् राजनीतिशास्त्र की रचना की। फ्रान्स की राज्यक्रान्ति की प्रतिक्रिया में ही बर्क, हेगेल, डोनोजो कोर्टेज आदि ने अपना समयपोषक राजनीतिक दर्शन उपस्थित किया।[१] दूसरी ओर यह भी ठीक है कि लाक और मान्टेसक्यू के विचारों का अमरीकी राज्यक्रान्ति, रूसो के विचारों का फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति, और मार्क्स तथा ऐंगेल्स के राजनीतिक विचारों का प्रभाव रूसी राज्यक्रान्ति पर बड़े वेग और शक्ति से पड़ा है। राजनीतिक और सामाजिक संघर्षों को ही बल प्रदान करने और बौद्धिक दृष्टि से व्याख्येय बनाने के लिए प्रजातंत्र स्वतंत्रता, समानता, साम्यवाद आदि की सिद्धान्तधारा उत्पन्न हुई है। राजनीतिक शास्त्र के मूल आधारभूत शब्दों स इतिहास की गति को समझने में सहायता मिलती है। अहिंसात्मक असहयोग और सविनय अवज्ञा, ये महान् शब्द, भारत के सन् १९२० से सन् १९३४ तक के इतिहास को हमारे सामने स्पष्ट कर देते हैं। इतना स्पष्ट है कि इतिहाससंश्रयी होने पर भी राजनीतिशास्त्र इतिहास की अपेक्षा अधिक सैद्धान्तिक है। इतिहास घटनाप्रधान ह, राजनीतिशास्त्र घटनाओं के आधार पर सिद्धान्तनिर्माण और विचार-प्रतिपादन पर अधिक ध्यान देता है।

राजनीतिशास्त्र को इतिहासाधारित करने की परम्परा बड़ी प्राचीन है। राजर्षि-वृत्त और राजधर्म के सम्यक् परिपालन के लिए विनय और कामादिशत्रुषड्वर्ग-विजय के सिद्धान्त के पोषण में कौटिल्य ने अनेक भारतीय नरपतियों के चरित्र का सहारा लिया है। व्यापकरूप से इतिहास के द्वारा और ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर राजनीतिक नियमों के निर्माण की परम्परा अरस्तू से आरम्भ होती है। दार्शनिक दृष्टि से प्लेटो गणित के द्वारा प्रभावित था, और प्राणिशास्त्रवेत्ता अरस्तू अन्तिम लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए भी राजनीतिशास्त्र के निर्माण में मानवजाति के संरक्षित अनुभवों के योग करने का समर्थक था। मानवजाति के संचित सामाजिक अनुभवों के नितान्त प्रतिकूल किसी अतिशय नूतन प्रस्ताव का वह विरोधी था। प्राचीन जरथूस्त्र–धर्म के समान और भारतीय पुराणों के समान वह सभ्यतावृत्त के कालिक-प्रलय[२] में विश्वास रखता था। मानव-इतिहास में सर्वदा ऋजुरेखात्मिका गति से

१. Edmund Burke, Hegel, Donoso Cortez, Bonald, de Maistre तथा von Haller. समयपोषक—Supporter of Status Quo (Conservative)

२. Periodic Destruction.

उन्नति हो रही है ऐसा विचार उसने स्वीकृत नहीं किया। इतिहास की वृत्तात्मक व्याख्या, यूनानी संस्कृति की देन है।[१] तथापि, देशविशेष के इतिहास में प्रारम्भिक अवस्था से चलकर सामाजिक, राजनीतिक तथा विधानात्मक उन्नति होती है, ऐसा विचार रखने के कारण अरस्तू प्राचीन हिन्दू-विचारधारा से, जिसके अनुसार चतुर्युग मानव के क्रमिक पतन के इतिहास हैं, भिन्न विचार उपस्थित करता है। यद्यपि अपने ग्रन्थों, 'राजनीतिशास्त्र' और 'एथेंस का विधान' में अरस्तू ने ऐतिहासिक उदाहरणों का बहुत प्रयोग किया है, तथापि वह केवलमात्र ऐतिहासिक पद्धति का समर्थक नहीं है।[२] बहुत अंशों तक उसकी सामाजिक विचारधारा उसके दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से निःसृत है। उदाहरणार्थ, अरस्तू का यह कथन कि, परिवारों से ग्राम बनता है और ग्राम-समूहों के संघात से एक नागरिक राज्य, ऐतिहासिक मीमांसा पर आश्रित है, किन्तु यह कहना कि ऐतिहासिक दृष्टि से पश्चाद्वर्त्ती होते हुए भी राज्य, तार्किक या व्याख्यात्मक दृष्टि से ग्राम से प्राग्वर्ती है, उसके दार्शनिक विचारों के राजनीतिक फलनिःसरण का ही परिणाम है।

अरस्तू के अतिरिक्त मैकियावेली और मौन्टेसक्यू में भी ऐतिहासि पद्धति का आश्रयण मिलता है। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'राजकुमार' के प्रारम्भ में मैकियावेली ने कहा है कि ऐतिहासिक अनुभव और महापुरुषों के वृत्तान्त ही उसके राजनीतिक चिन्तन के आधार हैं।[3] इस प्रकार ऐतिहासिक पद्धति का अवलम्बन उसको मध्ययुग की परिव्याप्त धर्मशास्त्रात्मक पद्धति से अलग करता है। मैकियावेली शक्तिवाद का समर्थक था और अपने विचारों की पुष्टि में उसने हजरत मूसा, सम्राट् कुरु थीसस, रोम्यूलस आदि का उदाहरण दिया है। अपने ग्रंथ—'टायटस लीभीयस के दशग्रंथों पर प्रवचन" में, उसने रोम के गणतंत्र के समय वर्तमान शीलों का समर्थन किया है।[४] अट्ठारहवीं शताब्दी का फ्रांसीसी लेखक मौन्टेस्क्यू ने भी अपने ग्रंथ—"विधियों का आत्मा", में ऐतिहासिक समीक्षण का आश्रय लिया है।[५] अट्ठारहवीं शताब्दी में बौद्धिक

१. The Cyclical Interpretation of History—इसकी विशेष विवेचना के लिए द्रष्टव्य, P. A. Sorokin : Social and Cultural Dynamics, चतुर्थ खण्ड।
२. Aristotle: The Constitution of Athens, Politics.
३. Machiavelli: Prince.
४. Machiavelli: Discourses on the First Ten Books of Titus Livius.
५. Montesquieu : Spirit of Laws.

और तार्किक विचिन्तन का प्राबल्य था। किन्तु प्रसिद्ध, इतिहास के दार्शनिक, इटालियन लेखक वायको से प्रभावित होने के कारण मौन्टेस्क्यू ने पर्याप्त संख्या में ऐतिहासिक उदाहरणों के आधार पर अपने राजनीतिक विचारों को पुष्ट किया है।[1] प्रशासन की प्रणालियों का उसका वर्गीकरण बड़ा प्रसिद्ध है और इतिहासनिष्ठ है। इतिहास की उसने सिडनी, बोशूए और बकल के समान जलवायुमूलक व्याख्या प्रस्तुत की है।[2] बहुत आलोचकों ने, विशेषतः वोल्टेयर ने, मौन्टेस्क्यू के ऐतिहासिक उदाहरणों की सचाई पर गहरा सन्देह प्रकट किया है, तथापि ऐतिहासिक पद्धति के प्रयोग में उसके योगदान को हम स्वीकार करते हैं।

इतिहास की एक नई जबर्दस्त व्याख्या करने का प्रयास जर्मन महादार्शनिक हेगेल में मिलता है।[3] इतिहास की दार्शनिक मीमांसा करना, हेगेल के राजनीतिक-दर्शन का एक अंश था। इतिहास की दार्शनिक व्याख्या का तात्पर्य है ऐतिहासिक घटनाओं पर तर्कनिष्ठ बुद्धि-निक्षेप। समस्त इतिहास में विमोक्ष का प्रचण्ड ईक्षण परिदृष्ट होता है। हेगेल के मतानुसार पूर्व के इतिहास में अव्यक्त अनन्त की उपासना व्यक्त होती है, यूनान और रोम का इतिहास विशिष्ट सान्त का समर्थक है और खीष्टीय धर्माव-लम्बी जर्मन जातियों के इतिहास में अव्यक्त अनन्त और विशिष्ट सान्त का समन्वय है। पूर्वीय देशों में एकतन्त्र था, अतः वहाँ केवल राजा या एकच्छत्र सम्राट् ही स्वतन्त्र था; यूनान और रोम में दासप्रथा थी, अतः वहाँ एक सीमित वर्ग ही स्वतन्त्र था; किन्तु खीष्टीयधर्मावलम्बी जर्मन जातियों में मानव आत्मा की स्वतन्त्रता का उद्घोषण है। ऐतिहासिक क्रम में परिलक्षित विकासशील स्वातंत्र-प्रवृत्ति ही राज-कीय व्यवस्था का, हेगेल के मत में, आधार और लक्ष्य है। यद्यपि राजकीय तत्त्वों के दार्शनिक अनुशीलन में हेगेल बुद्धि के द्वारा संप्राप्त समीक्षण का ही समर्थक था, और ऐतिहासिक विकासावस्था के बदले परिपाक को ही दार्शनिक दृष्टि से अनुशीलन का विषय मानता था, तथापि राजकीय व्यवस्था के आधार और परम लक्ष्य-विमोक्ष के ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया उसने उपस्थित की है।

आधुनिक पश्चिमी समाजशास्त्र में भी ऐतिहासिक पद्धति का आश्रयण मिलता है। जर्मन समाजशास्त्रवेत्ता मार्क्स वेबर ने आधुनिक यूरोपीय इतिहास के आधार पर,

---

१. Vico.

२. Sidney: Bossuet and Buckle.

३. हेगेल के इतिहास सम्बन्धी विचारों के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य, V. P. Varma, Hegel's Philosophy of History, Philosophical Quarterly, April, 1954.

आरम्भिक पूँजीवाद कल्विन की धार्मिक शिक्षाओं पर आधारित था, ऐसा विचार रखा है। पूँजीवाद की समाजशास्त्रीय व्याख्या में उसका ऐतिहासिक उद्‌भव बताना एक प्रधान कार्यक्रम रहा है।[१] इटालियन समाजशास्त्रवेत्ता और गणितात्मक अर्थशास्त्र का जन्मदाता विलफ्रेडो परेटो भी अपने समाजशास्त्रीय निष्कर्षों को इतिहासाधारित करता है। यूनान, रोम और आधुनिक यूरोप के इतिहास के आधार पर ही उसने अपने प्रसिद्ध सिद्धान्त—'शक्तिशाली अल्प पुरुषों का परिचलन', का निर्माण किया है।[२] उन्नीसवीं सदी के महान् समाजशास्त्रवेत्ताओं—कौम्ट, हर्बर्ट स्पेन्सर, मौरगन आदि में भी हम ऐतिहासिक पद्धति का आश्रयण पाते हैं।[३] आलबियन स्माल, सिमेल, अलफ्रड वेबर आदि ने भी एतिहासिक समाजशास्त्र के निर्माण में बड़ा जबदस्त कार्य किया है।[४] मनुष्यों के समस्त कार्यकलापों और विचिन्तन को संस्कृति में अन्तर्निष्ठ कर कला, गणित, दर्शन और राजकीय व्यवस्था के ऐतिहासिक विकास का एक बड़ा महान् चित्र, स्पेंगलर ने अपने सिद्ध ग्रन्थ—'पश्चिम का पतन' में प्रस्तुत किया है।[५]

मेरे विचार में राजनीतिशास्त्र को इतिहास का काफ़ी आश्रय लेना पड़ेगा। यह ठीक है कि कुछ विचारकों का यह कथन है कि अब समय आ गया है कि ऐतिहासिक व्याख्या-पद्धति के बदले क्रियात्मिका व्याख्या-पद्धति को स्थापित करना चाहिए।[६] अर्थात् किसी वस्तु के स्वरूप-निर्णय में इसी विवेचन से काम नहीं चलेगा कि वह वस्तु किस प्रकार विकासावस्था को प्राप्त होती रही है; किन्तु उसका वर्तमान कार्यक्रम देखना होगा। किसी वस्तु के स्वरूप निर्णय में उसके ऐतिहासिक क्रममात्र को उपस्थित करने को 'ऐतिहासिक अपसिद्धान्त' का नाम दिया गया है। मैं मानता हूँ कि वस्तुस्वरूपनिर्णय में वस्तु की क्रियाकारित्वशक्ति

---

१. Max Weber: The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism.

२. Vilfredo Pareto के सिद्धान्त 'tThe circulation of the elite' के लिए द्रष्टव्य Mind and Society चार खण्ड।

३. A. Comte; Herbert Spencer: Principles of Sociology तीनखंड Morgan: Ancient Society, Systems of Consanguinity and Affinity of the Human Family.

४. Georg Simmel: Albion W. Small, Alfred Weber.

५. Oswald Spengler: The Decline of the West.

६. Functional and Operational Methods.
Genetic Fallacy.

का विवेचन करना होगा; किन्तु वह क्रियाकारित्वशक्ति एतिहासिक कार्यशैली का ही तो परिणाम है। आजकल शरीरविज्ञानवेत्ता भी ऐतिहासिक पद्धति का आश्रय लेते हैं। कोई रोगग्रस्त पुरुष जब उनके पास जाता है तब वे उसका पूरा इतिहास, आयु आदि नोट करते हैं। इन्श्योरेन्स कम्पनियाँ, बीमा स्वीकार करने के पहले, स्वीकरणीय पुरुष का इतिहास देखती हैं। सरकार उत्तरदायी पदों पर नियुक्त करने के पहले, गुप्तचरों से भावी कर्मचारी का पिछला इतिहास पता लगाती है। जब किसी पुरुष से हमारा परिचय कराया जाता है तब उसके निवासस्थान और उसके पिता का नाम लिया जाता है। इन विभिन्न उदाहरणों से स्पष्ट है कि किसी वस्तु को पूर्णतः समझने के लिए उसके इतिहास का ज्ञान परम आवश्यक है। सम्पूर्ण जगत् में और हमारे जीवन में निरन्तर वर्तमान, अटूट सातत्य है। दार्शनिक दृष्टि से संस्कारवाद का आश्रय लेकर बुद्ध और पूर्णतः परिव्याप्त प्राणवाद का आश्रय लेकर फ्रान्सीसी दार्शनिक बर्गसाँ ने बताया है कि समस्त भूत हमारी स्मृति में समाया हुआ है।[1] सदियों का इतिहास पत्थर के एक टुकड़े में समाया है। इस प्रकार विचार करते हुए हम राजनीतिशास्त्र के ऐतिहासिक समीक्षण के पक्षपाती हैं। समस्त-भूत का ही परिणाम वर्तमान है। इतिहास को हम सिर्फ पिछले काल के सैद्धान्तिक ज्ञान के ही लिए नहीं पढ़ते हैं। इतिहास को ज्ञान के राजनीतिशास्त्र निमित्त पढ़ने के लिए कुछ आवश्यक संकलन-पद्धति का आश्रय लेना होगा। बिना संकलन के हमें यह पता नहीं लगेगा कि हमारे लिए क्या आवश्यक है। इतिहास ही उस-घटना राशि को दान करेगा, जिसके आधार पर राजनीति शास्त्र के नियम निर्मित होंगे। इसलिए हमें आधार की प्राप्ति के लिए इतिहासार्णव का ही आश्रय ग्रहण करना होगा। पुनश्च, जिस प्रकार अपने सिद्धान्तों के परीक्षण के लिए वैज्ञानिक प्रकृति का आश्रय लेता है उसी प्रकार अपने राजनीतिशास्त्रीय सिद्धान्तों के परीक्षण के लिए हमें इतिहास का सहारा लेना होगा। यदि कुछ ऐतिहासिक उदाहरणों के आधार पर किसी शास्त्रवेत्ता ने यह विचार प्रस्तुत किया कि प्रजातन्त्र का पर्यवसान तानाशाही में होता है, तब हम इतिहास के अध्ययन से इस स्ताव का परीक्षण करें। मेरी समझ में जो राजनीतिशास्त्र-विशारद ऐतिहासिक पद्धति के स्थान में 'विश्लेषणात्मक' और 'क्रियाकारित्वशक्त्यात्मक' पद्धति का समर्थन करते हैं, वे 'वाचोविग्लापन' कर रहे हैं।[2] इतिहास का आश्रय छोड़ कर जब हम समाजशास्त्रीय विषयों पर विचार करते हैं तब हम केवल काल्पनिक जगत् में विचरण करते हैं।

१. H. Bergson: Matter and Memory.

२. Analytical and Pragmatic-Functional Methods.

एशिया और यरोप के इतिहास पर अनाधारित, स्वतंत्रता समानता, आदि का विश्लेषण राजनीतिक दृष्टि से किसी खास महत्त्व का नहीं होगा। यों कह सकते हैं, इतिहास राजनीति शास्त्र के बिना अन्धा है और राजनीतिशास्त्र इतिहास के बिना रिक्त है।[१]

. राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र

राजनीतिशास्त्र का समाजशास्त्र से भी गहरा संबंध है। वैज्ञानिक दृष्टि से समाजशास्त्रीय आलोचन की परम्परा उन्नीसवीं शताब्दी में कोम्ट और स्पेन्सर से आरम्भ होती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि प्राचीन और मध्यकालीन जगत् में सामाजिक चिंतन का अभाव था। कन्फ्यूसियस, मेनसियस, बुद्ध, कौटिल्य, प्लेटो, अरस्तू तथा सिसेरो के ग्रन्थों और उपदेशों में हमें प्रभावशाली सामाजिक विचारों का दर्शन होता है।[२] किन्तु उनकी पद्धति आजकल की वैज्ञानिक, परिगणनात्मक मापात्मक पद्धति स भिन्न थी। संश्लिष्ट और परिमिश्रित पद्धति से एक स्थान पर ही दार्शनिक, धार्मिक और सामाजिक विचारों का निदर्शन उनके ग्रन्थों में मिलता है। मेरे विचार में कौटिल्य, प्लेटो, मनु, अरस्तू आदि को सामाजिक और राजनीतिक-दार्शनिक कहना चाहिए, समाजशास्त्री नहीं। धार्मिक भावनाओं का लोप हो से आधुनिक समाजशास्त्र, प्राचीन सामाजिक दर्शन की तुलना में, बुध्यतीत पदार्थों से निरपेक्ष, भौतिकवादी तथा जगदनुस्यूत पदार्थों का ही अन्वेष्टा है। समाज में वर्तमान संस्थाओं और अन्तष्क्रियाओं का ही पूरा विश्लेषण करना, न कि सामाजिक वस्तुओं के लक्ष्य के सम्बन्ध में शिक्षा देना, वर्तमान समाजशास्त्र का उद्देश्य है।

समाजशास्त्र का उन्नीसवीं शताब्दी में व्यापक अर्थ किया गया था। कोम्ट, स्पेन्सर, लसटर वार्ड (बीसवीं शताब्दी में फ्रान्ज ओपेनहायमर भी) सी व्यापक अर्थ के समर्थक थे। इस व्यापक अर्थ में जिस पदार्थ या प्रक्रिया का मानव के सामूहिक जीवन से सम्बन्ध है, वह समाजशास्त्र का विषय है। इसी दृष्टि को सामने रखकर राजनीति को भी समाजशास्त्र के अन्तर्भूत समझा जाता था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के प्रथम दशक तक के समाजशास्त्री इसी व्यापक दृष्टि से राजनीतिक विषयों का भी विवेचन अपने ग्रंथों में करते थ। ऐसी कल्पना भी उस समय की गई थी कि प्रत्येक सामाजिक विषय का—कला, इतिहास, धर्म, आर्थिक जीवन आदि—समाजशास्त्रीय अनुशीलन होना चाहिए। इस व्यापक दृष्टि के प्रतिकूल

---

१. V. P. Varma: India and the Philosophy of History Spark, February, 1951.

२. P. A. Sorokin: Contemporary Sociological Theorie.

एक गहरी प्रतिक्रिया हुई और ऐसा विचार उपस्थित हुआ कि समाजशास्त्र, सामाजिक शास्त्रों का सर्वस्व नहीं, अपितु एक अंग है। इतिहास, राजनीतिशास्त्र, प्राचीनमानवशास्त्र, अर्थशास्त्र और विधिशास्त्र भी समाजशास्त्र के ही समान, सामाजिक शास्त्र हैं। जब इन छः पृथक् शास्त्रों की समष्टि का बोध कराना होता है तब आंगल् भाषा में 'सोशलसायन्सेज' शब्द का प्रयोग होता है, जब केवल समाजशास्त्र अपेक्षित होता है तब 'सोशियोलौजी' शब्द का प्रयोग होता है।[1] आजकल सोशियोलौजी या समाजशास्त्र का एक सीमित अर्थ किया जाता है, जिसमें परिवार, मानवनिवास, जनसंख्या, सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक दुरवस्था पद्धतिशास्त्र आदि का समावेश होता है। सामाजिक मनोविज्ञान आंशिक रूप से समाजशास्त्र में और आंशिक रूप से मनोविज्ञानशास्त्र में अन्तर्भूत समझा जाता है। इस प्रकार समाजशास्त्र की सीमित व्याख्या कर उसके विवेचनीय विषयों का स्पष्ट निर्धारण किया जाता है। विदित है कि यदि समाजशास्त्र का ऐसा सीमित अर्थ किया जाय तो किसी अंश में भी राजनीतिशास्त्र समाजशास्त्र का अंग नहीं है। वैसी अवस्था में जहाँतक सामाजिक मनोविज्ञान, राजनीतिक विषयों, जैसे नेतृत्व, जनमत, जनता का व्यवहार, जनसमूह की प्रवृत्ति, प्रचार आदि का विवेचन करता है, उतनी ही दूर तक राजनीतिशास्त्र अपने समीक्षण में समाजशास्त्र का ऋण स्वीकार कर सकता है। समाजशास्त्र के ये दो सम्प्रदाय उग्रपंथी हैं, एक अतिशय व्यापक तात्पर्य का पोषक था तो दूसरा अत्यन्त सीमित तात्पर्य का। किन्तु यदि पूर्णविबोध अपेक्षित है तो शास्त्र के परीक्षणीय विषयों की सूची कम ही रखनी होगी, अन्यथा केवल साधारण स्तर का ही विचार उपस्थित किया जा सकता है। इन दोनों उग्रपंथों के मध्यवर्ती समाजशास्त्र का एक तीसरा सम्प्रदाय भी है, जो समाजशास्त्र को सामाजिक विषयों का सामान्यशास्त्र समझता है। मैं समझता हूँ कि यह तीसरा सम्प्रदाय कुछ सामान्य विषयज्ञान ही प्रस्तुत कर सकता है। मानवज्ञान का विस्तार इतने प्रचण्ड वेग से हो रहा है कि सीमाकरण और विषयविभाजन शास्त्रज्ञान के लिए अनिवार्य हो गये हैं। वेबर ने संसार के प्रसिद्ध धर्मों की समाजशास्त्रीय व्याख्या[2] प्रस्तुत की; किन्तु अब यह समय आ गया ह कि ऐसा कार्य तुलनात्मक धर्मविज्ञान के विद्यार्थी को, करना चाहिए, न कि समाजशास्त्रवेत्ता को। इस तीसरे सम्प्रदाय के कुछ समर्थक ऐसी कल्पना करना चाहते हैं कि साध्य-साधन तत्त्व को ध्यान में रखनेवाला, सामाजिक

---

१. Social Sciences तथा Sociology.

२. Max Weber: Gesammelte Aufsatze zur Religions-soziologie, तीन खण्ड.

पदार्थों के निर्माण और क्रियाकारित्वशक्ति का समाजशास्त्र, समस्त सामाजिक शास्त्रों के लिए एक सिद्धान्त-समन्वय प्रस्तुत कर सकता है [१]; किन्तु मैं से वाग्जालमात्र समझता हूँ। यावज्जीवन सामाजिक दुरवस्था या जनसंख्या का विश्लेषण करनेवाला, राजनीतिक समानता के सम्बन्ध में अनुशीलन करने के लिए, कोई सिद्धान्त जिसका सामान्यतः राजनीतिशास्त्र प्रयोग करे, उपस्थित नहीं कर सकता है। अब यह समय आ गया है कि हम अपने मनोवांछित विशिष्ट सामाजिक शास्त्र में प्रवीणता प्राप्त करें; किन्तु मूलतः सामाजिक शास्त्रों के शब्दों और सामान्य सिद्धान्तों से साधारण परिचय रहे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजशास्त्र के प्रचलित तीन अर्थों में से राजनीतिशास्त्र के लिए किसी का भी विशेष उल्लखनीय महत्त्व अब नहीं है। समाजशास्त्र का वह अर्थ कि समाज से सम्बन्ध रखनेवाले समस्त विषयों का पूणतः व्यापक यह शास्त्र है, अब प्रचलित नहीं है। राजनीतिशास्त्र को पूर्णतः आत्मसात करने की क्षमता का दावा कोई भी उत्तरदायित्वपूर्ण समाजशास्त्री नहीं कर सकता। समाजशास्त्र के सीमित अर्थ के समर्थकों ने जिस प्रकार इसके विषय-निर्धारण का प्रयास किया है, उस तरह राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र के विषय नितान्त भिन्न हैं। समाजशास्त्र का जो तीसरा अर्थ किया गया है, जिसके अनुसार सामाजिक निर्माण कला और कारित्वक्रिया का वह सामान्यशास्त्र है, उस अर्थ में, मेरे विचार में, कोई खास महत्त्वपूर्ण देन समाजशास्त्र राजनीति के लिए नहीं दे सकता।

किन्तु तथापि मैं समाजशास्त्रीय राजनीतिशास्त्र या राजनीतिक समाजशास्त्र का समर्थक हूँ। पश्चिम के कुछ विचारकों--उदाहरणार्थ, हाबहाउस ने समाजशास्त्री होकर भी कुछ राजनीतिक प्रश्नों की मीमांसा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।[२] जिस प्रकार सामाजिक मानसशास्त्र शनैःशनैः एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय बन गया है उसी प्रकार राजनीतिक समाजशास्त्र भी एक स्वतन्त्र विषय बन सकता है। राजनीतिशास्त्र के कुछ ऐसे प्रकरण हैं, जहाँ समाजशास्त्र से मदद मिल सकती है। राजनीतिशास्त्र में राज्यान्तर्गत दण्ड की मीमांसा हम करते हैं। समाजशास्त्र, परिवार, संस्था तथा समाज के अन्तर्वर्ती समुदायों में प्रचलित दण्ड-व्यवस्था का

---

१. Talcott Parsons: Essays in Sociological Theory, The Structure of Social Action.

२. L. T. Hobhouse: The Metaphysical Theory of the State, The Elements of Social Justice, Social Evolution and Political Theory, Liberalism.

विचार करता है। इस प्रकार यदि दोनों शास्त्रों के द्वारा प्राप्त निष्कर्षों का समन्वय किया जाय या तुलनात्मक समीक्षण हो तो दण्ड के स्वरूप को हृदयंगम करने में सहायता होगी। एक दूसरा मीमांसनीय विषय, राजनीतिक समाजशास्त्र का, राज्य का उद्‌भव हो सकता है। राज्य की मीमांसा राजनीतिशास्त्र का मूल है। इसकी मीमांसा के निमित्त इसका ऐतिहासिक विकासक्रम जानना आवश्यक है और इसके लिए इतिहास के अलावा प्राचीन मानवशास्त्र और समाजशास्त्र से मदद हो सकती है। राजनीतिक समाजशास्त्र का एक तीसरा अनुशीलनीय विषय हो सकता है--प्रजातन्त्र का विशद स्वरूप। राजनीतिशास्त्र में, विशेषतः पश्चिमी यूरोप, अमरीका और भारत में पठित और अधीत राजनीतिशास्त्र में, प्रजातन्त्र की मीमांसा हम करते हैं। दो दृष्टियों से राजनीतिक समाजशास्त्र यहाँ हमारी सहायता कर सकता है। प्रजातन्त्र, राज्य के अलावा अन्य सामाजिक संस्थाओं में कहाँ तक वर्तमान है, यह जानना भी आवश्यक है। श्रमिकसंघ, व्यापारीसंघ, धार्मिक संस्थाएँ, विश्वविद्यालय, ये सब अपने निजी कार्यसंपादन में कितनी दूर तक प्रजातन्त्रीय प्रणाली का अनुसरण करते है, इसकी जानकारी से प्रजातन्त्र सम्बन्धी हमारा राजनीतिशास्त्र से प्राप्त ज्ञान सबल और पुष्ट होगा। दूसरी ओर, प्रजातन्त्रीय शासन-प्रणाली की सफलता के लिए कहाँ तक समाजतादाम्यकारिणी प्रवृत्ति अपेक्षित है, इस प्रश्न की मीमांसा भी राजनीतिक समाजशास्त्र कर सकता है। बहुत से राजनीतिशास्त्र-वेत्ताओं का विचार है कि प्रजातन्त्र के समुचित विकास के लिए आवश्यक है कि कुछ मूलभूत विषयों को दलीय संघर्ष का विषय न बनाया जाय।[१] इस प्रकार के मूलभूत विषयों का सुरक्षण समाज और राष्ट्र की संस्थिति से सम्बन्ध रखता है। इससे स्पष्ट है कि समाज की आधारभूत स्थिति से सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्नों में पूर्णतः ऐकमत्य अपेक्षित है। इस प्रश्न का भी केवल राजनीतिशास्त्र के ज्ञान से समाधान नहीं हो सकता।[२] एक चौथा विचारणीय विषय राजनीतिक समाजशास्त्र का, यह हो सकता है कि राज्य का परिवार में प्रचलित प्रथाओं से क्या सम्बन्ध है। व्यावहारिक दृष्टि से, प्रजातंत्रीय व्यक्तित्व का निर्माण कैसे हो सकता है, इस सम्बन्ध में बहुत परीक्षण किये गये हैं। उनका निष्कर्ष है कि परिवार में ही प्रजातंत्रीय और अधिनायकीय प्रवृत्ति प्रजनित होती है। पिता की शासनपद्धति और तत्प्रजनित प्रतिक्रिया से ही शिशु का

---

१. Carl J. Friedrich: Constitutionalism and Democracy तथा Arnold Brecht के एतत्सम्बन्धी निबन्ध।

२. तुलनीय Karl Mannheim: Ideology and Utopia, पृष्ठ ४६--६६।

व्यक्तित्व बनता है। इस प्रकार की बातों का विशेष विवेचन राजनीतिक समाजशास्त्र ही कर सकता है। ये जो चार विषय हमने निर्दिष्ट किये हैं, इनकी संख्या बढ़ाई जा सकती है। अतः आवश्यक है कि कुछ लेखों और अनुसंधान-निबन्धों के अतिरिक्त, विनिश्चित रूप से राजनीतिक समाजशास्त्र का विकास होना चाहिए। इस प्रकार स्पष्ट है कि समाजशास्त्र के तीसरे सामान्य अर्थ का ऊपर खण्डन करते हुये भी मैं समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र की सम्बन्ध-मीमांसा और परस्पराश्रयिता का खण्डन नहीं करता। जिस प्रकार राजनीतिशास्त्र के दार्शनिक या समग्रात्मक विवेचन के लिए इतिहास-निष्ठता अपेक्षित है, उसी प्रकार समाजशास्त्र-संश्रय भी संग्रहणीय है।

राजनीतिशास्त्र के दार्शनिक विवेचन के लिए हमने व्यापक नैतिक और आध्यात्मिक मानववाद को आधारभूत मानना आवश्यक बताया था। वैज्ञानिक, मापात्मक पद्धति से प्रभावित होते हुए भी आधुनिक समाजशास्त्र उस मानववाद का समर्थन कर रहा है। पिटरिम सोरोकिन, जो प्रसिद्ध रूसी समाजशास्त्री कोभालोभ्सकी का विद्यार्थी है, इस आध्यात्मिक मानववाद का समर्थक है।[1] उसका कहना है कि पश्चिमी सभ्यता, विज्ञान, यंत्रवाद, भौतिकवाद, आदि के कारण, भयंकर संक्रमणकाल से गुजर रही है। नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण को अपनाना ही त्राण का एकमात्र मार्ग है। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ—'सामाजिक और सांस्कृतिक गतिशास्त्र' में, उसने आध्यात्मिक, जिसे आंग्लभाषा में उसने 'आयडियेशनल' और 'आयडियलिटिक' कहा है, विचार-पद्धति का सांगोपांग समर्थन किया है।[2] अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक, 'मानव जाति का पुनर्निर्माण' जिसे उसने महात्मा गांधी जी को समर्पित किया है, में उसने फ्रायड के मनःसमीक्षण के बदले धर्मशास्त्रानुमोदित योग, करुणा, परदुःखकातरता, कल्याणकारिता आदि का पक्षग्रहण किया है।[3] हंगरी-निवासी मार्क्सवादी जौर्ज लूकाक्स का शिष्य जर्मन समाजशास्त्री कार्ल मानहायम पहले मार्क्सीय विचारधारा से प्रभावित था। अपने 'सामाजिक प्रजातंत्रवादी' काल में ही अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ' 'आयडिऔलौजी'

---

१. P. A. Sorokin: Social Philosophies of an Age of crisis, The Crisis of our Age, Contemporary Sociological Theories, Leaves from a Russian Diary, Man and Society in Calamity, Russil and United States.

२. P. A. Sorokin: Social and Cultural Dynamics चार खण्ड।

३. P. A. Sorokin: The Reconstruction of Humanity.

और यूटोपिया' उसने लिखा था।[१] परन्तु द्वितीय विश्वमहासमर की विभीषिका को देखते हुये मानहायम की विचारधारा बदल गई। नियोजित प्रजातंत्रीय समाजव्यवस्था का वह प्रशंसक बन गया। उसने बताया कि एक नवशिक्षित मानव की आवश्यकता है। धर्म की शाश्वत शिक्षाओं के पुनरुद्धार पर उसने बल दिया। उसने कहा कि नूतन समाज की स्थापना नहीं हो सकती, जबतक इस प्रकार का मानववाद जगत् में प्रतिष्ठित न हो।[२] अमरीकन समाजशास्त्री मैकिभर भी कहता है कि श्रेयों का स्वतंत्र अस्तित्व है।[३] मानव के नैतिक और आध्यात्मिक महत्त्व को स्वीकार कर ही प्रजातंत्रवाद और अन्तरराष्ट्रीयवाद चल सकता है, ऐसी स्थापना मैकिभर की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस नैतिक आध्यात्मिक मानववाद को दार्शनिक राजनीतिशास्त्र का हम मूल मानते हैं, आधुनिक समाजशास्त्र भी उसी निष्कर्ष पर शनैः-शनैः आ रहा है। अब समय आ रहा है कि विज्ञान से अतिशय प्रभावित उन्नीसवीं और प्रारम्भिक बीसवीं सदी का समाजशास्त्र, दार्शनशास्त्र से तटस्थ रहने की अपनी नीति को अंशतः छोड़ रहा है। अगले वर्षों में समाजशास्त्र, राजनीतिक दर्शन को अनुशीलन सामग्री प्रदान करेगा और राजनीतिक दर्शन या दार्शनिक राजनीतिशास्त्र अपने आध्यात्मिक प्रयोजनवाद के सहारे समाजशास्त्र को प्राणपूण चेतना प्रदान करेगा।

मनोविज्ञानशास्त्र भी दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की ओर ही बढ़ रहा है। पूर्व-वर्तमान व्यवहारवादी सम्प्रदाय का अब प्रभाव कम हो गया है। जर्मनी में मानव सम्पूर्णरूपवादी (गेस्टाल्ट) सम्प्रदाय का आधिपत्य हुआ। इस सम्प्रदाय ने पूर्णता पर ध्यान देकर व्यवहारवाद के भौतिक उत्तेजन-प्रतिक्रियावाद का विरोध किया।[४] गेस्टाल्ट सम्प्रदाय भी आंशिक रूप से इस प्रकार दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की ही ओर बढ़ रहा है। फ्रायड के व्यावहारिक निष्कर्षों के सहारे चिकित्सा करने-

१. Karl Mannheim: Ideology and Utopia, Essays in the sociology of knowledge.

२. Karl Mannheim: Diagnosis of Our Time, Man and Society, Freedom, Power and Democratic Planning.

३. R. M. Maciver: The Web of Government पृष्ठ ४४५–४४६, The Modern State पृष्ठ २२, The Ramparts we guard.

४. Watson के Behaviorism की प्रतिक्रिया में Kohler, Kofka आदि का Gestalt सिद्धान्त।

वाल मनोवैज्ञानिक भी मानव के अज्ञात और अर्धज्ञात संस्कारों को प्रत्युद्दीपित कर पुनरपि उसे अपना स्वरूपबोध कराने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि विभिन्न मार्गों से समाजशास्त्र, सामाजिक व्यवस्था के लिए और मनोविज्ञानशास्त्र, मानव के स्वभावपरीक्षण के लिए, शनैः-शनैः उस नैतिक और आध्यात्मिक मानव-वाद की ओर बढ़ रहे हैं, जो राजनीतिक दर्शन का प्राण है।

राजनीतिक दर्शन की यह मान्यता है कि वह चेतनायुक्त मानव को ही राजनीतिक अध्ययन का मूल मानकर चलता है। दर्शन शब्द का प्रयोग प्रायः हमारे मस्तिष्क में ईश्वर, पुनर्जन्म, मोक्ष, कैवल्य आदि शब्दों का ही बोध कराता है। किन्तु हमने दर्शन का अर्थ कृत्स्नज्ञानप्राप्ति किया है। इस अर्थ को ग्रहण करते हुये, अन्य सामाजिक शास्त्र के निष्कर्षों के संतुलन और समन्वय का प्रयास दार्शनिक प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग है। अतएव इतिहास, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि से सामग्री लेकर उनके आधार पर एक सांगोपांग राजनीतिशास्त्र का निर्माण करना दार्शनिक पद्धति है। किन्तु राजनीतिक दर्शन के निर्माण के निमित्त जब अन्य शास्त्रों से हम सहायता लेते हैं उस समय हमारा ध्यान इस बात पर रहता है कि किस प्रकार ये सामग्रियाँ मानव मन और बुद्धि को रूपान्तरित या प्रभावित करती हैं। मानव को वैशिष्ठ्य प्रदान करनेवाले राजनीतिक दर्शन का यह विचार है कि मानव-बुद्धि ही सामाजिक दृष्टि से आवश्यक समग्र वस्तुओं का समीकरण करती है। जलवायु का प्रभाव इतिहास और राजनीति पर माना जाता है; किन्तु जलवायु भी पहले मानव शरीर और मनबुद्धि को ही प्रभावित कर अपना प्रभाव व्यक्त कर सकता है। चैतन्यसम्पन्न बुद्धि जलवायु के प्रभाव को कम कर सकती है। उत्तरी अमरीका में शीत के आधिक्य से पराभूत प्रचीन जातियाँ किसी समृद्ध सभ्यता को जन्म नहीं दे सकी। किन्तु आधुनिक अमेरीका की उत्कृष्ट यान्त्रिक सभ्यता प्राकृतिक शक्तियों पर मानवबुद्धि के विजय का चिह्न है। आर्थिक अवस्था का भी इतिहास और राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ता है; किन्तु इस प्रकार की प्रभावोत्पादकता उसमें वहीं तक आती है जहाँ तक वह सामाजिक भावापन्न बुद्धियुक्त मानव के विचार-संसार को आन्दोलित करती है। हम कुछ वैयक्तिक विज्ञानवादियों के समान जगत् और इतिहास को मनोविकारजात, मनोसंसृष्ट या मनोविजृम्भित नहीं मानते। वैयक्तिक मन से जगत् को सृष्ट या आयत्त समझना निरी कल्पना या उन्मत्तप्रलाप है। मैं तो सिर्फ यह कह रहा हूँ कि सामाजिक प्रभाव व्यक्त करने के लिए वस्तुओं को, मानवमन को, प्रभावित करना पड़ेगा। सोने का जगत के इतिहास पर जबर्दस्त प्रभाव है। सोने की खोज ने ही भयंकर उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद को जन्म

दिया। किन्तु सोना, सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक शक्ति बन सके, इसके लिए आवश्यक है कि वह मानव मन, हृदय और बुद्धि को प्रभावित करे। जब तक मनुष्य को सोने के मूल्य का स्वीकरण अपेक्षित न हो, सोना सामाजिक शक्ति का रूप धारण नहीं कर सकता। अतः सामाजिक शास्त्रों के व्यापक परिज्ञान के फलस्वरूप यह आवश्यक है कि उस भद्दे भौतिकवाद का पल्ला छूट जाय, जो वस्तुओं और तज्जनित ऐतिहासिक प्रभावों के मध्य में मानव मन और बुद्धि के क्रियात्मक और सर्जनात्मक प्रभाव को नहीं स्वीकार करता है। मन, बुद्धि और आत्मा के व्यापक शक्तिपूर्ण प्रभाव को माने बिना शिथिलकारी नियतिवाद से त्राण पाना मुश्किल था। वर्तमान सभ्यता और संस्कृति की सुरक्षा के लिए आवश्यक है कि ज्ञानान्वेषी नीतिमान् शक्तिपूर्ण मानव को आधारभूत मानकर, अन्य सामाजिक शास्त्रों से सहायता लेते हुए, एक राजनीतिक दर्शन का निर्माण हो, जो न केवल राज्य के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान सम्वर्धन करे, अपितु सततवर्धनशील सामान्य सिद्धान्तराशि के आधार पर एक सन्तुष्ट समाज की स्थापना करने के निमित्त तर्कपूर्ण कार्यक्रम साध्य-साधन-पद्धति पर निर्मित कर सके।

ग. राजनीतिशास्त्र और द्वन्द्ववादात्मक दर्शन

द्वन्द्ववाद एक अतिशय प्राचीन दार्शनिक पद्धति है। निषेधात्मक पद्धति का एक अनोखे अर्थ में इसमें प्रयोग होता है। विप्रतिषेध के नियम को कुछ विलक्षण तरीके से व्यवहार में लाया जाता है। द्वन्द्ववाद को समझने के लिए इसके चार विभिन्न अर्थों को पृथक् रूप से बताना अच्छा होगा। द्वन्द्ववाद का पहला प्रयोग तार्किक ढंग से किया जाता है। प्रतिपक्षी की युक्तियों में विरोध दिखाना इसका लक्ष्य है। इस प्रकार इसका प्रयोग सुकरात और प्लेटो ने किया है। यदि पूर्वपक्ष यह है कि बलवान् का शासन ही न्याय है, तो फिर इस प्रकार का तर्क करना कि बलवान् कौन है, और फिर पूर्वपक्षी से यह स्वीकार कराना कि बलवान् वही है जो शीलवान है, क्योंकि बल का आधार शील है, और यह कहना कि शीलवान पुरुष स्वार्थप्रेरित न होकर, कल्याण की भावना से ही शासन करेगा—इस प्रकार की युक्तियों को द्वन्द्वात्मक कहते थे। सुकरात ने पोलेमाकस और थैसिमाकस से अपने प्रसिद्ध शास्त्रार्थ में इस प्रकार की युक्तियों का उपयोग किया है।[१] इस तर्कपद्धति में ऐसा नहीं होता कि यदि पूर्वपक्षी ने कहा कि बलवान् का स्वार्थसाधन ही न्याय है तो हम इतिहास से ऐसे उदाहरणों को बतावें कि स्वार्थसाधकों का कैसे पराजय हुआ है। यदि ऐतिहासिक उदाहरणों के सहारे हम पूर्वपक्षी का पराजय करते हैं तो यह ऐतिहा-

१. Republic, Book I.

सिक पद्धति का उदाहरण होगा। द्वन्द्वात्मक पद्धति में यह लक्ष्य रहता है कि पूर्वपक्षी द्वारा युक्त शब्दराशि को विरोधग्रस्त या विप्रतिषिद्ध सिद्ध किया जाय। यद्यपि डायलेक्टिक शब्द यूनानी भाषा का है और इसका शब्दार्थ होता है संवाद या भाषण, तथापि इस प्रकार की तर्कशैली का प्रयोग अन्य साहित्य में भी हम देख सकते हैं। त्रिपिटक के 'द्वेधावितक्कसुत्त' में कुछ उदाहरण मिलता है। श्चेर्बात्सकी ने दिग्गनाग, धर्मकीर्ति आदि के ग्रन्थों में आधुनिक द्वन्द्ववादी सिगवार्ट, लौत्स, उलरीकी, ब्रैडले आदि की समक्ष तार्किक युक्तियों के प्रयोग का वर्णन किया है।[१] जिस रूप में प्राचीन यूनान में द्वन्द्ववाद का प्रयोग किया गया था, उस रूप में आजकल के दर्शन और सामाजिकशास्त्रों में हम उसका प्रयोग नहीं करते है। किंतु आजकल के कुछ, 'तार्किक विधेयात्मकवाद' के अनुयायी वाक्यों की अर्थशालिता और शब्दों के परीक्षण में कुछ अंश तक प्राचीन यूनानी द्वन्द्ववाद का स्मरण कराते हैं।[२] सिद्धान्तों का स्वतन्त्र परीक्षण करने के बदले, सिद्धान्तों को व्यक्त करनवाले शब्दों का प्रयोग ठीक है या नहीं, यही इनके विश्लेषण का मूल प्रश्न है।

द्वन्द्ववाद के तार्किक अर्थ का परीक्षण अबतक हुआ है। वर्तमान वैज्ञानिक और दार्शनिक ज्ञान की प्रणाली में इस प्रकार का द्वन्द्ववाद नहीं प्रयुक्त होता है और इसका ऐतिहासिक महत्त्व ही अवशेष है। महान् दार्शनिक प्लेटो ने द्वन्द्ववाद का एक विलक्षण अर्थ किया है। प्लेटो दार्शनिक दृष्टि से प्रत्ययवादी या सामान्यवादी था। समस्त प्राकृतिक और कृत्रिम वस्तुओं में अन्तःवर्तमान सामान्यों की उसने स्थापना की है। गौओं का एक गोत्व सामान्य है, इसी प्रकार 'लालपन' एक सामान्य है तथा चतुष्पादिकाओं का एक सामान्य है। यह सामान्य अभौतिक और नित्य है। सामान्यों में भी कुछ अधिक व्यापक हैं, जो अल्पव्यापकों को अपने में अन्तर्भूत करते है। इस प्रकार पारस्परिक तारतम्य की अन्तिम सीढ़ी 'शिव का सामान्य है' जो चरम सत्ता है।[३] सामान्य का, जिसे अँग्रेजी में 'कान्सेप्ट' कहते हैं

१. Stcherbatsky, Buddhist Logic, Vol. I.

२. Logical Positivism इसमें Rudolf Carnap, Schlick, Neurath आदि मुख्य हैं। द्रष्टव्य International Encyclopaedia of Unified Sciences.

३. Plato, Republic पृष्ठ ५०८–५०९ "that which imparts truth to the known and thc power of knowing to the knower, is what I would have you term the

और जिसे यूनानी भाषा में आयडीस कहते हैं, शास्त्रीय विवेचन ही प्लेटो के मत में डायलेक्टिक है। सामान्यों की अन्तःसम्बद्धता का विवेचन ही परम ज्ञान है और यही डायलेक्टिक है। इस प्रकार के परम ज्ञान का बोध करने के लिए प्रथम अंकगणित, रेखागणित, खगोलशास्त्र, दिव्यस्वरशास्त्र आदि का ज्ञान नितान्त अपेक्षित है।[१] स्पष्ट है कि तत्कालीन यूनान में वर्तमान विज्ञानशास्त्रों का यहाँ निर्देश हो रहा है। यदि प्लेटो आज वर्तमान रहता तो इस सूची में पदार्थविज्ञान, रसायनशास्त्र आदि का भी अवश्य उल्लेख करता। जब परिष्कृत बुद्धि से मनुष्य इन उपरिलिखित शास्त्रों का परस्परसंबंधद्योतक पारदर्शी ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब उसे सामान्यशास्त्र का आत्मबोध होता है और सामान्यों के सामान्य 'शिवप्रत्यय'[२] का परात्पर बोध ही द्वन्द्ववादात्मक ज्ञान है। ध्यान में रखने का विषय है कि दार्शनिक पराविद्या की प्राप्ति के लिए शास्त्रीय दृष्टि से विज्ञानशास्त्रों के अध्ययन को प्लेटो ने अनिवार्य बताया है। प्लेटो का द्वन्द्ववाद किसी साधारण अल्पायास तरीके से परमज्ञान को प्राप्त नहीं कराता। घोर चिंतन और मनन का ही यह परिणाम है। प्लेटो ने शास्त्रीय अन्तःसम्बन्ध ज्ञान पर जो बल दिया है, उसकी आवश्यकता आजकल भी स्वीकृत है। कठिनता इस बात की है कि शास्त्रों के अपरिकल्पित विकास के कारण उनकी सीमा इतनी विशाल हो गई हैं कि एक समस्त जीवन में विज्ञान के एक अंश को भी पूर्णतः जानना कठिन हो गया है। प्लेटो के मतानुसार बीस वर्ष की अवस्था से पतीस वर्ष की अवस्था तक दार्शनिकमनोवृत्तिसम्पन्न भावी राज्यरक्षकों को विज्ञान और द्वन्द्वात्मक दर्शन का अध्ययन करना होता है। स्पष्ट है कि आजकल इस प्रकार का विशाल अध्ययन असंभव है। किन्तु यदि जीवन में ज्ञान को कुछ विशिष्टरूप में जानना अभिप्रेत हो तो साधारण ज्ञान प्रायः सब विषयों का और एक अभीप्सित विषय का पारदर्शी ज्ञान, यही आदर्श हो सकता

---

idea of good, and this you will deem to be the cause of science, and of truth in so far as the latter becomes the subject of knowledge...the good may be said to be not only the author of knowledge to all things known, but of their being and essence, and yet the good is not essence, but far exceeds essence in dignity and power."

१. Republic, Book VII.
२. Idea of the Good.

हैं। सामान्यशास्त्र या द्वन्द्ववाद का तात्विक बोध प्राप्त करने के लिए जो विज्ञान-शास्त्रों के ज्ञान की अनिवार्यता प्लेटो ने शर्त के रूप में रखी है, उसे आधुनिक युग में व्हाइटहेड, कैसिरेर, बर्गसां आदि दार्शनिक ही चरितार्थ करते हैं। किन्तु यद्यपि प्लेटो के द्वन्द्ववाद के ज्ञान की प्राप्ति के शर्त को पूरा करना आज की दुनिया में असम्भव-सा दीखता है तथापि इस महान् आदर्श को ध्यान में रखकर अपना सीमित ज्ञान का सतत संवर्धन करना चाहिए। किन्तु आदर्श की दृष्टि से प्लेटो द्वारा प्रणीत विचार को स्वीकार करने का यह कदापि अर्थ नहीं होता कि हम उसके दार्शनिक सिद्धान्तों को भी मानते हैं। प्लेटो का प्रत्ययवाद या सामान्यवाद इस अर्थ में कि, प्रत्ययों की स्वतंत्र आध्यात्मिक सत्ता है और अभौतिक लोक-लोकान्तरों में प्रत्यय विचरा करते हैं, कदापि ठीक नहीं है। प्रत्यय वस्तुप्रावर्ती नहीं; किन्तु मनोनिःसृत हो। ज्ञान के वे साधन हैं। अनेक वस्तुओं के सम्बन्ध में मानव ज्ञान को विस्पष्ट और बोधगम्य बनाने के लिए हमारी बुद्धि इन प्रत्ययों या सामन्यों की सर्जना करती है। इस प्रकार प्लेटो के मुख्यतम दार्शनिक सिद्धान्त—प्रत्ययशास्त्र या सामान्यवाद को नहीं स्वीकार करते हुए भी शास्त्रों की अन्तःसम्बद्धता का आदर्श मुझे ग्राह्य है। जहाँ तक मैं राजनीतिशास्त्र के अनुशीलन में दर्शन, समाजशास्त्र और इतिहास से राजनीति को सम्बन्धित करने का प्रयास कर रहा हूँ, मैं स्वयं अंशतः द्वन्द्ववादी पद्धति का आश्रयण कर रहा हूँ।

द्वन्द्ववाद का एक तीसरा अर्थ भी होता है। जब इतिहास या जगत् की व्याख्या करने में हम दो अत्यन्त शक्तिशाली तत्वों की स्थापना करते हैं और उनके पारस्परिक संघर्ष से जागतिक घटनाओं की व्याख्या करते हैं तब एक प्रकार से हम द्वन्द्ववाद का आश्रय लेते हैं। चीन देश के दर्शन में 'यान' और 'यिन' के द्वन्द्व का उल्लेख आता है। पारसी महात्मा जरथुस्त्र ने 'अहरिमान' और 'औरमुज्द' के द्वन्द्व का वर्णन किया है। फारस के धर्मप्रवक्ता मनी ने भी शिव और अशिव के द्वन्द्व का निरूपण किया है। बुद्ध और मार के अनेक कल्पों में चलनेवाले संघर्ष का उल्लेख जातकों में मिलता है। अद्वैतवादी दर्शन में एक मूलतत्त्व से, चाहे वह भौतिक हो या चेतन हो, हम जगत् के नानात्व की व्याख्या करते हैं। कुछ लोग एक अद्वैत सत्ता का स्वीकार कर, उसी में क्रियात्मिका शक्ति का भी अन्तर्भाव मानकर, विशिष्टाद्वैत की स्थापना करते हैं। किन्तु जो लोग मूलतः वर्तमान दो शक्तियों के संघर्ष से इतिहास और जगत् की समन्वित व्याख्या करते हैं, वे एक प्रकार से सतत देवासुर-संग्राम को ही प्रमुख तत्त्व मानते हैं। इस प्रकार के दो मौलिक शक्तितत्त्वों को स्वीकृत करने का विचार धर्मग्रन्थों से निकला है। किन्तु वैज्ञानिक या स्वतन्त्र दार्शनिक दृष्टियों से हम उसकी सत्ता

को सिद्ध नहीं कर सकते। अतएव इस प्रकार के द्वन्द्ववाद का कोई समाजशास्त्रीय तात्पर्य नहीं हो सकता है।

द्वन्द्ववाद का चौथा अर्थ अधिक दार्शनिक महत्व रखता है। निर्विशेष कूटस्थ चिन्मात्र परमसत्ता के सिद्धान्त के विपक्ष में द्वन्द्ववाद गति, सतत परिचलन और परिवर्तन या क्षणिकवाद का सिद्धान्त उपस्थित करता है। पारमेनायडिज के स्थिर-सत्तावाद के विपरीत हेराक्लिटास ने गतिमूलक दर्शन को उपस्थित किया। नदी की सतत प्रवहणशील जलराशि या अग्निशिखा की सतत परिवर्तनशीलता का उदाहरण देकर जगत् को गतिप्रधान उसने बताया। उपनिषद्प्रोक्त एकात्म परमसत्ता के, जो केवल तुरीयावस्थासंवेद्य है, विपरीत बुद्ध ने अनित्यतावाद का विचार रखा, जो पिछले बौद्ध-दर्शन में क्षणिकवाद के रूप में परिवर्तित हो गया, जिसके अनुसार सतत परिणाम या परिवर्तन हो रहा है। कोई वस्तु सार्वकालिक नहीं है। इसी अनित्यतावाद की दृष्टि को अपनाते हुए बुद्ध ने आत्मा की कूटस्थ सत्ता का खंडन कर केवलमात्र विज्ञान-संतान का विचार ही उपस्थित किया। आजकल के विज्ञानवेत्ता दार्शनिकों ने भी गति की विचारधारा का पोषण किया है। ह्वायटहेड और बर्गसां गति और प्रवाह का सिद्धान्त जगत् की व्याख्या में स्वीकृत करते हैं।[1] जगत् में सतत वर्तमान गत्यात्मक द्वन्द्व का समर्थन, द्वन्द्ववाद के संसार की व्याख्या में प्रयुक्त होने का उदाहरण है इस अर्थ में द्वन्द्ववाद एक तर्क-पद्धति से दूर अत्यन्त प्रकृष्ट सत्तात्मक रूप धारण करता है।

यूनानी दार्शनिक प्लेटो ने तथा अरस्तू ने तार्किक दृष्टि से द्वन्द्ववाद का प्रयोग किया है और डायलेक्टिक शब्द का उनके ग्रंथों में सतत प्रयोग बताता है कि वे जिस पद्धति का प्रयोग कर रहे थे, उसका पूर्ण चैतन्य उनको था। हेराक्लिटस, बुद्ध और बर्गसां गतिमूलक दर्शन उपस्थित करते हैं और चूँकि हेगेल के समय से गति-मूलक दर्शन का बोध कराने के लिए डायलेक्टिक शब्द का प्रयोग होने लगा, इस प्रकार समझने की दृष्टि से, हेराक्लिटस, बुद्ध और बर्गसां को द्वन्द्ववादी मानना, एक पश्चात्प्रयुक्त शब्द का पूर्ववर्ती साहित्य में वर्तमान विचार को व्यक्त करने के उद्योग का उदाहरण है। यद्यपि कुछ ईसाई दार्शनिकों ने भी डायलेक्टिक पद्धति और शब्द का प्रयोग किया है तथापि जो महान् रूप इसको यूनान में प्राप्त था, उसको फिर से जाग्रत करने का श्रेय काण्ट को ही है। यद्यपि अपनी, प्राथमिक नेबुला से जगत् को उत्पन्न माननेवाली विचारधारा में, जगत् को गत्यात्मक उसने

---

१. A. N. Whitehead: Process and Reality, The Concept of Nature; H. Bergson: Creative Evolution.

माना तथापि द्वन्द्ववाद का मुख्यतः बौद्धिक शास्त्रों में परिसीमित अर्थ ही काण्ट ग्रहण कर सका।[१] काण्ट द्वन्द्ववाद का विपरीत सिद्धान्त विश्लेषणवाद (अनालिटिक) को समझता था। 'विशुद्ध बुद्धि का समीक्षण' नामक पुस्तक में परात्पर विश्लेषण के बाद उसने परात्पर द्वन्द्ववादिता का विशद विवेचन किया है। इस परात्पर द्वन्द्ववादिता (ट्रांसेण्डण्टल डायलेक्टिक) में मनोवैज्ञानिक प्रत्यय, सृष्टिशास्त्रीय प्रत्यय और धर्मशास्त्रीय प्रत्यय का उसने वर्णन किया है।[२] 'व्यावहारिक बुद्धि का समीक्षण' नामक पुस्तक में विशुद्ध बुद्धि के नियमों के अनुभवात्मक विनिर्णयों के कारण जो कुछ अव्युत्पन्नताएँ उपस्थित होती हैं, उनका विचार करने का प्रयास काण्ट ने किया है।[१] 'विनिश्चय प्रवृत्ति का समीक्षण नामक ग्रन्थ' में, कलात्मिका प्रवृत्ति के समीक्षण में, रस के सम्बन्ध में, कहाँ तक वह बुद्धिनिष्ठ हो सकता है, इसका विचार काण्ट करता है।[२] विनिश्चय की प्रयोजनात्मिका प्रवृत्ति के समीक्षण में काण्ट ने प्रकृति की यांत्रिकता तथा लक्ष्यशीलता में समाहार उपस्थित किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि पद्धतिशास्त्र की दृष्टि से द्वन्द्ववाद का विराट् स्वरूप काण्ट के मस्तिष्क में था। किन्तु द्वन्द्ववाद को वह तर्कना की एक पद्धति मानता था। जब अपने उपयुक्त क्षेत्र को छोड़कर मानवज्ञान के साधन, अन्य क्षेत्रों में प्रवेश करते हैं तो विरोध और विप्रतिषेध उत्पन्न होता है। इसका प्रत्युद्घाटन करना डायलेक्टिक का उद्देश्य है।

द्वन्द्ववाद का पूर्णतः परिष्कृत और व्यापकरूप हेगेल में मिलता है। अपने महान ग्रन्थ 'तर्कविज्ञान' में उसने काण्ट का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी उसके द्वन्द्ववाद को मुख्यतः भावात्मक और निषेधात्मक कहा है।[3] हेगेल के मतानुसार द्वन्द्ववाद अन्तर्वृत्ति की बाह्यगामिता का विचार है, जिसके द्वारा वासनात्मक बुद्धि के प्रत्ययों की एकांशिता तथा प्रतिबन्ध का बोध होता है। हेगेल के अनुसार जहाँ कहीं भी गति है, जहाँ कहीं भी जीवन है, जहाँ कहीं भी जगत् में कोई कार्य होता है वहाँ द्वन्द्ववाद है। द्वन्द्ववाद वैज्ञानिक ज्ञान का आत्मा है। द्वन्द्ववाद का अतिशय प्रभाव हेगेल के मन पर था। शेलिंग द्वारा वर्णित कूटस्थ वस्तुतत्त्व के साथ द्वन्द्वात्मक गतिवाद का सम्मेलन करना हेगेल के दर्शन का वैशिष्ट्य है और इसी सम्मेलन और समन्वय के फलस्वरूप उसने पूर्ण विज्ञान के तार्किक, जागतिक और आध्यात्मिक विकास का दर्शन उपस्थित किया। हेगेल के दर्शन का केन्द्र-बिन्दु है विप्रतिषेध के

---

१. Critique of Practical Reason.

२. Critique of Judgement.

३. Hegel: Science of Logic खण्ड १, पृष्ठ ६६-६८

नियम का सुधार। विप्रतिषेध नितान्त भिन्नता का नहीं, किन्तु आंशिक पार्थक्य का ही बोधक है। विप्रतिषेध और पूर्वपक्ष के आंशिक सत्यों का समन्वय करना ही ज्ञान का मार्ग है। विकास-षटजुरेखा की एकाकार गति से नहीं होता है, अपितु विप्रतिषेध ही वृत्ताकार गति से। इस पद्धति से समस्त जगत् में वर्त्तमान ज्ञान का विकासक्रम उपस्थित करना हेगेल के दर्शन का वैशिष्ट्य है। संशयवाद और वितण्डा-वाद से अपने दर्शन का हेगेल ने पृथक्करण किया है तथापि कभी-कभी उसका द्वन्द्ववाद उपहासास्पद हो जाता है। वह कहता है कि अतिशय प्रसन्नता का अभिव्यक्तिकरण अश्रुमोचन से और अतिशय दुःख वा कभी स्मितहास्य से प्रकाशन, द्वन्द्ववाद के उदाहरण हैं।[1] अनेक शास्त्रों को समन्वित दृष्टि से अध्ययन करना अच्छा है; किन्तु सर्वत्र जगत् में वाद, प्रवाद और संवाद का ही प्रकाशन बताना कभी-कभी बौद्धिक कुश्ती का रूपमात्र रह जाता है। हेगेल के मरने के बाद से उसका एक भी शिष्य न हुआ जो कम-से-कम हेगेल के प्राकृतिक शास्त्र सम्बन्धी द्वन्द्ववादी विचारों का समर्थन करता। सूर्य वाद है, और उसमें वर्त्तमान धब्बे प्रवाद हैं, इस प्रकार की उक्तियाँ बालप्रलापवत् हैं।

जहाँ तक हेगेल विकास का विचार रखता है, वहाँ तक वह ठीक है; किन्तु इस आशय का विचार रखना, कि समस्त विकास का उत्कर्ष, जर्मन जातियों के, आध्यात्मिक स्वतंत्रता को प्रदान करनेवाले, राष्ट्र में ही हुआ है, हेगेल की भयंकर राष्ट्रवादिता, न कि दार्शनिकता, का सूचक है। विकास का सिद्धांत ठीक है; किन्तु एक वस्तु या विचार का निश्चित प्रतिरोधी वस्तु या विचार हो और फिर दोनों के संघर्ष में विकासक्रम चले, यह सिद्ध करना कठिन है। कुछ दूर तक तार्किक और दार्शनिक दृष्टि से इसकी पुष्टि हो भी जाय तथापि प्रकृति और इतिहास की व्याख्या में यह अत्यन्त लचर और कमजोर है। भौतिकशास्त्र को हेगेल ने तीन भागों में अपने त्रिविध द्वन्द्व नियमों के अनुसार बाँटा है। किन्तु सामान्य वैशिष्ट्य का भौतिकशास्त्र, विशेषवैशिष्ट्य का भौतिकशास्त्र तथा समग्रवैशिष्ट्य का भौतिकशास्त्र, इस प्रकार का क्रम अर्थहीन और तात्पर्यहीन मालूम पड़ता है। उसी प्रकार पार्थिव, उद्भिज और प्राणधारी को वाद, प्रवाद या संवाद हेगेल के अंधभक्त ही मान सकते हैं। राजनीतिशास्त्र में द्वन्द्ववाद का योग भी अतर्कसंगत है। भावात्मक अधिकार, व्यक्तिगत सदाचार और सामाजिक-नैतिक-अनुशासन को क्रमशः वाद, प्रवाद या संवाद का उदाहरण मानने के लिए कोई युक्ति या तर्क नहीं। इस त्रिविधवाद के भयंकर पिशाच ने हेगेल के दर्शन को, जो गाम्भीर्य और विद्या में जगत् के

---

१. Logic of Hegel (वालेस का अनुवाद) पृष्ठ १४७–१४८

किसी भी दार्शनिक की कृति से कम नहीं है, कभी-कभी बौद्धिक खिलवाड़ का रूप दे दिया है ।[1]

हेगेल के द्वन्द्ववाद का यूरोपीय भौतिकवाद से समन्वय कर मार्क्स और एंगेल्स ने द्वन्द्ववादात्मक भौतिकवाद को प्रस्तुत किया ।[2] भौतिकवाद के समर्थन की प्रेरणा मार्क्स के यहूदी संस्कार का फल थी । तत्कालीन जर्मनी के वातावरण में, प्रमुखता से वर्तमान ईसाई धर्म, शासक धर्म था तथा यहूदियों के ऊपर अत्याचार होते थे । भावुक मार्क्स ने देखा कि धर्म की जड़ को खोदे बिना यहूदी की समस्या का हल नहीं हो सकता । अतएव १८४४ ई० में, केवल छब्बीस वर्ष की तरुणाई की अवस्था में, अनुभवशून्य मार्क्स ने कहा कि धर्म अफीम है । उसने डिमोक्रिट्स तथा एपिक्यूरस के भौतिकवादी सिद्धान्तों के पार्थक्य के विषय पर अपनी डाक्टरेट थीसिस लिखी थी । बेकन को वह आधुनिक भौतिकवाद का जन्मदाता मानता है । हाब्स और लोक में वर्त्तमान कुछ भौतिकवादी प्रवृत्तियों से भी वह प्रभावित हुआ । ब्रिटिश अनुभववाद की परिणति फ्रांस में, अट्ठारहवीं शताब्दी में, हेलवेशियश, होलबाच, लामेत्री, डिडेरो आदि में हुई ।[3] मार्क्स ने हेगेल के द्वन्द्ववाद और फ्रान्स के भौतिकवाद का समन्वय प्रस्तुत किया । तत्कालीन भौतिकवाद से दो दृष्टियों से मार्क्स का भौतिकवाद भिन्न था। समस्त जगत् के मूल भौतिक तत्त्व को मार्क्स ने सतत गतिमान बताया । एंगेल्स ने तो गति और भौतिकतत्त्व की नितान्त अभिन्नता बताकर आइन्स्टीन और मिखेलसन के विज्ञान का जैसे पूर्वाधार तैयार किया । तत्कालीन भौतिकवाद भौतिकतत्त्व में स्वयं वर्तमान गति न मानकर बाह्य प्रेरित गति मानता था और इसीलिए वह यांत्रिक भौतिकवाद कहा गया है । तत्कालीन

१. विशेष विवेचन के लिए दृष्टव्य, V. P. Varma, 'Dialectics of Kant and Hegel', Patna College Current Studies, No. 2,1953.

२. मार्क्स और एंगेल्स के द्वन्द्ववाद के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य, V. P. Varma, 'Critique of Marxian Dialectics', The Calcutta Review (जनवरी, फरवरी १९५४); V. P. Varma, Buddha and Marx, Patna College Magazine, April 1946.

३. Helvetius, Holbach, Lamettrie, Diderot: इनके विवेचन के लिए द्रष्टव्य, V. P. Varma, 'Mechanical and Dialectical Materialism', Patna University Journal, 1954.

भौतिकवाद के पास कोई क्रमबद्ध इतिहास का दर्शन नहीं था। क्रमिकता की बौद्धिक व्याख्या के अभाव में हेलवेशियश ने कहा कि सामन्तप्रथा मूर्खतापूर्ण थी। मार्क्स और ऐंगल्स ने अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की ऐतिहासिक परिणतियों को ऐतिहासिक भौतिकवाद के रूप में व्यक्त किया। अतिरिक्त मूल्य तथा इतिहास को उत्पादन-प्रक्रिया तथा उत्पादन सम्बन्धी प्रजनित वर्णसंघर्ष के द्वारा व्याख्या का सिद्धान्त मार्क्सीय अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र के मूल स्तम्भ कल्पित किये गये।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद जिस प्रकार फ्रांसीसी भौतिकवाद से भिन्न है, उसी प्रकार जर्मन विज्ञानवाद से भी। फिश्ट और हेगेल के विचारों का खण्डन मार्क्स ने किया। किन्तु यावज्जीवन मार्क्स हेगेल की दार्शनिक महत्ता का मुक्तकंठ से प्रशंसक रहा। आदर्शवाद से समन्वित होकर द्वन्द्ववाद, मार्क्स के मत में, जैसे सर के बल खड़ा था और उसे भौतिकवादनिष्ठ कर उसने सीधा खड़ा कर दिया। मार्क्सवाद के अनुसार ज्ञान, भौतिक संस्थान के आश्रय या सन्निकर्ष से प्राप्त होता है। मानव-ज्ञान या मानवचैतन्य बाह्य वस्तुओं का प्रजनिता नहीं है। अपने विज्ञानवादी रहस्यपूर्ण स्वरूप में हेगेल का द्वन्द्ववाद वस्तुस्थिति का पोषक था, क्योंकि हेगेल के अनुसार, जो कुछ तत्त्वतःस्थित है, वह बुद्धिसंगत है और जो कुछ बुद्धिसंगत है, वह तत्त्वतःस्थित है। सर्वहाराक्रान्ति का समर्थक मार्क्स द्वन्द्ववाद का क्रान्तिसमर्थक तात्पर्य ग्रहण करता था; क्योंकि यदि सतत प्रवाह, परिवर्तन तथा विनाश ही जगत् का स्वरूप तो है, यह आवश्यक है कि इतिहास की दृष्टि, जो वर्ग उन्नति का अवरोधक है, उसके स्थान पर एक नूतन वर्गशक्ति प्राप्त करे। समस्त जगत् को विश्वचैतन्य का परिप्रकाश मानने के कारण हेगेल के द्वन्द्ववाद में काल की विकास-प्रदर्शिनी अभिव्यक्ति स्वीकृत नहीं है, क्योंकि समस्त बाह्य आवर्त्त मानसिक और तार्किक प्रक्रिया के ही आवर्त्त हैं; अर्थात्, उसकी विकास-प्रक्रिया तार्किक है, जिसमें आनन्तर्य की भावना विद्यमान नहीं है। एंगेल्स की ऐसी मान्यता थी कि बिना भौतिकवाद का आश्रय ग्रहण किये जाए और इतिहास की व्याख्या हो ही नहीं सकती, क्योंकि अन्य किसी प्रकार से सहवर्त्तमानता के स्थान में अनन्तरवर्त्तमानता को, जो ऐतिहासिक विकासक्रम की रीढ़ है, स्थापित नहीं किया जा सकता। डार्विन के विकासवाद और विद्युत-चुम्बक-शक्ति के भौतिकशास्त्रीय सिद्धान्त से ऐंगेल्स को द्वन्द्ववाद प्रदर्शित जागतिक गति और सतत परिवर्त्तनशीलता के सिद्धान्त के लिए समर्थन प्राप्त हुआ।

मार्क्स ने डिमोक्रिटस और एपिक्युरस पर रचित अपनी डाक्टरेट थीसिस तथा होलीफमीली ग्रन्थ के पूर्वांश में दार्शनिक विषयों का विवेचन किया है।[1] किन्तु

१. Difference between the Materialistic Philosophy of Democritics and Epicurus; Holy Family.

अपने पूर्ण विकसित बौद्धिक काल को, अर्थशास्त्र की गुत्थियों को, जो कभी-कभी अत्यन्त अनावश्यक और अनर्गल प्रतीत होती है, सुलझाने में ही उसने बिताया, तथापि एंगेल्स ने अपने 'प्रकृति का द्वन्द्ववाद' 'फ्वारबाख तथा डूरिंगप्रतिषेध'[१] में द्वन्द्ववाद का दार्शनिक विवेचन किया। एंगेल्स के मत में द्वन्द्ववाद अन्तःसम्बद्धता का शास्त्र है। प्रकृति, मानवसमाज और मानवविचारधारा में गतिशीलता का निरूपण ही द्वन्द्ववाद-शास्त्र है। लेनिन ने इसी विचार का अनुमोदन करते हुए बताया कि द्वन्द्ववाद विकासवाद का शास्त्र है, जिसमें संवित्शास्त्र का भी अन्तर्भाव है। मार्क्स, बूढ़े हेगेल का पल्ला छोड़ कर, ब्रिटिश प्राणिशास्त्रवेत्ता डार्विन से इतना प्रभावित हुआ कि 'कैपिटल' का प्रथम भाग वह उसीको समर्पित करना चाहता था; किन्तु डार्विन के इनकार करने पर समाजवादी वुल्फ को वह पुस्तक समर्पित की गई, तथापि प्रचलित विकासवाद से मार्क्सीय द्वन्द्ववाद कई अर्थों में भिन्न हैं। मार्क्सवादी इतिहास की ऋजुरेखात्मक व्याख्या के बदले वृत्ताकार, या 'स्पाइरल' के समान, व्याख्या युक्तिसंगत मानते हैं। इस व्याख्या को स्वीकृत करने के कारण मार्क्सवाद विकास-प्रक्रिया में 'कूद' और 'छलांग' मानता है; अर्थात्, इतिहास में कभी-कभी अतिशय वेग से गति होती है तथा कभी-कभी पीछे की ओर मुड़ना भी होता है। विकासवाद का ऐतिहासिक सम्बन्ध ब्रिटेन की, लौक, बर्कले, ह्यूम की अनुभववादिनी परम्परा से है। द्वन्द्ववाद काण्ट और फिश्ट तथा हेगल के तार्किक और बौद्धिक संवित्शास्त्र से सम्बद्ध है जो मानव-मन की रचनात्मिका शक्ति का समर्थक है। मानव-मन के सर्जनात्मक रूप की कल्पना, मार्क्स के अनुसार, और सचमुच में भी, जर्मन विज्ञानवाद की एक जबर्दस्त देन है, क्योंकि इस प्रकार का विचार हमारा भद्दे नियतिवाद से त्राण करता है। मानव-मन पर बल देने का यह परिणाम होता है कि अपनी समाजशास्त्रीय विचारधारा में, मार्क्सवाद, संगठित उत्पादनश्रम तथा मानवबुद्धि के सामूहिक क्रियात्मक महत्त्व को स्वीकार कर जगत् को क्रांति के द्वारा रूपान्तरित करने का विचार रखता है। इस प्रकार नियतिवाद के स्थान पर आंशिक ही सही, कर्मवाद समर्थित होता है।

हेगल के तर्कवाद का आश्रय लेकर और उसीकी शब्दराशि का प्रयोग करते हुए, एंगेल्स ने द्वन्द्ववाद के तीन नियमों की घोषणा की। पहला नियम—मात्रा का गुणात्मक परिवर्त्तन और गुणों का मात्रात्मक परिवर्त्तन। उदाहरणार्थ, पूंजीवाद की विकास-क्रिया में व्यावसायिक पूंजीवाद अपने प्राक्वर्त्ती उत्पादक पूंजीवाद (मैनु—

---

१. Dialectics of Nature, Feuerbach, Anti-Duhring.

फैक्चरिंग कैपिटलिज्म) से, गुणात्मक दृष्टि से, भिन्न है । दूसरा नियम--विरोधी तत्त्वों का अन्तःप्रवेश । तीसरा नियम--निषेध का निषेध । उदाहरणार्थ, प्राक्तन साम्यवाद की सामूहिक सम्पत्ति, यह है स्थापना । इसका निषेध है--सामन्तवाद और पूँजीवाद की व्यक्तिगत सम्पत्ति । फिर निषेध का निषेध हुआ--भावी साम्यवाद की समाजीकृत सम्पत्ति ।[१] गणित और विज्ञान से भी इन तीन नियमों की पुष्टि का प्रयत्न एंगेल्स ने किया है ।

हेगेल और मार्क्स के द्वन्द्ववाद की दो विशेषताओं को मैं स्वीकृत करता हूँ--(१) जगत् और इतिहास में वर्त्तमान गति को प्रश्रय देकर इतिहास की एक यथार्थमूलक व्याख्या करने का मार्ग द्वंद्ववाद उपस्थित करता है । शेलिंग के अद्वैत-विज्ञान को द्वन्द्ववाद से समन्वित कर हेगेल मानव-इतिहास, कला, दर्शन और धर्म तथा मानसशास्त्र (दि फेनोमेनोलोजी आफ माइन्ड) का विकासक्रम उपस्थित कर सका । वर्त्तमान दर्शन में भी गतिवाद का समर्थन मिलता है । कुछ शाश्वत तत्त्वों को मानने के बावजूद ह्वाइटहेड जगत् को गतिशील क्रिया मानता है । बर्गसां के मतानुसार भौतिक तत्व यद्यपि आनुषंगिक है और मुख्य प्राणतत्त्व ही है; किन्तु यह विराट् प्राणतत्त्व गतिशील है । मानस शास्त्र में भी मन को एक निश्चित सत्ता मानने के बदले विज्ञानसंतान की विचारधारा ब्रेन्टानों, जेम्स, रसल आदि ने रक्खी है ।[२] डार्विन के विकासवाद और हेगेल तथा मार्क्स के द्वन्द्ववाद ने मानव इतिहास में वर्तमान सर्जनात्मक गति की ओर ध्यान दिलाकर उस अनुबंधवाद से राजनीति-शास्त्र को त्राण दिया है, जो मानवसमाज और राज्य को अनुबंधप्रजनित मानता था तथा सभ्यता और संस्कृति की अपेक्षा प्राक्तन सरलता और नैसर्गिक अवस्था के आनन्द का पोषक था । (२) हेगेल और मार्क्स की पद्धति से, राजनीति का दार्शनिक आधार होना चाहिए, ऐसा मेरा विचार पुष्ट होता है । यह ठीक है कि दार्शनिक सिद्धान्तों की दृष्टि से हेगेल पूर्ण प्रत्ययवादी तथा अध्यात्मवादी है तथा मार्क्स घोर भौतिकवादी । किन्तु, यह अन्तर सिद्धान्त-पार्थक्य का बोधक है । पद्धति की दृष्टि से हेगेल और मार्क्स, दोनों अपनी दार्शनिक स्पष्ट स्थापनाओं के आधार पर ही अपनी राजनीतिक और सामाजिक विचारधारा का निर्माण करते हैं । हेगेल ने अपने महान् ग्रन्थ 'तर्कविज्ञान' में सामान्य, विशेष और व्यक्ति का अन्तःसम्बन्ध उपस्थित किया है ।[३] 'मन का विकासशास्त्र' ग्रन्थ में उसने एक समग्रात्मक

१. Karl Marx, Capital. प्रथम खण्ड, पृष्ठ ८३७ ।
२. Brentano, William James and Bertrand Russell.
३. Hegel, Science of Logic, खण्ड २, पृष्ठ २३४-२५७ ।

विकासक्रम का विचार रक्खा।[१] इन दो महान् ग्रन्थों में विशद रूप से वर्णित दार्शनिक मूल भित्ति पर ही उसने अधिकारवाद, राज्य, व्यक्तिस्वातंत्र्य, विधि, राज्यसत्ता, आदि के सम्बन्ध में अपने विचारों को स्थापित किया। मार्क्स और एँगेल्स ने दर्शन और विज्ञान के सम्बन्ध में उपस्थित अपनी दार्शनिक विचारधारा, अर्थात् द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, के ऊपर अपनी अर्थशास्त्रीय, समाजशास्त्रीय, राजनीतिशास्त्रीय स्थापनाओं को आधारित किया। मैं इस व्यापक पद्धति से प्रभावित हूँ। आजकल एक ही शास्त्र में पारंगतता प्राप्त करने का जमाना है। यह ठीक है, किन्तु अत्यन्त नैपुण्यप्राप्ति से एकदेशीय दृष्टि हो जाती है। सामाजिकसत्ता नानामुखी है और शास्त्रीय विभदृष्टि से ही इसका रहस्योद्‌घाटन करने में सहायता मिल सकती है। अतएव, प्लेटो द्वारा प्रवर्तित शास्त्रीय अन्तःसम्बद्धतावाद तथा हेगेल और मार्क्स का द्वन्द्ववाद हमें व्यापक शास्त्रीय दृष्टि को अवलम्बन का आदेश देता है। इस व्यापकता के अभाव में घटनाराशि और वस्तुसंघात के समक्ष उनको अर्थ और प्राण प्रदान करने वाली सू ात्मिका दृष्टि हम खो बैठते हैं। आज यूरोप और अमरीका में इसीलिए राजनीतिक दर्शन की परम्परा लुप्त होने को है। पश्चिम-वाले इस बात को भूल गये हैं कि मैकियावेली, ग्रोशियस और रूसो के अतिरिक्त प्रायः सभी उच्चकोटि के राजनीतिक विचारक—प्लेटो, अरस्तू, सिसेरो, हाब्स, लाक हेगेल, मार्क्स, ग्रीन, बोसांक्वेट्, प्रथमकोटि के दार्शनिक थे। अतएव शास्त्रीय सीमा-करण के जमाने में शास्त्रीय अन्तःसम्बद्धता और राजनीति के दार्शनिक आधार के विचार को द्वन्द्ववाद से प्रेरणा मिलती है।

किन्तु मार्क्स का द्वन्द्ववाद कई दृष्टियों से कमजोर है। गति का विचार मुझे स्वीकृत है; किन्तु गति त्रिविधात्मिका है, अर्थात् इसकी तीन प्रक्रियाएँ है—स्थापना, निषेध और निषेध का निषेध—इसका समर्थन करना अत्यन्त कठिन है। यह एक प्रकार का कर्मकाण्डात्मक धर्मशास्त्र हो जाता है। नानात्वपूर्ण जगत् और मानव इतिहास का वैविध्य इस प्रकार के सरल त्रिविधवाद से व्याख्येय नहीं हो सकता। एंगेल्स ने यह उदाहरण दिया है—"अ' एक स्थापना है। इसका निषेध हुआ—अ"। फिर निषेध हुआ—अ—अ अर्थात् अ^2। किन्तु, इस प्रकार के शाब्दिक जाल पर द्वन्द्ववाद को आधारित करने के कारण ही वर्तमान जगत् के वैज्ञानिक और दार्शनिक, हालडेन, लेवी, बर्नाल, इन तीन ब्रिटिश मार्क्सवादी वैज्ञानिकों की दलील के बावजूद

---

१. Hegel, The Phenomenology of Mind (बैलीकृत अँग्रेजी अनुवाद)

द्वन्द्ववाद की उपेक्षा करते हैं।[२] केवल यह कहने से काम नहीं चलेगा कि पूँजीवादी देशों के वैज्ञानिक और दर्शनशास्त्री स्वार्थप्रेरित हैं, इसलिए द्वन्द्ववाद के प्रभूततत्त्व को नहीं देख पाते। यदि विज्ञान की बात छोड़ भी दें; क्योंकि मैं विज्ञान के बारे में मौलिक अध्ययन न होने कारण प्रामाणिकता से नहीं बोल सकता, तो मैं यह दावे के साथ कहता हूँ कि राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र के क्षेत्र में द्वन्द्ववाद के ऐंगेल्सप्रदर्शित तीन नियमों से कुछ भी ज्ञान का विशदीकरण या स्पष्टीकरण नहीं हुआ है। बौद्धिक गाम्भीर्य से पूर्ण एक भी ठोस ग्रंथ राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में मार्क्सवादी नहीं प्रस्तुत कर सके।

द्वन्द्ववाद एक तार्किक सिद्धांत है। तर्कणा करने में कुछ अंश तक हम कह सकते हैं कि पूर्वपक्षी एक स्थापना करता है, सिद्धांती दूसरी स्थापना करता है और फिर दोनों के पारस्परिक संघर्ष के आधार पर एक तीसरी स्थापना पुष्ट होती है, यद्यपि यह भी ठीक है कि या तो प्रथम या द्वितीय स्थापना स्वतंत्र रूप से भी पूर्णतः सत्य हो और फिर दोनों के संघर्ष की आवश्यकता ही न हो। यदि यह स्थापना हुई कि सत्यं वद, तो यह स्वतः पूरी ठीक है। इसके निषेध में असत्यं वद और फिर निषेध का निषेध, यदा कदा सत्यं वद, यदा कदा असत्यं वद, इस प्रकार के तर्क की आवश्यकता हो ही नहीं सकती। तथापि तर्कशास्त्र में आंशिकरूप से द्वन्द्ववाद को स्वीकार किया जा सकता है। इतनी दूर तक काण्ट की दृष्टि ठीक थी। किन्तु इस तर्कशास्त्रीय नियम का सत्ताशास्त्र में प्रयोग करने का प्रयास हेगेल ने किया।[३] चूँकि हेगेल के मतानुसार पूर्णसत्ता ज्ञानमय है या परमज्ञान ही परम तार्किक सत्ता है, इसलिए तर्कशास्त्रीय पद्धति का सत्ताशास्त्रीय प्रयोग नहीं खटकता है। किन्तु तर्कणा के नियम का समस्त भौतिक सत्ता के लिए प्रयोग करना बिलकुल गलत है। ज्ञानमय सत्ता तो तार्किक दृष्टि से कार्य कर सकती है; किन्तु भौतिकतत्त्व तर्कतः पूर्ण स्वातंत्र्य की अभिव्यक्ति के लिए वेगवान् है, इस प्रकार की विश्वासमूलक स्थापना करने के कारण, मेरे विचार में, हेगेल का डायलेक्टिक नहीं, अपितु मार्क्स का डायलेक्टिक सर के बल खड़ा है। भौतिक सत्ता की प्रक्रिया में त्रिविध द्वन्द्वनियम और तर्क को मानना दार्शनिक दृष्टि से भ्रामक है और असत्य तो है ही। यदि पूर्ण गतिशील भौतिक सत्ता ही परम सत्य है तो इसका कोई कारण नहीं कि उसकी

२. J. B. S. Haldane, Marxism and the Sciences; Levy, Aspects of Dialectical Materialism.

३. रूस में Belinsky हेगेल के द्वन्द्ववाद से प्रभावित था। किंतु पीछे उसने उसका विरोध किया। द्रष्टव्य V. G. Belinsky, Selected Philosophical Works पृष्ठ १ (भूमिका); N. G. Chernyshevsky, Selected Philosophical Essays, पृष्ठ ४६५-४६८।

द्वन्द्वात्मिका अभिव्यक्ति त्रिविध नियम से ही हो और फिर वर्गसंघर्ष के सहारे साम्य और स्वातंत्र्य की अभिव्यक्ति हो। मार्क्सवाद ने डायलेक्टिक को इस प्रकार तर्कसंगत नहीं बताया; किन्तु घोर अन्धविश्वास को जन्म दिया। यह विश्वास, कि साम्य स्वातंत्र्य या सर्वहारावर्ग की शक्तिप्राप्ति, भौतिकतत्त्व का अभीष्ट है, नैतिक और काल्पनिक आदर्शवाद का परिणाम है न कि भौतिक के वैज्ञानिक विश्लेषण का। हेगेल के समय से जो प्राकृतिक नियमों को मानव के विशाल आदर्शवाद से अनुप्राणित तथा संश्लिष्ट मानने की धारा चली थी। मार्क्स भी उससे प्रभावित था। अतएव मानव आदर्शवाद द्वारा प्रकाशित इतिहास के भावी महान् साध्यों को भौतिक तत्त्व की द्वन्द्वात्मिका गति का विनिश्चित संभवनीय परिणाम, उसने कहा। द्वन्द्ववाद और वह भी भौतिक द्वन्द्ववाद इस प्रकार के भावी मानववाद और आशावाद की क्यों सृष्टि करेगा? क्यों भौतिकतत्त्व की गति उसी प्रकार होगी जैसी हमारी नैतिक भावना चाहती है? मानवता के दुःख से कातर मार्क्स सचमुच में सर्वहारा वर्ग की मुक्ति का अभिलाषी था। उसकी सचाई और उसका महान् चरित्र हमारे ऊपर गहरा प्रभाव करते हैं; किन्तु हमारा यह कहना है कि भौतिक द्वन्द्ववाद की परिणति अवश्य उन्नति, सर्वहाराविजय और व्यापक साम्य में होगी ही, इस आदर्शवाद को आध्यात्मिक या विज्ञानवादी द्वन्द्ववाद के आधार पर करना समर्थित तो युक्तिसंगत था; क्योंकि यदि परमसत्ता चेतन है तो वह साम्यवाद की विजयप्रवर्तिका हो सकती है। परन्तु भौतिकवादी द्वन्द्ववाद से इसकी समर्थना नहीं होती है। मानव विचिंतन या कल्पनावाद या आदर्शवाद के द्वारा परिदृष्ट भविष्य में सम्भवनीय आदर्शों को, भौतिक गतिशील सत्ता का परिणाम मानना, द्वन्द्ववाद की एक प्रकार से अवहेलना है क्योंकि द्वन्द्ववाद, जो हो रहा है उसकी, व्याख्या करता है न कि भविष्य की। इतिहास के भावी परिणाम को विचारधारा में पूर्वतः वर्तमान मानना यह एक अयुक्तिसंगत मन्तव्य है। इस प्रकार का विश्वास एक अतिशय प्राकृतिक नियतिवाद को जन्म देता है; क्योंकि ऐसी अवस्था में यह विश्वास उत्पन्न होता है कि कुछ घटनाएँ होकर रहेंगी क्योंकि इतिहास का यही परम लक्ष्य है। इस प्रकार का विश्वास नियतिवाद का परिणाम है। अतएव हम देखते हैं कि मार्क्सीय द्वन्द्ववाद में प्रकृतिवाद, ऐतिहासिक आदर्शवाद और कल्पनावाद का मिश्रण है और इस प्रकार के सम्मिश्रण से इतिहास की समुचित व्याख्या नहीं हो सकती।

मार्क्सीय द्वन्द्ववाद हेगेल के विप्रतिषेधवाद (लॉ ऑफ कन्ट्राडिक्शन) से प्रभावित था। हेगेल ने बताया था कि विप्रतिषेध से निरन्तर गति मिलती है। किन्तु ध्यान में रखना है कि भिन्नता और विप्रतिषेध एक चीज नहीं हैं। एक वस्तु किसी अन्य वस्तु से पृथक् या भिन्न हो सकती है; किन्तु जब तक वह उसका निषेध न करे

तबतक विप्रतिषेध नहीं होता है। 'क' और 'क' विप्रतिषेध का उदाहरण है। कलम और पुस्तक एक दूसरे से पृथक् हैं। यदि मार्क्सीय साहित्य का विचारपूर्वक अनुशीलन किया जाय तब भिन्नता, पार्थक्य, विप्रतिषेध आदि शब्दों के प्रयोग में विस्पष्टता नहीं मालूम पड़ती है। पार्थक्य को यदाकदा विप्रतिषेध समझ लिया जाता है। उदाहरणार्थ--आज राजनीतिशास्त्र में राज्य के सम्बन्ध में अनेक विचार हैं, जैसे अरस्तू का प्रस्ताव कि राज्य नैसर्गिक है, ईसाई दार्शनिकों का विचार कि राज्य मानव-पतन के कारण उपस्थित किया गया है; अनुबन्धवादियों का विचार कि राज्य की उत्पत्ति इकरार से हुई है; हेगेल के मतानुसार राज्य विश्वात्मा का प्रकाशन है; या ग्रीन के मतानुसार राज्य सामान्यहित का बाह्य संरक्षक है। किन्तु इन पृथक् मतों को, एक को दूसरे का ऐतिहासिक क्रम से विप्रतिषेध मानकर सिद्धान्तनिरूपण करना, समीचीन नहीं मालूम पड़ेगा। जैन दर्शन में अनेकान्तात्मक सत्ता की व्याख्या के लिए स्याद्वाद की आवश्यकता पड़ी।[१] वैष्णव दर्शन में चतुर्व्यूहवाद की स्थापना है। स्याद्वाद इतनी दूर तक उपादेय है कि वह बताते हैं कि सत्य की व्याख्या त्रिविधवाद से नहीं हो सकती। त्रिविधवाद में एक प्रकार की कृत्रिमता आती है जब समस्तसत्ता की हम इससे व्याख्या करना चाहते हैं।

एंगल्स ने वस्तुनिष्ठ द्वन्द्ववाद और व्यक्तिनिष्ठ द्वन्द्ववाद में अन्तर दिखाते हुए कहा कि पिछला पहले का परिणाम या प्रतिबिम्ब है। मार्क्स, काण्ट और हेगेल के जर्मन विज्ञानवाद से प्रभावित होने के कारण ज्ञानप्रक्रिया में मानव मन के सर्जनात्मक रूप को स्वीकार करता था। वस्तुतः अनुभववाद के विपरीत काण्ट के आक्रमण का यही जड़ था। मार्क्स ने 'फ्वारबाख के ऊपर 'थीसीस' में जर्मन विज्ञानवाद के इस ऋण को स्वीकार किया है।[२] किन्तु अज्ञानवशात् एंगल्स और लेनिन ने फिर अनुभववाद को पुनः स्थापित कर दिया; क्योंकि वे दोनों बराबर यह कहते हैं कि बाह्य वस्तुओं का प्रतिबिम्ब मानव-मन पर पड़ती है और यही ज्ञान का कारण है।[३] इस प्रकार संवित्शास्त्र की दृष्टि से, जर्मनविज्ञानवाद प्रभावित मार्क्स और ज्ञानात्मक प्रतिबिम्बवादी एंगल्स और लेनिन में अन्तर मालूम पड़ता है। इस प्रकार का प्रतिबिम्बवाद या छायावाद एक असंगत सिद्धांत है। मानवमन तो कोई स्वच्छ लेखनपट नहीं है जहाँ बाह्य वस्तुएँ अपना प्रभाव या प्रतिबिम्ब स्थापित

---

१. S. C. Vidyabhusana, Medieval Logic, A History of Indian Logic.

२. *Karl Marx, Theses on Feuerbach.*

३. Reflex or Image theory of knowledge.

करती है । कुछ देर तक प्रतिबिम्बवाद माना भी जाय तो यह स्वीकार करना होगा कि इसके कार्य करने की प्रक्रिया यांत्रिक ही हो सकती है। मानसशास्त्र के नियम पेचीदे हैं और किस प्रकार बाह्य वस्तुएँ या उनका प्रतिबिम्ब अन्तःमानसीकृत होता है इसको बताना कठिन है। मार्क्सवादी अंतःमानसीकरण की व्याख्या में वर्गसंस्थिति को कारणभूत या माध्यमभूत मानते हैं। यदि कोई शोषक वर्ग का है तो वह बाह्य वातावरण को दूसरे ही रूप में देखेगा या वह उसको दिखाई पड़ेगा। पुनश्च, यदि कोई शोषितवर्ग का है तो उसके मन पर बाह्य वातावरण अन्य प्रकार का ही भाव व्यक्त करेगा। इस प्रकार मनुष्य का वर्गसंस्थान ज्ञानप्राप्ति का माध्यम है, ऐसा विचार मार्क्सीय संविद्शास्त्र का है।[१] किन्तु अनेकों अपवाद इस नियम के मिल सकते हैं। संगतराशी करनेवाला सुकरात तथा अभिजातवर्गीय प्लेटो प्रायः एक प्रकार सोचते थे। चश्मा बनानेवाले यहूदी दार्शनिक स्पायनोजा के इस विचार को कि, प्रत्येक विनिश्चितीकरण निषेधकरण है, मध्यवर्ग समर्थक जर्मन प्रोफेसर हेगेल और क्रान्तिसमर्थक मार्क्स दोनों अपने तर्क विज्ञान का मूल मानते हैं। साधु शंकर तथा प्रोफेसर ब्रैडले दोनों अध्यात्मवादी थे। इसलिए यह कहना कि मानव की ज्ञानप्रक्रिया वर्गनिर्धारित है, ठीक नहीं है। स्वयं मार्क्स, एंगल्स तथा लेनिन का जीवन इस प्रकार के संवित्शास्त्र का घोर विरोधी है। क्योंकि मध्यवर्गोत्पन्न मार्क्स और लेनिन के मन पर, बाह्यसत्ता अन्य मध्यमवर्गीय पुरुषों की अपेक्षा, भिन्नरूप से प्रकटित हुई ? एंगल्स तो कुछ अंश तक मिलमालिक था और उसके मुनाफे का स्वयं ही उपभोग नहीं करता था, अपितु मार्क्स की भी उस धन से सहायता करता था। इस प्रकार स्पष्ट है कि बाह्यसत्ता की गतिशीलता विनिश्चित नियम से मानवमन की गतिशीलता पर व्याप्त होती है, ऐसी कल्पना युक्तिसंगत नहीं है। वर्गसंस्थान को संवित् का कारण या माध्यम बनाने से बहुतर्कणावाद अर्थात् यह विचार कि भिन्न भिन्न वर्ग भिन्न-भिन्न तरीकों से सोचते और तर्क करते हैं, उपस्थित होता है[२]। कम-से-कम

१. इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य Karl Mannheim, Ideology and Utopia Lukacs, Studies in European Realism, तथा Durkheim, Max Scheler, Child आदि के Sociology of Knowledge सम्बन्धी लेख।

२. Polylogism : इस विचारधारा के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य, Ludwigvon Mises, Human Action; कार्ल मानहेयम (Karl Mannheim) की Ideology and Utopia भी महत्त्वपूर्ण है।

विज्ञान की उन्नति इसी पर आश्रित है कि तर्कणा की सर्वबुद्धिसम्मत प्रक्रिया स्थापित हो। यदि पूँजीवादीदेशस्थ वैज्ञानिकों की प्रक्रिया से भिन्न प्रक्रिया सर्वहारा देशस्थ वैज्ञानिकों की होगी तो अणुशास्त्र या अन्यान्य किसी भौतिकशास्त्र का विकास हो ही नहीं सकता। विज्ञान वर्गसंस्थान के सिद्धांत का अत्यन्त अतिक्रमण करता है। मानव-हृदय की समान संवेदनशीलता के कारण रस और अलंकार के सम्बन्ध में साहित्यिक विचार अनेक देशों में भिन्न-भिन्न वर्गस्थ पुरुषों द्वारा प्रणीत होने पर भी प्रायः समान रहते हैं। अरस्तू, भामह, मम्मट और क्रोचे में विभिन्नताओं के बावजूद भी एक विशाल समानतार्किकता दिखाई पड़ती है। सामाजिक शास्त्रों में, विशेषतः अर्थशास्त्र में, पूंजीवादी और साम्यवादी देशों में बहुत अन्तर देखने को मिलता है तथापि समानताएँ भी अनेक हैं। अन्तर प्रस्ताव या निष्कर्ष के क्षेत्र में है, समानता तार्किक प्रक्रिया के क्षेत्र में है। दण्ड और बल का नियंत्रण राजनीतिशास्त्र का एक मुख्य विषय है। बहुत-सी विचारधाराएँ इनके संबंध में भी समान होंगी ही क्योंकि मानव का स्वभाव बहुत दूर तक भिन्न-भिन्न वर्गों में एक-सा ही है। अतएव वैज्ञानिक भौतिकवाद या भौतिकवादी द्वन्द्ववाद के ज्ञानशास्त्रीय तर्कणात्मक सहचर बहुतर्कणावाद का आधार मुझे युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है।

द्वन्द्ववाद का जन्म यूनानी साहित्य और दर्शन में हुआ। संभवतः दुखांत नाटकों के आधार पर ही उसका दर्शन में प्रयोग हुआ। यूनानी दुखांत नाटकों के अनुसार मानव जीवन एक विशाल काव्यात्मक अनुभति है जिसमें निरन्तर संघर्ष होता है। हृदयमंच पर अनेक परस्पर विरोधिनी भावनाएं अपना नृत्य दिखाती हैं और फिर अप्रतिहार्य अनिरुद्ध नियतिशक्ति (जिसे यूनानी भाषा में 'मोयरा' कहते हैं)[१] अपना सर्वत्र नियंत्रण स्थापित करती है। इस साहित्यिक संभाषण का तार्किक और दार्शनिक रूपग्रहण सुकरात, प्लेटो, अरस्तू आदि ने किया। काण्ट तक द्वन्द्ववाद का स्वरूप मूलतः तार्किक था। हेगेल और मार्क्स ने उसका सत्ताशास्त्रीय प्रयोग शुरू किया[२]। दोनों ने द्वन्द्ववाद के संघर्षात्मक सामाजिक रूप का निदर्शन कराया। हेगेल के मतानुसार राष्ट्रीय युद्ध इतिहास की द्वन्द्वात्मक गतिशीलता का प्रतिफल है। इस प्रकार युद्ध को मानव-सभ्यता में उन्नति का वाहक मानकर उसने कहा कि युद्ध बिलकुल बुरे नहीं ह और उनमें नैतिक आदर्शवादिता भी अंतर्भूत है।[3] सर्वशक्तिशालिनी द्वन्द्व-प्रक्रिया का यदि राजनीतिक समानांतर हेगेल के मत में राष्ट्रीय युद्ध है तो मार्क्स

१. Moira.
२. Logical रूप से Ontological रूप की प्राप्ति।
३. Hegel, Philosophy of Right.

के मतानुसार वह समानांतर, वर्गसंघर्ष है। राज्य के विकास में हम युद्ध और वर्गसंघर्ष को कारणभूत मानते हैं; किन्तु एकमात्र कारण नहीं। मानवजीवन में भावनाओं का सतत घातप्रतिघात तो वास्तविक मालूम पड़ता है; परंतु द्वन्द्ववाद का सामाजिक परिणामभूत राष्ट्रीय युद्ध या वर्गसंघर्ष को मानने से इतिहास में अतिरंजित शक्तिवाद को परिगृहीत करना होगा। इस प्रकार, हेगेल और मार्क्स की द्वन्द्वात्मक व्याख्या में ईप्सीत या अनीप्सीत किसी भी तरह हो, उस दण्डवाद और बलवाद की प्राप्ति होती है जिसके यूरोपीय सन्देशवाहक थूसिमाकस, मैकियावेली और हाब्स थे।

यद्यपि मार्क्स ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ कैपिटल, प्रथम भाग में कुछ अंश तक द्वन्द्वादात्मक पद्धति का आश्रय लिया है, तथापि उस ग्रंथ की भूमिका से ऐसा लगता है कि द्वन्द्ववाद को कुछ दूर तक मानो वह खिलवाड़ समझता हो। उसने कहा है कि मूल्य के सिद्धांत वाले अध्याय में मैंने यत्र-तत्र हेगेल की द्वन्द्ववादी शब्दराशि से खेल किया है। इस सम्बंध में जिस अंग्रेजी शब्द का वहाँ प्रयोग हुआ है, वह है 'कोक्वेटेड।'[१] इसका अर्थ होता है, खेलना, मजाक करना, अगम्भीर होना। त्रिविधवाद के अतिरंजित प्रयोग को मैंने पहले बौद्धिक खिलवाड़ कहा था। अब मार्क्स के अपने निजी लेखन से मेरे कथन की पुष्टि होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि राजनीतिक आन्दोलन की पुष्टि के लिए एक सबल साधक होते हुए भी द्वन्द्ववाद शास्त्रीय दृष्टि से असंगत है। मनुष्य अनेकविध वस्तुओं के जंजाल से ऊब कर उनकी एक साधारण सरल व्याख्या चाहता है। द्वन्द्ववाद एक समन्वयात्मक सिद्धांत है। भौतिकशास्त्र, प्राणीशास्त्र, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, मनोविज्ञान, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, इन समस्त विषयों की गुत्थि को सुलझाने का इसके पास एक रामबाण है। यह इसकी दृष्टि में अचूक है और सर्वत्र इसका प्रयोग हो सकता है। सत्ता और गतिसातत्य की एकाकारता मानकर मार्क्सीय द्वन्द्ववाद मानवसमाज में गति को वर्गसंघर्ष के द्वारा अभिव्यक्ति मानता है। और स प्रकार वर्ग-

१. The mystifying side of the Hegelian dialectic I criticised nearly thirty years ago, at a time when it was still the fashion... I therefore openly avowed myself the pupil of that mighty thinker and even here and there, in the chapter on the theory of value, coquetted with the modes of expression peculiar to him (Marx, Capital प्रथम खण्ड, पृ० २५,).

संघर्ष का यह महान् मं , ऐसा दावा करता है कि जिस राज्य मीमांसा की समुचित इयत्ता और इदृक्ता कौटिल्य, प्लेटो, अरस्तु, एक्वायनास और रूसो नहीं बता सकते, उसको याथातथ्य बता देगा। इस प्रकार का प्रचण्ड आशावाद ही द्वन्द्ववाद के प्रभाव और प्रचार का मूल स्रोत है। इस प्रकार का जबरदस्त दावा करना साधारणतः मानवबुद्धि को बहुत प्रभावित करता है। किन्तु विचारने की बात है कि अभी सत्तर वर्षों में मार्क्स की मृत्यु के अनन्तर जो राजनीतिशास्त्र या समाजशास्त्र में प्रगति हुई है, वह सब, द्वन्द्ववाद से, यही नहीं कि किंचिन्मात्र भी प्रभावित न हो, अपितु किसी-न-किसी प्रकार उसका विरोधी भी है। क्या मार्क्स वेबर, डुरखायम, परेटो, हाबहाउस, द्वन्द्ववादी हैं ?[1] क्या यह ठीक नहीं है कि समाज और राज्य के विषय म हमारा इनके अनुसन्धानों से ज्ञान–वर्धन हुआ है ? क्या सिगमंड फ्रायड या जान डिवी द्वन्द्ववादी हैं ?[2]

इस प्रकार स्पष्ट है कि द्वन्द्ववादिनी पद्धति में अनेक कमियाँ हैं। तथापि इसका मुख्य महत्त्व इसी में है कि इसने गति पर बल दिया है। मानव इतिहास की गतिशीलता पर बल देने का जबरदस्त विचार जर्मनी के ऐतिहासिक अर्थशास्त्र–सम्प्रदाय में पाया जाता ह। मार्क्स वेबर तथा आलफ्रेड वेबर भी ऐतिहासिक पद्धति का समर्थन करते ह, यद्यपि मार्क्स वेबर अपनी ऐतिहासिक पद्धति का 'आयडियल टिपिकल' पद्धति से भी समन्वय करता है। जर्मन समाजशास्त्री सिमेल तथा उन्नीसवीं शताब्दी के समाजशास्त्री प्रायः सब ही ऐतिहासिक पद्धति का समर्थन करते हैं।[3] इसलिए मानव इतिहास सतत गतिशील, परिवर्तनशील, परिणामी है, द्वन्द्ववाद का यह सिद्धान्त, ऐतिहासिक पद्धति में भी परिगृहीत है। जिस आधारभूत ऐतिहासिक पद्धति का समर्थन लियोपोल्ड फान रान्का, रोसचर, श्मौलर आदि ने किया है, मैं

१. L. T. Hobhouse, Mind in Evolution, Morals in Evolution, Development and Purpose, Social Development, Social Evolution and Political Theory.

२. Sigmund Freud, Moses and Monotheism, Totem and Taboo; John Dewey, German Philosophy and Politics, Human Nature and Conduct, The Public and its Problems, Individualism old and new.

३. N. G. Spykman, The Social Theory of George Simmel.

उस पद्धति का न कि उनके निष्कर्षों का समर्थन करता हूँ।[1] ऐतिहासिक पद्धति के खण्डन में द्वन्द्ववादियों का कहना है कि यह केवल ऋजुरेखात्मक विकास का समर्थन करता है और इसमें संघर्ष, क्रान्ति आदि के लिए स्थान नहीं है। मैं समझता हूँ कि मार्क्स का, संघर्ष और सामाजिक क्रान्ति का समर्थन, द्वन्द्ववादिनी पद्धति का परिणाम नहीं है। क्रान्तिवाद और द्वन्द्ववाद में कोई अवश्यम्भावी सम्बन्ध नहीं है। आमूलक्रांति का समर्थन करनेवाले क्रोपाटकिन और मायकेल बाकुनिन द्वन्द्ववादी नहीं थे।[2] ऐतिहासिक पद्धति को मानने पर भी हम इतिहास के क्रांतिपूर्ण अवसरों की--उदाहरणार्थ, फ्रांसीसी और रूसी क्रांतियों की-व्याख्या कर सकते हैं। संघर्ष और हिंसा को इतिहास में आवश्यक बताने के लिए द्वन्द्ववादी होना आवश्यक नहीं है। नाजी जर्मन विचारक आल्फ्रेड रोजनवर्ग या कार्ल श्मिट आदि, बिना द्वन्द्ववादी हुए भी हिंसा, मानव जातियों में सतत संघर्ष आदि का समर्थन करते हैं। अतएव सामाजिक क्रांति का प्रचार कोई द्वन्द्ववाद का ही आवश्यक अंग है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

तथापि इतना कहा जा सकता है कि मार्क्सीय भौतिक द्वन्द्ववाद ने गति, परिवर्तनशीलता, समुद्भव और विनाश, इन शब्दों पर इतना बल दिया है कि केवलमात्र एक पूर्ण प्रत्यय या नियति या जागतिक भाग्य से इतिहास को व्याख्येय करनेवालों को एक बड़ी जबर्दस्त चुनौती का सामना करना पड़ा है। मार्क्स के मत में मनुष्य की आधारभूत उत्पादन-शक्तियाँ इतिहास की नियामिका हैं, न कि आकाश में बैठा हुआ वीणा बजानेवाला कोई खुदा या ईश्वर। इस प्रकार की विचारधारा से एक ऐतिहासिक यथार्थवाद को बलप्रदान अवश्य हुआ है। जिस कृत्स्नपद्धति का दार्शनिक राजनीतिशास्त्र समर्थन करता है, वह बहुत व्यापक है।[3] द्वन्द्ववाद की किंचित् विशेषताओं का अपने में अन्तर्भाव कर वह अधिक समग्रात्मक पद्धति का समर्थन करती हुई मानव की सामाजिक प्रक्रियाओं की व्याख्या करती है। इस कृत्स्नता के अन्वेषण में अब हम राजनीतिशास्त्र का विज्ञान से क्या सम्बन्ध है, इसकी विवेचना करेंगे।

---

१. Leopold von Ranke, Roscher, Schmoller.

२. Nicolas Berdyaev, The Russian Idea.

३. कृत्स्न पद्धति के समर्थन के लिए द्रष्टव्य–Kurt Lewin, "Cassirer's Philosophy of Science and Social Sciences". The Philosophy of E. Cassirer पृष्ठ २७१–२८८, Ibid, A Dynamic Theory of Personality, (न्यूयार्क १९३६)

(घ) राजनीतिशास्त्र और विज्ञान।

विज्ञान शब्द का साधारणतः तीन अर्थों में प्रयोग मिलता है। इसका एक सीधा अर्थ है--विशेष ज्ञान। इस अर्थ में आत्मा, योग, ब्रह्म आदि के तात्विक ज्ञान को विज्ञान कहते हैं और सी अर्थ में गीता में कहा है कि ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य ब्राह्मण के स्वभावज कर्म हैं। इसी अर्थ में श्रीकृष्ण अर्जुन को विज्ञानसहित ज्ञान की शिक्षा देने का उद्योग करते हैं। विज्ञान का एक दूसरा अर्थ है बुद्धि। तैत्तिरीय उपनिषद् में इसी अर्थ को व्यक्त करने के लिए पंचकोश विवेचन में मनोमयकोश और आनन्दमय कोश के बीच विज्ञानमयकोश को स्थान दिया है। किन्तु आधुनिक काल में विज्ञान का प्रयोग भौतिकशास्त्रों के लिए ही किया जाता है। सोलहवीं शताब्दी के बाद से भौतिक विज्ञान की अभूतपूर्व उन्नति हुई है। और आज अप्रतिहत गति से नूतन क्षेत्रों का अवगाहन विज्ञान कर रहा है। प्राचीन भारत में भी भौतिकज्ञान के कुछ अंशों का बहुत विकास हुआ था। विशेषतः बीजगणित, खगोल, आयुर्वेद आदि में हिन्दुओं का उत्कर्ष प्राचीन और मध्यकालीन जगत् की अन्य जातियाँ भी स्वीकृत करती थीं। चीन में भी कुछ यांत्रिक शिल्पकला की उन्नति हुई थी। मिश्रदेशवासियों ने भी गणित, रेखागणित और वास्तुविद्या में उन्नति की थी। किन्तु आधुनिक विज्ञानशास्त्रों की अपरिकल्पित उन्नति का बीज आजकल के समीक्षक, प्राचीन यूनानियों की तर्कपद्धति में ही देखते हैं। ह्वायटहेड का कहना है कि प्राचीन यूनाननिवासियों के कार्यकारणभाव के नियम में ही आधुनिक विज्ञान का बीज है[1]। कुछ लोग अरस्तू की तर्कपद्धति में आधुनिक विज्ञान का जन्म खोजते हैं। किन्तु यदि तार्किक तीक्ष्णता से विज्ञान का समुद्भव हो सकता था तब तो असंग, दिङ्नाग, धर्मकीर्त्ति तथा वात्स्यायन, गंगेश, जगदीश आदि महान् नैयायिकों और तार्किकों के इस देश में उत्पन्न हुए, तथापि विज्ञान की उन्नति यूरोपीय सभ्यता की ही दी हुई वस्तु है। कुछ यूरोपीय आलोचकों का कहना है कि यद्यपि अन्य प्राच्य देशों में विलक्षण दार्शनिक उत्पन्न होने पर भी तथापि स्वतंत्ररूप से बुद्धिसम्मत तार्किक पद्धति का विकास थेल्स से लेकर आर्किमिडीज पर्यन्त यूनानी विचारक ही कर सके। इसके विपरीत रूसी दार्शनिक निकोलास बर्जायिभ ईसाई धर्म के अन्दर ही आधुनिक विज्ञान का मूल खोजता है।[2] उसके मतानुसार ईसाई धर्म ने मनुष्य को आत्मचैतन्य प्रदान किया। उसके पहले मानव, प्रकृति तथा आसुरी

---

१. A. N. Whitehead, Science and the Modern World (प्रथम अध्याय "The Origins of Modern Science")

२. Nicolas Berdyaev, The Meaning of History.

शक्तियों के प्रत्यक्ष सन्निकर्ष में था और उनसे शासित और नियंत्रित था। इन आसुरी शक्तियों के स्थान पर मानव को प्रतिष्ठित कर, इतिहास में जबर्दस्त रूप से स्वातंत्र्य का बीज बोकर ईसाई धर्म ने मानव का परित्राण किया है। मानव की इस विमोक्ष-भावना में ही विज्ञान का बीज है; क्योंकि विज्ञान का मूल लक्ष्य है--प्रकृति पर विजय। प्रबुद्ध और चेतन मानव ही इस ज्ञानात्मक विजय को प्राप्त कर सकता है। अतएव इस मानवचैतन्य का ऋण स्वीकार करना है। चेतन मानव प्रकृति की शक्तियों पर नियन्त्रण प्राप्त करता है और अपने वश में उनको लाता है। अभी हम विशेषरूप से विज्ञान के उद्भव के विषय पर विवेचन नहीं करेंगे।[१] यह ठीक है कि ऐतिहासिक दृष्टि से, समस्त महान् धर्मों का प्रवर्तन एशिया में हुआ और यांत्रिक तथा भौतिक विज्ञान को विकसित करने का श्रेय पश्चिमी देशों को ही है।

यूरोपीय पुनरुत्थान के समय से ही विज्ञान की अपरिकल्पित उन्नति हुई है और इस उन्नति के साथ-ही-साथ वैज्ञानिक पद्धति का विकास हुआ है। वैज्ञानिक उन्नति में, पद्धति ही प्रमुख है, ऐसा अनेक विचारकों का कथन है। विश्वविख्यात जर्मन दार्शनिक काण्ट का कहना है कि पद्धति ही ज्ञान का मूल है। मध्ययुग में यूरोप इस पद्धति को भूल गया था और काण्ट के मतानुसार यूरोपीय पुनरुत्थान का श्रेय इसी में है कि उसने प्राचीन यूनान की स्वतंत्र आन्वीक्षकी का फिर से प्रचलन किया। विनिश्चित, स्पष्ट, तार्किक पद्धति से ही विज्ञान की अभूतपूर्व उन्नति हुई है, इस विचार ने, सामाजिक शास्त्रियों को भी विज्ञान प्रतिपादित पद्धति को अंशतः ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया।[२] बहुत से सामाजिकशास्त्रवेत्ता यह कहने लगे कि जब तक समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र वैज्ञानिक पद्धति का अवलम्बन नहीं करेंगे तबतक ये काल्पनिक, उपदेशात्मक स्थिति से ऊपर हटकर शास्त्र का रूप नहीं ग्रहण कर सकते। स प्रकरण में हम इस विषय की मीमांसा करेंगे कि कहाँ तक राजनीतिशास्त्र वैज्ञानिक पद्धति का अवलंबन कर सकता है।

वैज्ञानिक पद्धति का मूल लक्ष्य है--विश्वासप्रद ज्ञान प्राप्त करना। इसका आधार है--अधिकतम परीक्षण और निरीक्षण। मानव हृदय के समुद्भूत संशयों को यह

---

१. द्रष्टव्य F. S. C. Northrop, The Meeting of the East and the West. B. N. Seal, The Positive Sciences of the Ancient Hindus.

२. Morris Cohen "Scientific Method", Encyclopaedia of the Social Sciences; John Dewey, Influence of Darwin on Philosophy.

कहकर कि श्रद्धा करो, दबाने की चेष्टा नहीं करता। संशय से ही वैज्ञानिक जिज्ञासा आरम्भ होती है। जो कुछ, साम्प्रतिक ज्ञान की अवस्था में और वर्तमान साधनों से किसी प्रस्ताव के समर्थन या खण्डन में बातें मिल सकती हैं, उन सबका गहरे निरीक्षण के द्वारा हम संग्रह करें और फिर इसके आधार पर कोई नियमनिर्देश करें, यही वैज्ञानिक प्रक्रिया है। संक्षेप में, निरीक्षण, परीक्षण और नियमनिर्धारण ये तीन बातें वैज्ञानिक पद्धति का मूल हैं। विज्ञान तार्किक और बौद्धिक प्रक्रिया का आश्रय लेता है। अपने समर्थन में प्राप्त युक्तियों से अधिक आदर यह उन युक्तियों का करता है, जो इसके द्वारा प्रतिपादित नियमों का विरोध उपस्थित करती हैं।[1] कुछ प्रज्ञावादियों का कहना है कि विज्ञान भी मानव बुद्धि के समीक्षण का नहीं, किन्तु प्रज्ञा के उद्भास का फल है। फ्रान्स का गणितज्ञ पोंवाकारे का कहना है कि गणित भी प्रज्ञाजनित है।[2] वह किसी प्रश्न पर विचार कर रहा था। बहुत दिन विचार करते-करते, किसी प्रकार भी समस्या का समाधान नहीं मिल सका। एक दिन मोटरबस पर चढ़ने के समय उसे समस्या का समाधान आप-से-आप मिल गया। उस समय से वह गणित को प्रज्ञाश्रित मानने लगा। किन्तु इस प्रकार के गणितात्मक प्रज्ञावाद को मैं अनावश्यक समझता हूँ। मानवमस्तिष्क की समस्त प्रक्रियाएँ सर्वदा विदित नहीं होतीं। वस्तुतः जब एक मनुष्य किसी जबर्दस्त समस्या का समाधान खोजता है, तब उसकी बुद्धि कार्य करना आरम्भ करती है। ज्ञात और अज्ञात रूप से उसकी बुद्धि सर्वदा कार्य करती रहती है। समस्या का समाधान ज्ञात और अज्ञात रूप से बौद्धिक परिपाक का फल है। अतः यही कहना चाहिए कि सततनिरीक्षण, आंशिकरूप से कार्यालय में परीक्षण और नियमनिर्देश—ये, न कि आन्तरिक प्रज्ञा, वैज्ञानिक पद्धति के आवश्यक अंग हैं।

विज्ञान सामान्य और सार्वकालिक नियमों का अनुसंधान करता है। व्यापक कार्यकारणभाव के सिद्धांत पर ही विज्ञान आधारित है। इधर जर्मन वैज्ञानिक हायजेनवर्ग ने बताया है कि एलेक्ट्रन का व्यवहार कार्यकारणसम्बन्धनियम का अनुमोदन नहीं करता है। उसके इस विचार के आधार पर, जिसपर ऐडिंटन ने कुछ भाष्य भी किया है, समाजशास्त्री और राजनीतिशास्त्रवेत्ता यह कहने लगे कि अब सामाजिकशास्त्रों से भी कार्यकारणभाव के नियम का निष्कासन कर देना चाहिए। किन्तु इस प्रकार के विचार अधकचरे हैं। महान् जर्मन वैज्ञानिक माक्स प्लांक का कहना है कि विज्ञान केवल

१. John Stuart Mill, Logic.

२. Henri Poincare, Value of Science, Science and Hypothesis.

सामान्य नियमों से सन्तोष नहीं कर सकता।[1] इन सामान्य नियमों को, अधिक बौद्धिक तीक्ष्णता से, कार्यकारणाश्रित नियमों में परिवर्तित करना होगा। महान् अस्ट्रियी भौतिकशास्त्रवेत्ता और दार्शनिक माख का कहना था कि भौतिकशास्त्रों से केवल इन्द्रियसन्निकृष्ट तत्त्व का ही ज्ञान होता है।[२] आंशिकरूप से, काण्टप्रतिपादित, वस्तु और मूलवस्तु (फ़ीनोमिना तथा थिंग-इन-इट्सेल्फ) के प्रसिद्ध अन्तर को ही माख, दार्शनिक के बदले वैज्ञानिक, रूप दे रहा था। आजकल संख्याशास्त्र से प्रभावित होकर कुछ विचारक ऐसा कहते हैं कि कार्यकारणनियम के बदले सहसंबंध (कोरिलेशन) का अनुवर्तन करना चाहिए। सामाजिकशास्त्रों पर इस सहसंबंधवाद का गहरा प्रभाव पड़ रहा है।[3] विज्ञान और सामाजिकशास्त्रों में परम मूल कारण का हम अन्वेषण नहीं करते। किन्तु, यदि कुछ वस्तुओं से कोई क्रिया कराई जाय तो उसका निश्चित फल होगा और यदि इस प्रकार की सब बातें कालान्तर में फिर भी उपस्थित हों तो पुनरपि वही फल होगा—यही विश्वास विज्ञान का मूल है। मेरी समझ में, यदि इस प्रकार का विचार दृढ़ता से नहीं ग्रहण किया जायगा तो समस्त शास्त्र बालू की भीत पर खड़े हैं, ऐसा मानना होगा। शास्त्रीय ज्ञान का लक्षण ही है कि भविष्य के विषय में वह जानकारी करावे और फिर मनुष्य को ऐसी शक्ति दे कि वह आगामी विषयों पर यथासाध्य नियंत्रण कर सके। यदि वायुशास्त्र के नियमों की हमें जानकारी नहीं होगी और यह दृढ़ विश्वास नहीं हो कि जो नियम आज कार्य कर रहे हैं, वे भविष्य में भी करेंगे, तब हमें वायुयान चलाना बंद करना होगा। समस्त मानव व्यवहार इसी विश्वास पर आश्रित है कि जो नियम आज कार्य कर रहे हैं, यदि तार्किक दृष्टि से उन्हें समझने में कोई भूल नहीं है, तो वे भविष्य में भी कार्य करेंगे। समस्त भूत और प्रकृति के संबंध में हम इसीलिए ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं कि उनसे हमारा भावी व्यवहार विशेष कुशलतापूर्ण हो।[४] कार्यकारण भाव का नियम ज्ञान

१. Max Planck, The Universe in the Light of Modern Physics. Susan Stebbing, Philosophy and the Physicists पृष्ठ, १८३।

२. Ernest Mach Mechanics, A Historical and Critical Account of its Development.

३. S. Rice, The Quantitative Method in Politics; M. T. Collins, "The Mechanical Versus the Statistical Interpretation of Natural Law", Philosophical Review, Vol. XXX.

४. Bridgeman, The Logic of Modern Physics.

का आधार है। मनुष्य के साधारण व्यवहार में इसका सतत समर्थन हो रहा है। जगत् का क्या मूल कारण है, इस दार्शनिक पचड़े में अभी हम नहीं पड़ेंगे। एलेक्ट्रन कितनी दूर तक कार्यकारण भाव का अनुमोदन करता है, इसपर निश्चयात्मक रूप से अभी नहीं कहा जा सकता है। किंतु सामाजिक और राजनीतिक जगत् का अध्ययन हमें बताता है कि मनुष्य के साधारण व्यवहार में इस व्यापक नियम को मान बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। ऐसे सुस्पष्ट और स्वतःसिद्ध बात को प्रमाणित करने के लिए किसी वैज्ञानिक की शरण ग्रहण करने की हमें जरूरत नहीं है। सामाजिक और राजनीतिक विषयों और व्यवहारों के अनुशीलन में हमें सर्वदा इस नियम को मानकर ही चलना पड़ेगा। विज्ञान के संबंध में वैज्ञानिकों में एकमत तो है नहीं। कुछ वैज्ञानिक कार्यकारण भाव का समर्थन करते हैं, कुछ खंडन। कुछ वर्षों के बाद फिर विज्ञान अपना विचार उलट सकता है। महान् वैज्ञानिकों के भाष्यकर्ताओं में भी मतभेद है। ऐसी हालत में सामाजिकशास्त्रों को निरर्थक, विज्ञान से अपना संबंध नहीं जोड़ना चाहिए। मानवक्रियाकलाप के संबंध में जो कुछ साहित्य उपलब्ध है, उससे यही प्रमाणित होता है कि निश्चित पूर्ववर्ती वस्तुओं का पश्चात्वर्ती वस्तुओं पर निश्चित प्रभाव होता है और बुद्धिप्रयोग से हम इसे समझ सकते हैं।[1] यदि भविष्य में सामाजिक शास्त्रों ने इस नियम को छोड़ा तब भयंकर शास्त्रीय खतरा उपस्थित हो जायगा और अनुशीलन की प्रवृत्ति ही दब जायगी।

यदि भौतिक विज्ञान का मूल उद्देश्य है—वस्तुजगत् के संबंध में सार्वकालिक सर्वसामान्य नियमों की प्राप्ति तो राजनीतिशास्त्र का लक्ष्य है मानव के। राजकीय व्यवहारों और कार्यों के संबंध में एकदेशीय नियमों का निर्माण, यद्यपि अन्तरराष्ट्रीयवाद के विकास के कारण अब शनैः-शनैः हम मानव जगत् के विषय में भी सोचने लगे हैं।[2] पानी कैसे बना है, इसकी रासायनिक क्रिया के संबंध में जो नियम बनेगा, वह मिस्र देश, भारत और फिनलैण्ड के पानी के विषय में लागू होगा। रूस और अमेरिका दोनों में सात और पाँच मिलकर बारह बनेंगे। चीन और आयरलैंड दोनों में एक त्रिभुज के तीनों कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होंगे। किंतु शासन-प्रणाली के संबंध में इस प्रकार का सर्वसामान्य नियम नहीं बन सकता। स्पष्ट है कि विज्ञान, राजनीतिशास्त्र की अपेक्षा अधिक सैद्धान्तिक और सामान्य है। इसी कारण विज्ञान के नियम देशकाल के व्यवधान से परिच्छिन्न नहीं रहते।

---

१. R. M. Maciver, Social Causation.

२. Kant, Perpetual Peace, Rabindranath Tagore, The Religion of Man.

किंतु प्रायः अबतक के समस्त, राजनीतिक शास्त्रों के नियम देशविशेष या सभ्यता विशेष के लिए ही लागू होते हैं।

भौतिक विज्ञान नैतिक और भावनात्मक दृष्टियों से निरपेक्ष है। प्रयोगशाला में हम जिस वि य का अनुसंधान करते हैं, उनके प्रति कोई भावनात्मक आकर्षण हममें नहीं रहता है। अनुसंधान के फलस्वरूप जो निष्कर्ष और नियम निकलते हैं, उनसे हमारा कोई रागात्मक तादात्म्य नहीं होता है। यदि कोई गणितशास्त्री अपने अनुसंधान से यह प्रमाणित कर दे कि समद्विबाहुत्रिभुज के धरातल पर के कोण बराबर नहीं होते हैं तो हमें इससे कोई राग या द्वेष नहीं होगा; किन्तु सामाजिक शास्त्रों में हम इस प्रकार की निरपेक्षता का अनुवर्तन नहीं कर सकते। पानीपत की तीसरी लड़ाई, पलासी का युद्ध, गांधी जी की दण्डीयात्रा, इन सब घटनाओं का हमारी रागात्मिका वृत्तियों से गहरा सम्बन्ध है। यदि हम हिन्दू हैं और कोई इतिहासवेत्ता यह सिद्ध करता है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी या ग्रंथों में गणतंत्र का उल्लेख ह तब हम प्रसन्न हो जाते हैं। मौर्यकालीन भारत के सर्वविध उत्कर्ष पर हमें प्रसन्नता और १८५७ के पराजय पर हमें विशाद होता है। सिपाही विद्रोह को यदि कोई ऐतिहासिक स्वतंत्रता का प्रथम व्यापक आन्दोलन सिद्ध कर दे तो हमें आह्लाद होता है। किन्तु यदि टोलेमी के भूकेन्द्रप्रतिपादक सिद्धांत के बदले कोपरनिकस का सूर्यकेन्द्रप्रतिपादक उपस्थित सिद्धांत किया जाता है तब हमारी भावना में कोई उत्तेजना नहीं होता ह। विज्ञान विशुद्धबुद्धि के विलास का परिणाम है किन्तु सामाजिकशास्त्रों में भावनासमन्वित बुद्धि को कार्य करना पड़ता है। सामाजिक जगत् में मनुष्यों से हमारा कार्य पड़ता है। प्राणिशास्त्र को छोड़कर प्रायः अन्य समस्त वैज्ञानिक शास्त्रों में हम निर्जीव पदार्थों से व्यवहार करते हैं। भावनाप्रधान मनुष्य, राजनीतिक जगत् का केन्द्र-बिन्दु ह, इसलिए राजनीतिक व्याख्यानों में—चाहे वह पेरिक्लिज, लिंकन, गांधी या हिटलर का व्याख्यान हो, मानव के हृदय को स्पर्श करने का प्रयत्न स्पष्ट दिखाई देता है। जब हम भौतिकविज्ञान से सम्बद्ध शब्दों का उच्चारण या व्यवहार करते हैं, जैसे-अणु, द्रव्य, वेग, आदि, तब कोई उपादेय या अनुपादेय की भावना हमारे अन्दर नहीं आती है। किन्तु स्वतंत्रता, साम्यवाद, प्रजातंत्र ये सब उपादेयतागर्भित शब्द हैं। यदि किसी ने कहा 'मुझे या तो स्वतंत्रता दो या मृत्यु', यदि किसी ने आवाज लगाई 'मातृभूमि की स्वतंत्रता खतरे में है', यदि किसी ने कहा कि 'अन्याय, तानाशाही तथा बर्बरता से प्रजातंत्र की रक्षा के लिए यह युद्ध हो रहा है', तब न अवस्थाओं में देश का युवकवृन्द उत्साह और जोश से भर जाता है। अतएव कभी-कभी कहा गया ह कि राजनीतिशास्त्र के विषय भावनाक्रांत हैं। इतिहास की स्मृतियों और परम्पराओं से ही राजनीतिक जगत् का निर्माण होता है। और न स्मृतियों और परम्पराओं के

साथ हमारा गहरा भावनात्मक सम्बन्ध है। जर्मनी में कुछ ऐतिहासिकों और विधिशास्त्र-वेत्ताओं ने नेपोलियन के विधिशास्त्र के प्रयोग का इसी आधार पर खंडन किया कि विधि का सम्बन्ध ऐतिहासिक धारा से है। विधि कोई लोहे की गाड़ी नहीं है कि जब जहाँ चाहें उसे ले जाँय। भावनासन्निविष्ट, परम्पराप्राप्त वातावरण में ही विधियों के उत्थान और पतन होते हैं। अतएव स्पष्ट है कि विज्ञान में बौद्धिकता, तार्किकता, वस्तुनिष्ठता और भावनानिरपेक्षता का प्राबल्य है, दूसरी ओर राजनीतिक शास्त्र में भावनायुक्त बौद्धिकता, परम्परास्मृतिनीत्यनुरागिता तथा व्यक्तिनिष्ठता के दर्शन होते हैं।

किन्तु यद्यपि व्यक्तिनिष्ठता के आधार के कारण राजनीतिशास्त्र भौतिक विज्ञान से पृथक् है, तथापि यह व्यक्तिनिष्ठता साहित्य की व्यक्तिनिष्ठता की तुलना में सीमित है। वस्तु की अतिरंजित उपासना की प्रतिक्रिया में ही व्यक्तिनिष्ठता या आत्मनिष्ठता का प्रादुर्भाव होता है। साहित्य हमारे हृदय की रागात्मक भावनाओं का बाह्य प्रकटीकरण है। साहित्य में संवेग और वृत्तियों का यथातथ्य अधिकतम यादृच्छिकरूप से वर्णन ही आदर्श माना जाता है। साहित्य की आत्मनिष्ठता कल्पनाप्रसूत और भावनासंश्लिष्ट होती है। राजनीतिशास्त्र आत्मभावापन्न मानव के संतुष्ट और संगठित सामाजिक जीवन को संभव बनाना चाहता है। मानव की आत्मनिष्ठा का रागात्मक यादृच्छय इसका अभीष्ट नहीं है। इसका लक्ष्य है समाज और राष्ट्र की वैसी स्थिति उत्पन्न करना जिसमें व्यक्ति निर्भय होकर अपनी आवाज का लोककल्याण के निमित्त प्रयोग कर सके। समाज और राष्ट्र, मानव के अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य और आत्मप्रकाशन के अन्य साधनों पर नियंत्रण स्थापित न कर सकें; किन्तु परमार्थनिमित्तक उनका प्रयोग हो सके, यही राजनीतिशास्त्र का लक्ष्य है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि यदि विज्ञान पूर्णतः वस्तुनिष्ठ है और साहित्य पूर्णतः आत्मनिष्ठ है तो राजनीतिशास्त्र का मध्यमवर्ती स्थान है।

वैज्ञानिक पद्धति का, राजनीतिशास्त्र संबंधी ज्ञान प्राप्त करने के लिए, प्रयोग, यूरोप में पुनरुत्थान के बाद अनेक विचारकों ने किया है। प्राचीनकाल में इसका अत्यन्त सीमित उपयोग ही संभव था; क्योंकि विज्ञान ही अभी शैशवावस्था में था। प्लेटो अपने समय का महान् गणितज्ञ था। रेखागणित के ज्ञान को दर्शन-शास्त्र का वह अनिवार्य संबल मानता था। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ रिपब्लिक में यत्रतत्र उसने गणितशास्त्र का सहारा लिया है। उसके मतानुसार ज्ञान के तीन साधन हैं, मानव आत्मा का त्रिविध स्वरूप है, मानव समाज का त्रिविध आधार पर निर्माण हुआ है और राजनीतिक शासन-प्रक्रिया भी तीन प्रकार की है। कुछ आलोचकों का ऐसा मन्तव्य है कि 'त्रित्व' का इतना सर्वविध और व्यापक प्रयोग प्लेटो के ऊपर रेखागणित का प्रभाव व्यक्त करता है। परम दार्शनिक तत्त्व—शिवप्रत्यय का

अवबोध प्राप्त करने के लिए गणितशास्त्र और अन्य भौतिकशास्त्रों के ज्ञान को उसने अनिवार्य घोषित किया है। जिस प्रकार कुछ स्वतःसिद्ध प्रस्तावों को मानकर रेखा-गणित के समस्त साध्य सिद्ध किये जाते हैं, उसी प्रकार मानव-स्वभाव को सदसद्-विवेक सम्पन्न मानकर राज्य के उद्भव और स्वरूप का वर्णन प्लेटो ने किया है। यदि प्लेटो गणितशास्त्री था तो अरस्तू प्राणिशास्त्रवेत्ता। प्राणियों का वर्गीकरण, प्राणिशास्त्र की मुख्यप्रणाली है। एक वैज्ञानिक की अनासक्ति को अपनाकर तत्कालीन एक सौ अट्ठावन शासन-पद्धतियों का पूरा विवरण प्राप्त कर उनके वर्गीकरण के आधार पर शासन-संबंधी अपने निष्कर्षों को स्थापित करने का यत्न अरस्तू ने किया।[1]

मध्यकालीन जगत् मुख्यतः ईसाई धर्म की धारा से प्रभावित था। बाइबिल प्रोक्त सिद्धान्तों का बौद्धिक दृष्टि से समर्थन ही उसका मुख्य कार्य था। अतएव उस काल में वैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग में कोई उन्नति न हुई। स्वयं विज्ञान भी अन्धकारयुगीन यूरोप में कोई उन्नति न कर सका। यूरोपीय पुनरुत्थान के बाद, (और अंशतः शिशु पूंजीवाद की बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए) विज्ञान की अपरिकल्पित उन्नति हुई। सत्रहवीं शताब्दी तक, लियोनार्डो, गैलीलियो और न्यूटन उत्पन्न हो चुके थे।[2] उनकी पद्धति का व्यापक प्रभाव पड़ा। हाब्स तत्कालीन विज्ञान से प्रभावित था और स्वयं एक भौतिकशास्त्रवेत्ता भी था। भौतिकशास्त्र पर उसने लैटिन भाषा में एक पुस्तक भी लिखी है।[3] वह सार्वत्रिक गतिशीलता के सिद्धान्त को मानता था। इसी पदार्थशास्त्रीय नियम पर उसका मनोविज्ञान आश्रित था।[4] मानव मन को उसने गतिशील माना। बाह्य गति का प्रभाव मनोगति पर पड़ता है और समस्त उद्रेकों, संवेगों और ज्ञान का यही कारण है। पदार्थशास्त्रानुमोदित मनोविज्ञान के आधार पर उसने अपना राजनीतिशास्त्र बनाया। उसके अनुसार मनुष्य की कार्य-प्रणाली, शक्ति के सतत अनुसंधान का प्रभाव व्यक्त करती है। मानव अतिशय भयग्रस्त है। इसी विकराल प्राकृतिक अवस्था से त्राण पाने के लिए राज्य

---

१. Aristotle, The Constitution of Athens.

२. Dampier, A History of Science.

३. Hobbes, De Corpore (१६५५)

४. Hobbes, De Homine (१६५०), The Citizen (१६४२) Elements of Law, Leviathan. हाब्स के अनुसार "Political Science consisteth in certain rules, as doth Arithmetique and Geometry, not in practice only."

का उद्भव हुआ है। अतः हाब्स के राजनीतिशास्त्र का आधार उसका मनोविज्ञान और उसके मनोविज्ञान का आधार उसका पदार्थशास्त्र है।[१]

विज्ञान की अभूतपूर्व उन्नति का एक और व्यापक प्रभाव सत्रहवीं शताब्दी के राजनीतिशास्त्र पर पड़ा। यूरोप में स्टायकमतावलंबियों के समय में नैसर्गिक नियम का सिद्धांत विकसित हुआ। सिसेरो आदि का मत था कि प्रकृति में एक स्वाभावनियत व्यापक नैतिक नियम है। किसी भी राजकीय प्रणाली को इसका उल्लंघन नहीं करना चाहिए। धार्मिक शब्दराशि से आवृत होकर नैसर्गिक नियम का यह सिद्धांत मध्यकालीन ईसाई लेखकों में भी पाया जाता है और संत टामस अक्वायनास तो इसका प्रबल समर्थक था।[२] जिस प्रकार ऋत के सर्वतोग्राही और परिव्यापक विराट्रूप की कल्पना वेद और वेदान्त में मिलती हैं, उसी प्रकार की कुछ भावना यूरोप में नैसर्गिक नियम के संबंध में प्राप्त होती है यद्यपि गहराई से देखने पर कुछ अन्तर भी विदित होते हैं। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के विज्ञान के अभूतपूर्व अभ्युदय का प्रभाव इस नैसर्गिक नियम के सिद्धांत पर भी पड़ा।[३] अबतक प्रकृति की या तो नैतिक कल्पना की गई थी या ऐसा विचार रक्खा गया था कि वह ईश्वरीय शक्ति के अन्तर्भूत है। अब ऐसा विचार आया कि यह नैसर्गिक नियम भी अन्य विज्ञानसम्मत नियमों के समान है। इससे इसकी व्यापकता में कोई अन्तर नहीं आया। परन्तु जिस नियम की अबतक नैतिक या धार्मिक दृष्टिकोण से कल्पना की गई थी, उसका अब वैज्ञानिक निदर्शन किया गया। वैज्ञानिक परिमाणात्मक आधार पर कल्पित नैसर्गिक नियम का सिद्धान्त सत्रहवीं शताब्दी में और आंशिकरूप से अट्ठारहवीं शताब्दी में प्रचलित

---

१. Catlin, Hobbes; John Laird, Hobbes. Leo Strauss, The Political Philosophy of Hobbes, F. Brandt, Thomas' Hobbes, Mechanical conception of Nature, Tonnies, Hobbes, Leben und Lehre.

२. R. W. Carlyle and A. J. Carlyle, A History of Medieval Political Theory in the West, पाँचवाँ और छठा खण्ड; E. Troeltsch, The Social Teaching of the Christian Churches; R. L. Poole, Illustrations of the History of Medieval Thought; Aquinas, De regimine principum, Summa Theologica.

३. E. Cassirer "The Renaissance of Stoicism and Natural Right Theories of the State", The Myth of the State.

रहा। डविड ह्यूम, हेगेल और बेंथम ने इसका खंडन किया। परन्तु वैज्ञानिक पद्धति के राजनीतिशास्त्र पर प्रभाव का एक जबर्दस्त उदाहरण नैसर्गिक नियम के सिद्धांत का वह रूप है जो स्पायनोजा, ग्रोशियस, पुफेन्डार्फ आदि में मिलता है।[१]

उन्नीसवीं शताब्दी में भौतिकशास्त्र का व्यापक प्रभाव सामाजिक शास्त्रों पर पड़ा। वाल्टर बेजहाट ने एक पुस्तक लिखी जिसका नाम था—'पदार्थशास्त्र और राजनीति', यद्यपि मुख्यतः उसमें उसने प्राणिशास्त्र और राजनीतिशास्त्र का सम्बन्ध बताया था।[२] समाजशास्त्र का प्रसिद्ध आधुनिक जन्मदाता अगस्त कामट भी पदार्थशास्त्र की पद्धति से प्रभावित था। समाजशास्त्र (सोशियोलौजी) नाम चुनने के पहले उसने सामाजिक पदार्थशास्त्र (शोसल फिजिक्स) नाम चुना था।[३] भौतिकशास्त्रों की पद्धति के राजनीतिशास्त्रीय प्रयोग ने मानव संसार और जागतिक नियमों के बीच सातत्य को दृढ किया। अर्थात् मानव-जगत् अतिशय विलक्षण नहीं है, ऐसा विचार माना जाने लगा। प्रकृति और मनुष्य में बहुत कुछ सादृश्य है। स प्रकार के सातत्य और सादृश्य का विचार, भौतिकशास्त्र की देन है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने शास्त्रों का एक प्रक्रम उपस्थित किया है। इसमें समाजशास्त्र को मानवज्ञान का प्रकृष्टरूप मानते हुए भी अन्य भौतिकशास्त्रों से उसका सम्बन्ध स्पष्ट है।

डार्विन के विकासवाद की घोषणा यूरोपीय ज्ञान के इतिहास में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है।[४] इसके निष्कर्षों का तत्कालीन धर्मवादियों के लिए क्रान्तिकारी महत्त्व हुआ। निष्कर्षों से कम क्रान्तिकारी उसकी प्रणाली सिद्ध न हुई। क्रमिक विकसनशीलता, न कि सतत ऐक्यकारिता, जगत् का नियम है, ऐसा विचार बड़ा प्रभावशाली सिद्ध हुआ। विकासवाद ने अन्य शास्त्रों को भी विकासवादिनी पद्धति का अवलम्बन करने को बाध्य किया। विकासवाद के प्राण्युत्क्रमणवाद को अस्वीकार करते हुए भी बहुत से धार्मिक समाजवेत्ताओं ने विकास की साधारण प्रक्रिया को ग्रहण किया। सरलता, एकरसता और अल्पवैभिन्य से पेचीदगी, निगूढ़ता, अनेकरसता और अतिशय वैभिन्य की ओर अग्रसर होना ही विकास है और प्राण्युत्क्रमण या

---

१. Spinoza, Hugo Grotius और Pufendorf.

२. Walter Bagehot, Physics and Politics.

३. जार्ज काटलिन के मतानुसार 'पोलिटिकल सायंस' शब्दद्वय का सर्वप्रथम प्रयोग गाडविन और मेरी वोल्स्टोनक्राफ्ट (Godwin and Mary Wollstonecraft) ने किया था, यद्यपि हाब्स, वायको तथा ह्यूम में इसके बीज प्राप्त होते हैं।

४. Darwin, The Origin of Species, The Descent of Man.

जात्यन्तरपरिणाम को न मानते हुए भी समाजशास्त्र और इतिहास, इस विचार को मान सकता था। डार्विनवाद की अभूतपूर्वसफलता ने अन्य विचारवेत्ताओं को भी विकासपथोन्मुख किया और फिर संशोधित या परिवर्तित रूप में ही क्यों न हो, वे विकासमार्ग के आधार पर ही अपने शास्त्रों का अध्ययन करने लगे।

विकासवाद की पद्धति के अतिरिक्त इसके निष्कर्षों का भी राजनीतिशास्त्र पर प्रभाव पड़ा। जीवन-संघर्ष है और योग्यतम ही स विराट् जद्दोजहद में संघर्ष कर अवशिष्ट रह सकता है, इस विचार का राजनीतिक शास्त्र और राजनीतिक व्यवहार दोनों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। 'सामाजिक डार्विनवाद' की विचारधारा का जन्म हुआ और गुम्प्लोविक्ज ने जातिगत, वर्गगत और देशगत संघर्षों को ही इतिहास का मूल बताया।[१] आपेनहायमर ने संघर्ष और युद्ध को ही राज्य के उद्भव का मूल घोषित किया।[२] प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षरूप से इतिहास की इस संघर्षवादिनी व्याख्या से साम्राज्यवाद को प्रश्रय मिला।[३] प्रकृति और समाज की शक्तियों को नियोजित कर श्वेतांग जातियाँ यदि संघर्ष में विजयी हैं तो उन्हें ही जीने का अधिकार है; क्योंकि वे योग्यतम हैं, इस प्रकार की विनाशकारिणी और दूषित विचारप्रणाली का जन्म हुआ। यद्यपि कुछ लोगों ने ऐसा भी विचार रक्खा कि उदारवाद के विकास के साथ-साथ संघर्षपरम्परा कम हो जायगी और नैतिक राज्य की सृष्टि होगी, किन्तु विकासवादी परम्परा ने मुख्यतः संघर्ष और जीवन में विजय प्राप्त करने को ही सृष्टि का सत्य बताया। लुप्त प्राणियों के अवशेष के आधार पर इसने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि जो बुद्धिविहीन है, वह जगत् से हटा दिया जायगा।

यदि एक ओर प्राणिशास्त्रसम्मत विकासवाद ने संघर्षवाद और योग्यतमावशेषवाद को जन्म दिया तो दूसरी ओर समाज भी अन्य प्राणियों के समान ही सावयव है, ऐसा विचार भी उसने दिया। स्पेन्सर, लिलियेनफेल्ड, वर्म्स, शेफ्ल आदि ने इस सावयववाद का समर्थन किया।[४] सावयववाद प्राणिशास्त्र के समाजशास्त्रीय प्रभाव

---

१. Ludwig Gumplowicz, Der Rassenkampf (1883), The Outlines of Sociology.

२. Franz Oppenheimer, System der Soziologie (चार खण्ड, १९२२–१९२९); The State (१९१४)

३. Benjavmin Kidd, The Control of the Tropics; F. H. Giddings, Democracy and Empire.

४. H. Spencer, The Principles of Sociology खण्ड १ भाग २; P. Lilienfeld, Gedanken. uber die Sozial-

का उत्कृष्ट उदाहरण है। जिस प्रकार अन्य उद्भिजों और प्राणियों में अवयव हैं और उनका पारस्परिक घनिष्ठ अप्रतिहार्य सम्बन्ध है, इसी प्रकार समाज के अवयवों में भी सम्बन्ध है, ऐसा प्रस्ताव सावयववाद ने रक्खा। उदाहरण अथवा अलंकार के लिए तो यह विचार ठीक था। परन्तु यही पूरा तात्त्विक सत्य है, इस दृष्टि से सावयववाद का ग्रहण भ्रामक है।

द्वन्द्ववाद के समान ही विकासवाद मानव-इतिहास की प्रक्रिया उपस्थित करता है, किन्तु उसकी पूरी व्याख्या नहीं कर पाता। विकासवाद का एक अनभिमत तात्पर्य यह होता है कि वर्तमान को भूत का निश्चित लक्ष्य यह मान बैठता है। यदि सतत विकास हो रहा है तो फिर इतना हाहाकार, पतन, प्रत्यावर्तन जगत् में क्यों है? वैदिक, मौर्यकालीन, गुप्तकालीन भारत की दृष्टि से मुसलिमयुगीन भारत निस्संदेह अविकसित था। सभ्यताओं के उदय और पतन की व्याख्या विकासवाद से नहीं मिल सकती। पुनश्च, समग्ररूपिणी सतत प्रवहणशीला विकासधारा का कोई चिन्तनशील मनुष्य समर्थन नहीं कर सकता। वर्तमान भारत, प्राचीन भारत की अपेक्षा यांत्रिक और वैज्ञानिक दृष्टि से समुन्नत होते हुए भी धर्म, नीति और साहित्य में प्राचीन भारत से पिछड़ा है। इसलिए समीचीन यही है कि हम यह समझ लें कि आंशिकरूप से ही किसी क्षेत्र में उन्नति या अवनति होती है; किन्तु सर्वांशतः ऋजुरेखात्मक गति से सतत विकास हो रहा है, ऐसी कल्पना वर्तमान के प्रति निराधार मोह और आत्मप्रेम का उदाहरण है। विकास और पतन दोनों इतिहास में होते रहते हैं। विकास, मानव-जीवन और इतिहास का तथा जागतिक इतिहास का एक अंश है। मेरा विचार है कि विकासवाद और पतनवाद दोनों का समन्वित दर्शन-शास्त्र निर्मित होना चाहिए। विज्ञान की अपरिकल्पित उन्नति से अपने संतुलन को खो बैठनेवाले वैज्ञानिकों की अनर्गल आशावादिता का विकासवाद एक उदाहरण है। इतिहास में कभी आंशिक उन्नति और कभी आंशिक पतन होता रहता है। इतिहास की ऋजुरेखात्मक व्याख्या नहीं हो सकती।[१]

यद्यपि विकासवाद मानव के सामाजिक और राजनीतिक विकास का कोई संगठित और युक्तियुक्त दर्शन नहीं प्रदान कर सकता और यद्यपि संघर्षवाद को प्रश्रय देकर इसने साम्राज्यवाद के वैज्ञानिक आधार को पुष्ट करने में मदद की है, तथापि

wissenschaft ५ खण्ड; Wormes, Philosophi des sciences sociales तीन खण्ड; A. Schaffle, Bau und Leben des socialen Korpers, दो खण्ड।

Nicolas Berdyaev, The Meaning of History; Oswald Spengler, The Decline of the West.

इसकी कुछ विशेषताएँ भी हैं। यद्यपि जीवन और इतिहास को प्रतियोगिता पर आश्रित बताकर अतिरंजित शक्तिवाद को इसने समर्थन दिया है, तथापि एक दूसरी दृष्टि से कह सकते हैं कि जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए कुछ गुण आवश्यक हैं, ऐसा विचार भी इसने दिया है। जो अवशिष्ट हैं, वह नैतिक दृष्टि से योग्यतम भले ही न हो, तथापि बुद्धि के कुछ जीवनापेक्षित गुण उसमें हैं, ऐसी धारणा भी विकासवाद ने दृढ़ की है। अतएव गुणों पर बल देना और ऐसा प्रस्ताव रखना कि समाज और राष्ट्र के साथ सामंजस्य प्राप्त करना चाहिए, विकासवादी परम्परा के, राजनीतिक दृष्टि से संग्रहणीय अंश हैं। प्राचीनकाल से ही प्राणिमात्र की एकता का सिद्धांत धर्मग्रन्थों में पाया जाता है। बौद्धधर्म में तथा भगवद्गीता में मानववाद से भी परम उत्कृष्ट सर्वभूतहितवाद का सिद्धांत आता है।[1] पुनर्जन्मवाद के सिद्धांत में, अन्य प्राणियों के शरीर में भी मानव-आत्मा जा सकती है और अन्य प्राणियों का जीवन व्यतीत करने के अनन्तर ही मानवतन उसे मिला है, ऐसा विचार हम पाते हैं। जातकों में भी ऐसी कथाएँ आती हैं। वेदान्त के अनुसार परमचैतन्य ही अनेक भूतों में व्यक्त हो रहा है और सर्वभूतस्थित एकत्वमूलक सत्ता का सर्वभूतात्मभूतभाव के द्वारा दर्शन करना ही पुरुषार्थ है।[2] कुछ अंश में कह सकते हैं कि विकासवाद इस धार्मिक

---

१. अक्कोधनं वतवन्तं सीलवंतं अनुस्सुतं।
दन्तं अन्तिमसारीरं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥
निधाय दण्डं भूतेसु तसेसु थावरेसु च।
यो न हन्ति न घातेति तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥
अविरुद्धं विरुद्धेसु अत्तदण्डेसु निब्बुतं।
सादानेसु अनादानं तमहंब्रूमि ब्राह्मणं॥ धम्मपद २६।१८, २३–३४
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहितेरताः॥ गीता ५।२५
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्तिमामेव सर्वभूतहितेरताः॥ गीता १२।४

२. तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥
यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजिगुप्सते॥
यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः॥
(ईशावास्योपनिषद् ५–७)।

दृष्टिकोण का समर्थन करता है। विकासवाद, परीक्षणात्मक और निरीक्षणात्मक दृष्टियों से, अन्य प्राणियों के साथ मानव तादात्म्य को, कम-से-कम ऐतिहासिक दृष्टि से स्वीकृत करता है, और इस प्रकार जगत् में वर्तमान और विलुप्त प्राणियों से हमारी एकता उद्घोषित करता है। समस्त प्राणियों में नितान्त पार्थक्य नहीं है, अपितु उनमें परिव्याप्त संबंध और अन्योन्याश्रयिता है। मानव-स्वार्थों के अन्धभक्त अरस्तू ने कहा कि अन्य जन्तुओं की सृष्टि मनुष्य के भोग के लिए हुई है। किंतु विकासवादी धारा का दार्शनिक अनुशीलन जीवनतत्त्व की अविच्छिन्नता, महत्ता और प्रकृष्टत्व का ही श्रेय बताया है। यह ठीक है कि सर्वभूतात्मवाद के दार्शनिक आधार के रूप म विकासवाद को देखने का व्यापक प्रयास अभी यूरोपवासियों ने नहीं किया है। पतंजलिप्रोक्त "जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्" सूत्र में, समस्त जातियों के साथ अन्तरपरिणाम गुणनिरोध के रा संभव है, ऐसी ध्वनि हम पाते हैं।[१] अंग्रेज दार्शनिक बोसांक्वेट में इस विचार की कु ध्वनि मिलती है।[२] कुछ समाज-शास्त्रियों ने प्राणिशास्त्र के आधार पर पारस्परिक सहयोग का विचार भी आधारित किया ह। मधुमक्खियों और चींटियों के भीतर हम सहयोग का उदाहरण पाते हैं।[३] शेक्सपियर ने कहा है कि मनुष्य चींटियों से परिश्रमशीलता सीख सकता है। रामायण के अनुसार रामचन्द्र ने बन्दरों और भालुओं की सेना बनाकर अपने शत्रु को पराजित किया। पत्रवहन में, पहले युगों में, कु ों और कबूतरों का प्रयोग होता था। अतएव आवश्यकता ह कि विकासवाद के सिद्धान्त का उपयोग कलह, युद्ध, घृणा और होड़ को समर्थित करने के बदले मानव-एकता और प्राणिएकता के लिए किया जाय।[४]

विज्ञान के विकास ने विधेयवाद के दार्शनिक और समाजशास्त्रीय सिद्धान्त को जन्म दिया। विधेयवाद या विधेयात्मकतावाद को अँगरेजी में पोजिटीविज्म कहते हैं।

१. "जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्" :— स सूत्र पर व्यासभाष्य है :— "पूर्वपरिणामापाय उत्तरपरिणामोपजनस्तेषामपूर्वावयवानुप्रवेशाद्भवति । कायेन्द्रियप्रकृतयश्च स्वं स्वं विकारमनुगृह्णन्त्यापूरेण धर्मादिनिमित्तम-पेक्षमाणा इति ।"

२, B. Bosanquet, Philosophical Theory of the State, The Principle of Individuality and Value, The Value and Destiny of the Individual.

३. Kropotkin, Mutual Aid; Maeterlinck, The White Ant.

४. Swami Vivekananda, Rajayoga.

अगस्ट कोम्ट इस सिद्धान्त का जन्मदाता माना जाता है। सत्रहवीं शताब्दी के इटालियन लेखक वायको ने इतिहास को तीन युगों में विभक्त किया था।[१] (क) देवताओं का युग (ख) महापुरुषों या वीरों का युग (ग) मानव-युग। इस विभाग-प्रणाली के त्रिविधत्व से प्रभावित हो, विचार-विकास को कोम्ट ने तीन युगों में विभक्त किया।[२] (क) धर्मशास्त्रीय या देववादात्मक युग-इस युग में समस्त घटनाओं की व्याख्या मानवोत्तर किसी दैवी शक्ति के संकल्प के द्वारा की जाती है। (ख) तत्वज्ञानात्मक युग-इस युग में दैवी ईक्षण के बदले चेतन अद्वैत शक्ति के आधार पर समस्त परिणामों और घटनाओं की व्याख्या की जाती है। (ग) वैज्ञानिक या विधेयात्मक युग-इस युग में दैवी कार्यकारणवाद या अद्वैत चेतनशक्तित्व के बदले वस्तुओं के सहसम्बन्ध का विश्लेषण किया जाता है। कोम्ट ने विधेयात्मक युग में देव या ब्रह्म के स्थान पर मानव को प्रतिष्ठित करना चाहा। कुछ दक्षिणी अमरीका के देशों में विधेयात्मक युग के पुजारी भी नियुक्त हुए। इस प्रकार मानववाद की प्रतिष्ठा हुई। एक प्रकार से मानववाद यूरोपीय पुनरुत्थान काल से ही अभिव्यक्त हो रहा था और जर्मन लेखक हर्डर तथा महाकवि गेटे में भी मानववाद प्रशस्तरूप में प्रकट हुआ है, तथापि कोम्ट के विधेयात्मकतावाद ने व्यापक समाजशास्त्रीय आधार पर इस मानववाद को प्रतिष्ठित किया।

कोम्ट के विधेयात्मकतावाद का बड़ा प्रभाव हुआ। आंशिकरूप में जान स्टुअर्ट मिल भी उसकी पद्धति से प्रभावित था। फ्रान्स में डुर्खाइम के नेतृत्व में जो समाजशास्त्रीय सम्प्रदाय विकसित हुआ, उसपर भी कोम्ट का स्पष्ट और विशाल प्रभाव परिलक्षित था।[३] इसी समाजशास्त्रीय सम्प्रदाय से सिद्ध विधिशास्त्रज्ञ और राजनीतिशास्त्रप्रणेता डुइट भी प्रभावित था।[४] इस प्रकार विधेयात्मकतावाद का राजनीतिशास्त्र में प्रवेश हुआ। किसी काल्पनिक लक्ष्य की प्राप्ति करने के बदले सामाजिक ठोस गठन को ही डुइट आदि ने महत्वपूर्ण समझा।

विधेयात्मकतावाद को वैज्ञानिक दर्शन कहा जाता है। आत्मविश्लेषण या आत्मानुसंधान के मार्ग को त्याग कर विशुद्ध वैज्ञानिक पद्धतियों को अपनाने का मार्ग

१. Vico, La Scienza nuova.
२. Auguste Comte, Cours de philosophie positive, System de politique positive (१८५१-५४)
३. Emile Durkheim, The Rules of Sociological Method, Suicide, The Division of Labour, The Elementary Forms of Religious Life.
४. Leon Duguit, Law in the Modern State.

विधेयात्मकतावाद विज्ञान से प्राप्त करता है। इस मत का आस्ट्रिया के भौतिक शास्त्रज्ञों पर भी प्रभाव था। माख, आवनेरियस, पेटजोल्ट आदि ने विज्ञान से मूलकारणवाद के सिद्धांत को, जो न्यूटन के समय से ही चला आ रहा था, इसी विधेयात्मकतावाद से प्रभावित होकर ही, हटाने का प्रयत्न किया।[१] माख और आवनेरियस ने प्रतीयमानात्मक पदार्थशास्त्र का अनुमोदन किया। उनके वैज्ञानिक और दार्शनिक विचारों का रूस के समाजशास्त्रियों पर भी प्रभाव पड़ा। बोगडानोभ, बोजारोभ, युशकेभिच आदि ने[२] माख के इसी विधेयात्मकतावाद से प्रभावित होकर मार्क्सवाद और प्रत्ययवाद का समन्वय करने का प्रयास किया जिसके खंडन में लेनिन ने अपना ग्रंथ "भौतिकवाद और अनुभवात्मक परीक्षणवाद" लिखा।[३]

विधेयात्मकतावाद का मूल लक्ष्य है—वैज्ञानिक पद्धतियों का, दर्शनशास्त्र और समाजशास्त्र में प्रवेश। इसने प्रचुर निरीक्षण और घटनासंघात के एकत्रीकरण पर बल दिया। ये पद्धतियाँ अवश्य संग्रहणीय हैं। किन्तु विधेयात्मकतावाद ने विज्ञान की शैली से अतिशय प्रभावित होने के कारण, अतिरंजित रूप में गणितात्मक, मापात्मक, संख्यात्मक पद्धति का समर्थन आरम्भ किया। जितनी दूर तक विज्ञान अधिकतम संख्या में बाह्य घटनाओं और वस्तुओं के सम्बन्ध में निरीक्षण के आधार पर ज्ञान एकत्र करता है, वहाँ तक उसकी पद्धति का सामाजिक शास्त्रों में अवश्य उपयोग होना चाहिए। किन्तु विज्ञान की पद्धति का अतिरंजित रूप सामाजिकशास्त्रों में उपस्थित करना मुझे अभीष्ट नहीं है। कुछ समाजशास्त्रियों ने गणित की पद्धति के आधार पर समाजशास्त्र को निर्मित करने का प्रयास किया है।[४] किन्तु यद्यपि इससे ज्ञानशीलता का आभास मालूम पड़ता है, तथापि बौद्धिक खिलवाड़पन का भी नग्न नृत्य मिलता है। कुछ विधयात्मकतावादियों ने मनुष्य के वैवाहिक सुख को नापने के लिए एक

१. Ernest Mach, Mechanics, Analysis of Sensations, Erkenntis und Irrtum; Richard Avenariws, Philosophy as a Conception of the World; Joseph Petzoldt, Introduction to the Philosophy of Pure Experience.

२. Bogdanov, Bazarov etc, Studies in the Philosophy of Marxism; Yushkevich–Materialism and Critical Realism.

३. V. I. Lenin, Materialism and Empirio-Criticism.

४. S. C. Dodd, Dimensions of Society; G. Lundberg, Foundations of Sociology.

मापदण्ड बनाया। मापशीलता बाह्य वस्तुओं का गुण है। एकरस, ठोस, बाह्य वस्तुएँ ही नापी जा सकती हैं, किन्तु मनुष्य के उद्रेकों, भावनाओं और अनुभूतियों को मापने का प्रयास हास्यास्पद ही हो सकता है[१]। विज्ञान के द्वारा ज्ञातव्य वस्तुएँ, तत्त्वतः, सामाजिकशास्त्रों के ज्ञातव्य वस्तु, अर्थात् मानव का सामाजिक और समष्टिगत स्वरूप, से नितान्त भिन्न हैं। इसलिए एक सीमित रूप में ही वैज्ञानिक पद्धति का राजनीतिकशास्त्र में प्रयोग हो सकता है।

विधेयात्मकतावाद एक अनिर्दिष्ट सिद्धान्त है। या यों कहें कि एक स्पष्ट सिद्धान्त होने के स्थान पर यह एक दृष्टिकोण है। इसका मूल लक्ष्य है शास्त्र, धर्मवाद और लोकोत्तरवाद का पल्ला छोड़कर निरीक्षण, परीक्षण, मापकरण आदि की पद्धति को अपनाना। बहुत ऐसे सामाजिकशास्त्री हैं जिन्हें स्पष्टतः विधेयात्मकतावादी नहीं कह सकते। किन्तु जो अधिक-से-अधिक रूप में विज्ञान की पद्धति को अपनाना चाहते हैं। एंगल्स ने भी कहा था कि जब भौतिकशास्त्रों का पूरा पूरा विकास होगा तब परम्परा-प्राप्त दर्शनशास्त्र लुप्त हो जायगा और विज्ञान का सर्वविध साम्राज्य रहेगा[२]।

प्रस्तुत पुस्तक में मैं दार्शनिक पद्धति का सामाजिक शास्त्रों के लिए और विशेषतः राजनीतिशास्त्र के लिए समर्थन कर रहा हूँ। दार्शनिकता का अर्थ है—कृत्स्नज्ञान प्राप्ति तथा मानव के नैतिक और आध्यात्मिक स्वरूप का बोध। मानव के नीतिमान् चेतन स्वरूप को लक्ष्यभूत कर वस्तुओं का समग्रात्मक ज्ञान प्राप्त करना ही दर्शन का असली लक्ष्य है। जहाँ तक विभिन्नशास्त्रों से राजकीय जगत् का स्वरूपबोध हो सकता है, वहाँ तक उनसे ज्ञान प्राप्त करना और फिर सम्प्राप्त ज्ञान का तात्त्विक समन्वय दार्शनिक पद्धति का मूल है। इसी अर्थ में ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय पद्धतियों का मैंने समर्थन किया है। जहाँ तक विज्ञान की पद्धति से हम राजकीय जगत् के विषय में अपने ज्ञान का विशदीकरण कर सकते हैं, वहां तक वह उपादेय है और वहाँ तक दार्शनिक पद्धति का अंश ही है, किन्तु केवलमात्र वैज्ञानिक पद्धति का सर्वतो-भावेन उपयोग, राजकीय विषयों के लिए मुझे अभीष्ट नहीं है। वस्तुवादी विज्ञान

१. L. M. Tolman, "Methodology and Results of Recent Studies in Marital Adjustment", American Sociological Review १६३६ जून; G. Bernard "An Instrument for the Measurement of Success in Marriage', Publications, American Sociological Society, १६३३; C. Kirpatrick, "A Methodological Analysis of Femenism in Relation to Marital Adjustment", American Sociological Review, जून १६३६।

२. F. Engels, Anti-Duhring.

की पद्धतियों का आत्मवादी सामाजिकशास्त्रों में सर्वथा उपयोग अनवस्था दोष उत्पन्न कर देगा।

जर्मन विधिशास्त्रवेत्ता फ्रेडरिक जूलियस स्टाल्ह ने हेगेल के द्वंद्ववाद को निषधात्मक घोषित कर राजनीतिशास्त्र में विधेयात्मकतावाद का प्रवेश कराया।[१] स्टाल्ह का कहना था कि हेगेल का द्वन्द्ववाद मुख्यतः खण्डनात्मक है। अतएव उसने विधेयात्मक पद्धति से कानूनी राज्य (जिसे जर्मन भाषा में रेख्टस्टाट कहते हैं) का समर्थन किया। कानूनी राज्य की कल्पना जर्मन राजनीतिशास्त्र की एक देन है। किंतु जितना प्रभाव इस विचारधारा का होना चाहिए उतना नहीं हो सका; क्योंकि कानून के रूप का ही इसने अधिक विश्लेषण किया, उसके अन्तर्गत विषयों का कम, तथापि विधेयात्मकतावादी धारा के अनुवर्तन में स्टाल्ह का भी स्थान है। किंतु विधेयात्मकतावाद की धारा पर आधारित कानूनी राज्य या विधिराज्य की कल्पना की प्रभावहीनता से, मेरे इस विचार को कि सीमित रूप में ही विज्ञान की अनुशीलन पद्धति का समाजशास्त्रीय उपयोग हो सकता है, समर्थन प्राप्त होता है।

सामाजिक और राजनीतिक जगत् अनेकविध और नानामुखात्मक है। स्पष्ट तथा निर्दिष्ट रूप में एक घटना, दूसरे का कारण है, ऐसा बताना मुश्किल है। अतएव अरस्तू के द्वारा प्रवर्तित कार्यकारणसिद्धान्त का आंशिक उपयोग ही राजनीतिशास्त्र में हो सकता है। राजनीतिशास्त्र को समस्त राजकीय जगत् की एकत्वमूलक व्याख्या का मार्ग छोड़कर ऐसा विचार रखना चाहिए कि एक सामाजिक राशि या कारक का, एक प्रकार से, घटनाओं पर प्रभाव पड़ता है। यदि अन्य किसी प्रकार की विघ्नबाधा न हो तो एक प्रकार की सामाजिक राशि का एक प्रकार से ही प्रभाव होता है, यह विचार समीचीन है।

सामाजिक और राजकीय जगत् के सम्बन्ध में, अनेक क्रियात्मक राशियों के अन्योन्याश्रयी सम्बन्ध का स्वीकरण माक्सवेबर, विलफ्रेडो परेटो और सोरोकिन ने किया है।[२] किसी राजकीय घटना, जैसे युद्ध, को लें। इसकी ईश्वर की इच्छा से व्याख्या करना जैसा भगवद्गीता में कहा है, देववादात्मक युग के विचार का उदाहरण होगा। युद्ध का केवलमात्र एक कारण बताना शास्त्रात्मक युग के विचार का उदाहरण होगा। मिस्र, असीरिया, यूनान के समस्त युद्धों का तथा आधुनिक दो जगद्व्यापी

१. Fredrick Julius Stahl, Rechts–Und Staatslehre auf der Sorokin, Grundlage christliche Weltanschauung.

२. Max Weber, Methodology of Social Sciences; Pitirim Social and Cultural Dynamics.

महासमरों का एकमात्र आर्थिक कारण खोजना शास्त्रात्मक पद्धति का उदाहरण है। किन्तु युद्ध की व्याख्या में किसी एक राशि का मूलभूत कारणवाद न स्वीकार कर आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक राशियों का क्रियात्मक अन्योन्याश्रय प्रदर्शित करना विधेयात्मकतावाद की पद्धति है। इतने अंश में राजनीतिशास्त्र विधेयात्मकतावाद की पद्धति से प्रभावित हो सकता है। इस प्रकार हमें मनु के अतिरंजित देववाद, समस्त राजनीतिक व्यवहारों को ब्रह्मा या विष्णु से उत्पन्न मानने की महाभारत की प्रणाली तथा अगस्तीन के ख्रीष्टीय राजनीतिशास्त्र से त्राण मिल सकता है।[१] राजनीतिक जगत् में वर्तमान वस्तुओं का शास्त्रीय ढंग से अध्ययन और अनुशीलन हो तथा अनावश्यक रूप में बाह्य कारणभूत तत्त्वों का अनुप्रवेश न हो, इतनी दूर तक हमें वैज्ञानिक और विधेयात्मक पद्धति स्वीकृत है। किन्तु कुछ विधेयात्मकतावादी अहम्मन्यों की यह घोषणा है कि अबतक जो कुछ राजनीतिशास्त्र के नाम पर हमें, प्लेटो, अरस्तू, मैकियावेली, स्पेन्सर आदि से मिला है, वह प्रायः अवैज्ञानिक दृष्टि पर आधारित है, और नूतन दृष्टि से अब सामाजिक शास्त्रों का निर्माण होना चाहिए। परन्तु इस प्रकार का संशयवाद निराधार है। जब कोई नया मजहब या पैगम्बर आता है तब समस्त पूर्ववर्ती विचारों का खण्डन कर वह अपना नया ईश्वरीय संदेश सुनाता है। ईसाईयत, इसलाम, आदि में ऐसी ध्वनि है। आज के विज्ञान के ये नये पुजारी भी ऐसा ही प्रलाप कर रहे हैं। कुछ दिन में इन अतिरंजित मापवादियों, संख्यावादियों या परेटो के तार्किक-परीक्षणात्मकवाद[२] के अनुयायियों को बौद्धिक संतुलन प्राप्त हो जायगा।

विधेयात्मकतावाद, विज्ञान की पद्धति का, प्रकृष्ट रूप से समाजशास्त्रीय और दार्शनिक शास्त्रों में प्रयोग करने का पक्षपाती है। सीमित और आंशिक रूप में विज्ञान की पद्धति को सामाजिक शास्त्रों में अपनाने का उद्योग पुराना है और यूनानी नीतिशास्त्र में भी ऐसे परिदृष्ट उद्योगों की हम चर्चा कर चुके हैं। विधेयात्मकतावाद की तुलना में अधिक नम्र एक सम्प्रदाय उन विचारवेत्ताओं का है जो शक्ति या बल को

---

१. मनुस्मृति, सप्तम अध्याय, महाभारत शांतिपर्व अध्याय ५९ तथा ६७; St. Augustine, Confessions, The City of God.

२. A Bongiorno "A Study of Pareto's Treatise on General Sociology". American Journal of Sociology १९३६ पृष्ठ ३४९–३७०; Franz Borkenau, Pareto; L. G. Henderson, Pareto's General Sociology; T. Parsons, The Structure of Social Action.

मनुष्य केन्द्र मानकर राजनीतिशास्त्र की कल्पना कर रहे हैं। इस सम्प्रदाय की ऐसी मान्यता है कि अबतक राजनीतिशास्त्र आदर्शवाद, धर्मवाद, अध्यात्मवाद और अन्य शास्त्रों से प्रभावित होकर अनेक विषयों की चर्चा करता रहा है। इसकी अविकसित अवस्था का प्रधान कारण यह है कि इसका आधारभूत तात्त्विक शब्द क्या है, इसकी स्थापना अबतक नहीं हुई। बर्ट्रेण्ड रसल का ऐसा प्रस्ताव है कि नियंत्रणतत्त्व या शक्ति या बल की मीमांसा ही राजनीतिशास्त्र का मूल है।[१] मानवसमूह में जहाँ-जहाँ शक्ति या बल का प्रकटीकरण है, वहाँ राजनीतिशास्त्र का मीमांसनीय विषय उपस्थित है।[२] यह सम्प्रदाय इतने अर्थ में विज्ञान से प्रभावित है कि पदार्थशास्त्र की प्रणाली के आधार पर राजनीतिशास्त्र के आधारभूत मूल शब्द का यह तात्त्विक अनुशीलन करता है। जब इस मूल शब्द का ज्ञान हो जाय, तब उसकी समुचित भावनानिरपेक्ष व्याख्या करना ही वैज्ञानिक पद्धति है। प्राचीनकाल में तथा अर्वाचीन जगत् में भी शक्ति या बल की मीमांसा का प्रकृष्ट महत्त्व था। संस्कृत-भाषा के नीतिशास्त्र में और

---

१. Bertrand Russell, Power (1938)

२. तुलनीय : Spengler: Decline of the West II पृ० ४३६: "To Politics as an idea we have given more thought than has been good for us, since, correspondingly, we have understood all the less about the observation of Politics as a reality. The great statesmen are accustomed to act immediately and on the basis of a sure flair for facts...But the professional thinkers who have turned their attention to the faits accomplis of men have been so remote inwardly from these actions that they have just spun for themselves a web of abstractions—for preference, abstraction-myths like justice vistue, freedom—and then applied them as criteria to past, and specially, future historical happening...Here, on the contrary, the attempt will be madc to give, instead of an ideological system, a physiognomy of politics as it has actually been practised in the course of general history, and not as it might or ought to have been practised. The problem was, and is, to penetrate to the final meaning of great events, to 'see' them, to 'feel' and to transcribe the symbolically important in them. The projects of world improvers and the actuality of History have nothing to do with one another."

महाभारत में, जिसे हमलोग राजनीति कहते हैं, उसे दण्डनीति कहा है। मनु ने दण्ड की दैवी उत्पत्ति का उल्लेख किया है। कैलिक्लस, मैकियावेली, हाब्स, बिसमार्क, बर्नहार्डी आदि भी शक्ति या दण्ड के सम्बन्ध में अपने विचारों को व्यक्त करते हैं। किन्तु उनकी अभिव्यक्ति समर्थनात्मिका है। मैकियावेली, बिसमार्क, हिटलर आदि बल-प्रयोग का सर्वविध अनुमोदन करते हैं। किन्तु विज्ञान-प्रभावित आधुनिक शक्तिवाद उनसे इस अर्थ में पृथक् है कि यह ऐसा नहीं कहता कि शक्ति की प्राप्ति ही राजनीतिक जीवन का चरम उद्देश्य है, अपितु इसका कहना है कि जहाँ-जहाँ शक्ति का वातावरण उपस्थित हो, उस वातावरण की मीमांसा करना ही, पूर्णतः निरपेक्ष होकर, राजनीतिशास्त्र का मुख्य कार्य है। शिकागो विश्वविद्यालय के कुछ राजनीतिशास्त्र के अध्यापकों का भी ऐसा मत था।[१]

राजनीतिशास्त्र का एक मुख्य विषय शक्तिवाद या बलवाद की मीमांसा है, ऐसा विचार आंशिकरूप में ठीक है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में तीन प्रकार की शक्तियों का उल्लेख आता है।[२] क्षात्रबल और ब्रह्मबल के परस्पर सम्बन्ध का विवेचन यजुर्वेद के समय से ही भारतीय दर्शनशास्त्र और नीतिग्रन्थों में मिलता है।[३] परन्तु शक्ति या बल या नियंत्रण राजनीतिक जीवन का एक अंश है। यह मुख्य अंश है या नहीं, इसका निर्विवाद उत्तर नहीं दिया जा सकता। राजनीतिशास्त्र का मुख्य विषय है, मानव के सामूहिक जीवन का अध्ययन। इस सामूहिक जीवन में अबतक नियंत्रण का आधिक्य ही रहा है। किन्तु नियंत्रण का भी आधार मानव और समाज की इच्छा है। नियंत्रण, शारीरिक या सैनिक शक्ति का प्रतिफलन नहीं है, अपितु व्यवस्था, संगठन और चातुर्य का फल है। सभ्यता और संस्कृति के विकास के कारण नियंत्रण का आधिपत्य कम होता जा रहा है।[४] जहाँ पहले केवल नियंत्रण से कार्य चलता था, वहाँ अब विधि और व्यवस्था का भाव व्यक्त होता है।

१ George Catlin, Story of the Political Philosophers पृष्ठ (७५६–७६१)

२ बलं शक्तिः। सुखंसिद्धिः। शक्तिस्त्रिविधा। ज्ञानबलं मन्त्रशक्तिः। कोशदण्डबलं प्रभुशक्तिः। विक्रमबलमुत्साहशक्तिः। एवं सिद्धिस्त्रिविधैव। मन्त्रशक्तिसाध्या मन्त्रसिद्धिः। प्रभुशक्तिसाध्या प्रभसिद्धिः। उत्साहशक्तिसाध्या उत्साहसिद्धिरिति। ताभिरभ्युच्चितो ज्यायान्भवति। अपचितो हीनः तुल्यशक्तिः समः। तस्माच्छक्तिं सिद्धिं च घटेतात्मन्यावेशयितुम्। अर्थशास्त्र, २१६। २।

३ इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्। मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्य ते स्वाहा॥ यजुर्वेद, ३२।१६

४ H. Krabbe, The Modern Idea of the State पृष्ठ ३०-३६:

संस्कृति के विकास का तात्पर्य है सामूहिक जीवन में नीति, तर्कणा और समष्टिगत भावनाओं का अनुप्रवेश। राज्य का आधार शक्ति है, इस अपूर्ण विचारधारा का खण्डन करते हुए ग्रीन ने बताया है राज्य का आधार शक्ति नहीं, अपितु जनसमूह की इच्छा है।[१] गांधी का रामराज्य, मार्क्स का वर्गहीन साम्यवाद तथा अराजकतावादियों का राज्यहीनता का आदर्श, ये एक ऐसी दुनिया का चित्र हमारे सामने रखते हैं जब नियंत्रण या बल का सम्पूर्ण तिरोभाव हो जायगा और पूर्ण रूप से अहिंसा या साम्य, भ्रातृत्व, संयमशीलता तथा सहयोग का साम्राज्य होगा। यदि हम आदर्शवाद को काल्पनिक कहें तो भी इतना स्पष्ट है कि भयंकर महासमर और तानाशाही के प्रभाव के बावजूद यदि जगत् के इतिहास पर हम दृष्टि डालते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि शक्तिवाद का स्थान सामूहिक जीवन में विधि, व्यवस्था, इच्छा आदि को मिल रहा है। प्रजातंत्रवाद का विकास इस रूपान्तकारिणी प्रणाली की ओर वेग से बढ़ रहा है। अतएव मैं इस प्रस्ताव का समर्थन नहीं करता कि शक्ति या बल या नियंत्रण की भावनानिरपेक्ष सम्यक् मीमांसा ही राजनीतिशास्त्र का लक्ष्य है। मनुष्य के सामूहिक जीवन में संघर्ष और सहयोग, शक्ति और अहिंसा, नियंत्रण और परस्पराश्रयिता का द्वन्द्व किस प्रकार व्यक्त हो रहा है इस प्रकार का विवेचन, केवल शक्तिवाद के अध्ययन से अधिक उपादेय है। केवल शक्ति की मीमांसा कभी राजनीतिशास्त्र का विषय नहीं हो सकती। सामूहिक जीवन में लोककल्याण या सर्वभूतहितसिद्धि के मार्ग को व्यवस्थित करने में यदि राजनीतिशास्त्र सहायक न हुआ तो वह जीवनहीन और मतवत् रहेगा। शक्ति का विवरण प्रस्तुत करना नहीं अपितु मानव जीवन को स्वस्थ, सबल, सन्तुष्ट, श्रेयोऽन्वेषी और परमकल्याण की भावना पर आधारित बनाना ही राजनीतिशास्त्र का उद्देश्य है। अतएव यथासंभव विज्ञान की पद्धति से सहायता लेते हुए, राजनीतिशास्त्र को नीतिमान् चेतन मानव को ही इष्ट मानकर कृत्स्नज्ञानप्राप्तिमूलक दार्शनिक पद्धति का अवलम्बन करना चाहिए।[२]

---

१ T. H. Green, Lectures on the Principles of Political Obligation. पृष्ठ ६३-१४१।

२. तुलनीय, Aristotle, Nicomachean Ethics I, 2–3, : "And politics appears to be of this nature; for it is this that ordains which of the sciences is to be studied in a state, and which each class of citizens should learn up and up to what point they should learn them; and we see even the most highly esteemed of capacities to fall under this, e.g. strategy, economics, rhetoric; now, since politics uses the rest of the sciences, and since, again, it legislates as to what we are to do and what we are to abstain from, the end of this science must include those of the others, so that this end must be the good for man."

तृतीय अध्याय

मानव का राजनीतिक स्वभाव और आचरण

सामाजिक शास्त्रों का मूलाधार मानव है। किंतु यह परम नीरवता का प्रेमी, एकान्तवासी, केवलमात्र प्रत्यागात्मदर्शी या स्वक्रीड़ानिरत मनुष्य नहीं है। निसर्गत: ही मनुष्य सामाजिक और राजनीतिक प्रवृत्तियों से युक्त है। सामूहिक और राजनीतिक संस्थाओं के द्वारा ही वह अपने स्वभाव के राजनीतिक अंग का विकास कर सकता है। किसी भी प्रकार का राजनीतिक दर्शन क्यों न हो, वह कुछ स्थापना, मानव-स्वभाव के विषय में, अवश्य अन्य विषयों का विवेचन करता है। विभिन्न कालों में, मनुष्य स्वधर्मप्रेमी है, या स्वभावत: ही वह एक राजनीतिक प्राणी है, या उसके डरपोकपन के कारण ही राजकीय शक्ति की आवश्यकता है, या स्वभावत: वह सुखानुशयी और दुखदूरापसारी प्राणी है, या वह परम स्वार्थ-साधक है--इस प्रकार की अनेक स्थापनाएँ मानव-स्वभाव के विषय में की गई हैं और इन्हीं के आधार पर राजकीय व्यवस्थाओं क स्वरूप और लक्ष्य भी कल्पित हुए हैं। शास्त्रों के विश्लेषण और सीमाकरण के कारण अब मानव-स्वभाव के विषय में ज्ञान, मनोविज्ञान के द्वारा ही मिल सकता है। यह ठीक है कि अभी पश्चिमी मनोविज्ञान बाल्यावस्था में है और पशुओं पर अपने परीक्षणों के आधार पर ही मानव-स्वभाव के विषय में वह स्थापनाएँ करता है। तथापि पाश्चात्य मनोविज्ञान की हमें उपेक्षा कदापि नहीं करनी है। सामाजिक मनोविज्ञान के विकास से, बहुत-से सामाजिक-राजनीतिक विषयों पर ठोस निरीक्षण पर आधारित बातें हमें जानने को मिली हैं और जनमत, नेतृत्व, क्रांति के मनोवैज्ञानिक आधार आदि विषयों को अंशत: हम जानने लगे हैं। मानव-उत्पत्तिशास्त्र के विकास के कारण मानव स्वभाव सम्बन्धी अपनी स्थापनाओं को हम प्राचीन आदिम जातियों के सम्बन्ध में प्राप्त निष्कर्षों से तुलना कर सकते हैं।

मनुष्य के स्वरूप का विश्लेषण एक महान् प्रश्न है।[१] ब्रह्मात्मैक्यवादी वेदान्त

---

१. तुलनीय, Plato, Gorgias, "Now there is no nobler enquiry, Callicles, than that of which you censure me for making--What ought the character of a man to be, and what his pursuits, and how far is he to go, both in mature years and in youth?

और अनात्मनिर्वाणवादी बौद्धदर्शन में संस्कार के द्वारा मानववैभिन्य का स्पष्टीकरण किया जाता था। पुनर्जन्मवाद, संस्कारवाद के आधार पर टिका था। गुण और कर्म के द्वारा ही आशय और संस्कार निर्मित होते हैं। ऐसा प्राचीन भारतीय दर्शन का मत था। द्वादशनिदानात्मक प्रतीत्यसमुत्पाद में जागतिक अविद्या से प्रजनित संस्कारों के आधार पर ही मानव की व्याख्या की गई है।[१] पैतृक आनुवंशिकता के सहारे और नैसर्गिक तथा सामाजिक वातावरण के आधार पर आधुनिक प्राणिशास्त्र मनुष्य के स्वरूप की व्याख्या करता है। मनःसमीक्षणशास्त्र में पिछली पीढ़ी के पूर्वजों के द्वारा समागत संस्मृतियों से मनुष्य के बाह्य क्रियाकलापों को व्याख्येय किया जाता है। मनुष्य के व्यक्तित्व का केन्द्रबिन्दु क्या है, इसकी अभी मीमांसा मानवोत्पत्तिशास्त्र प्रभावित मनोविज्ञान में हो रही है। इन मीमाँसाओं के आधार पर प्राचीन-दर्शनशास्त्रों में उठाये गये मानव-स्वभाव की परिवर्तनशीलता के प्रश्न पर फिर से विचार हो रहा है। सचमुच में मानव-स्वभाव के परिवर्तन करने की समस्या दर्शन और धर्मशास्त्र के लिए ही नहीं अपितु प्रजातन्त्र, साम्यवाद या सर्वोदय के व्यावहारिक रूप को क्रियान्वित करने के लिए भी जिज्ञासनीय है। मनुष्य स्वभावतः भला है या बुरा, या स्वभावतः विवेकपूर्ण है या बहुत शिक्षा-दीक्षा के बाद भी मूलतः वह अविवेकी ही रहेगा, इस प्रकार के प्रश्नों का सामाजिक शास्त्रों में महान् महत्त्व है।

मनुष्य एक गूढ़स्वभावयुक्त प्राणी है।[२] किसी भी एक मूल आधार की कल्पना कर समस्त मानव के आचरणों की उससे ही व्याख्या करना अदार्शनिक दृष्टि है। दर्शन पूर्णता का अन्वेषी है, इसलिए राजनीतिशास्त्र संबंधी ज्ञान प्राप्त करने के लिए भी हम कृत्स्नदृष्टि का समर्थक होना चाहिए। राजनीतिशास्त्र में कुछ विचारकों ने

---

१. मज्झिम निकाय महापदानसुत्तन्त के अनुसार द्वादशनिदान निम्नलिखित हैं :—

(क) अविद्या (ख) संस्कार (ग) विज्ञान (घ) नामरूप (छ) स्पर्श (ज) वेदना (झ) तृष्णा (ट) उपादान (ठ) भव (ड) जाति (ढ) जरामरण

२. John Dewey, Human Nature and conduct, Experience and Nature; Cooley, Human Nature and the Social Order; Thorndike, Educational Psychology, (अध्याय The Original Nature of man); Franz Boas, The Mind of Primitive Man, Anth-

अंशग्राही प्रस्ताव उपस्थित किये हैं। एक आलोचक कहता है कि मार्क्स के जीवन की व्यक्तिगत असफलताएँ, उदाहरणार्थ यहूदी होने के कारण जर्मन विश्वविद्यालय में मार्क्स का प्रोफेसरी न प्राप्त करना, ही साम्यवाद के जन्म का कारण हैं।[१] दूसरा कहता है कि १८४८ की राज्यक्रांति इसीलिए असफल रही कि लोग आलू अधिक खाते, अतः उनके शरीर में प्रोटीन की कमी थी।[२] तीसरा कहता है कि नेपोलियन राजनीतिक शक्ति का अतिरंजित इच्छुक इसीलिए था कि वह छोटे आकार का था और अपनी शारीरिक "कमी" की अन्यमार्ग से पूर्ति चाहता था। इन सब बातों का आंशिक महत्त्व ही स्वीकार करना चाहिए। इतिहास की पेचीदगी को इस प्रकार साधारण बनाने का प्रयत्न हास्यास्पद ही हो सकता है। सामाजिक और राजनीतिक शक्तियों की पेचीदगी की इतनी साधारण व्याख्या करना बौद्धिक दिवालियापन का सूचक है।

मानव-स्वभाव और आत्मा के ज्ञान के सम्बन्ध में भारतीय दर्शन की अपनी देन है। मन या बुद्धि या शरीर को ही मानव का पूर्णरूप समझना भूल है। इस प्रकार की विचारधारा छान्दोग्य उपनिषद् में प्रजापति और इन्द्र के संवाद में मिलती है।[३]

---

ropology and Modern Life; L. L. Bernard, Instinct, a Study in Social Psychology; C. C. Josey, The Role of Instinct in Social Psychology; Lester Ward, "Mind as a Social factor" Glimpses of the Cosmos; Thorstein Veblen, The Instinct of Workmanship.

१. Harold D. Lasswell, World Politics and personal Insecurity.

२. Ludwig Feurbach.

३. "मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः। अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते। एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमपुरुषः।" छान्दोग्य उपनिषद् ८।१२

वेदान्त के अनुसार मानव-आत्मा विश्वात्मा या ब्रह्म से पूर्णतः तादात्म्यप्राप्त है। उपनिषद् और बादरायण के आधार पर शंकर ने इसी विचार का प्रतिपादन किया है। रामानुज मानव-आत्मा को ब्रह्म का अंश मानते हैं। शंकर के अनुसार आत्मा विभु है, मध्व और दयानन्द के अनुसार वह अणु है। वेदान्त के आधार पर मनुष्य के आध्यात्मिक रूप का उदात्त वर्णन विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ, अरविन्द आदि के ग्रंथों में मिलता है।[१] अद्वैत वेदान्त अर्थात् 'अयमात्मा ब्रह्म' के आधार पर ही नीतिशास्त्र, सर्वधर्म-समभाव, तथा विश्वबंधुत्व का क्रियान्यवीकरण संभव है, ऐसा विवेकानन्द ने बताया है। परमतत्त्व के मानवरूप का विशाल प्रकटीकरण रवीन्द्रनाथ के ग्रंथों में मिलता है। अनन्ततत्त्व को आत्मिक अनुभूति से जानना, निश्चय ही सेवा, प्रेम और आत्मप्रसारण की प्रेरणा देना है ऐसा रवीन्द्रनाथ का कथन है।[२] मानव-सभ्यता को भयंकर खतरे से बचाने का एक ही सत्य और अहिंसामय मार्ग गांधी के अनुसार है। गांधी के मत में सत्य ही परमात्मा है और अनन्त प्रेम और अहिंसा की साधना ही मनुष्य का पुरुषार्थ है।[3] अरविन्द आत्मसमर्पणयोग के द्वारा मनुष्य का दिव्यीकरण और एक नूतन अतिमानव की सृष्टि संभव बताते हैं।[४] यद्यपि शाब्दिक अभिव्यक्ति में अन्तर है, तथापि मानव का परमस्वरूप दिव्य है, ऐसी मूलकल्पना प्रायः समस्त वेदान्त-प्रभावित तथा वैष्णवभक्तिप्रभावित आधुनिक भारतीय विचारकों की रही है और इसी मूल तत्व को केन्द्रबिन्दु मानकर उन्होंने अपने राजनीतिक और सामाजिक विचारों का निर्माण किया है। जो परमार्थवाद, अभोगवाद, आवश्यकताओं को सीमित करने का उपदेश तथा देशभक्ति का सन्देश तिलक और गांधी या लाजपतराय, श्रद्धानन्द आदि के ग्रंथों में प्राप्त होता है, उसका दार्शनिक आधार यही है कि सब मनुष्य मूलतः एक परम आध्यात्मिक तत्त्व के ही विभिन्नरूप हैं। इस प्रकार "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" या "यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूत" के आधार पर ही मानव के प्रकृष्ट स्वरूप का वर्णन आधुनिक भारतीय विचारकों के द्वारा किया गया है। गरीबी एक सामाजिक अभिशाप है; परन्तु दरिद्रनारायण की सेवा का सन्देश वेदान्त का एक

---

१. Swami Vivekanda, Jnanayoga.

२. Rabindranath Tagore, Sadhana, Gitanjali, The Religion of Man, Personality.

३. महात्मा गांधी का Contemporary Indian Philosophy में लेख द्रष्टव्य है।

४. Sri Aurobindo, The Life Divine, The Superman.

महान् मंत्र है।[१] समस्त मानवजाति को समष्टिनारायण समझना, ऐसा दिव्य सन्देश भारतीय वेदान्त के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं प्राप्त हो सकता।

केवल भौतिक व्याख्या करने से मानव-आत्मा का पूरा विवेचन नहीं हो पाता। समान वातावरण में, एक ही माता-पिता की सन्तान, अपने स्वभाव और आचरण में तना महान् वैभिन्य क्यों कटित करती है? जिस स्वार्थोत्क्रमण का संदेश कला, साहित्य, विज्ञान, धर्म, दर्शन आदि में मिलता है, उसे यदि निरी कल्पना मान ली जाय तो क्या हमारी संस्कृति का स्तर नीचे नहीं गिरेगा? क्या भयंकर युद्धों के कारण समस्थित मानव एकता और विश्वशांति का सन्देश मूलतः मनुष्य आध्यात्मिक है, इसकी ओर संकेत नहीं करता? किन्तु जब मैं मनुष्य को आध्यात्मिक कहता हूँ तो अनावश्यक रहस्यवाद को प्रश्रय देना मेरा लक्ष्य नहीं है। आध्यात्मिक शब्द से मेरा तात्पर्य मानव की समग्रता से है। केवल भौतिक सुखों का अन्वेषण या अपनी मानसिक विचक्षणता से सन्तोष ही मानव का पुरुषार्थ नहीं है। क्षुद्र अहं से ऊपर उठकर जब हम मानवमात्र के सुख-दुःख में अपना सुखदुःख समझते हैं तब हम इसे आध्यात्मिक अनुभव कहते हैं। कला, साहित्य और विज्ञान में भी हम जब निरत हो जाते हैं तब हमारे भौतिक व्यक्तित्व का आंशिक तिरोभाव हो जाता है। परन्तु मानवसेवा, अनासक्तिपूर्वक-विहित, जो आत्मप्रसारण कर सकती है, वैसा अन्य सम्भव नहीं है। किसी दैवी शक्ति या ब्रह्म या कैवल्य का, योग द्वारा अन्वेषण और तादात्म्यप्राप्ति ही अध्यात्म नहीं है। योगमार्ग से ऊँचे दर्जे का अनुसंधान, आत्मतत्त्व का, मानवसेवा से हो सकता है। भौतिकशक्ति की कामना से नहीं, पर अपना परम कर्त्तव्य समझ कर जो पीड़ित, शोषित, अनाथ और दीन के साथ करुणा दिखाता है और उन्हीं की सेवा में अपना जीवन होम करता है, मैं उस पुरुष को किसी भी प्राणायामसाधक, महायोगी और वेदभाष्यकर्ता से महान् मानता हूँ। ऐसा मानव-जाति का निष्काम सेवक ही मेरी दृष्टि में में मानव या दिव्य पुरुष या शास्ता या धर्मप्रवर्तक है। भारतवर्ष में एकान्त साधना' प्रत्यागात्मानुसंधान और योग को ही अध्यात्म समझा जाता है। किन्तु हमारे विचार में, जबतक हम कला, साहित्य, विज्ञान का शाब्दिक या प्राथमिक अध्ययन करते हैं तबतक वह केवल बौद्धिक रहता है, किन्तु शनैः शनैः उसमें निरत होने पर वह भी अध्यात्म का रूप धारण कर लेता है क्योंकि जितनी दूर तक हम प्रकृष्ट रूप से तन्निरत होंगे उतनी दूर तक हमारे वैयक्तिक क्षुद्र भौतिक स्वार्थों का हनन होता है।

---

१. The Life of Swami Vivekananda दो खण्ड

यह अध्यात्म की पहली सीढ़ी है।[१] इसकी दूसरी और अन्तिम सीढ़ी है, मानवमात्र से सेवा द्वारा तादात्म्य। इस दृष्टि से भगवान् बुद्ध को मैं मानव-इतिहास का सर्वश्रेष्ठ पुरुष मानता हूँ। मेरी दृष्टि में इस प्रकार के अध्यात्मक के बिना कोई भी राजनीतिक संगठन पूर्णतया सफल नहीं हो सकता। स प्रकार का अध्यात्म ही मानव-स्वभाव का वह रूपान्तर प्रस्तुत कर सकता है जिसकी खोज में हजारों वर्षों से मानद-जाति बेचैन है। जबतक इस प्रकार के अध्या भावापन्न पुरुप शासन के विभिन्न क्षेत्रों के सूत्रधार नहीं बनेंगे, कल्याण या सर्वहित कभी भी सम्पन्न नहीं हो सकता। आज राजनीतिक और सामाजिक व्यवहारों को समुचित रूप से चलाने के लिए आध्यात्मिक मानव-सेवकों की आवश्यकता है। मदान्ध, स्वार्थसाधक, शक्तिपूजक कायर और कमजोर नेताओं के बदले आत्मज्ञानी, मानवसेवा को ही परमोत्तम वस्तु समझनेवाले नेताओं की आवश्यकता है।

राजनीतिशास्त्र में मानव का स्वरूप कैसा है, इसकी मीमांसा करने में प्लेटो ने मानव-आत्मा को सुखान्वेपणाशीलता, साहसिक कार्यकरणवृत्ति और ज्ञानप्रियता, इन तीन प्रवृत्तियों से युक्त त्रिविधात्मक कल्पित किया है। समाज में भी कुछ लोग हैं जो अर्थोपार्जन, या देशरक्षा, या देश का न्यायोचित शासन, कर सकते हैं। अतः जिस प्रकार आत्मा त्रिविध है, उसी प्रकार समाज और राज्य भी तीन प्रकार के मनुष्य से बना हुआ है। यद्यपि प्लेटो का मनोविज्ञान शब्दतः युक्तियुक्त नहीं है तथापि मानव को श्रेयोन्वेषी और आन्तरिक तथा बाह्य न्याय का अनुसंधानकर्ता बताकर प्लेटो ने राजनीति के दार्शनिक आधार को दृढ़ किया है। मनुष्य शिक्षा और दर्शन के द्वारा अपनी दुष्प्रवृत्तियों को छोड़कर, शिवप्रत्यय का परमज्ञान प्राप्त कर मानव-समाज और राष्ट्र को सन्मार्ग पर चलावे, प्लेटो के इस संदेश ने मानव का विशाल

१. E. Cassirer, An Essay on Man, Die Philosophie der symbolischen Formen (तीन खंड) कैसीरोर के अनुसार: "Man's outstanding characteristic, his distinguishing mark, is not his metaphysical or physical nature—but his work. It is this work, it is the system of human activities, which defines and determines the circle of 'humanity.' Language, myth, religion, art, science, history are the constituents, the various sectors of this circle." An Essay on Man, पृष्ठ ६७–६८

राजनीतिक रूप हमारे सामने रखा है।[1] अरस्तू के अनुसार राजनीतिक समूहगततत्व मानव के स्वभाव में अन्तर्निहित है और समुचित राज्य व्यवस्था में ही मानव, परिवार और ग्राम अपनी पूर्णता को प्राप्त कर सकते हैं। यह ठीक है कि व्यापक सामूहिक जीवन से ही मनुष्य की प्रवृत्तियों का स्फुटीकरण और विकास होता है, किन्तु एक राज्य विशेष ही हमारी विकसनशीलता की इयत्ता को नहीं पूरा करता।

आध्यात्मिक दर्शन पर आधारित राजनीतिशास्त्र मानवमात्र से सेवा द्वारा तादात्म्य प्राप्त करने का संदेश देता है। यदि मानवमात्र को हम दृष्टि में रक्खें और निष्कामभाव से अपने ग्राम की ही सेवा करें तो कर्मयोग की दृष्टि से मैं इसको अरस्तूप्रतिपादित आदर्श से ऊँचा मानता हूँ। अरस्तू की दृष्टि नगरविशेष—अथेन्स, स्पार्टा, थीव्स, तक ही सीमित थी। नागरिक और दास, यहूदी और यूनानी, श्वेत और श्याम, नीग्रो और अमरीकन के भेद को नितान्त उन्मूलित करने का संदेश हमें ग्रहण करना है। नगरवाद, राष्ट्रवाद, अथवा आर्थिकस्वार्थवाद पर राजनीतिशास्त्र अबतक यूरोप में आधारित रहा है, यद्यपि काण्ट आदि, अपवाद हैं। आज यह राजनीतिशास्त्र निकम्मा सिद्ध हो रहा है। आज आवश्यकता है मानव के नीतिमान्, आध्यात्मिक स्वरूप पर आधारित, विशाल मानववाद की पोषिका राजनीति की। आज आदर्श मनुष्य और आदर्श नागरिक के भेद को हमें हटा देना होगा।[2] तानाशाही व्यवस्था

१. तुलनीय, Kant, Perpetual Peace (New York, 1948) पृष्ठ ३१: "That kings should philosophize or philosophers become kings is not to be expected. But neither is to be desired, for the possession of power is inevitably fatal to the free exercise of reason. But it is absolutely indispensable, for their enlightement as to the full significance of their vocations, that both kings and sovereign nations, which rule themselves in accordance with laws of equality, should not allow the class of philosophers to disappear, nor forbid the expression of their opinions but should allow them to speak gently and since this class of men, by their very nature, are incapable of instigating rebellion or forming unions for purposes of political agitation, they should not be suspected of propagandism.

२. Aristotle Politics

या किंचित दासप्रथा पर आधारित व्यवस्था अपने निवासी नागरिकों को यदि साम्राज्यवादी और शोषक बनने की शिक्षा देती है तब नागरिक का अवश्यमेव यह कर्तव्य है कि आदर्श मनुष्य की कल्पना को ध्यान में रखते हुए वह उस व्यवस्था के अनुशासन का उल्लंघन करे। कोई भी नगर या राज्य मानव के कर्तव्यशास्त्र की समग्रता नहीं प्रस्तुत करता। अतएव कर्मयोग और निष्कामज्ञानचिंतन का समन्वय करना ही परम कर्तव्य है।[१]

किन्तु आदर्श मानव का यह कभी भी उद्देश्य नहीं होना चाहिए कि वह राजकीय कार्यों की उपेक्षा करे। प्रतीयमान सामाजिक और राजनीतिक जगत् माया या मिथ्याभ्रम नहीं है। राज्य मनुष्य के पतन का सूचक है ऐसा सन्त अगस्तीन ने कहा था[२] किन्तु मैं राज्य को मानव की स्वाभाविक वृत्तियों के स्फुटीकरण में एक अनिवार्य संस्था मानता हूँ। यदि राज्य को मानवजीवन का सर्वस्व मानना भूल है तो दूसरी चरम सीमा की भूल है राज्य को मानव के आनन्दमय अवस्थान से पतन का सूचक मानना। आदर्श मानव के अनेकविध कर्त्तव्यों में से राजकीय जीवन का यापन एक परम आवश्यक, किन्तु केवल नहीं, कर्त्तव्य है।

---

१. मनुस्मृति, १२/११८० ११९

सर्वमात्मनि संपश्येत्सच्चासच्च समाहितः
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरूते मनः ॥
आत्मैवा देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्
आत्मैवा ही जनयत्यषां कर्मयोगं शरीरिणाम् ॥

२. St. Augustine, The City of God खण्ड १९, अध्याय १५, "Witness that holy man of God, Daniel, who being in captivity, confessed into his Creator that his sins and the sins of the people were the real causes of that captivity. Sin therefore is the mother of servitude and first cause of man's subjection to man; which notwithstanding comes not to pass but by the direction of the Highest, in whom is no injustice, and who alone knows best how to proportionate His punishment into man's offences...And it is a happier servitude to serve man than lust: for lust practices extreme tyranny upon the hearts of those that serve it, be it lust after sovereignty or fleshy lust. But

हाब्स ने अपने राजनीतिशास्त्र को मनोविज्ञान पर आधारित करना चाहा है। उसके अनुसार मानव प्रवृत्तियों के दो भाग हैं--कुछ भावनाप्रधान तथा कुछ तर्कणात्मक।[१] भावनाप्रधान, प्रवृत्तियों का बाहुल्य प्राक्सामाजिक अवस्था में था। मनुष्य आत्मरक्षा के लिए सर्वदा भयार्त्त रहता है और इसीलिए शक्ति चाहता है।[२] राजनीतिक और सामाजिक जगत् में इस शक्तिवाद का प्राधान्य है। किंतु शक्तिमान् के प्रति आज्ञाकारिता का बीज मानव की सतत वर्तमान भयशीलता है।[3] राजकीय दण्ड का बीज इसी भय में खोजा जा सकता है। किंतु मानव एकान्ततः भावना-प्रधान नहीं है। प्राक्सामाजीय और प्राक्राजनीतिक अवस्था से निकलने का उपक्रम मानव इसीलिए करता है क्योंकि उसमें विवेकबुद्धि है। हाब्स की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया जिसमें यंत्रवादिता का प्राबल्य है, यद्यपि हमें ग्राह्य नहीं है तथापि मानव-हृदय और मस्तिष्क में विवेकपूर्ण और भावनापूर्ण प्रवृत्तियों का द्वन्द्व देखना, केवल भावना-वाद या केवल तर्कवाद से अधिक समीचीन है।

राजनीतिशास्त्र और सदाचारशास्त्र को एक प्रकृष्टरूप देने का यत्न महादार्शनिक काण्ट ने किया है। उसके अनुसार नानावस्तुग्राही अनुभवाधारित संकल्प स्वतंत्र नहीं है क्योंकि आकस्मिक परिवर्तनों के द्वारा वह सीमित है। नैतिक स्वातंत्र्य के लिए आवश्यक है कि विशुद्ध व्यापक बुद्धितत्त्व से समुत्थित नीतितत्त्व का अनुगमन हो। निश्चयात्मक अवश्यम्कर्तव्य नैतिक नियम का परमलक्ष्य है मानव को साधन नहीं अपितु साध्य समझना। भूतिवादात्मक अनुवर्पाश्रित व्यावहारिक नियम सापेक्ष साध्यों की सिद्धि करते हैं। अतएव इनका पान्तर होना चाहिए। कल्याणपूर्ण क्रतु

in the peaceful orders of states, wherein one man is under another, as humility does benefit the servant, so does pride endamage the superior. But take a man as God created him at first, and so he is neither slave to man nor to sin. But penal servitude had institution from that law which commands the conservation and forbids the disturbance of nature's order; for if that law had not first been transgressed, penal servitude had never been enjoined."

१ Hobbes, Leviathan, अध्याय ५–६।

२ Leviathan, अध्याय ११।

३ Leviathan, अध्याय ११।

ही मानव का नितान्त अवश्यम् प्तव्य है। काण्ट के अनुसार सदिच्छा या शिवभावानुमोदित संकल्प से अधिक उत्कृष्ट जगत् में कोई वस्तु नहीं है। राज्य बाह्य उपकरणों और कर्तव्यों से सम्बंध रखता है। व्यवस्था और बाह्य नियम तथा न्याय इसके अन्तर्गत हैं।१ परन्तु मनुष्य की अन्तश्चेतना पर आधारित सत्संकल्पमूलक नीति-नियम का पालन परम कर्तव्य है। काण्ट का यह महान् संदेश है और इसी को ध्यान में रखकर कि इस तत्त्वचिंतक के अनुसार मानव लक्ष्य है, उपकरण

---

१. Kant, Introduction to the Metaphysic of Morals (Abbott edition) पृष्ठ २८०–२८३, : "Binding laws, for which an external lawgiving is possible, are called in general external laws. Amongst these the laws, the obligation to which can be recognized by reason a priori, even without external legislation, are natural though external laws, those on the contrary, which without actual external legislation would not bind at all are called positive laws. ....The categorical imperative, which only expresses in general what obligation is, is this: Act according to a maxim which can at the same time hold good as a universal law...Laws proceed from the Rational will, maxims from the elective will...A Law (a moral practical law) is a proposition which contains a categorical imperative (a command). He who gives commands by law is the lawgiver. He is the author of the obligation imposed by the law, but not always author of the law. If he were so, the law would be positive (contingent) and arbitrary. The law which binds us a priori and unconditionally by our own reason may also be expressed as proceeding from the will of a Supreme Lawgiver, that is of one who has only rights and no duties. But this only involves the idea of a moral being, whose will is law for all, without his being conceived as the author of it."

नहीं, बर्गसाँ ने काण्ट को प्रजातंत्रवाद का महान् पैगम्बर माना है।[१] यद्यपि काण्ट ने इस महान् नियम के रूप का ही दिग्दर्शन कराया है और व्यक्तिगत जीवन में मनुष्य के स्पष्ट विनिर्णीत क्या कर्तव्य हैं, उनकी कोई सूची नहीं बनाई और न उनका वर्गीकरण ही किया, जिसके कारण हेगेल ने उसके नीतिशास्त्र को रूपात्मक तथा ब्रडले ने व्यक्तिनिष्ठ, भावात्मक तथा शून्यवादी बताया है, तथापि मानव-आत्मा के सम्बन्ध में एक उच्च संदेश का सुनानेवाला मैं काण्ट को समझता हूँ।[२]

हेगेल के दर्शन में मनुष्य का एक नैतिक और आध्यात्मिक स्वरूप है। मानव-विकास के साथ-साथ स्वचैतन्य का भी विकास होता है और मानवता का अभिज्ञान आधुनिक राज्य में आवश्यक है। इस अर्थ में समष्टि की प्रधानता पर आश्रित प्राचीन और मध्यकालीन राजकीय व्यवस्था से आधुनिक जगत् भिन्न है। हेगेल का कहना था कि मानव स्वतंत्र चैतन्य और राज्य तथा समष्टि की सामान्यता का समन्वय ही आधुनिक जगत् की देन है। अपने सामाजिक स्थान (पद) के निमित्त आवश्यक कर्तव्यों की पूर्ति मनुष्य का पुरुषार्थ है। जहाँ तक आत्मनिष्ठ व्यक्तिवाद, अंतश्चेतनावाद तथा स्वकर्त्तव्यवाद की घोषणा हेगेल में है, वहाँ तक उसके विचारों से मैं सहमत हूँ, किंतु यूनानी समष्टिवाद के अतिरंजित प्रभाव को जर्मनी की राज्य-वादिनी धारा से समन्वित करने के कारण हेगेल का यह कहना कि राज्य के द्वारा प्रदत्त या व्यवस्थित अधिकार ही स्वतंत्रता है मुझे कदापि अभीष्ट नहीं। मनुष्य के समुचित विकास के लिए समष्टि और राज्य के अनुशासन को अपेक्षित मानते हुए भी, किसी राज्य को स्वतंत्रता का मूल बताना कल्पनामात्र है। अपने 'तर्कविज्ञान' नामक ग्रंथ

---

१. H. Bergson, The Two Sources of Morality and Religion.

२. Kant—"I shall set forth the method by which we must study man—man not only in the varying forms in which his accidental circumstances have moulded him, in the distorted form in which even philosophers have almost always misconstrued him, but what is enduring in human nature, and the proper place of man in creation." उद्धृत Rousseau, Kant, Goethe ग्रंथ के पृष्ठ २१ में। कुछ आधुनिक विचारकों ने अपने नीतिशास्त्र को काण्टप्रोक्त कर्तव्यशास्त्र के अनुरूप माना है। उदाहरणार्थ—G. D. Broad, Five Types of Ethical Theory; H. A. Prichard, "Does Moral Philosophy Rest on a Mistake," Mind जनवरी, १९१२

में हेगेल की मान्यता है कि व्यक्तित्व सावयव पूर्णता है जो सामान्य की तरह समस्त विशेषों और पृथक्भूत वस्तुओं में व्याप्त है। फिक्ट ने आत्मतत्त्व को सर्वान्तरभावकारी बताया है। शेलिंग के अनुसार सर्व में आत्मतत्त्व का अन्तर्भाव हो जाता है। सावयव पूर्ण सामान्य की उद्‌घोषणा से हेगेल की यह मान्यता थी कि उसमें आत्मतत्त्व और सर्व का समन्वय उपस्थित होता है। प्रकृति, तर्क और अध्यात्म के समन्वय का प्रयास वांछनीय है, किंतु राज्यवाद की अतिरंजित कल्पना करने के कारण हेगेल द्वारा प्रस्तुत सावयव पूर्ण सामान्य का सिद्धान्त आज की प्रजातंत्रात्मक दुनिया में व्यावहारिक महत्त्व का नहीं है।

सावयव पूर्ण सामान्य के नाम पर जो काण्टप्रोक्त निश्चयात्मक अवश्यम्कर्तव्य नैतिक नियम के खण्डन की धारा हेगेल ने चलाई, ब्रैडले और बोसांक्वेट में उसकी चरम परिणति हुई। ब्रैडले अपने सामाजिक पद के कर्त्तव्यों की पूर्ति का जबर्दस्त समर्थक था। आंशिक रूप में मनुष्य अपने पद का चुनाव कर सकता है, किन्तु तत्पदसम्बन्धी कर्त्तव्यों का कदापि नहीं। जन्म के समय मनुष्य अत्यन्त अनाथ रहता है। समष्टि के द्वारा ही वह अपनी मानवता की चेतना का भी ज्ञान करता है। वह पूर्णतः दूसरे का आश्रय ग्रहण कर जीनेवाला प्राणी है। समाज और समष्टि के द्वारा वह सामाजिकीकृत और नीतिनिष्ठ बनता है। यों कहा जा सकता है कि उसके व्यक्तित्व के समस्त अंश सामाजिक प्रभावों और सम्बन्धों के द्वारा प्रजनित हैं। अपनी समाजशीलता के कारण ही मानव सत्य है। समाजरहित केवलमात्र व्यक्ति एक विचारात्मक आकाशपुष्प है। व्यक्ति का व्यक्तित्व समाज के कारण है। ब्रैडले के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के दो रूप हैं। (क) उसका आंशिक या मिथ्या व्यक्तित्वः—जिसमें वह अपनी अहंनिष्ठता की सिद्धि करना चाहता है। (ख) सामान्य संकल्प के द्वारा अवेष्टित रूपः—जब वह कल्याणपूर्ण आदर्शमय आत्मिक तत्व का अनुसंधान करता है। इस प्रकार क्षुद्र अहंता के ऊपर सत्संकल्प की प्राप्ति का सन्देश ब्रैडले में मिलता है। समष्टि सावयव और नीतिशील है और इसकी गतिशील प्रक्रिया में इसका और व्यक्ति का साथ आत्माभिव्यंजन होता है। इस प्रकार की समष्टिगत और आत्मगत या व्यक्तिगत संसिद्धि इसीलिए संभव है कि तत्वतः मानव आत्मा, सामान्य या सर्व व्यापक आत्मा से एकाकार है। इस सामान्य आत्मिक चैतन्य से विरोध का मतलब है अपने ही व्यक्तित्व को पीसने और तोड़ने का प्रयत्न। इस सामान्य आत्मिक चैतन्य का वैयक्तिकीकरण पृथक् पृथक् मनष्यों में परिदृष्ट हो रहा है। और इस प्रकार क्षुद्र स्वार्थपूर्ण सीमित व्यक्तित्व से ऊपर उठकर समष्टि को प्राप्त करना ही मानव का कर्तव्य है।

जिस सावयव आध्यात्मिक समष्टिवाद का वर्णन ब्रैडल ने किया उसको और भी

शक्तिशाली बनाने का यत्न बोसांक्वेट में मिलता है। श्रेष्ठतम जीवन की प्राप्ति ही मानव का पुरुषार्थ है। किन्तु समष्टिव्यक्तिरिक्त जीवन से इस प्रकार की पुरुषार्थ-सिद्धि नहीं हो सकती। पूर्ण निरपेक्ष प्रकृष्ट सत्य सावयव व्यष्टि है और जितनी अधिक सावयवता और पृथक् वस्तुओं को अन्तर्भूत करने की क्षमता किसी सत्ता में है, उतनी ही दूर तक वह पूर्णताप्राप्त है। व्यष्टि, वातावरण या जगत् की वस्तुओं का एक केन्द्रीकृत अनुपम रूप है। किन्तु इस अनुपमता की परिणति सर्वांशतः निरपेक्ष सत्ता में होती है जो पूर्णतः अनुपम है। अनिर्णीत मन स्वतंत्र नहीं हो सकता। जितनी दूर से स पूर्णता की ओर मानवमन अग्रसर होता है, उतनी दूर तक वह स्वतंत्रता को प्राप्त करता है। समष्टि मानव की अपेक्षा अधिक सावयव है और उसकी धारा और भावों से निर्णीत होने पर व्यक्तित्व का अधिकतमीकरण होता है। मनुष्य केवलान्वयी होकर अहंसंश्रय की उपासना करता हुआ आत्मलाभ नहीं कर सकता। समाज में कुछ विशिष्ट कार्य करके ही वह महत्त्व प्राप्त कर सकता है। आत्मप्रकाशन के लिए पृथक् व्यक्तित्व आवश्यक नहीं है क्योंकि महत्तर सावयव के साथ तादात्म्य ही व्यक्तित्व-प्रकाशन का सच्चा मार्ग है। मनुष्य अपने सामयिक, आकस्मिक, स्वार्थग्रस्त, एषणाओं से ऊपर उठकर ही अपने कल्याणान्वेषी सत्संकल्प को प्राप्त कर सकता है। ब्रैडले के समान बोसांक्वेट भी मानव के अन्दर दो प्रकार के संकल्प की कल्पना करता है। (क) असत्संकल्प (ख) तात्त्विक क्रतु।[१] मानव-हृदय में वर्तमान इस तात्त्विक क्रतु की पूर्ण एकाकारता सामाजिक क्रतु और राज्यक्रतु से उसने बताई है। प्रथम, मानव भौतिक सुख का अनुसंधान करता है। उसके बाद वह समाज और राज्य में न्याय की व्यवस्था चाहता है। और फिर वह समाजगत और राज्यगत नैतिकता के साथ अपना संयोजन कर तात्त्विक क्रतु की उपासना करता है। अन्तश्चेतना में मानव को आत्मप्राप्ति या आत्मसिद्धि हो सकती है, इसका बोसांक्वेट ने उपहास किया है। व्यक्तित्व का मूल, पार्थक्य या अन्तर्जगदनुसंधित्सा नहीं अपितु सावयवपूर्ण का एक अविभाज्य सत्य अंग बनना है। मनुष्य और पूर्ण की ओर जानेवाले समाज में कोई कड़ी दीवार नहीं है। मनुष्य सामाजिक वातावरण का एकीकृत शब्दपरिवहनशील रूप है। जितनी दूर तक अपने मन की परस्पर विरोधिनी वृत्तियों का मानव समाहार करता है, उतनी दूर तक सामाजिक मन के साथ वह एकाकारता प्राप्त करता है। विचारशक्ति, शब्द-शक्ति और सामान्यहित की उपासना कर मनुष्य समाज के साथ शनैः शनैः अभिन्नता प्राप्त करता है। सर्वसाधारणहित की साधना मनुष्य को अपने सत्स्वभाव का निदर्शन कराती है। मनुष्य जब किसी सामाजिक पद या स्थान की पूर्ति करता है तब वह

१. Rudolf Metz, A Hundred Years of British Philosophy पृष्ठ ३५१-३५२

सम्यकरूप से अपने कर्तव्यों और अधिकारों का ज्ञान प्राप्त करता है। किन्तु पूर्ण सत्य का बोध तब होता है जब मनुष्य अधिकार और कर्त्तव्य या सामाजिक नियम और न्याय के ऊपर उठ जाता है और सावयवपूर्ण निरपेक्ष के साथ एकाकारता अनुभव करता है। इस परिपूर्णता का बोध सामाजिक और राष्ट्रीय जगत् के परे, कला, धर्म और दर्शन में होता है। इस प्रकार वैयक्तिक अहंभावोतिक्रमण ही मानव का चरम लक्ष्य है। किन्तु यह अहंभावोतिक्रमण वेदान्तप्रोक्त मायावाद और ब्रह्मवाद के दर्शन से नितान्त भिन्न है क्योंकि बोसांक्वेट के अनुसार शारीरिक स्वास्थ्य, सुखद गृह और आराम देनेवाली आमदनी भी आध्यात्मिकता के पार्श्ववर्त्ती हैं।

ब्रडले और बोसांक्वेट ने व्यक्ति के नैतिक और आध्यात्मिक रूप की कल्पना की ह। किन्तु समष्टि को सावयवपूर्णता का रूप देकर उन्होंने सामाजिक और राजकीय शक्तिवाद की भी घोषणा की है। यह ठीक है कि मानव-विकास के निमित्त समाज और राज्य की जबर्दस्त आवश्यकता है। मनुष्य की सामूहिक वत्तियों का प्रकटीकरण और स्पष्टीकरण अकेले रहने से नहीं हो सकता, किन्तु समाज और राज्य की अतिरंजित आवश्यकता व्यक्त करना ब्रडले और बोसांक्वेट की गहरी भूल है। ठीक है कि समाज अधिक समृद्धिशाली, व्यक्ति की अपेक्षा है, किन्तु समाज में वर्तमान वृत्ति या संकल्प को ही व्यक्ति का सच्चा संकल्प मानना निराधार कल्पना है। हिन्दू-समाज में अछूत प्रथा वर्तमान है तो क्या इसी को सत्य मानकर चलने में दयानंद, श्रद्धानन्द या गांधी अपने सत्स्वरूप को पहचान सकते थे? मानव विवेकपूर्ण है और अपनी व्यवसायात्मिका बुद्धि से बढ़कर सदसद्विवेचन का अन्य साधन मानव के पास नहीं है। यह ठीक है कि हजारों वर्षों मे जो धार्मिक, नैतिक या सांस्कृतिक परम्परा चली आ रही है, उसके प्रभाव और आश्रय में ही दयानंद, श्रद्धानन्द और गांधी को अपने व्यक्तित्व के विकास का अवसर मिला और संन्यासी तथा कर्मयोगी के पद के प्रत्याशित कर्तव्यों को पूरा कर ही ये लोग महत्ता प्राप्त कर सके तथापि यह कहना कि सामाजिक एकाकारता प्राप्त करना व्यक्तित्व प्राप्ति का परम साधन है, यह नितान्त गलत और असंगत है। ठीक विचार यही है कि व्यक्ति और समाज में परस्पराश्रयिता का सम्बन्ध है। अपने-अपने उचित कर्तव्य का पालन कर मनुष्य विकास को प्राप्त करता है, किन्तु बुद्ध, शंकर, चैतन्य, राममोहनराय जैसे पुरुषों की शिक्षाओं के आधार पर समाज में प्रचलित प्रथाओं और पद्धतियों में पूरा सुधार भी होता है। सामाजिक और राजकीय व्यवस्था ही यदि मनुष्य के नैतिक कर्तव्यों की एकमात्र सूचिका और निर्देशिका रहती तो भारतीय समाज से छुआछूत सतीप्रथा, जातपांत आदि कुरीतियाँ कभी दूर नहीं हो सकती थीं। समाज और व्यक्ति भिन्न है, एकाकार नहीं। अन्योन्याश्रयी होकर ही चलना उनके लिए कल्याणकर है।

सामाजिक कर्तव्यों का पालन मानव का महान् कर्तव्य है और केवल सामाजिक दृष्टि से ही नहीं अपितु नैतिक दृष्टि से भी, परन्तु सामाजिक और राज्यनिर्दिष्ट कर्मों का करना मानव कर्मयोग की इयत्ता कदापि नहीं प्रस्तुत करता। जगत् में महान् धर्म-सुधारक और समाज-नेता हुए हैं जिन्होंने सन्मार्गगामी बुद्धि का आश्रय लेकर सामाजिक क्रांति की है और यद्यपि प्रतिगामी रूढ़िवादी समाज ने सुकरात, ईसा, तेगबहादुर और दयानंद का घोर अपमान किया है तथापि अनेक वर्षों के बाद उन्हीं के प्रदर्शित मार्ग पर चलने में समाज ने अपना श्रेय समझा है। सामाजिक विश्रृंखलता या कर्मसंकर का मैं समर्थन नहीं कर रहा हूँ, किंतु मैं समाज और राज्य की उस अनावश्यक, अतिरंजित और अनर्गल उपासना का विरोधी हूँ जो ब्रडले और बोसांक्वेट के दर्शन में पाई जाती है।

मनुष्य नीतिमान् अध्यात्मभावापन्न प्राणी है। उसको समग्ररूप से अपनी शक्तियों का विकास कर आत्मसंसिद्धि प्राप्त करनी है। समाज से वह अन्न, वस्त्र, आश्रय, परिवार, सुख या यश प्राप्त करता है। बाल्यावस्था में परिवार और समाज की छाया में ही उसकी परिवृद्धि हुई। जन्म से लेकर मरणपर्यन्त समाज के सहारे ही उसका जीवन-यापन होता है। किन्तु मानव-स्वभाव की पूर्ण व्याख्या इतने से ही नहीं हो जाती। निस्सन्देह मनुष्य सौंदर्य, सामाजिक कल्याण और क्षुद्रस्वार्थोंद्गम के सहारे आत्माभिव्यक्ति करता है, किन्तु किसी भी प्रकार के समाज और राज्य के प्रति, चाहे वह कितना भी विकसित क्यों न हो, पूर्ण आत्मसमर्पण की दीक्षा देना गलत है। क्षुद्र स्वार्थपूर्ण एषणाओं का त्याग अवश्य करना चाहिए। आकस्मिक, सद्यःसमुत्थित या अतर्कसंगत वासनाओं का परिहार अवश्यम्कर्तव्य है, किन्तु मनुष्य का पूर्ण सद्व्यक्तित्व, सामाजिक प्रवृत्तियों के साथ एकाकारता में कदापि नहीं है। मनुष्य अवश्य ही एक सामाजिक और राजनीतिक प्राणी है, किन्तु उसका निजी एक अनुपम अनोखा व्यक्तित्व है। प्रत्येक मनुष्य अपने देशकाल-कार्यकारणोपाधिसमन्वित वर्तमान रूप में जगत् में एक ही बार आता है। उसकी अन्तश्चेतना का पूरा महत्त्व है। जगत् को समझने-बूझने की उसकी एक अपनी निराली पद्धति है। इस अनोखेपन, निरालेपन का एक जबर्दस्त महत्त्व है। यदि हम ऐसा कहें कि समाज और राज्य को समर्पण कर देना परम पुरुषार्थ है तो फिर व्यक्ति के वैलक्षण्य का नितान्त नाश हो जायगा। किस प्रकार पूर्णतः पूर्णतर सामवय वृत्तों के साथ एकाकारता प्राप्त होगी, इसकी प्रक्रिया की कल्पना कठिन और संजटिल मालूम पड़ती है। मानव साध्य है, समाज और राज्य के साथ एकाकारता की कल्पना उसे साधन और उपकरण के रूप में गृहीत करती है। मानव को उपादान रूप में ग्रहण करना व्यक्तित्व का चरम तिरोभाव करना है। यह मानते हुए भी कि साधारण मनुष्य की कौन कहे महामानव भी अपनी विचारधारा में

वर्तमान समाज की प्रवृत्तियों का प्रकटीकरण करता है, मैं समझता हूँ कि यह प्रकटीकरण माध्यम-वैलक्षण्य को सर्वदा प्रकाशित करता है। एक ही समाज की प्रवृत्तियों और चेतनाओं का विलक्षण प्रस्फुटीकरण, बुद्ध, महावीर, केशकम्बल, कात्यायन, काश्यप, मक्खली गोशाल ने किया है, किन्तु कितना विशाल पार्थक्य उनमें है। यह पार्थक्य ही उनके व्यक्तित्व को ओज, शक्ति और महत्त्व प्रदान करता है। एक ही प्रकार की सामाजिक धारा का प्रस्फुटीकरण फवारबाख, प्रूदों, ओवेन, संतसायमन, फूरिये, मार्क्स, मिल, जेवान्स, आदि में हुआ है और कितना निरालापन इनमें है? एक ही समाज में एक ही मातापिता के दो पुत्रों में एक लोकसेवक और दूसरा देशद्रोही हो जाता है। अतएव मानववैचित्र्यवाद बड़ा विलक्षण और आकर्षक है। किसी भी प्रकार की सामाजिक और राजकीय व्यवस्था से मानवप्रवृत्तियों का सामान्यीकरण और साधारणीकरण एक गलत दिशा में प्रयास है। जंगल में अनेक पशु हैं, किन्तु उन पशुओं के महत्त्व का द्योतन इतने से नहीं हो जाता कि वे एक ही पशुप्रवृत्ति के प्रवर्टीकरण हैं। वैलक्षण्य को दबाना मानवसमाज को कुंठित, प्रतिक्रियावादी और शिथिल बनाना है। सब मनुष्य समान हैं, सब में चेतना और नीतिशीलता है, किन्तु समाज की उन्नति में अपने शिक्षित, नीतिसंग्रहित और चेतन वैलक्षण्य का प्रदान करके ही सामाजिक श्रेय और आत्मिक मंगल को सम्पन्न किया जा सकता है। अतएव आवश्यक है कि सामाजिक और राजकीय कर्मयोग के साथ आत्मान्वेषी विलक्षण, पार्थक्याश्रयी व्यक्तिवाद का समन्वय स्थापित किया जाय। समाज और राज्य के साथ सहयोग अवश्य हो, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर, सदसद्विवेचनशक्ति से संबोधन प्राप्त करने पर, मानव को समाज और राज्य की अवहेलना और अवमानना करने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। बुद्ध और गांधी के जीवन में इस प्रकार का आदर्श क्रियान्वित हुआ है। परमकोटि के नीतिमान् होते हुए भी इन्होंने समाज और राज्य के तत्कालीन संगठन का विरोध किया।

मानव के राजनीतिक स्वरूप का विवेचन मार्क्सवाद में भी पाया जाता है। मानव स्वभाव को मार्क्स ने अपरिवर्तनशील नहीं कल्पित किया है। मार्क्स ने कहा है कि एतिहासिकविकास-प्रक्रिया में बाह्य प्रकृति के स्वरूप का परिवर्त्तन करते हुए मानव स्वयं अपना स्वभाव परिवर्तित करता है।[1] सभ्यता का विकास, रेल, नहर, शहर आदि का बनना, जंगलों को साफ करना, नदी की धारा को दूसरी दिशा में बदलने का उद्योग आदि प्रकृति के स्वरूप-परिवर्त्तन के उदाहरण हैं। एक ग्रामीण दूसरी तरह सोचता है और एक मिल में कार्य करनेवाला दूसरी तरह। जिस प्रकार प्राकृतिक वातावरण में परिवर्तन होता है, उसी प्रकार सामाजिक वातावरण में भी परिवर्तन होता है। प्रकृति के स्वरूप में परिवर्तन का मतलब है उत्पादनशक्तियों में परिवर्तन। और उत्पादनशक्तियों

१. Marx, Capital खण्ड १, पृष्ठ १९८

के आधार पर ही उत्पादन सम्बन्ध अर्थात् समाज का निर्माण होता है। जब वायु द्वारा चालित यंत्र का प्रयोग होता था तब सामन्तवादी समाज था। यांत्रिक शक्तियों में, वाष्प के अभूतपूर्व प्रयोग के कारण पूंजीवादी समाज का जन्म होता है।[१] जिस प्रकार का कार्य मनुष्य अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए करता है, उसी प्रकार उसका स्वभाव बन जाता है। कृषकों की रूढ़िप्रियता, प्रकृत्येकाकारता तथा सादगी प्रसिद्ध है। कर्मकरों का वर्ग अधिक परिवर्तनप्रिय तथा स्थिरता की वस्तुओं के साथ एकाकारता का अनुभव करनेवाला सिद्ध हुआ है।

किन्तु प्राकृतिक परिवर्तनों या उत्पादन-शक्तियों का सीधा प्रभाव मानव के स्वभाव पर नहीं पड़ता। वर्ग-संघर्ष का सिद्धान्त प्रकृष्टरूप में मार्क्सवाद में गृहीत है। वर्गसंगठन का व्यवधान मानव-स्वभाव और उत्पादन-शक्तियों में है। जिस प्रकार आडम स्मिथ तथा रिकार्डो आदि अर्थशास्त्रियों ने मानव को आर्थिक स्वार्थ-साधक घोषित किया था, मार्क्सवाद भी वैसे ही मानव को अर्थ-अनुसंधानवर्ता मानता है। किन्तु अंग्रेजी अर्थ शास्त्र में यह कल्पना थी कि अनेक मनुष्यों का स्वार्थसाधन सामाजिक सर्वसाधारण स्वार्थसाधन का माध्यम या तो विधाता की अज्ञेय रचनाशक्ति और संकल्प के कारण या पण्य की प्रक्रियात्मिका विधि के कारण, बन जाता है। मार्क्स ने सामान्य हित के विचार को काल्पनिक बताया। समाज में सामान्य कल्याण की साधना नहीं की जाती, अपितु वर्गस्वार्थ की साधना होती है। जिस वर्ग का जो मानव होता है, उसी वर्ग द्वारा निर्दिष्ट शब्दराशि और पद्धति के सहारे वह सोचता है। इस बात का विवेचन करते हुए लुकाक्स ने बताया है कि ऐतिहासिक विकासक्रम में श्रमविभाजनाधारित सामाजिक संबंधों के स्वतंत्र रूप धारण करने के कारण, प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व में एक द्विधापन का दर्शन होता है।[२] प्रथम, मानव का एक निजी व्यक्तित्व है, दूसरा, वर्गस्वार्थ से अनुप्रेरित उसका एक सामाजिक व्यक्तित्व। वर्ग की स्वार्थसाधना के जो नियम हैं वे अज्ञात, और अप्रत्यक्षरूप में मानवमस्तिष्क में अन्तश्चेतनीकृत हो जाते हैं। वस्तुनिष्ठ बाह्य नियम, इस प्रकार वैयक्तिक जीवन और मानव-कार्यकलाप के नियामक आत्मनिष्ठ मनःप्रसूत संकल्प का रूप धारण कर लेते हैं।[3] यदि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का यह निश्चित नियम है कि इसकी सतत परिवृद्धि होनी चाहिए तो पूंजीपति निरन्तर मुनाफा को प्राप्त करना ही अपने लिए बायबल का धार्मिक नियम मानता है। सामाजिक प्रवृत्तियों और आवश्यकताओं का वैयक्तिक मन में अन्तश्चेतनीकरण का सिद्धान्त बड़ा आकर्षक मालूम पड़ता है। इसी पर आधारित है मार्क्सवादी "आयडिऔलोजी" अर्थात् मतवाद या विकल्पवाद या अपसिद्धान्त

१. Marx, The Poverty of Philosophy.

२. G. Lukacs: Studies in European Realism.

३. K. Marx, Capital, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १७०,३४०,३४७।

का विचार।[1] मानव, जागतिक और सामाजिक वस्तुस्थिति से संघर्ष करता है, किन्तु इस संघर्षप्रक्रिया में वह वस्तु का यथातथ्य निरूपण नहीं कर पाता। स्वार्थ-भावना से प्रेरित होने के कारण वह वस्तु को झूठे चैतन्य से ग्रस्त कर लेता है। जो कुछ वर्गस्वार्थ का हनन करनेवाला हो सकता है, उसकी ओर उसकी दृष्टि आवृत हो जाती है। मतवाद, विशेषतः सामाजिक शास्त्रों का रोग है। इसके प्रभाव के कारण ज्ञानप्रसाधक कल्याणनिमित्तक अनुसंधान के बदल आवृत्त दृष्टि से विचारप्रणयन होता है।

मार्क्स और एंगल्स, समूहवादी थे। यद्यपि 'कैपिटल' में और अन्यान्य ग्रंथों में मानव-स्वातंत्र्य, समानता आदि की चर्चा आती है तथापि मुख्यतः वे व्यक्ति की अपेक्षा समूह की प्रकृष्टता स्वीकार करते हैं। रूसो के समय से यूरोप में जो यूनानी समूहवाद का पुनरुद्धार हुआ उसका व्यापक प्रभाव जर्मन विज्ञानवादी विचारशास्त्रियों पर पड़ा। मार्क्स भी इसी धारा का अनुगमन करता था। समाज और व्यक्ति के बीच यदि संघर्ष हो तो वह समाज की प्रधानता स्वीकार करता था। उसकी समस्त विचारधारा इसी महान् आदर्श से अनुप्राणित ह कि सामाजिक परिवर्तन के विना वैयक्तिक सुधार कदापि संभव नहीं है। अतएव समस्त इतिहास को मानव के स्वभाव-परिवर्तन का इतिहास मानते हुए भी मार्क्स इस परिवर्तन का माध्यम उत्पादन-शक्तियों और उत्पादन-सम्बन्धों को मानता था। भौतिकवादी होने के कारण वह व्यक्ति का कोई स्वतंत्र विलक्षण महत्त्व नहीं स्वीकार करता था। जिस दार्शनिक आधार का राजनीति के लिए मैं समर्थन कर रहा हूँ वह, समूह को उचित महत्त्व देते हुए भी व्यक्ति को नैतिक, विज्ञानात्मक और आध्यात्मिक चैतन्य का वाहक स्वीकार करता है। व्यक्ति और समूह के बीच संघर्ष होने पर किसका पक्ष-समर्थन कर्तव्य है, इसका निर्णय अवसरानुसार उस विशेष अवस्था की जाँच के बाद किया जायगा। जहाँ सत्य होगा उसका समर्थन किया जायगा। मानव का स्वयं एक प्रकृष्ट महत्त्व है, इस विचार की घोषणा संतपाल, सिसेरो, लूथर, काण्ट, लास्की आदि ने यूरोपीय संस्कृति में और वेदान्त, रवीन्द्रनाथ, गांधी आदि ने भारतीय संस्कृति में की है। मानव, आत्मकल्याण के लिए पृथ्वी का भी त्याग कर सकता है; ऐसा महान् मंत्र, प्रदान करनेवाली भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक धारा ही है।[2] वैयक्तिक मानव के

---

१. "Ideology". आलोचना के लिए द्रष्टव्य C. W. Mills "Methodological consequences of the sociology of knowledge", American Journal of Sociology, १९४० पृष्ठ ३१६–३३०
Joseph A. Schumpeter "Science and Ideology", American Economic Review, १९४९ मार्च पृष्ठ ३४५–३५९

२. आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्।

बदले समाजीकृत मानव का स्थापन, मार्क्सवाद ने किया है।[२] यूरोपीय पुनरुत्थान के बाद से जिस मानववाद की सृष्टि हुई थी जिसमें मानव की नैतिक और कलात्मक संसर्जनात्मिका शक्ति की अतिरंजित उद्घोषणा थी, उसका यंत्रवाद के कारण अंत हो रहा था। मानव अब बड़ा-बड़ा कार्य करनेवाला प्रोमिथियस या हर्क्यूलिस के रूप में नहीं कल्पित किया जाता था, वह अब समाज की एक इकाईमात्र था। यांत्रिक सभ्यता के घोर विकास के कारण जो दृश्य पश्चिमी सभ्यता में उपस्थित हो रहा था, उसको सैद्धान्तिक रूप से मार्क्सवाद ने स्वीकार कर लिया। लेनिन भी मानव में विश्वास नहीं करता था, उसके कार्यक्रम का मुख्य लक्ष्य था, एक ऐसे समाज का निर्माण जिसमें अन्याय और अत्याचार का खात्मा हो जाय। किन्तु ऐसे समाज के निर्माण करने में यदि कुछ व्यक्ति अवरोधक हों तो उन्हें मौत के घाट उतारने में मार्क्सवादी कोई गलती नहीं देखते। यदि एक हजार को मारकर, दस हजार का सुख सिद्ध होता हो तो एक हजार को मारने में उन्हें कोई नैतिक एतराज नहीं है। किन्तु नीतिशास्त्र में इस प्रकार की गणितात्मकता मुझे अभीष्ट नहीं है। नीतिमान चैतन्य युक्त मानव स्वयं ही श्रेय का वाहक है। केवल सुखशास्त्र का त्रैराशिक लगाकर राजकीय व्यवहार करना मैं अयुक्तिसंगत समझता हूँ। इस विषय में सोवियट रूस के बदले प्रजातंत्रीय ब्रिटेन के सिद्धान्त और व्यवहार से शिक्षा ली जा सकती है। मार्क्सवाद अपनी शिक्षाओं को निरपेक्ष सत्य मानता है। इस निरपेक्ष सत्य से जो कुछ अलग है, वह इसकी दृष्टि में गलत है। किन्तु मार्क्सवादी यह भूल जाते हैं कि यदि निरपेक्ष सत्य कोई सिद्धान्त है तौभी उसकी अभिव्यक्ति सीमित मानव की शक्तियों के द्वारा होती है; अतएव जो हमसे भिन्न है, वह गलत है ऐसा विचार रखना बिलकुल असंगत है। माना कि सामाजिक हित की साधना होनी चाहिए किन्तु क्या सामाजिक हित है, इस पर समाज के प्रत्येक व्यक्ति को विचार प्रकट करने का अवसर मिलना चाहिए। यदि कोई स्वतः निर्वाचित सत्ताधारी श्रेणी यह घोषणा करती है कि सामाजिक कल्याण या मत को व्यक्त करने का उसे एकाधिकार है तब अनर्थ हो जाता है। इस प्रकार व्यक्तिवाद के बदले समष्टिवाद नहीं, स्थापित होता अपितु एक निम्न कोटि का, कुछ मनुष्यों का, घोर एकाधिपत्यवाद। सर्वाश्रित प्रजातंत्रवाद के उचित्तम प्रयोग से ही सामूहिक हित की प्रवृत्ति का पता चल सकता है, एक निगूढ़ स्वतःनिर्मित रहस्यमयी प्रक्रिया से नहीं। जबतक हमें सामाजिक मत का वास्तविक ज्ञान ही नहीं तो उसके स्वकल्पित निर्देश से व्यक्तिवाद की हत्या करना एक राजनीतिक चालबाजी है।

मार्क्सवादभिप्रेत वर्गस्वार्थान्तश्चेतनीकरण और मतवाद के सिद्धान्त पर विचार करते हुए कार्ल मानहायम ने बताया है कि केवल पूंजीवादी विचारधारा को मतवाद कहना ठीक

२. "Socialized Man".

नहीं है। वस्तुस्थिति के समर्थकों की दृष्टि में मार्क्सवाद भी सिद्धांत न होकर मतवाद ही है। वर्गस्वार्थों के द्वारा आवृत्त होकर वस्तु का दर्शन करना ही मतवाद का जनक है। अतएव मानहायम ने यह सुझाव पेश किया है कि बुद्धिजीवी वर्ग, जो किसी आर्थिक वर्गविशेष से संलग्न नहीं है, एक वैज्ञानिक राजनीतिशास्त्र का निर्माण करे।[1] वर्ग द्वारा प्रजनित स्वार्थ, अभिरुचि, श्रेयभावना आदि के विषय में अधिकतम चैतन्य रहने से मतवाद की भयंकरता नष्ट की जा सकती है।[2] सामाजिक सत्ता की अनेकविधता को स्वीकार कर विविधवादों के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति हो सकती है ऐसा विचार मानहायम का है। इस प्रकार यदि रूढ़िवादी, उदारवादी, फासिस्टवादी, समाजवादी मतों का विश्लेषण हो तो मतमतान्तर के परे, एक राजनीतिक सिद्धान्तसार का निर्माण किया जा सकता है। मेरे विचार में अधिकतम मतों, विचारों, पद्धतियों का, नीतिमान मानव को ध्यान में रखते हुए, समन्वय ही दार्शनिक पद्धति है। इतनी दूर तक मानहायम का, कृत्स्ना की ओर बढ़नेवाला समन्वयमार्ग, दार्शनिक पद्धति को पुष्ट करता है।

एक नूतन मानव की सृष्टि अभिवांछित है, ऐसा विचार प्राचीनकाल से ही व्यक्त हो रहा है। ऋग्वेद के "दैव्यजन" के आधार पर, दिव्यशक्तिप्रेरित अतिमानवों के समाज का स्वप्न श्री अरविंद देखते थे।[3] काण्ट ने दैवी मानवता का विचार उपस्थित किया है। राबर्ट ओवेन और महात्मा गांधी मानव स्वभाव में परिवर्त्तन का संदेश देते हैं। शिक्षा और संयम के द्वारा मनुष्य के स्वभाव में परिवर्त्तन हो, ऐसा प्लेटो और अरस्तू का भी विचार था। मनःसमीक्षणशास्त्री भी इस प्रकार का विचार रखते हैं। समस्त योगमार्ग भी इसी पद्धति का समर्थक था। इतना निस्सन्देह है कि प्राचीन बर्बरता की तुलना में बाह्य सृष्टि से जीवन के संगठन में जरूर सभ्यता का आजकल व्यवहार किया जाता है। प्राचीन धर्मों ने, विशेषतः बौद्धधर्म और ईसाइयत ने मानव को चैतन्ययुक्त और नीतिमान बनाने में सहायता दी है।[4] किन्तु मनुष्य के बाह्यव्यवहार में, और देशों के अपने पारस्परिक

१. K. Mannheim, "Prospects of Scientific Politics", Ideology and Utopia. पृष्ठ १४१-१४५।

२. Lynd, Middletown; Weber, Methodology of Social Sciences.

३. Sri Aurobindo, The Life Divine, The Riddle of this World.

४. St. Augustine, The City of God खण्ड १२ अध्याय २१: "But man, whose nature He made as a mean between angels and beasts, that if he obeyed the Lord, his true crea-

व्यवहार में, ऊपर की दृष्टि से देखते हुए यद्यपि भले के लिए परिवर्त्तन हुआ है, तथापि मानव की मूलभूत भावनाओं में परिवर्त्तन हुआ है, ऐसा विश्वास सहसा नहीं होता। अभी द्वितीय महासमर में असीरियन सम्राटों, नीरो, चंगेज, आदि के हृदय को भी दहलानेवाले कुकृत्यों को देखकर इतिहासकार विस्मित हैं। शक्ति प्राप्त करने के लिए चण्डाशोक और अलाउद्दीन और औरंगजेब के तरीकों से तानाशाही देशों के तरीके भिन्न नहीं हैं। इसलिए मेरा ऐसा मत है कि कम-से-कम निकट भविष्य में मानव-स्वभाव में परिवर्त्तन की कोई आशा नहीं दीखती। वर्गहीन, शोषणहीन, राज्यहीन, नियंत्रणहीन, समाज में एक नूतन मानव की सृष्टि होगी, ऐसे विचार को मैं मार्क्सवाद के काल्पनिक अंश का एक रूप मानता हूँ। यह एक श्रुतिप्रिय विचार है। मैं स्वयं चाहूँगा कि ऐसे नूतन मानव इस धराधाम पर आवें, किन्तु मेरा निश्चित विचार है कि यदि नूतन मानव इस पृथ्वी पर आवेंगे तो वह बुद्ध-गांधी द्वारा प्रदर्शित मार्ग से ही। मैं यह नहीं कहता कि कई सौ वर्षों में मानव-स्वभाव में परिवर्त्तन होगा ही। इतिहास की धारा विपरीत मालूम पड़ती है। किन्तु इतना मैं निश्चित सत्य मानता हूँ कि यदि परिवर्त्तन होना है तो उसका एकमात्र मार्ग बुद्ध-गांधी का ही पथ है। घृणा, द्वेष, मत्सर, हाहाकार का नंगा नाच कर उसके भस्म पर नूतन मानव की सृष्टि का स्वप्न आशावाद और स्वार्थवाद, कल्पनावाद और बलवाद का एक अनोखा सम्मिश्रण है। 'धम्मपद' में कहा है कि वैर से वैर शांत नहीं होता। सनातन धर्म यही है कि अवैर, अक्रोध से ही वैर और क्रोध का दमन होता है[1]।

---

tor, and kept his behests, he might be transported to the angels' society, but that if he became perverse in will, and offended his Lord God by pride of heart, he might be cast into death like a beast, and living the slave of his lusts, after death he destinates unto eternal pains." वही अध्याय २३: "Therefore God made man according to His image and likeness, giving him a soul whereby in reason and understanding he excelled all the other creatures, that had no such soul."

१. अक्कोच्छि मं अवधि मं अजिनि मं अहासि मे।
ये तं न उपनयहन्ति वेरं तेसूपसम्मति॥
न हि वेरेन वरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।
अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो॥
—धम्मपद १।४-५।

मनुष्य अपनी स्वाभाविक शक्तियों का पूरा विकास समाज में ही कर सकता है[1]। उसके रूपान्तरित स्वभाव की भी आवश्यकता समाज के कल्याण के लिए है। उसकी प्रवृत्तियों और उसके कार्यों का समाज पर शीघ्र प्रभाव पड़ता है और फिर समाज के अन्य मनुष्यों के द्वारा उनकी प्रतिक्रिया होती है। यदि कुछ नीतिमान चैतन्ययुक्त पुरुष अपने स्वभाव में परिवर्त्तन कर दें तो कम-से-कम उनके निकट सामीप्य में रहनेवाले पुरुषों पर इसका हितकर प्रभाव होगा ही। 'जान स्टुअर्ट मिल' ने जो आत्मापेक्षी और परापेक्षी कर्मों का विभाग किया है, वह बिल्कुल अमननीय नहीं है। हमारी समस्त वृत्तियों और क्रियाओं का दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। तथापि इतना ठीक है कि जो हमारी क्रियाएँ नितान्त आत्मापेक्षी हैं, उदाहरणार्थ नित्यकर्म, कला, साहित्य आदि का अनुशीलन, उसमें समाज और राज्य को सलाह देने का अधिकार है, परन्तु नियन्त्रणात्मक निर्देश का अधिकार नहीं रह सकता। किन्तु आत्मापेक्षी कार्यों में आत्मघात या आत्महनन को नहीं रख सकते। जहाँ निश्चित रूप से आत्मप्रकाश करने का उद्योग होगा, वहाँ समाज और राज्य अवश्य उपस्थित हो जायगा। आत्मापेक्षी कार्यों में हम उन्हीं को स्थान देंगे जिनसे हमारी मौलिकता की वृद्धि होती है। यादृच्छिकता का अतिरेक उन्मत्तता में न हो, इसके लिए सामूहिक निर्देश और नियंत्रण उचित मात्रा में अपेक्षित हैं।

मनुष्य राजकीय और सामाजिक व्यापारों में अपनी हितप्रतिपादिनी कल्याणकामिनी सदसद्विवेचनसमर्था व्यवसायात्मिका बुद्धि से कार्य कर सकता है[2]। हमने मनुष्य को चैतन्य-

---

१. तुलनीय, Aristotle, Politics, I, 2: "A social instinct is implanted in all men by nature, and yet he who first founded the state was the greatest of benefactors. For man, when perfected, is the best of animals, but, when separated from law and justice, he is the worst of all; since armed justice is the more dangerous, and he is equipped at birth with arms, meant to be used by intelligence and virtue, which he may use for the worst ends. Wherefore, if he has no virtue, he is the most unholy and the most savage of animals, and the most full of lust and gluttony."

२. प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्
निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै ।
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥

—मनुस्मृति, १२।९०–९१।

युक्त नीतिमान और अध्यात्मभावापन्न माना है। व्यवसायात्मिका बुद्धि की अपेक्षा मानव के पास कर्माकर्मविकर्मनिर्णय का अन्य उत्कृष्ट साधन नहीं है। उपयोगितावादियों का ऐसा मत था कि प्रकृति ने मनुष्य के अन्दर दो शक्तिसम्पन्न प्रभुओं को स्थापित किया है-- सुख और दुःख। अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख किस प्रकार सम्पन्न हो सकता है, इसी विचार से मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए। विधानशास्त्री को भी विधिनिर्माण में ऐसे ही मार्ग को खोजना चाहिए[१]। किन्तु अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख, यह नीतिमार्ग स्पष्ट नहीं है। यदि भौतिकपदार्थजनित और बुद्धिजनित सुख में अन्तर भी मान लें, तथापि इससे व्यक्तिगत सदाचार की समस्या हल नहीं होती। इस प्रकार का त्रैराशिक देखने में आसान होते हुए भी मानव जीवन में निर्णय करने के सम्पन्न तत्त्व को नहीं प्रदान करता। अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख, इसके निर्णय करने में इसकी मर्यादा कहाँ रक्खी जाय? क्या अधिकतम की गणना, जातिविशेष या देशविशेष या जगत् के समस्त मानवों को दृष्टि में रखकर की जायगी? पुनश्च, अन्य मनुष्य किस चीज में सुख समझते हैं, इसका स्पष्ट निर्देश हमारे पास नहीं है। व्यवहार में, इस नियम से अपने जीवन को संचालित करने का परिणाम यही होगा कि एक अव्यवस्थित परिवर्त्तनशील जनमत से अपना जीवन निर्दिष्ट करना होगा। नीतिमत्ता का उद्देश्य है स्थिरता और इसी स्थिरता की चरम पराकाष्ठा को गीता में स्थितप्रज्ञता का नाम दिया गया है।[२] स्थिरता का तात्पर्य है कुछ स्पष्ट निर्णीत महान् आदर्शों के सतत क्रियान्वयन का प्रयत्न और उनकी अभिप्राप्ति[३]। विपरीत परिस्थितियों में भी आदर्शों का सेवन ही नीतिमान् चैतन्ययुक्त मानव

१. Bentham, Fragment on Government, Principles of Morals and Legislation; John Mill, Utilitarianism; Sidgwick, Methods of Ethics.

२. प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ --(गीता--२।५५-५८)

३. "Nevertheless, we shall bear with an equal mind all that happens to us in contravention to the claims of

का लक्षण है। अतएव स्पष्ट है कि अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख, इससे नैतिक जीवन यापन का कोई विनिश्चित सिद्धान्त नहीं प्राप्त होता और इसीलिए ब्रिटिश आध्यात्मिक विचारकों--ग्रीन ब्रैडले आदि ने इसका खंडन किया है[१]। दर्शनसम्मत राजनीतिशास्त्र ऐसा मानता है कि साध्यभूत नीतिमार्गानुसंधानकर्ता मानव उचित और आवश्यक सामाजिक और राजकीय कर्मयोग का पालन अवश्य करेगा, किन्तु न तो सामाजिक या राजकीय अनुशासन और न तो अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख जैसे बाह्य निर्देश, मानव के समस्त कर्त्तव्यों की इयत्ता प्रस्तुत कर सकते हैं। यह ठीक है कि सामाजिक और राजकीय अनुशासनों का पालन या अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख का नियम, ये दोनों हमें क्षुद्र स्वार्थी भोगवादी जीवन से ऊपर जाने में सहायता देते हैं, किन्तु मानव-जीवन का असली तात्पर्य व्यवसायात्मिका बुद्धि और तत्प्रदर्शित कर्मों के करने में ही है। इस प्रकार की व्यवसायात्मिका बुद्धि भौतिक या पाशविक सुख की साधना से परे, सत्य और कल्याण का बोध कराती है।

मानव का लक्ष्य है--स्वार्थ और परमार्थ का सामंजस्य। निरे स्वार्थ की साधना करने का मतलब होगा कि सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का ही अन्त हो जायगा। परिवार और समाज इसी स्वार्थ के दमन पर आश्रित हैं। किन्तु परमार्थ के नाम पर अपने पृथक् व्यक्तित्व का अवसान या तिरोभाव मुझे कदापि अपेक्षित नहीं है। रवीन्द्रनाथ, अरविन्द आदि व्यक्तित्व को शून्यवत् करने का सन्देश देते हैं। जहाँ तक अनर्गल, अनावश्यक और परघाती स्वार्थ के दमन का वे उपदेश देते हैं, वहाँ तक उनकी बात समझ में आती है

---

our own advantage, so long as we are conscious that we have done our duty, and that the power which we possess is not sufficient to enable us to protect ourselves completely; remembering that we are a part of universal nature, and that we follow her order....For in so far as we are intelligent beings, we can not desire anything save that which is necessary, nor yield absolute acquiescence to anything, save to that which is true; wherefore, in so far as we have a right understanding of these things, the endeavour of the better part of ourselves is in harmony with the order of nature as a whole"—Spinoza, Ethics, Appendix.

१. T. H. Green, Prolegomena to Ethics; F. H. Bradley, Ethical Studies.

और ग्राह्य हैं, किन्तु आत्मा और परमात्मा का पराभवित और समाधि के द्वारा तादात्म्य, या व्यक्तित्व का जागतिकता में रूपान्तर, आदि संदेश, सामाजिक शास्त्रों की दृष्टि से और संसारव्यापी जीवन संघर्ष को देखते हुए मुझे कमजोर मालूम पड़ते हैं[१]। इस सन्देश का एक अतिरंजित रूप स्वामी रामतीर्थ में व्यक्त हुआ था जब वे वेदान्त की मस्ती में, भरी जवानी, अर्थात् अकालमृत्यु का आलिंगन करने को तैयार थे[२]। कुछ भक्तों का कहना है कि विवेकानन्द की आत्मिक संज्ञा इतनी विस्तीर्ण हो गई थी कि वे देहबुद्धि के पाश में नहीं बंधना चाहते थे और इसीलिए उन्होंने महासमाधि में प्रवेश किया[३]। रामतीर्थ के विषय में कहा गया है कि ब्रह्म के साथ नितान्त पूर्णतः एक हो जाने के लिए ही उन्होंने गंगा में अपना शरीर बहा डाला। यदि उनचालीस वर्ष की अवस्था में विवेकानन्द और तैंतीस वर्ष की अवस्था में रामतीर्थ ब्रह्मतादात्म्य को प्राप्त करने के लिए इतने बेचैन थे कि उन्होंने स्वेच्छया मृत्यु का आलिंगन किया तो मैं इसे जीवन से थकान, नैराश्य और कमजोरी का लक्षण समझता हूँ न कि निर्मल आदर्श। श्रीकृष्ण ने कहा है कि साधारण जन महापुरुषों का अनुगमन करते हैं और इसलिए मानव के स्वरूप का हमें यथार्थबोध होना चाहिए और उसी के आधार पर राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्तों का निर्माण होगा।

जागतिक तादात्म्य के संदेश के आधार पर मानव व्यक्तित्व-पार्थक्य के प्रकाश का मैं कदापि समर्थन नहीं कर सकता। समाज और जगत् में अनेक कार्य कर तथा उनके प्रतिकारस्वरूप अन्य पुरुषों के क्रियाकलापों से प्रभावित होकर ही, एक विशिष्ट-देशकाल में स्पष्ट ज्ञातव्य मातापिता से उत्पन्न मानव अपने व्यक्तित्व का बोध करता है। इस प्रकार के व्यक्तित्व का निर्माण और इसका विचारात्मक आत्मबोध ही मानव का परम कर्त्तव्य है। मैं अन्य लोगों के दुःख से वेदनाग्रस्त हो सकता हूँ, उनके साथ सहानुभूति प्रदर्शित कर सकता हूँ, किन्तु स्वयं ही उस दुःख का अनुभव नहीं कर सकता। मेरा एक पृथक् और विलक्षण व्यक्तित्व है जैसे संसार के प्रत्येक मानव का है। दूसरे के अनुभवों का वर्णन सुनकर मुझमें भावना उत्पन्न होती है, किन्तु मैं स्वयं दूसरे के अनुभव को ही अनुभव नहीं कर सकता। मानवजाति और समाज या किसी राष्ट्रविशेष का इसी में कल्याण है कि इस वैलक्षण्य की रक्षा करते हुए, इसके द्वारा जो अनुभव और ज्ञान हमें हुआ है, उसे हम परदुःख निवारणार्थ अर्पण करें। न तो सामाजिक मन अथवा, राष्ट्रिय आत्मा के साथ तात्विक एकाकारता में ही और न विषण्ण होकर

---

१. V. P. Varma "Spiritual Freedom", VishwaBharati Quarterly, Winter 1953.

२. स्वामी नारायण प्रणीत स्वामी रामतीर्थ का जीवन-चरित्र।

३. Swami Vivekananda का अंगरेजी जीवन-चरित्र, दो खण्ड।

जगत के कार्यों से उपराग करने में ही मानव का पुरुषार्थ है । इस दृष्टि से, सामाजिक वृत्त या राष्ट्रिय आत्मा के साथ तादात्म्य को ही परम लक्ष्य माननेवाले जर्मन और ब्रिटिश विज्ञानवाद को, तथा ब्रह्मतादात्म्यवादी अद्वैतवेदान्त और उसके आधुनिक समर्थकों की शिक्षाओं को, मैं कई अंश में असंगत और भ्रामक मानता हूँ । एक समाज और राष्ट्र के साथ तादात्म्य की घोषणा करता है, दूसरा जागतिक और अतिजागतिक सत्य के साथ तादात्म्य का अभिलाषी है । चिन्तनशील, विवेकपूर्ण, श्रेयोन्वेषी मानव के आदर्श का हम समर्थन करते हैं और स प्रकार के मानव का व्यक्तित्व और उसका अधिरक्षण सर्वथा कल्याणकारी है ।

आज मानव के राजनीतिक स्वरूप के विवेचन में अविवेकवाद या अबुद्धिवाद का समर्थन कुछ आन्दोलनों में हुआ है[१]। जर्मनी और इटली के तानाशाही आन्दोलन ने मानव को भावनाप्रधान या संकल्पप्रधान घोषित कर, प्रचारपद्धति के समस्त साधनों का उपयोग कर, जनता की, अतिरंजित वेग से उत्तेजित भावना को तानाशाहों की शक्ति के समथन में लगाया । हेगेल के बौद्धिकवादी दर्शन के विपरीत अबुद्धिवाद की आवाज उठाई गई । संकल्पवाद या ईक्षणवाद की जो अभिव्यक्ति शापनहावर, हार्मान, बर्गसां, डीवी, स्पेंगलर आदि में हुई थी, उसको विकृत रूप देकर अपने राजनीतिक स्वार्थों की सिद्धि का साधन अधिनायकों तथा उनके दल ने बनाया[२]। तार्किक विवेचन के बदले राजनीतिक अन्धविश्वास (जिसे अंग्रेजी में मिथ कहते हैं) की सृष्टि रोजेनबर्ग, सोरेल आदि ने की[३]। अविवेकवाद या अबौद्धिकवाद का यह आन्दोलनात्मक रूप है । इसके सैद्धान्तिक स्वरूप विवेचन में, ग्राहमवालास, मैकडूगल, आदि प्रमुख हैं जिन्होंने व्यवहारिक मानव के राजनीतिक जीवन के निरीक्षण के आधार पर कहा कि मानव मूलतः भावना-प्रधान है । अठ्ठारहवीं शताब्दी का फ्रांसीसी दर्शन, इंगलैंड का अर्थशास्त्र, मार्क्सवाद, आदि मनुष्य के बुद्धिसंगत रूप को स्वीकार करते हैं[४]। किन्तु नूतन मनोवैज्ञानिक और मनःसमीक्षणात्मक पद्धति से प्रभावित आलोचकों का कहना है कि मानव का राजनीतिक

१. अविवेकवाद या Irrationalism के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य, V. P. Varma, Irrationalism, Philosophical and Socio-ligical (बनारस, १९५१)

२. W. Y. Eliot, The Pragmatic Revolt in Politics; F. Neumann, Behemoth.

३. A Rosenberg, The Myth of the Twentieth Century (जर्मन भाषा में); Sorel, Reflections on Violence.

४. Voltare, Philosophical Dictionary. A Smith, The wealth of Nations; Marx and Engels, The German Ideology.

व्यवहार तर्कसंगत नहीं है। 'वालास' ने बताया कि राजकीय कार्य बहुत कम अंशों में चेतन बुद्धि से प्रभावित है, अपितु मुख्यतः इसमें पूर्वाभ्यास, प्रवृत्ति, अनुकरणवृत्ति आदि का प्राबल्य है[१]। अतएव उसने प्लेटो के प्रत्ययवाद, रूसो के नैसर्गिक अधिकारवाद, बेंथम के उपयोगितावाद का, अतिशय बौद्धिक कहकर, खंडन किया। हाब्स की भयाश्रयिणी राजकीय प्रक्रिया और टार्ड के अनुकृतिनियमों[२] का भी विरोध उसने किया। अपनी "महान् समाज" पुस्तक में उसने संख्याशास्त्रात्मक और परिगणनात्मक पद्धति का समर्थन किया और कहा कि सुखी समाज के निर्माण के लिए मानव की दबी हुई प्रवृत्तियों का ज्ञान तथा विचार का सम्यक् संगठन अपेक्षित है[३]। लासवेल ने मनःसमीक्षण शास्त्र की पद्धतियों के राजनीतिक उपयोग का निर्देश किया है[४]। परेटों ने भी समाज की व्याख्या करने में छः मूलप्रवृत्ति (जिसे रेजिड्यू कहते हैं) और चार बौद्धिकीकरण की धारा (जिसे डेरिवेशन कहते हैं) का सहारा लिया है[५]। कुछ अन्य समाजशास्त्रियों ने अभिरुचिवाद वा जैसे रात्सेनहाफर और स्माल, तथा कुछ ने इच्छावाद, जैसे टामस, का समर्थन किया है[६]।

---

१. Graham Wallas, Human Nature in Politics, The Great Society.

२. G. Tarde, laws of imitation.

३. Graham Wallas, The Great Society.

४. H. D. Lasswell, Psychopathology and Politics, An Analysis of Political Behaviour.

५. परेटो के (Pareto) के अनुसार Residues के छः वर्ग हैं।
   (क) Residues of Combination.
   (ख) Residues of the persistence of aggregates.
   (ग) Residues of the manifestation of senti ı ts through overt acts.
   (घ) Residues in regard to sociability.
   (ङ) Residues of the integrity of the individual.
   (च) SexualResidues.
   Derivations के चार वर्ग हैं:—
   (क) Affirmations.
   (ख) Authority.
   (ग) Accord with Sentiment or Principles.
   (घ) Verbal Proofs.

६. Ratzenhofer, Wesen und zweck der Politik; A. W. Small, General Sociology; W. I. Thomas, The unadjusted girl, The Unconscious.

इसमें सन्देह नहीं है कि मनुष्य में भावना, क्रतु, ईक्षण, संकल्प, अभिरुचि, द्वेष, आदि की प्रवृत्तियाँ गहरे रूप में वर्त्तमान हैं। आधुनिक सामाजिक शास्त्रों की उन्नति से यह बात अवश्य ध्यान में आई है कि मनुष्य को केवल बौद्धिक प्राणी कल्पित कर चलने वाले अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र अधूरे हैं। राजनीति और सामाजिक आन्दोलन के मनोवैज्ञानिक अध्ययन ने इस बात को व्यक्त किया है। क्योंकि बौद्धिक-प्रक्रियाशील मानव अन्धविश्वास में ग्रस्त हो तानाशाहों की अवैज्ञानिक शक्ति-विलसनशीलता का कठपुतला बन जाता है? इसीलिए उपनिषद् में कहा गया है कि मनुष्य क्रतुमय है। निस्सन्देह मानव को सम्पूर्णरूप से तर्कप्रधान मानना उदारवादी परम्परा का मूल था[१]। विज्ञान के विकास के साथ उदारवाद ने यह विचार प्रस्तुत किया कि मानव बौद्धिक प्राणी है और यदि तर्कतः उसे कोई बात बताई जाय तो वह उसे समझ जाता है तथा बौद्धिक उन्नयन और संगठन से दुनिया में संघर्ष और युद्ध के बदले नैतिक युग की सृष्टि हो सकती है, जिससे विश्वसमर की विभीषिकाओं और आर्थिक, सामाजिक संघर्षों के फलस्वरूप प्रोत्पन्न संकट और क्रान्ति के कारण मनुष्य के आशावाद और समन्वयवादी कल्पनावाद पर ठेस लगी है। सत्य है कि मानव उभयविध है—उसमें बौद्धिक और भावनात्मक दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ हैं। शास्त्र की आवश्यकता इसीलिए होती है कि मनुष्य सत्य को जानकर तदनुकूल व्यवहार करे। केवल अतर्कणावाद की घोषणा से काम नहीं चलेगा। मानव का पुरुषार्थ इसी में है कि वह अपनी अभिरुचियों और इच्छाओं का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर बौद्धिक रूप से विचार कर उनका उपयोग करे। जो ऐसा नहीं करता, उसके लिए समाज ने और राष्ट्र ने दण्ड की व्यवस्था की है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, घृणा, भय आदि मानव प्रवृत्तियों को सम्यक् रूप से व्यवस्थित कर, इनके अनिष्टकारी स्वरूप का दण्ड द्वारा दमन कर ही समाज और राज्य टिक सकते हैं। यदि मानव भोगवादी और प्रवृत्तिप्रधान है तो उसमें तार्किक बौद्धिकता भी है। अपनी प्रवृत्तियों की उद्दामता का नियंत्रण ही मानव की श्रेष्ठता प्रतिपादित करती है। इसके लिए आवश्यक है कि तर्क, बुद्धि, चेतना आदि के द्वारा प्रवृत्तियों का निरोध और निग्रह होना चाहिए[२]।

प्रारम्भिक अवस्था में यह निग्रह बाह्य शक्तियों के द्वारा किया जाता है। बालक की अकल्याणकारी इच्छाओं का निरोध माता-पिता या परिवार के अन्य लोग करते हैं। फिर उसके बाद धार्मिक, सामाजिक और राजकीय निरोध और नियंत्रण का समय आता

---

१. Hobhouse, Liberalism; Hans Morgenthau, Sceintific Man and Power Politics.

२. अनूपवादो अनूपघातो पातिमोक्खे च संवरो।
मत्तञ्ञुता ता च भत्तस्मिं पन्तं च सयनासनं।
अधिचित्त च आयोगो एतं बुद्धान सासनं। —धम्मपद १४।७।

है। किन्तु मानव की आदर्श-अवस्था यह होगी कि आत्मनिरोध को ही वह साध्य माने[१]। जब मनुष्य यह समझ ले कि समस्त मानव साध्य हैं, सबके जीवन का एक निर्दिष्ट लक्ष्य है, प्रत्येक का एक गन्तव्य स्थान है और सामूहिक हित की रक्षा और अभिवृद्धि के लिए प्रत्येक की आवश्यकता है तब ऐसी अवस्था में आत्मनियंत्रण ही महान् सूत्र हो जाता है। परमार्थसाधन के अनेक आवश्यक नियम जो प्रारम्भ में विषवत् मालूम पड़ते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि उनके बोझ से व्यक्तित्व टूट गया, वे ही अधिक ज्ञान के बाद आवश्यक मालूम होते हैं। इसलिए कर्मयोग का मार्ग यह बताता है कि धर्म, समाज और राज्यव्यवस्था के निर्दिष्ट कर्मों को अवश्य करना चाहिए।[२] इस प्रकार यदि प्रत्येक मानव अपना-अपना कर्म करेगा तो निस्सन्देह श्रेय और अभ्युदय की सिद्धि होगी। किन्तु यदि मनुष्य व्यवसायात्मिका बुद्धि से यह निर्णय करे कि कुछ व्यवहार अतर्कसंगत हैं, या सर्वहितसाधक न होकर, किसी शोषक वर्ग के समर्थक हैं तो ऐसी अवस्था में समाज और राज्य का विरोध करना भी उसका परम कर्त्तव्य है। स्वतन्त्रता की अभिलाषा और उसकी सिद्धि का अनुसंधान ही मानव को कृतार्थता प्राप्त कराते हैं। यह तभी संभव है जब अप्रतिहत अप्रतिरुद्ध गति से मानव अपने व्यक्तित्व का विकास करता हुआ, अविवेकपूर्ण इच्छाओं, वासनाओं और अभिरुचियों का सम्यक् निरोध करता हुआ, अपनी व्यवसायात्मिका बुद्धि से परमार्थ का साधन करे। जहाँ तक सामाजिक और राजनीतिक कर्मयोग इस परमार्थ साधन में सहायक हो, वहाँ तक उसे अवश्य स्वीकार करे, किन्तु आत्मा के साथ विरोध होने पर "यथा इच्छसि तथा कुरु" के महान् मंत्र के अनुसार अपना कर्त्तव्य निर्णय करे[३]।

कृत्स्नं हि शास्त्रमिदं इन्द्रियजयः।
तद्विरुद्धवृत्तिरवश्येन्द्रियश्चातुरन्तोऽपि राजा सद्यो विनश्यति।
एते चान्ये च बहवः शत्रुषड्वर्गमाश्रिताः।
सबन्धुराष्ट्रा राजानो विनेशुरजितेन्द्रियाः॥
शत्रुषड्वर्गमुत्सृज्य जामदग्न्यो जितेन्द्रियः।
अम्बरीषश्च नाभागो बुभुजाते चिरं महीम्॥ (अर्थशास्त्र १।६)

१. विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव
यद्भद्रं तन्न आसुव। (यजुर्वेद, ३०।३)

२. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ (यजुर्वेद, ४०।२)

३. विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु। (गीता, १८।६३)

चतुर्थ अध्याय

समाज

मानव-जाति का क्रमबद्ध इतिहास मानव-समाज के विकास का इतिहास है। प्राथमिक मानवों की कैसे उत्पत्ति हुई और किस प्रकार उनका विकास हुआ, यह विषय प्राणिशास्त्र और प्राचीन मानवशास्त्र में वर्णित होता है। महाभारत में तथा दीघनिकाय के अग्गञ्ञ सुत्त में राजकीय व्यवस्था के पूर्व मनुष्यों की पीड़ा और कष्ट, उत्पात आदि का उल्लेख आता है। भारतीय साहित्य में मत्स्यन्याय और यूरोपीय साहित्य में प्राक्सामाजिक प्राकृतिक अवस्था का वर्णन आता है। किन्तु वह अवस्था भी अकेले रहनेवाले मनुष्य का वर्णन नहीं है। जब मानव शिकार या अन्य आकस्मिक उपायों से जीवन-यापन करता था, उस समय भी वह झुंड या श्रेणी या समूह में रहता था। अबतक दुनिया में प्राचीन मानवों के जो अवशेष मिले हैं, उनसे मनुष्य की सामूहिकता ही प्रमाणित होती है। शनैः शनैः बर्बरता और असभ्यता की अवस्था को छोड़कर कृषिकर्म और ग्रामनिर्माण के सहारे मानव-सभ्यता का विकास हुआ। शारीरिक बल और आयुध-कौशल के प्राबल्य के बदले सामाजिक नियंत्रण और राजकीय दण्डविधान की व्यवस्था हुई। शनैः-शनैः मिस्र, बाबुल, भारत, चीन आदि में बड़ी-बड़ी सभ्यताओं का सूत्रपात और विकास हुआ। समाज का विकास मनुष्य की समूहशीलता का यादृच्छिक परिणाम था। मानव-सम्बन्धों और अन्तःक्रियाओं के स्वाभाविक विकास और घनीभाव का यह प्रतिफल था। मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति ही समाज के निर्माण का मूल है, यद्यपि उत्तरोत्तर श्रेय की प्राप्ति ही इसका लक्ष्य होना चाहिए[1]। मानव के, अन्य मानवों के साथ अत्यन्त स्वाभाविक पारस्परिक जो सम्बन्ध हैं और उनके कारण जो अन्तःक्रियाएँ होती हैं, उनके समन्वित एकत्रीकरण का ही नाम समाज है। जिस

१, तुलनीय, Aristotle, Politics III, ६ : ".... man is by nature a political animal. And therefore, men, even when they do not require one another's help, desire to live together ; not but that they are also brought together by their common interests in proportion as they severally attain to any measure of well-being. This is certainly the chief end, both of individuals and of states. And also for the sake of mere life mankind meet together and maintain the political community. And we all see that men cling to life even at the cost of enduring great misfortune, seeming to find in life a natural sweetness and happiness"

अर्थ में एक पहाड़ या एक गृह या एक पत्थर-निर्देश्य, स्पष्ट, तत्त्वतःपरिग्रहणीय सत्ता है। उस अर्थ में समाज एक तात्त्विक एकरसात्मक सत्ता नहीं है। मानव, एकरस सत्ता है और उसका तात्त्विक निर्देश किया जा सकता है। यदि कोई पूछे कि अमुक नाम का मनुष्य कौन है तब उसकी ओर अंगुली-निर्देश कर सकते हैं। इस प्रकार की अंगुली-निर्देशनीयता तथा तात्त्विक सत्ता के रूप में इन्द्रियग्राह्यता समाज के लिए संभव नहीं है। जब अनेक मानव एक साथ रहते हैं, तब उनके पारस्परिक सम्बन्धों से ही समाज बनता है। मानव समाज की इकाई है और समाज के बिना वह पूरा विकसित मनुष्य नहीं हो सकता। समाज का विकास मूलतः परिवार पर आश्रित है और परिवार रक्तसम्बन्ध पर आधारित है[1]। समाज के विकास के साथ-साथ रक्त-विहीन सम्बन्ध भी काफी स्थापित हो जाते हैं; किन्तु वेदकालीन गोत्र और जन या प्राचीन अमरीकानिवासियों के 'गेन्स' रक्त पर आश्रित थे[2]। उस समय एक समूह में रहनेवालों का विश्वास था कि किसी मूल मनुष्य के वे वंशज हैं।

मानव के विकास में निस्सन्देह समाज का बड़ा स्थान है। समाज, मानव की अपेक्षा बृहदाकार तथा अधिक कालव्यापी है। इतिहास, धर्म और संस्कृति का परि-रक्षण और परिवहन भी समाज के द्वारा ही हो सकता है न कि एक व्यक्ति के द्वारा चाहे वह स्वयं कितना भी महान् क्यों न हो। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए गीता में कहा है कि प्रजापति ने यज्ञ के साथ ही प्रजाओं की सृष्टि की[3]। लोक की कल्पना इसी विराट् भावना की सूचिका है।

किन्तु समाज की कोई स्वतंत्र सत्ता है अथवा वह मानव संघात के लिए एक प्रयोगमात्र या नाममात्र है, इस विषय पर बड़ा विवाद चलता रहा है। समाज-सत्तावादी और सावयववादी सामाजिक प्रक्रियाओं पर बल देते हैं। अगस्त कोम्ट

---

१. Althusius, Novicow आदि समाज की रक्ताश्रितता के समर्थक हैं।

२. F. Engels, The Origin of the family, Private Property and State..

३. सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् । गीता ३। १०-११, १४-१५

ने सामाजिक एकमत्य, दुर्खायम ने संस्थाओं और उनकी प्रक्रियाओं की बाह्यता और नियंत्रणकारिता, 'मार्क्सवेबर' ने सामाजिक कर्म, तथा सिमेल ने सामाजिक अन्तर्क्रिया, का जोरदार वर्णन किया है[१]। इन प्रक्रियाओं से समाज का स्वतंत्र अस्तित्व सिद्ध होता है। इसके विपरीत, समाज एक नाममात्र या सामान्यमात्र है, ऐसी धारणा रखनेवाले समाजशास्त्री वैयक्तिक और मानसिक प्रक्रियाओं का उल्लेख करते हैं। गिडिंग्स ने 'जाति-चैतन्य' तथा गैब्रियल टार्ड ने अनुकरणवृत्ति के सहारे समाज के परिनिर्माण का क्रम बताया है[२]। समाज के सम्बन्ध में यथार्थसत्तावादी और नाममात्रवादी, इन दलों का संघर्ष समाप्त हो जाय, यदि हम समझ लें कि न तो समाज का निर्माण नाना मनुष्यों के बिना हो सकता है और न मानव समाज के बिना रह सकता है[३]।

प्राचीनकाल में सामाजिक भावना का प्राधान्य था। बुद्ध, सुकरात, प्रोटागोरास आदि व्यक्तिवादियों के बावजूद लोकनिर्वाह, लोकयात्रा, लोकसंग्रह आदि भावनाओं और आदर्शों का प्राधान्य था। भारतीय सभ्यता का मूल, धर्म, आनन्द, तपस्या, ज्ञान, निःश्रेयस्, निर्वाण, कर्मयोग आदि विराट् उपादेयों की उपासना में था। यूनान में समन्वय और कलात्मक सौन्दर्य की अनुभूति पर बल था। आधुनिक वैज्ञानिक और यांत्रिक युग में आर्थिक व्यापारिक, अधिकारवादी आदर्शों का प्राधान्य है। आज की सभ्यता में वस्तुनिष्ठता और आत्मनिष्ठता में गहरा संघर्ष है[४]। एक ओर तो मानव-जीवन को सुखमय बनानेवाले साधनों का अपरिकल्पित एकत्रीकरण है और दूसरी ओर है मानव का अतृप्त आशावाद। प्राचीन काल में जातिधर्म, कुलधर्म, जनपदधर्म और स्वधर्म की महती परम्परा थी[५]। आज विज्ञान और प्रजातंत्र के युग में वैयक्तिक अधिकारवाद का प्राबल्य है; परन्तु दूसरी ओर इनकी प्रतिक्रिया में अधिनायकवादी देशों में समूह प्रकृष्टता का अभूतपूर्व अतिरेकपूर्ण विशदीकरण भी प्राप्त होता है[६]। अतएव कुछ अंश में हम प्राचीन और आधुनिक समाज में एक महान् अन्तर पाते हैं। प्राचीन भारत के वर्णाश्रम धर्म ने और यूनान की नगर-व्यवस्था ने भी, समाज को सर्वमान्य

१. E. W. Burgess "Research Methods in Sociology", Twentieth Century Sociology पृष्ठ २०-२१।
२. E. W. Burgess, वही, Consciousness of kind, जाति का चैतन्य।
३. Realism यथार्थसत्तावादी तथा Nominalism, नाममात्रवादी
४. T. G. Masaryk, The Making of a State.
५. Sri Aurobindo, The Ideal of Human Unity पृष्ठ २२१।
६. Finer, Mussolini's Italy; F. Neuman, Behemoth; Sidney and Beatrice Webb, Soviet Communism.

नैतिक, भावनात्मक और संकल्पात्मक वृत्तियों से संश्लिष्ट माना था। आधुनिक पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित समाजों में विधिविहित अनुबंधवाद तथा व्यक्तितिरोभावकारी, तर्कसम्मत सम्बन्धवाद का प्राबल्य है[1]। संक्षेप में, प्राचीन समाज एक समष्टि था जिसके भीतर कुछ ज़बरदस्त आपसी मेलजोल के चिह्न थे। आधुनिक समाज तर्क और बुद्धि के आधार पर सब चीज को नियंत्रित करता है[2]। जो अन्तर मैं बता रहा हूँ, उसका स्पष्ट दर्शन करने के लिए एक भारतीय ग्राम की व्यवस्था तथा कलकत्ता अथवा किसी अन्य बड़े निगम की व्यवस्था का समाजशास्त्रीय अन्तर ध्यान में रखना चाहिए। इसी अन्तर को बताने के लिए जर्मन-भाषा में भावनात्मक आधार पर निर्मित संघ के लिए 'गेमाइनशाफ्ट' और विधि-आश्रित समाज के लिए 'गेजेलशाफ्ट' शब्द का प्रयोग किया जाता है[3]। इस अन्तर को व्यक्त करने के लिए लुडविग स्टायन ने 'कम्यूनिटि' और 'सोशायटी' में पार्थक्य बताया है[4]। श्री अरविन्द ने सावयव समाज तर्काश्रित समाज और डुरर्वायम ने भौतिक घनीभाव और सावयव घनीभाव का पार्थक्य व्यक्त किया है[5]।

समाज एक समग्रता है और विशिष्ट उपादानों के द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होती है। समाज का भौतिक रूप सम्बन्धग्राही भावोपेत मनुष्यों के द्वारा निर्मित होता है। इसका आध्यात्मिक रूप विज्ञान, कला, धर्म, दर्शन आदि के द्वारा व्यक्त होता है। समाज एक क्रियाशील समग्रता है और इस क्रियाशीलता के पीछे वर्तमान आध्यात्मिक आधार की स्वीकृति, दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की विशेषता है। अन्य भौतिक वस्तुओं के समान समाज का भी देशकालव्यापी एक स्वरूप है; किन्तु एक केन्द्रीय एकता भी समाज में स्पष्ट वर्तमान है और विधि, राजनीति, संस्कृति में इसका प्रकाशन होता है। कालिदास, शंकर, चैतन्य, संग्राम सिंह के पीछे भारतीय समाज की एकता व्यक्त रही है, जैसे शेक्सपियर, मिल्टन, पिट, ग्लैडस्टोन के पीछे इंगलैण्ड के समाज की और एक्वायनास, डांट, मेजिनी के पीछे इटली के समाज की चेतना व्यक्त हो रही है। इस प्रकार की केन्द्रीय एकता के द्वारा अभिव्यक्त महान् आदर्शवाद, कोई रहस्यमयी

१. E. Durkheim, The Division of Labour.

२. Max Weber, The Theory of Social and Economic Organization.

३. F. Tonnies, Gemeinschaft und Gesellechaft (अंग्रेजी अनुवादकर्त्ता C. P. Loomis).

४. Ludwig Stein; Die Soziala Frage in Lichte der Philosophie.

५. Sri Aurobindo—Organic Society and Rational Society.
E. Durkheim:—Material Density and Organic Density.

सत्ता नहीं है, अपितु इतिहास के सम्मिलित विकास के द्वारा संचित अनुभवों की राशि है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र के द्वारा उद्घोषित यह केन्द्रीय एकता कोई प्रहेलिका या जगदात्मा का घनीभाव नहीं है, अपितु ऐतिहासिक अनुभवों और संघर्षों से उत्पन्न एक अभौतिक ज्ञान-संघात है--अभौतिक से तात्पर्य अतीन्द्रिय संसारातीत सत्य से नहीं है, अपितु यह बताना है कि यह ज्ञानसंघात समाज के निवासी मनुष्यों के मन में रहता है और उसी के सहारे व्यक्त होता है।

यद्यपि पुरुषसूक्त और उपनिषदों में मानव और वर्णादि की दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत आता है और यद्यपि गीता में कहा है कि चारों वर्णों की गुणकर्मस्वभावतः सृष्टि ईश्वर के द्वारा हुई है, तथापि ऐतिहासिक दृष्टि में देखने पर मालूम होता है कि वेदकाल में ग्रामों के आधार पर ही विशः की रचना हुई थी। उस समय की जनता पाँच जनों में विभाजित थी, ऐसा भी उल्लेख आता है। 'मोहन्जोदारो' और 'हरप्पा' की सभ्यता नागरिक थी, किन्तु वैदिक सभ्यता ग्राम के आधार पर बनी थी। ग्राम से विशः और विशः से राष्ट्र बनते थे। यद्यपि इतिहास की दृष्टि से इस प्रकार का विकास-क्रम सूचित होता है, तथापि भारतीय आदर्शवादी परम्परा में समाज व्यवस्था भी ईश्वर निर्मित है, ऐसा विचार काफी प्रचलित रहा। आज का भारतीय समाज अनेक प्रकार के बाह्य प्रभावों से प्रभावित हो रहा है। प्राचीन हिन्दू सभ्यता के अवशेष और सांस्कृतिक परम्परा के अतिरिक्त अन्य विचारधाराएँ भी आज वर्तमान हैं। आशा दिखती है कि अब भारत में एक नया समाज बनेगा जो प्रजातंत्र, गांधीवाद, साम्यवाद, अधिकारवाद की विचारधारा से अधिक प्रभावित रहेगा।

यूनानी सभ्यता नगरों के आधार पर बनी थी। व्यवहार और सिद्धान्त में यूनानी नगर, सदैव धार्मिक, राजनीतिक, नैतिक, सामाजिक समष्टि था। जीवन के विभिन्न विभागों का पूरा वर्गीकरण--कि यह राजनीतिक है और यह आर्थिक,--अभी यूनान में नहीं हुआ था। यों कह सकते हैं कि यूनान में समाज और व्यक्ति में उस पार्थक्य की भावना नहीं थी जिसका उल्लेख स्पन्सर तथा अराजकतावादियों में पाया जाता है। यूनानियों के लिए समाज केवल एकत्रीकरण की एक संस्था न थी; किन्तु एक समष्टि था[1]। इसलिए 'अरस्तू' ने कहा है कि 'पोलिस' एक कोयनोनिया है। कोयनोनिया का अर्थ है—समानभावानुमोदित समष्टि। नगर, सर्वसमन्वयकारी, सर्वश्रेष्ठ "कोयनोनिया" था। समाज और राज्य का भेद जो प्रजातंत्रवादी राजनीतिशास्त्र का मुख्य शिक्षण है, वह भी यूनानी विचारधारा में नहीं पाया जाता। प्लेटो और अरस्तू के अनुसार नागरिकों के मनों की समष्टि में ही मानव-जीवन की पूर्णता प्राप्त हो सकती है। जब अनेक मनुष्यों का मन पारस्परिक सन्निधि और सहसम्बन्ध

१. Bosanquet: Philosophical Theory of the State, पृष्ठ--६

में रहता है, तभी मानव-चेतना का सम्यक् उद्बोध हो सकता है। अन्योन्याश्रयी सम्बन्ध ही समाज का आधार है। समाज के प्रकृष्ट महत्त्व को स्वीकार कर ही प्लेटो ने बताया कि किसी मनुष्य को श्रेणी को अपना निजी स्वार्थ सिद्ध न कर समष्टिगत कल्याण की कामना और उपासना करनी चाहिए।[१] जिस प्रकार किसी कलात्मिका कृति की सौन्दर्यानुभूति का आधार उसकी पूर्णता का दर्शन है, अर्थात् पूरी कृति से क्या भावना व्यक्त होती है, ऐसा देखा जाता है न कि अंग विशेष कैसा है, उसी प्रकार समग्र नगर के सुख और हित का ध्यान रखना ही मंगलकारी पुरुषार्थ है।[२] अनेक मनुष्यों की मानसिक अन्योन्याश्रयिता का संदेश देते हुए भी 'प्लेटो' या 'अरस्तू', कोई स्वतंत्र सामाजिक आत्मा या मन है और उसकी स्वाश्रयी तात्विक सत्ता है, ऐसा विचार नहीं रखते[३]। किन्तु प्लेटो और अरस्तू के विचारों से इतना स्पष्ट है कि वैयक्तिक स्वार्थों का अतिक्रमण किये बिना पूरा समाज एक है, ऐसी भावना उत्पन्न नहीं हो सकती। वैयक्तिक हितों का गणित की प्रक्रिया से योगकरण कर सामाजिक हित नहीं प्राप्त हो सकता, अपितु समष्टिगत कल्याण का एक उदात्त आदर्श रखकर निज-निज के कर्तव्य सारे मनुष्य करते जायँ, तभी सामष्टिक हित सिद्ध होगा, ऐसी मान्यता यूनानी राजनीतिशास्त्र की देन है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र मन पर बल देता है। मानव-ज्ञान और क्रिया, बन्ध और मोक्ष का कारण मन है। अतएव मन को समाजीकृत करना और उसमें अन्तर्निहित शक्तियों का परमार्थनिमित्तक विकासकरण, ये आवश्यक कर्तव्य हैं। यूनानी राजनीतिशास्त्र जो दर्शन पर आधारित था, शिक्षा पर पूरा ध्यान देता है क्योंकि शिक्षा से ही मन का विकास और रूपान्तर होता है।

प्रजातंत्रवादी समाज व्यवस्था को अधिकतम अंश में सर्वभूतात्मभूतत्त्व का आदर्श रखना पड़ेगा। काण्ट के महान् मंत्र-मानव लक्ष्य है, उपकरण नहीं—की सिद्धि, प्रजातंत्रीय समाज और राज्य में ही हो सकती है, अन्य नहीं[४]। यूनानी राजनीतिशास्त्र

१. Republic, चौथा अध्याय।
२. इस विचार की व्याख्या के लिए द्रष्टव्य Bosanquet, The Priniciple of Individuality and Value पृष्ठ ३१३-१५।
३. Nettleship, Lectures on the Republic of Plato पृष्ठ ३३० तथा Barker, Greek Political Theory, प्लेटो का हेगेल की शब्दावली और विचारधारा के अनुसार भ्रामक विवेचन करते हैं।
४. Kant, Fundamental Principles of the Metaplysic of Morals (Abbott edition) पृष्ठ ५२-५३ "For all rational beings come under the law that each of

की यह बड़ी देन है कि समष्टिगत कल्याण की जबर्दस्त चेतनाप्राप्ति का बड़ा जोरदार समर्थन इसमें हुआ है, किन्तु इसकी कमियाँ भी स्पष्ट हैं। मानववाद की पूरी अभिव्यंजना यूनानी राजनीति में नहीं है। प्रत्येक मानव आत्मा है, मानव मानवत्व के कारण ही आत्मिक स्वातंत्र्य का वाहक है, ऐसा उपदेश वहाँ नहीं मिलता। अरस्तू ने कहा है कि कुछ मानव स्वभावतः शासकवृत्तिसम्पन्न हैं और उन्हें शासनाधिकार है, किन्तु कुछ स्वभावतः दासप्राण हैं और उन्हें अपने कल्याण की प्राप्ति दास रहने में ही है। प्रजातंत्रवाद के, सब मनुष्य समान हैं। न बातों को सुनने के अभ्यस्त हमलोगों को कभी-कभी अरस्तू पर बड़ा क्रोध भी आ जाता है। दार्शनिक वह है जो विचारात्मक चैतन्य से युक्त हो। स्वार्थ से प्रभावित हो, दास-प्रथा का समर्थन मतवादियों के लिए समीचीन है, दार्शनिक के लिए नहीं। मानव का मनोवैज्ञानिक आधार पर शासक और दास में वर्गीकरण, दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से हेय विचार है। यूनानी नगर सर्वग्राही था और इसीलिए वह धार्मिक, राजनीतिक, नैतिक समष्टि था। आज की दुनिया में सामाजिक और राष्ट्रिय अधिकार में उन्हीं वस्तुओं का परिगणन करना अभीष्ट है

---

them must treat itself and all others never merely as means, but in every case at the same time as ends in themselves. Hence results a systematic union of rational beings by common objective laws i. e., a kingdom which may be called a kingdom of ends, since what these laws have in view is just the relation of these beings to one another as ends and means. It is certainly only an ideal. A rational being belongs as a member to the kingdom of ends when, although giving universal laws in it, he is also himself subject to these laws. He belongs to it as sovereign when, while giving laws, he is not subject to the will of any other... Now morality is the condition under which alone a rational being can be an end in himself, since by this alone it is possible that he should be a legislating member in the kingdom of ends. Thus morality, and humanity as capable of it, is that which alone has dignity."

जा अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करती हैं। विश्वास और धर्म व्यक्ति की निजी चीज है। यदि कोई समाज या राज्य यह नियंत्रित करने का प्रयत्न करे कि किस देवता की मैं उपासना करूँ या किस धर्मग्रंथ को पढ़ूँ या किसको न पढ़ूँ तो मैं अवश्य उसका विरोध करूँगा। आज की दुनिया में धर्म और राज्य का एकीकरण प्रतिक्रियावादी विचार माना जाता है। किन्तु यूनान की विचारधारा में धर्म और समाज या धर्म और राज्य का स्पष्ट पृथक्करण नहीं हुआ था। अतएव यूनानी राजनीतिशास्त्र की मुख्य देन—सामाजिक हित और चैतन्य पर बल देना—को स्वीकार करते हुए भी उसकी जबर्दस्त कमियों को देखते हुए, उसके गुणदोष का सम्यक् विवेचन होना चाहिए।

यूनानी समाजसंबंधिनी विचारधारा से रूसी और जर्मन विज्ञानवादी बहुत प्रभावित थे। फिख्टे ने तो कहा कि सामष्टिक जीवन के अभाव और शासकों की स्वार्थपरता से ही जर्मनी राष्ट्र का रूप नहीं धारण कर सकी। यूनानी विचारधारा में जो समष्टि की अभिव्यंजना हुई थी और जिसका पुनस्समर्थन रूसो ने किया था, उस समष्टिवाद का, फिख्टे ने फिर से प्रतिपादन किया। किन्तु समष्टि को दैवी शक्ति से उद्भूत बताकर, व्यक्ति का एकमात्र कर्तव्य समष्टि को आत्म-समर्पण है, ऐसा भी उसने कहा। उसकी शिक्षाओं का प्रभाव जर्मनी में उग्र राष्ट्रवाद के प्रचार पर पड़ा, परन्तु समाज की रचना का कोई इतिहाससम्मत युक्तिपूर्ण विचार वह नहीं प्रस्तुत कर सका। हेगेल के मतानुसार मानव की स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति सामाजिक वृत्तों से एकाकारता में होती है। परिवार में मानव अपनी उद्दाम स्वार्थैषणा का परित्याग कर, कुछ लोगों से अपना तादात्म्य स्थापित करता है। नागरिक समाज में अर्थ की प्राप्ति के लिए पूग, श्रेणी आदि का निर्माण होता है और इनसे एकाकारता कर ही मानव के व्यक्तित्व का विकास होता है। नागरिक समाज का विकास यूरोपीय पुनरुत्थान के बाद हुआ। पुलिस, विधि, न्याय की व्यवस्था हेगेल के मत में नागरिक समाज के अन्तर्गत है। कृषिकर्म, व्यापार और वैश्यवृत्ति तथा राजकीय नौकरों का समाज ही नागरिक समाज का निर्माता अंग है। अतएव विभिन्न सामाजिक व्यापारों के द्वारा आवश्यकतापूर्ति, न्यायालयों के द्वारा अधिकार और कानून की व्यवस्था और पुलिस के द्वारा सुरक्षा स्थापित करना नागरिक समाज के मुख्य कार्य हैं। समाज के लिए उपयोगी कर्मों के पालन के द्वारा ही मानव अपनी प्राकृतिक सीमाओं और प्रतिबंधों का अतिक्रमण करता है, यह ठीक है। अतिरेकपूर्ण, भावनात्मक, आकस्मिक-वृत्तियों के संलाभ पर बल देनेवाले व्यक्तिवाद के विपरीत परिवार और नागरिक समाज की आवश्यकता पर बल देना, हेगेल की एक देन है। किन्तु नागरिक समाज के हाथ में पुलिस और न्याय को सौंपना ठीक नहीं, क्योंकि इन कामों को राज्य ही समुचित प्रकार से कर सकता है

समष्टि की नैतिक चेतना की विचारधारा का जो सूत्रपात यूनान में हुआ था और जर्मनी के राष्ट्रवाद के पोषण में जिसका उपयोग फिख्ट और हेगेल ने किया, उसे अंगरेजी प्रजातंत्रवाद और मुख्यतः उदारता से मिलाने का यत्न ग्रीन, ब्रैडले, बोसांक्वेट आदि ने किया। यूरोपीय इतिहास के आधार पर ग्रीन ने यह बताया कि धार्मिक शिक्षा और सामाजिक संस्थाओं के सहारे मानव की नैतिक और तार्किक चेतना का विकास हुआ है। मानव का आत्मचैतन्य शाश्वत परम चैतन्य का ही प्रकाश है और राजनीतिक समाज में मानव चैतन्य का विकास होता है[1]। समाज द्वारा प्रतिपादित कर्तव्यों का पालन कर ही मानव नैतिक संज्ञा का अभिज्ञान कर सकता है। मानव के अन्दर निहित संकल्प और तर्क की शक्तियों का पूर्ण प्रस्फुटीकरण सामाजिक संस्थाओं के सहारे ही हो सकता है। अतएव समाज की अत्यन्त आवश्यकता है। वस्तुतः मानव और समाज में गहरा सम्बन्ध है। समाज के द्वारा ही वे लक्ष्य और कर्मानुप्रेरण प्राप्त होते हैं जिन्हें सम्पन्न कर मानव को अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व का भान होता है और स्वतंत्र मानवों का स्वेच्छापूर्ण प्रतिपन्न लक्ष्य ही, समाज के विराट् आदर्शवाद के स्वरूप को स्पष्ट करता है। ब्रैडले ने भी समष्टि को नैतिक सावयव तथा वास्तविक नैतिक प्रत्यय कह कर इस विचार का समर्थन किया कि मनुष्य अपने पद (या आश्रम) के उचित कर्तव्यों को पूराकर ही कृतार्थता प्राप्त कर सकता है[2]।

समाज केवल आर्थिक भावना और प्रेरणा पर आधारित एक विनिमयसंयोजक समूह नहीं है, अपितु एक नैतिक समष्टि है। इस विचार को पुष्ट करना ग्रीन और ब्रैडले का एक देन है। उनकी विचारधारा की चरम परिणति 'बोसांक्वेट' में हुई जिसने हेगेलवाद का उच्चतम अंग्रजी रूप प्रस्तुत किया। मिल और स्पेन्सर के व्यक्तिवाद का खंडन कर बोसांक्वेट ने समाज के मानसिक और नैतिक स्वरूप का वर्णन किया। यह ठीक है कि किसी भी समाज, या संस्था या परिषद् के लिए देशकाल व्यापी कोई अस्तित्व अवश्य होना चाहिए। समाज, आकाश में या सनु या पाताल में नहीं बन सकता। पृथ्वीतल पर एक समुदाय विशेष की उपस्थिति, समाज-निर्माण के लिए बहुत आवश्यक है। किन्तु समाज के लिए मानव-मस्तिष्क के द्वारा उपस्थित विचारों और नैतिक आदर्शों की भी आवश्यकता है। जिस प्रकार उपस्थित प्रतिरोधों या कठिनाइयों के समाधान के लिए वैज्ञानिक सिद्धान्त निर्मित होते हैं, उसी प्रकार मानव के लिए जो आवश्यकताएँ उत्पन्न होती हैं, उनकी पूर्ति के लिए समाज और राज्य का विकास होता है। अधिकतम

१. T. H. Green, Prolegomena to Ethics; J. H. Muirhead, Service of the State.

२. F. H. Bradley, Ethical Studies पृष्ठ २००-२०१।

तर्कसंगत प्रणाली से मानव आवश्यकताओं का पूर्तिकरण ही समाज का नियामक सूत्र है। अतएव कह सकते हैं कि समाज चेतन मनुष्यों के सहयोग और परस्पराश्रयिता का फल है। मानव मन के संघात का बाह्यीकरण और शरीरधारण ही समाज है। जहाँ केवल अनेक मानवों का एकत्रीकरण मा है, वहाँ समाज का निम्नतम रूप है। किन्तु जब इन मनुष्यों में चैतन्यपूर्ण मानसिक और आध्यात्मिक सन्निकर्ष का बोध हो तब कह सकते हैं कि समाज के उदात्त रूप का प्रकटीकरण हुआ है। यद्यपि समाज में अनेक श्रणियाँ रहती हैं जिनकी आन्तरिक व्यवस्था में एक प्रकार के क्रमबद्ध जीवन का यापन होता है तथापि समाज के लिए समग्र व्यापी एक सामान्य नियामक सिद्धांत की आवश्यकता होती है। व्यक्ति और समाज को दो-संघर्षशील इकाइयों के रूप में देखना ठीक नहीं है। गहराई से देखने पर विदित होता है कि 'अनुभव-संतान' एक ही है। समग्रता के रूप में यह अनुभवसंतान समाज है और पार्थक्य या विभिन्नता की दृष्टि से व्यक्ति है। नियंत्रण और प्रतिबंध के बदले यदि दृढ़ आत्मिक चैतन्य की भावना विकसित हो तो व्यक्ति और समाज का संघर्ष कम हो जायगा और व्यापक एकता का ही भान होगा। समाज के अन्तर्गत जो संस्थाएँ हैं, वे उस समाज में वर्तमान मनुष्यों की प्रवृत्तियों और इच्छाओं के स्पष्टीकरण है। अतएव आधुनिक जगत् की संस्थाओं का जो खण्डन रूसो ने किया है, वह बोसांक्वेट को मान्य नहीं है। केवल निर्विशेष एकता उसका आदर्श नहीं है, नानाविध पृथक्ताओं के बीच वर्तमान एकता ही उपादेय है। संस्थाएँ मानववृत्तियों के नानात्व को विकसित और केन्द्रित करती हैं। अतएव उनकी उपेक्षा या उनके प्रति औदासीन्य नहीं होना चाहिए। उनका भी अन्तर्भाव करते हुए जो नानात्वग्राहिणी एकता व्यक्त होती है, वही उपादेय है। अनेक प्रकार की संस्थाएँ—जैसे परिवार, सम्पत्ति, क्षेत्र, वर्ग, राष्ट्रराज्य, मानव मन के आदर्श का बाह्य स्पष्टीकरण करती हैं। इनमें परस्पराश्रयिता और अभिज्ञान का दर्शन होता है। बोसांक्वेट का ऐसा मन्तव्य है कि वयक्तिक मानव की भावनाओं और तर्कणाओं से अधिक उत्कृष्ट चेतना का दर्शन संस्थाओं में होता है; क्योंकि अनेक मानवों के विशिष्ट सम्बन्ध के द्वारा ही संस्थाएँ प्रजनित होती ह। मानव-जीवन में, संस्थाओं में और समाज में मन की प्रधानता होने के कारण सामाजिक प्रश्नों को जीवन और मन का सम्बन्ध समझना चाहिए।

वैयक्तिक मन और सामाजिक मन के सातत्य का वर्णन करते हुए बोसांक्वेट ने सामाजिक मन को यः एक सत्तात्मक रूप दिया है। समष्टि के वर्तमान मनुष्य, अनेक सामाजिक सम्बन्धों और आवश्यकताओं के निमित्त, जो कार्य करते हैं, उन कार्यों के पीछे उनकी मानसिक अन्योन्याश्रयिता का दर्शन होता है। इस प्रकार की अन्योन्याश्रयिता से ही 'सामाजिक मन' का विकास होता है। सामाजिक मन, वयक्तिक मन और जीवन से भिन्न कोई सत्ता नहीं है, अपितु उनके गहरे अन्तस्तल में वर्तमान नियामक बौद्धिक और

भावनात्मक एकता है। जब चेतन मानव-सहयोग के द्वारा कार्य करते हैं तब आपसी अभिज्ञान में इस सामाजिक मन या आत्मा का प्रत्यभिदर्शन होता है। जितने भी प्रभावोत्पादक तत्व किसी देश या काल में व्याप्त रहते हैं, उनके सम्मिलित प्रतिफल से ही सामाजिक वृत्त की रचना होती है। चेतन मानवों की इच्छा और संकल्प, और अनुबंध और आपसी अभिज्ञान की छाप, इस सामाजिक वृत्त पर अवश्य रहती है। यह सामाजिक वृत्त नैतिक भावापन्न भी है। सर्वसामान्य के कल्याण की प्रेरणा इसमें अवश्य वर्तमान रहती है। बोसांकेट आदि की मान्यता है कि इस प्रकार की कल्याणकामिता, मानव को अपने वास्तविक उच्च स्तर का ज्ञान कराती है और इसके सहारे अन्यों के स्वरूप का भी उसे अच्छा और प्रसारित ज्ञान प्राप्त होता है। जबतक मानव अहंकार-युक्त है तब तक वह अपनी प्राकृतिक एषणाओं से नियंत्रित होता है और उसकी वृत्ति अन्य मनुष्यों से विलगाव की होती है। परन्तु नैतिक चैतन्यसम्पन्न सावयव आत्मा परग्राही होता है।

सामाजिक मन या सामष्टिक आत्मा या सामूहिक वृत्त की कल्पना बड़ी आकर्षक मालूम पड़ती है; परन्तु इसमें स्पष्ट विचारशक्ति का अभाव मालूम पड़ता है। अनेक मानवों का ज्ञानात्मक और संकल्पात्मक घातप्रतिघात सतत वर्तमान रहता है, इसका खंडन कोई मनुष्य नहीं कर सकता। इस गतिशील मानसिक सम्बन्ध से ही हमारी मानव-वृत्तियाँ प्रकृष्ट और उदात्त होती हैं, ऐसा भी हम मानते हैं, परन्तु जिस प्रकार का एकत्व और पृथक्त्व वैयक्तिक मन में देखा जाता है, उसी प्रकार की पृथक् तात्त्विक सत्ता सामाजिक वृत्त की भी है, ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है। सामाजिक वृत्त एक सातत्ययुक्त आत्मैकत्वयुक्त तात्त्विक सत्ता है और अनेक विभिन्नताओं में उसका अभिव्यक्तिकरण हो रहा है, ऐसा कथन ठीक नहीं है।[१] सामाजिक मन, वैयक्तिक मनों के सन्निकर्ष से बनता है, इतना स्वीकार करना तो आसान है, किन्तु इस सामाजिक मन की एक पृथक् सत्ता है, ऐसा बोसांकेट का कहना, दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से भ्रमपूर्ण है। वैयक्तिक मन का आधार पार्थिव शरीर है। यह एक निश्चित स्पष्ट सत्ता है। किन्तु सामाजिक मन का भौतिक आधार, अनेक मानवों के शरीर के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। वैयक्तिक मन की ज्ञानात्मक और रागात्मक वृत्तियों के सहारे मानव अपने निगूढ़तम हृदयप्रदेश का यथातथ्य शीघ्र अवबोध प्राप्त करता है। किन्तु सामाजिक मन स्पष्ट, प्रत्यक्ष रूप से

१ J. H. Muirhead, "Professor MacIver's Criticism of the Idealistic Theory of the General Will" Mind, १९२८ पृष्ठ ८२-८७; R. M. MacIver, The Elements of Social Science, पृष्ठ १४२

अनेक मानों के हृदय-प्रवेश के सहारे कोई बोध नहीं प्राप्त कर सकता। अनेक हृदय के बीच अव्यवहित, प्रत्यक्ष चेतन सम्बन्ध की ज्ञाप्तिवा कोई तात्त्विक वस्तु अब तक प्राप्त नहीं हुई है। एक मानव का शरीरविशिष्ट मन, एक निश्चित काल तक, एक निर्दिष्ट स्थान में जन्म से मरण तक निवास करता है। उसमें एक तात्त्विक सातत्य है। किन्तु अनेक मनुष्यों के आधारभूत मनःस्वाधिष्ठानभूत शरीर राशियों में व्यवधान सर्वदा उपस्थित रहता है। अर्थात् जहाँ एक मानव रहता है, वहाँ वह सम्पूर्णतः विद्यमान है, किसी भी प्रकार का आवरण उसके अपने व्यक्तित्व के निर्माण-कारी तत्त्वों में नहीं है। किन्तु अनेक मानवों के बीच स्थान और काल की दृष्टि से हजारों व्यवधान उपस्थित सर्वदा होते रहते हैं। अव्यवहित होने के कारण, मानव का मन एकत्वमूलक है। नाना व्यवधानों और आवरण पदार्थों के कारण स्पष्टवाच्य, निर्देश्य, सामाजिक मन या सामूहिक आत्मा नामक कोई सत्ता विदित नहीं होती है। मानव का व्यक्तित्व एकता न कि समानता पर आश्रित है। बाल्यावस्था से मरण पर्यन्त, हम एक विशिष्ट मानव का जब निर्देश करते हैं, तब हम कहते हैं कि मोहन सिंह एक व्यक्ति है; हम यह नहीं कह सकते कि १९३८ में जिस मोहन सिंह को हमने देखा था, १९४४ का मोहन सिंह नामधारी व्यक्ति उसके समान है। किन्तु इस प्रकार का एकत्व प्रधारण सामाजिक वृत्त के सम्बन्ध में नहीं कहा जा सकता। देशकालादि की उपाधि से सीमित एक मानव का व्यक्तित्व पूर्णतः विनिश्चित है। अशोक एक व्यक्ति था जिसका स्पष्टवाच्य सुनिर्देश्य व्यक्तित्व था। लोकमान्य तिलक एक व्यक्ति था जिसका पूर्णतः निर्णीत एक व्यक्तित्व था। किन्तु यह कहना कि हिन्दू-समाज का एक निर्दिष्ट व्यक्तित्व है, भ्रामक है। हिन्दू-समाज में कतिपय समानताएँ हैं जो अनेक विभिन्नताओं के बीच भी इसको अन्य समाजों से पृथक् करती हैं, किन्तु हिन्दू-समाज या अन्य किसी समाज का एकत्वमूलक तत्त्वतः पृथक् एक व्यक्तित्व है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। व्यक्तित्व प्रकट करने का एक निश्चित आधार अपेक्षित है। एक मानव के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उसका व्यक्तित्व है। किन्तु एक वर्ग का व्यक्तित्व है, या एक श्रेणी का व्यक्तित्व है, ऐसी मान्यता करने के पहले उस वर्ग या श्रेणी में संवेदन-प्रक्रियायंत्र को बताना पड़ेगा। संवेदनप्रक्रिया की एकता ही व्यक्तित्व का मूल है। जब हम अपने प्रिय मित्र की मृत्यु का समाचार सुनते हैं तब स्तब्ध और शोकातुर हो जाते हैं। एक समाज में इस प्रकार की समसंवेदनात्मकता का आभास नहीं मिलता है। समाज में रहनेवाले अनेक व्यक्ति अनेक प्रकार से एक ही घटना के सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। इससे मालूम पड़ता है कि समाज के सम्बन्ध में मन, हृदय या व्यक्तित्व या आत्मा की कल्पना, रूपक की या आलंकारिक दृष्टि से समीचीन होने पर भी दार्शनिक दृष्टि से ठीक नहीं है। समाज में गुणात्मक

दृष्टि से समानता होते हुए भी सातत्यप्रदायिका एकता या परिगणनात्मिका एकता का अभाव है; क्योंकि समाज के निर्माण करनेवाले मनुष्य विभिन्न और अनेक हैं। कभी कभी ऐसा देखा जाता है कि जिस कल्याण की प्रेरणा, बाढ़ के हाहाकार से पीड़ित लोगों की दुर्दशा सुनकर एक मनुष्य में होती है, वैसी प्रेरणा अन्य संवेदनशील मनुष्यों में भी होती है; किन्तु कोशी के हाहाकार से दुखित मनुष्यों का इससे एक स्वतंत्र व्यक्तित्व या हृदय नहीं बन सकता। समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखने पर व्यक्त होता है कि अनेक व्यक्तियों और उनकी संस्थाओं, परिषदों, समितियों और वर्गों के सम्बन्धों और अन्तःक्रियाओं से ही समाज का निर्माण होता है और इस नानामुखता, बहुशाखिता तथा अनन्त संकल्पों के संघात से ही साधारण कार्य को सम्पन्न करने के लिए समाज की नीति बनती है। इस नीति के पीछे अनेक व्यक्तियों के संकल्पों के संघर्ष का इतिहास है, अनेक दलों के विभिन्न स्वार्थों के किसी प्रकार के समीकरण या समन्वय की चेष्टा है, न कि एक तात्त्विक निर्दिष्ट सातत्ययुक्त व्यक्तित्व का प्रतिफल।[१]

दार्शनिक राजनीतिशास्त्र नैतिक और आध्यात्मिक मानववाद का समर्थक है।[२] उच्चाशययुक्त मानव अपने आत्मिक व्यक्तित्व का विलक्षण विकास करके सामाजिक कल्याण और राजकीय हित को सम्पन्न करे, ऐसा इसका आदर्श है। जब हम सामाजिक वृत्त या सामाजिक मन की एक तात्त्विक सत्ता है, ऐसा विचार रखते हैं तब प्रकृष्ट चेतनासम्पन्न मानव का, समाज के विरोध करने का नैतिक अधिकार, कुंठित हो जाता है, क्योंकि इस विचारधारा में मानव एक क्षुद्र अवयवमात्र रह जाता है। जब राममोहन राय ने सतीप्रथा के विरोध में आन्दोलन किया, उस समय उनका घोर प्रतिवाद किया गया; किन्तु आज राममोहन समाज के महान् सुधारक माने जाते हैं।

१. A. F. Bentley, The Process of Government; V. O. Key, Politics, Parties and Pressure Groups.

२. तुलनीय, Kant, Critique of Practical Reason (Abbott edition) पृष्ठ १८०-१८१. "The moral law is holy. Man is indeed unholy enough; but he must regard humanity in his own person as holy. In all creations everything one chooses, and over which one has any power, may be used merely as means; man alone, and with him every rational creature, is an end in himself. By virtue of his freedom he is the subject of the moral law, which is holy. Just for this reason every will, even

अतएव ऐसी परिस्थिति में सामाजिक मन किसे कहा जाय ? इस प्रकार की मान्यता कि सामाजिक हृदय या व्यक्तित्व, एक मानव के हृदय या व्यक्तित्व की अपेक्षा अधिक ऊँचे स्तर पर रहता है, अधिक कल्याणप्रिय है या अधिक चैतन्ययुक्त है, इतिहास की दृष्टि से असिद्ध है। जिस समय जनक, बुद्ध और महावीर आर्यावर्त में उत्पन्न हुए थे, तब क्या उस समय का सामाजिक चैतन्य, इन महापुरुषों की अपेक्षा निम्न कोटि का नहीं था ? भारतीय सामाजिक इतिहास बड़े स्पष्ट और अभ्रान्तरूप में इस महान् सत्य की घोषणा करता है कि प्रकृष्ट चैतन्ययुक्त मानव ही आत्मिक और नैतिक व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति कर सकता है। जिस व्यावहारिक धर्मशीलता का उज्ज्वल प्रकटीकरण गांधी या स्वाइटजर में हुआ है, कौन-सा सामाजिक वृत्त उसको अभिव्यक्त कर सका है या भविष्य में कर सकेगा ?

भारतीय अध्यात्म और वेदान्त दर्शन की धारा से प्रभावित हो अरविन्द ने "वर्ण-आत्मा' का सिद्धान्त बनाया है। उनके अनुसार समष्टि की पुरानी भारतीय कल्पना यह थी कि यह नारायण का ही जागतिक रूप है[१]। जिस प्रकार व्यष्टि में ईश्वर है, उसी

---

every person's own individual will in relation to itself, is restricted to the condition of agreement with the autonomy of the rational being, that is to say, that it is not to be subject to any purpose which cannot accord with a law which might arise from the will of the passive subject himself; the latter is, therefore, never to be employed merely as means, but as itself also, concurrently, an end. We justly attribute this condition even to the Divine will, with regard to the rational beings in the world, which are His creatures, since it rests on their personality, by which alone they are ends in themselves. This respect bearing idea of personality which sets before our eyes the sublimity of our nature while at the same time it shows us the want of accord of our conduct with it, and thereby strikes down self. conceit, is even natural to the commonest man, and easily observed."

१. Sri Aurobindo, The Spirit and Form of Indian Polity.

प्रकार समष्टि में भी। समष्टि को परम चैतन्य द्वारा निर्मित वे मानते हैं[१]। इसी दृष्टि के अनुसार राष्ट्र या समाज को सावयवजीवन बिताने वाला "वर्ग-आत्मा" वे मानते हैं[२]। इन वर्ग-आत्माओं के सहारे परम विज्ञान की जागतिक अभिव्यक्ति होती है। यह 'वर्ग-आत्मा' का सिद्धान्त उतना ही असंगत है जितना पश्चिमी राजनीति-शास्त्रवेत्ताओं का 'सामाजिक मन' का सिद्धान्त। वस्तुतः एक वर्ग या श्रेणी में अनेक संकल्पों, वृत्तियों, कल्पनाओं, क्रियाओं का पारस्परिक संघर्ष होता है न कि आत्मा की क्रमिक अभिव्यक्ति। कानून की दृष्टि से किसी संस्था पर अभियोग की सहूलियत के लिए कानूनी व्यक्तित्व का हम आरोप करते हैं और सरकारी पत्रों में ऐसा प्रयोग करते हैं जिससे उस संस्था का व्यक्तित्व-बोध होता है। जैसे किसी संस्था, उदाहरणार्थ आर्य समाज, के नाम कुछ जमीन का अंश या रुपये, लिख दिये जाते हैं। कानूनी पत्रों में, सम्पत्तिग्राहक या अन्य अधिकारवाहक होने के कारण आर्यसमाज या रामकृष्ण मिशन या सोशलिस्ट पार्टी या कोई युवकदल, दार्शनिक दृष्टि से व्यक्तित्वसम्पन्न या आत्मासम्पन्न नहीं कहा जा सकता। संस्था के सदस्यों का मन और हृदय या व्यक्तित्व हो सकता है, संस्था या समाज या राष्ट्र का कदापि नहीं।

यदि सामाजिक आत्मा या सामूहिक मन का विचार अतिरेकपूर्ण है तो दूसरी ओर समाज में केवल वर्गसंघर्ष या स्वार्थों का तनाव या तनातनी देखना भी अतिरेकपूर्ण है। मार्क्स के अनुसार वर्गों के संघर्ष का इतिहास ही, आजतक के लिखित इतिहास का मूल है[३]। यूनान में दासाधिपतियों और दासों का संघर्ष, रोम में पैट्रिशियन और प्लेबियन का संघर्ष, मध्यकालीन इटली में श्रेण्यधीशों और कर्मकरों का संघर्ष, आधुनिक जगत् में पूँजीपतियों और मजदूरों का घोर संघर्ष--यही इतिहास का वास्तविक रूप है। दुनिया में प्राथमिक साम्यवादी समूह के बाद से वैयक्तिक सम्पत्ति, शोषण, सभ्यता और राष्ट्र का प्रायः समसामयिक उदय हुआ[४]। पुरातनकाल की सहकारिता तथा शान्तिपूर्ण उत्पादन और विनिमय का स्थान स्वत्वाभिमान, उत्पीड़न और अनुसूदन ने ले लिया। इस संघर्ष, हाहाकार और युद्ध के पीछे विश्वचैतन्य का स्वातंत्र्याभिमुखी पर्यटन देखना मार्क्स के अनुसार सत्य से मुख मोड़ना है। निस्सन्देह यांत्रिक दृष्टि से मानव समाज को

१. Sri Aurobindo, The Life Divine खण्ड २।

२. Sri Aurobindo, The Human cycle पृष्ठ ३९-४०, २६१-२६२, २८१-२८२।

३. Marx and Engels, The Communist Manifesto; G. Lukacs, Geschichte Und klassenbewusstsein.

४. F. Engels, The Origin of the Family, Private Property and the State.

अभ्युन्नत बनाने में जो कार्य पूँजीवाद ने किया है, उसकी तुलना में मिस्र देश के पिरामीड रोम की नहरप्रथा और मध्यकालीन जर्मनी के अत्युत्कृष्ट मन्दिर अत्यन्त ही कमजोर हैं। किन्तु पूँजीवाद के भले कारनामों को देखते हुए भी मार्क्स अनेक कारणों से उसका महान् विरोधी है। पूँजीवाद का जन्म, सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ या पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में हुआ[१]। विश्व-व्यापार, उपनिवेशवाद आदि से इसको बड़ी मदद मिली। सामन्तशाही प्रथा के अन्तिम काल में अनेक भूमिविहीन कृषक नगरों में चले आये थे, उन लोगों ने पूँजीवादी की उत्पत्ति में सहायता पहुँचाई, क्योंकि वे लोग कर्मकर हो गये। किसी भी सामाजिक व्यवस्था का आधार उत्पादन-प्रक्रिया है। जमीन यांत्रिक उपादान, कच्चे माल, जलवायु, वातावरण आदि, उत्पादन के वस्तुनिष्ठ अंग हैं। कर्मकर वर्ग उस उत्पादन-प्रक्रिया का मानव अंग है[२]। उत्पादन-प्रक्रिया में जो वर्ग आर्थिक दृष्टि से स्थान-ग्रहण करता है, तदनुकूल ही उसका वर्ग निर्धारित होता है[३]। इस उत्पादन-क्रिया में प्रायः नियति की गति से, अनिवार्य रूप में, सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण होता है[४]। जिसे समाज कहते हैं, उसके निर्माणकारी कारकभूत तत्त्व ये सामाजिक संबंध ही हैं। समाज में छोटे-बड़े अनेक वर्ग रहते हैं, किन्तु मुख्यतः दो ही महान् वर्ग हैं--एक शोषकों का, दूसरा शोषितों का। मार्क्स के अनुसार पूँजीपतियों के वेगपूर्ण विकास से, जब न केवल उद्योग, अपितु कृषि भी उनके नियंत्रित और स्वत्व में चली आती है, सामाजिक वर्गों का साधारणीकरण हो जाता है। शोषक और शोषित इन दो विशाल वर्ग में ही अन्य वर्ग अन्तर्भूत हो जाते हैं[५]। इस प्रकार दो विशाल वर्गों का संघर्ष ही आधुनिक सामाजिक इतिहास का मूलाधार है और राज्य को शोषकवर्ग का समर्थक न मानना, सचाई से इनकार करना है।

मार्क्सवाद अपनेको वैज्ञानिक और अन्य साम्यवादी-दलों की विचारधारा को

१. Marx, Capital खण्ड १; तथा Engels, Anti-Duhring.
२. Marx, Capital प्रथम खण्ड, पृष्ठ १९८, ६८२।
३. Marx, A Critique of Political Economy; N. Bukharin, Historical Materialism, Economic Theory of the Leisure class.
४. Marx, A Critique of Political Economy, Preface.
५. Marx and Engels, The Communist Manifesto; Plekhanov, The Materialistic conception of History. The Role of the Individual in History, The Fundamental Problems of Marxism.

काल्पनिक या प्रतिगामी समझता है । इसका ऐसा मत है कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के विज्ञानसम्मत विश्वदर्शन पर आधारित होने से इसका सामाजिक और राजनीतिक विचार भी पुष्ट और तर्क-संगत है । किन्तु द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, इतिहास तथा समाज की उत्पादनमूलिका व्याख्या, जिसे ऐतिहासिक भौतिकवाद कहते हैं, में कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है । प्रत्ययवाद, अध्यात्मवाद, शून्यवाद आदि का खंडन करना ही भौतिकवाद का विशिष्ट लक्ष्य है, चाहे वह कोई भी भौतिकवाद हो--डिमोक्रिटस चार्वाक का, या दिदेरो या मार्क्स का। किन्तु भौतिकवादी दर्शन को मानने से इतिहास में उत्पादन तत्वों का ही प्राधान्य माना जाय, ऐसी मान्यता निराधार है। यदि भौतिकवादी दर्शन का माननेवाला जलवायु के आधार पर या मानव-शरीर-रचना या अभिजातवंश के आधार पर भी इतिहास की व्याख्या करे, तब भी वह भौतिकवाद के सामाजिक रूप का विश्लेषण कर रहा है । किसी भी पार्थिव मलतत्त्व को लेकर समाज, इतिहास आदि की व्याख्या करना भौतिकवादी व्याख्या है । आजकल के अनेक समाज-शास्त्री, चाहे उनका हार्दिक विश्वास जो भी हो, जब इतिहास या समाज की व्याख्या प्रस्तुत करते ह, तब भौतिक शक्तियों या उपादानों का ही सहारा लेते हैं ।

दूसरी विचारणीय बात यह ह कि द्वन्द्ववाद और वर्ग-संघर्षवाद में भी कोई अनिवार्य या निश्चित सम्बन्ध नहीं है । कांट, फिख्ट और हेगेल के दर्शन में द्वन्द्ववाद है; किन्तु उसका वर्ग-संघर्ष सामाजिक समानान्तर है, ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं आता है । राजनीतिक संघर्षों में सम्पत्ति-सम्बन्धी प्रश्नों का विशेष महत्त्व रहता है, इसको अंग्रेज विचारक हैरिंगटन और अमरीकन विचारक मैडिसन मानता था; किन्तु ये दोनों द्वन्द्ववादी नहीं थे।[१] बायबिल म, बेसिल महान् में तथा जान क्रायसोस्टम में सम्पत्ति का खंडन पाया जाता है, सम्पत्ति से कलह, द्वेष और संघर्ष होता है, ऐसा भी उल्लेख आता है; किंतु ये विचार द्वन्द्ववाद की दार्शनिक भित्ति पर नहीं खड़े हैं । रूसी अराजकतावादियों तथा शून्यवादियों ने सामाजिक संघर्ष और उत्पीड़न का दर्दनाक वर्णन किया है; किन्तु ये द्वन्द्ववादी नहीं थे। अतः द्वन्द्ववाद और वर्ग-संघर्षवाद में कोई विनिर्णीत निश्चित संबंध नहीं है । सन् १८७१ के परिस-कम्यून के नेता द्वन्द्ववादी नहीं थे।

वर्गसंघर्षवाद इतिहास की कुछ घटनाओं और कुछ आन्दोलनों की अवश्य व्याख्या करता है; किन्तु इसको समस्त मानव- तिहास की कुंजी समझना भ्रामक है। निस्सन्देह यूनान में दासाधिपतियों और दासों का संघर्ष था, रोम में पैट्रिशियन और प्लेबियन में संघर्ष था, कृषक-युद्ध, फ्रांस की क्रान्ति तथा रूस और चीन की क्रान्तियों में वर्ग-

१. Harrington, Oceana; Madison, The Federalist. (दसवाँ पत्र)

संघर्ष और वर्गयुद्ध वर्तमान था; किन्तु इन उदाहरणों के बावजूद मानव-इतिहास की संजटिल विचारधारा वर्गसंघर्ष की अद्वैतवादी व्याख्या का तिरस्कार करती है। यूरोपीय पुनरुत्थान, जिसे एंगल्स ने सर्वोत्कृष्ट उन्नतिशील क्रान्ति बताया है, का बीज वर्गसंघर्ष में कदापि नहीं था। इसका जन्म एक राजनीतिक घटना, अर्थात् कुस्तुन-तुनिया की तुर्कों-द्वारा विजय में हुआ। पीछे चलकर पुनरुत्थान के द्वारा बढ़ते हुए पूँजीवाद को फायदा जरूर हुआ; किन्तु पुनरुत्थान का उद्भव और विकास आर्थिक और वर्ग-संघर्षमूलक घटनाओं से संचालित नहीं रहा था। भारत में मुसलमानों के आगमन और भीषण हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष के पीछे धार्मिक भावनाएँ कार्य कर रही थीं न कि हिन्दू और मुस्लिम दो आर्थिक वर्ग थे। भारतीय स्वातंत्र्य-आन्दोलन देश के समस्त वर्गों का आन्दोलन था, न कि पूँजीपति-वर्ग का। संसार के महान् धार्मिक आन्दोलन, जैसे बौद्धधर्म या ईसाईधर्म, के विकास-क्रम में आर्थिक स्वार्थ अवश्य सन्नि-विष्ट हो गये; किन्तु इन आन्दोलनों के मूल में भी आर्थिक भावनाओं और वर्गसंघर्षों को देखना अपनी आँखों को आवृत्त कर लेना है।[१] यूनान में भी, वर्गसंघर्ष-द्वारा प्रजनित आन्दोलनों को देखते हुए भी, यूनान या फारस के युद्ध की या भीषण पेलो-पोनेशियन-युद्ध की व्याख्या वर्ग-संघर्ष के द्वारा नहीं हो सकती। ये मूलतः राजनीतिक शक्ति की अभिप्राप्ति के लिए युद्ध हुए थे। बाबुल में सेमेटिक जातियों का आगमन (प्रायः २००० वर्ष ईसा से पूर्व) तथा मिस्रदेश में हिक्सास का आगमन (प्रायः १७०० वर्ष ईसा से पूर्व) आर्थिक भावनाओं और इच्छाओं के द्वारा अनुप्राणित अवश्य थे[२]; किन्तु बस इतने से और इनके समान कुछ अन्य घटनाओं से मिस्रदेश और बाबुल के इतिहास की आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत करना नितान्त भ्रामक है। इतिहास एक बहुशाखा-सम्पन्न नानामुखी सत्ता है। इसकी अनेक-कारण-राशिमूलक व्याख्या ही संभव है।

निस्सन्देह मानव-समाज में भीषण वर्ग-संघर्ष चल रहे हैं। कोई भी नगर एक नगर नहीं है, किन्तु दो-एक धनियों का और एक गरीबों का, ऐसा प्लेटो ने कहा है। अवश्य ही धनियों और गरीबों में संघर्ष हुआ है। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में, जो मुख्यतः परिग्रह और वैयक्तिक लाभ के आधार पर बनी हुई है, निस्सन्देह विप्रतिषत्र है,—एक ओर धन का केन्द्रीकरण और दूसरी ओर जर्जर दीनता। किन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टि से समाज की व्याख्या करने में संघर्ष के साथ-साथ सहयोग को

१. V. P. Varma, 'Budha and Marx', Patna College-Magazine, अप्रिल १९४९।

२. Hitti, History of the Arabs.

भी ध्यान में रखना होगा। परस्पराश्रयिता में ही किसी समाज की संस्थिति होती है। उत्पादन की प्रक्रिया से उत्पन्न समस्त वस्तुओं का विनिमय ही असम्भव हो जाय, यदि सामाजिक सहयोग प्राप्त न हो। यदि कोई दल, राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने के लिए वर्गसंघर्षवाद का अतिरंजित प्रचार करे, तो उसको इस सिद्धान्त में तात्त्विक अभिरुचि नहीं, अपितु स्वार्थपूर्ण है। रूसी विचारक जेक्स नोमिको तथा क्रोपाटकिन का कहना है कि समाज के आधार हैं--परस्पराश्रयिता और सहयोग। क्रोपाटकिन ने पशु जगत् से भी अनेक उदाहरण स्वपक्षसमर्थन में दिये हैं [१]। यदि वर्ग-संघर्ष और वर्गयुद्ध ही इतिहास का मुख्य नियामक रहते तो स्यात् मानव आत्महत्या करके आज विलुप्त हो गया होता [२]। कोई भी संस्था, परिषद् अथवा समाज कुछ दिनों तक टिका हुआ रहा है, तो यह बताता है कि सहयोग, परस्पराश्रयिता आदि मूलसंकल्प क्रियाशील हैं।

यह भी विचारणीय है कि समाज में मुख्यतः दो ही वर्ग, शोषक और शोषित हैं, ऐसा विचार भी ठीक नहीं है। किसी भी देश को देखें तो वहाँ एक पेचीदगी से भरी हुई व्यवस्था दिखाई पड़ती है। क्या भारत में आज दो ही वर्ग हैं? क्या भारतीय आर्थिक प्रक्रिया शीघ्रातिशीघ्र दो वर्गों के बीच बँटते जा रही है? उत्तरवेदकाल से लेकर आज तक वर्तमान भारतीय वर्गव्यवस्था और जाति-व्यवस्था की वर्गमूलक व्याख्या के सारे प्रयत्न निकम्मे हैं। अमरीका में वर्तमान नीग्रो-श्वेतांग संघर्ष को केवल वर्ग-संघर्ष कहना कल्पनावाद है [३]। प्रजातंत्रात्मक समाजवाद के या कल्याणकारक राज्य के विकास के साथ एक ऐसे वर्ग की सृष्टि हो रही है, जिसे व्यापक मध्यवर्ग कह सकते हैं। शिक्षक, प्राध्यापक, साधारण वेतनभोगी, डाक्टर आदि, न तो शोषक हैं और न शोषित [४]। अतएव समाज की केवलमात्र वर्गसंघर्षजनक आर्थिक व्याख्या करना एक गुम्फित संजटिल समस्या का एक साधारण निदान खोजना है [५]।

---

१. Kropotkin, Mutual Aid; W. M. Wheeler, The Social Insects; Maeterlinck, The White Ant, Espinas, Les Societes animales.

२. महात्मा गांधी, मंगल-प्रभात, यंगइंडिया (तीन भाग)

३. Cox, Caste, class and Race. काक्स के विचार भ्रामक हैं।

४. E. Bernstein, Evolutionary Socialism; G. D. H. Cole, Socialism in Evolution.

५. मार्क्सीयवर्ग-वाद की आलोचना के लिए द्रष्टव्य, Max Weber, Essays in Sociology; R. M. MacIver, Society; P. A. Sorokin, Society, Personality and Culture; T. G. Masaryk, Die philo-

समाज को सावयव मानना भी उसी प्रकार असंगत है जिस प्रकार उसे वर्ग-संघर्षमूलक मानना। राज्य या समाज को उसी प्रकार सावयव मानना जिस प्रकार मानव-शरीर, अलंकार की दृष्टि से ठीक है। आंशिकरूप से सावयववाद प्लेटो, मंतपाल, मध्यकालीन यूरोपीय विचारकों, कौम्ट आदि में पाया जाता है; किन्तु उन्नीसवीं सदी में इसका विशाल रूप खड़ा किया गया। यूनान में समाज, राज्य, और धार्मिक संगठन में कोई अन्तर नहीं था। एक ही मूलभूत एकता थी। एथेंस की एकता का प्रतीकात्मक प्रकटीकरण देवी एथेनी के द्वारा होता था। किन्तु आधुनिक सावयववाद प्राणिशास्त्र की अभूतपूर्व उन्नति से प्रभावित था। समाज को यांत्रिक और कृत्रिम कहने का जो विचार नैसर्गिक अधिकारवाद और सामाजिक अनुबन्धवाद ने उपस्थित किया था। उसके विपरीत सावयववाद ने जबर्दस्त आन्दोलन किया; किन्तु यह भी एक गहरे भ्रम में पड़ गया।

कुछ दृष्टियों से समाज और व्यक्ति में समानता है। समाज और व्यक्ति दोनों देशकाल की उपाधि में ही रह सकते हैं। एक निश्चित स्थान में कु समय तक ही उनका पार्थिव अवस्थान हो सकता है। दोनों का जन्म, विकास और मृत्यु होती हैं। बौद्धिक और तार्किक शक्तियों का प्रयोग कर दोनों के अन्दर सुधार और परिवर्तन किये जा सकते हैं। जिस प्रकार शिक्षा-दीक्षा, भोजन, जलवायु से मनुष्य का सुधार हो सकता है, उसी प्रकार बुद्धिपूर्वक समाज की भी नियोजना हो सकती है। मनुष्य का एक निश्चित संकल्पमूलक प्रवृत्तिजनित व्यक्तित्व होता है। सामाजिक मन या सामाजिक आत्मा के सिद्धान्त का खंडन किया जा चुका है, तथापि अनेक मानवों, संस्थाओं और वर्गों के संघात, सन्निकर्ष और पारस्परिक संबंध से समाज का नीति-निर्धारण होता है। अर्थात् सामाजिक प्रश्नों को भी संकल्पप्रसूत और मनःप्रसूत

---

sophischen und soziologischen Grundlagen de Marxismus; A Labriola, Essays on the Materialistic conception of History; A. Loria, The Economic Foundations of Society; E. A. R. Seligman, The Economic Interpretation of History; Henri Sec, The Economic Interpretation of History; B. Russell, Freedom and Organisation, Roads to Freedom, The Practice and Theory of Bolshevism; H. Kelsen, The General Theory of Law and State, Sozialismus und Staat; B. Croce, Historical Materialism and the Economics of Karl Marx; R. Niebuhr, Moral Man and Immoral Society.

माना जा सकता है। किन्तु इतनी समानताओं से आगे बढ़कर समाज को यथातथ्य-मनुष्य के समान सावयव मानना ठीक नहीं है। वैयक्तिक मनुष्य आत्मा, मन, हृदय के द्वारा नियंत्रित किया जाता है। किन्तु समाज के अन्दर कोई केन्द्रीय मन या संगठनकारी आत्मा नहीं है। मनुष्य के सावयव होने का सबसे दृढ़ प्रमाण यह है कि यदि उसके किसी भी अंग को आघात पहुँचता है, तो समस्त अंगों पर सत्वर प्रभाव पड़ता है। मनुष्य के कुछ अंग, जैसे मस्तक, वक्षस्थल, ऐसे हैं, जिन पर आघात करने से शीघ्र ही मनुष्य की मृत्यु हो सकती है। समाज में कोई ऐसा प्राणमूलक तत्त्व नहीं है। मानव-हृदय के अन्दर अत्यन्त निजी और अन्य के द्वारा नहीं साझी करने लायक गोपनीय भावनाएँ हैं और ये उसके व्यक्तित्व के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग हैं। समाज में इस प्रकार की निजी अपरिवहनीय भावना नहीं रहती है। मनुष्य की सावयवता का यह कारण है कि उसका शारीरिक आधार ठोस और निर्दिष्ट है। किन्तु समाज के निर्माणकारी मानव शरीर अनेक हैं और देशगत और कालगत दृष्टि से उनके अन्दर बहुत व्यवधान हैं। अतएव जो सातत्य और नैरन्तर्य एक शरीर में मिल सकता है, वह समाज के नानाविध अनेक शरीरों में नहीं मिल सकता है। अतएव सावयववाद इतनी ही दूर तक मान्य है कि शरीर के रूपक के द्वारा, यह ऐसी शिक्षा देता है कि प्रत्येक मनुष्य, समाज के कल्याण की बात सोचे, स्वार्थ का त्याग करे और अपने अन्दर एक सामाजिक वृत्ति का अनुभव करे। किन्तु इससे आगे जाकर यथातथ्य, समाज को सावयव मानना और तत्त्वतः उसका अंगनिर्देश, मनःनिर्देश करना भ्रामक है। वर्म्स, लिलिएनफेल्ड, शेफ्ल, ब्लूंशली, स्पेन्सर आदि में तात्त्विक सावयववाद का जो विचार है, उसे दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से गलत ही कहा जा सकता है।[१]

दार्शनिक आधार पर व्यवस्थित राजनीतिशास्त्र समाज को, मनुष्यों का एकत्रीकरण मात्र नहीं मानता। मैदान में व्याख्यान सुनने के लिए या मेले में स्नान करने के लिए गये मनुष्यों को हम समाज नहीं कह सकते। जब इस एकत्रीकरण के पीछे कुछ केन्द्रीय नियामक आदर्श और सिद्धान्त क्रियान्वित होते हैं, तब इस एकत्रीकरण को समाज का रूप मिलता है। इस केन्द्रीय समग्रता और एकता के कारण ही समाज एक आकस्मिक

---

१. A. T. Von Krieken, Uber die sogennante organische Staatstheoric (१८७६); E. T. Towne, Die Auffassung der Gesellschaft als Organismus; J. C. Bluntschli, Theory of the State; H. G. Ford, The Natural History of the State (1915); आलोचना के लिए द्रष्टव्य, F. W. Coker, Organismic **Theories of the State.**

भीड़, झुण्ड या गिरोह से भिन्न है। किसी भी समाज में, या संस्था में, जैसे लक्षण और गुण देखे जाते हैं, वैसे उस समाज या उस संस्था से अलग रहनेवाले मनुष्यों में नहीं मिलते। इस दृष्टि से कह सकते हैं कि समाज की जो परिपूर्णता है, वह केवल अन्य इकाइयों के योगकरण से नहीं उत्पन्न हुई है। उसमें कुछ वैशिष्ट्य और वैलक्षण्य है। समाज की केवल प्रक्रियात्मक व्याख्या नहीं हो सकती। जो भी मूल सामाजिक प्रक्रियाएँ हैं--जैसे संघर्ष, सहयोग, विरोधी सहिष्णुता प्रवृत्तिसंतोषीकरण प्रतिस्पर्धा, दलनिर्माण, विवाह, धर्मसंस्कार, निर्वाचन आदि इनको व्याख्येय बनाने के लिए निश्चित रूप से यह मान लेना होगा कि चैतन्ययुक्त मानव की ये प्रक्रियाएँ हैं। केवल भौतिक पदार्थों के अभिव्यक्तिकरण और प्रकाशन के रूप में इनको समझना भ्रामक होगा। इस दृष्टि से दार्शनिक राजनीतिशास्त्र, उन अनेक शास्त्रों और पद्धतियों से भिन्न है, जो इतिहास की व्याख्या में और राजनीति के मूलोद्घाटन में मानव के चेतन मन पर ध्यान नहीं देती है। किन्तु प्रक्रियाओं की, मानव-मन की अभिव्यक्तिमूलक व्याख्या में हम भौतिक तत्वों की उपेक्षा नहीं करते। कृत्स्नमूलक दर्शनशास्त्र किसी भी आवश्यक तत्व की उपेक्षा नहीं करता। वह ऐसा मानता है कि मानवचैतन्य को उद्बुद्ध कर के ही भौतिकतत्व अपना प्रभाव व्यक्त करते हैं। किन्तु दूसरी ओर, दार्शनिक राजनीतिशास्त्र के समर्थक वोसांक्वेट की 'सामाजिक मन या 'सामाजिक आत्मा' की कल्पना भी नितान्त भ्रामक है। संस्थाओं परिषदों, समितियों और समाजों में चेतन मानव के मन, बुद्धि आदि अभिव्यक्ति होती है, मानव के सम्मिलित संकल्प ही उनके मूल आधार हैं। किन्तु उनका कोई निजी व्यक्तित्व या हार्दिक संवेदनशीलता नहीं होती। निश्चित ही समाज के द्वारा सामाजिक और मानवोचित लक्ष्यों और मूल्यों का परिवहन होता है और कर्मयोग का महान् संदेश इसी सामाजिक यज्ञ की रक्षा के लिए दिया गया है। ऐतिहासिक परम्परा और अनुभव पर आधारित, संगठित समुद्देश्यों की सम्यक् परिसिद्धि पर ही मानव-जाति का भविष्य निर्भर है। यादृच्छिक व्यक्तिवाद पूर्णतः अहंभावमूलक तथा समाजोच्छिन्नकारी है और अंततः व्यक्ति को विशृंखलित कर उसका नाश करके ही छोड़ता है। किन्तु कर्मयोग का पालन करते हुए अपने गुण, कर्म, स्वभाव के अनुरूप पूर्ण उपयोगी कर्तव्यों को निभाते हुए, समाज के उचित आदर्शों और परम्पराओं से सामंजस्य तथा सहनिर्वाह के सहारे अपनी वृत्तियों का भी सम्यक ज्ञान और अपने व्यक्तित्व का निदर्शन मनुष्य प्राप्त करता है[१]। किन्तु यह सर्वदा विचारणीय है कि

१. कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
संगं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः॥

समाज के कुछ अंश विकृत और रूढ़िवादी तथा स्वार्थपोषक हो सकते हैं। लेकिन, नीतिमान् मानव अवश्य उससे युद्ध करे। सामाजिक संस्थाएँ औचित्य और तर्कशीलता की ओर शनैः-शनैः बढ़ रही हैं; तथापि स्वयंप्रकाश परमचैतन्य या महान् तर्क से पूर्ण सन्निविष्ट किसी भी संस्था को मानना गहरे अन्धविश्वास का प्रतिपादन करना है। समाज, चेतनता और बुद्धिशीलता की ओर विकसित हो रहा है, किन्तु किसी भी समाज विशेष और राष्ट्रविशेष में जगदात्मा का पूरा प्रकाश हुआ है, ऐसा विचार असमीचीन और असंगत है। बौद्धिक दृष्टि से इतना ही कह सकते हैं कि समाज और राष्ट्र के द्वारा प्रतिपादित बुधिसंगत कर्तव्यों का करना मानव का उद्देश्य, है, किन्तु इस सिद्धान्त का समाज विशेष जैसे हिन्दू-समाज या राष्ट्रविशेष जैसे जर्मनी की शक्ति के समर्थन में प्रयोग अवांछनीय है। अनेक मानव, जो समाज या राष्ट्र में रहते हैं, उनके परमार्थ की सिद्धि के अतिरिक्त समाज और राष्ट्र का अन्य कोई स्वकीय उद्देश्य या प्राप्तव्य लक्ष्य नहीं है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशय ॥ (गीता, १८।९-१०)

× × ×

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम्
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ॥ (गीता, १८।१४-१५)

× × ×

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धस्व विगतज्वरः ॥ (गीता ३।३०)

पंचम अध्याय

राज्य

राज्य, मानव के हृदय में वर्तमान सामूहिक भावनाओं की केन्द्रीय अभिव्यक्ति है। सामूहिक भावना, चाहे वह ईश्वर के द्वारा प्रदत्त हो या प्रकृतिसंजात हो, मानव में पाई जाती है। जहाँ तक परिवार का संबंध है, इस सामूहिक भावना का वहाँ प्राणात्मक आधार है। पिता-सन्तान, स्त्री-पुरुष आदि में आकर्षण का प्राणात्मक कारण है। कुछ दूर तक निकट संबंधियों के साथ व्यवहार में यही रक्तसंस्थित सम्बन्ध कार्य कर सकता है। प्राणाधारित और रक्तसंजात सम्बन्धों का जब चेतन, विचारपूर्ण, विशदीकरण होता है तब समाज उत्पन्न होता है। समाज जब नियंत्रण की केन्द्रीय व्यवस्था कर लेता है, तब राज्य का उद्भव होता है। किन्तु चेतनशक्ति का सीमित प्रभाव ही समाज और राज्य के विकास में स्वीकार करना चाहिए। इनका मुख्य आधार प्राणात्मक और भावनात्मक है। जिन सम्बन्धों का समाज में बौद्धिक एकत्रीकरण और संगठन किया जाता है, वे प्राणियों में वर्तमान सामूहिक भावनाओं के कारण उत्पन्न होते हैं। मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध नैसर्गिक और प्राणात्मक हैं, तथापि उनको व्यवस्थित करने का कार्य चैतन्ययुक्त मानवों का है।

प्राणात्मक सम्बन्ध अन्य मानवेतर प्राणियों में भी है; किन्तु उनका कोई राज्य नहीं है। इस दृष्टि से मानव-राज्य को कृत्रिम कह सकते हैं; क्योंकि मानव-बुद्धि और संकल्प ने इसकी व्यवस्था की है। मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों के साथ संघर्ष में विजयी हो, इसके निमित्त उसकी शक्तियों और प्रवृत्तियों का संगठन और केन्द्रीकरण अपेक्षित है और इसलिए संस्थाओं की आवश्यकता होती है। समाज को नैसर्गिक इसलिए कह सकते हैं कि कभी भी समाजरहित पृथक् मनुष्य नहीं पाये जाते। किन्तु राज्य को कृत्रिम इसलिए कहना चाहिए, क्योंकि अनेक कबीले ऐसे पाये जाते हैं, जिन्हें समाज तो कह सकते हैं; किन्तु राज्य नहीं। प्राचीन इतिहास को देखने से पता लगता है कि उस समय अनेक प्रकार की मानव-श्रेणियाँ या मनुष्यों का विभाजन तो था; किन्तु राज्य नहीं था। अतएव यद्यपि मानव-विकास के साथ-साथ राज्य का भी उदय हुआ है, तथापि राज्य और इतिहास को समसामयिक नहीं कर सकते[1]। जहाँ कहीं भी मानव के सामूहिक कार्यों की

१. स्पेंगलर का विचार इससे भिन्न है—"State, status, means condition and we obtain our impression of the State when, as a

अवस्थिति है, वहाँ इतिहास मिलता है; किन्तु वहाँ राज्य की व्यवस्था नहीं भी हो सकती है। इस दृष्टि से कह सकते हैं कि मानव-सभ्यता और राज्य समसामयिक नहीं है। सभ्यता का उदय मानव के संगठित जीवन के सूत्रपात से ही हो जाता है। जब सभ्यता अधिक पेचीदगीपूर्ण हो जाती है, तब मनुष्य की संरक्षणात्मक समस्याओं का निदान करने के लिए शनैः-शनैः राज्य का प्रादुर्भाव होता है। अतएव कह सकते हैं कि इतिहास के प्रारम्भ से ही सभ्यता प्रारम्भ हो जाती है; किन्तु राज्य का उद्भव पीछे होता है। सभ्यता, समूह और इतिहास प्रायः समसामयिक हैं, राज्य इसकी तुलना में पीछे विकसित हुआ है। कभी-कभी सभ्यता, राज्य की अपेक्षा अधिक बृहदाकार हो सकती है। उदाहरणार्थ हिन्दू-सभ्यता हजारों वर्ष पुरानी है। इस समय के अन्दर अनेकों राज्य इस देश में उत्पन्न हुए। कभी-कभी सभ्यता का सीमित अर्थ भी हो सकता है। उदाहरणार्थ--एक ही भारत-राज्य में यूरोपीय सभ्यता, मुसलिम सभ्यता और हिन्दू सभ्यता के अवशेष और जीवित-चिह्न मिल सकते हैं।

इतिहास के विकासक्रम में पहले रक्ताश्रित समूहों का दर्शन होता है। किन्तु राज्य एक क्षेत्राश्रित संस्था है। एक गोत्र के मनुष्य रक्त-संबंध से बंधे हुए हैं; किन्तु भारत राज्य में हिन्दू, मुसलिम, ईसाई, समान भाव से राज्य के प्रति वफादारी कर इसके नागरिक रह सकते हैं। समूह को संगठित करने के लिए और उसके व्यवस्थामूलक प्रश्नों का समाधान करने के लिए, जो जीवन-संघर्ष में उत्पन्न होते हैं, राज्य की उत्पत्ति हुई है। जन समुदाय को, केन्द्रीय प्रभुत्वसम्पन्न सरकार की शासनप्रक्रिया से नियंत्रित करना राज्य का उद्देश्य है। किन्तु एक क्षेत्र में रहनेवाले जनसमूह की शांति की व्यवस्था की आवश्यकता को पूरा करना ही राज्य का लक्ष्य नहीं है। अपितु बाह्य और आन्तरिक शांति, व्यवस्था, सुरक्षा के साथ-साथ उत्कर्ष, अभ्युदय और स्वातंत्र्य का दर्शन कराना भी राज्य का महान् लक्ष्य है। केवल जीवन-यापन करना ही मानव का लक्ष्य नहीं है; वरन् शांति, आनन्द और संस्कृति का उपभोग करना भी उसका उद्देश्य है। राज्य इस लक्ष्य को सम्पन्न करने का साधन है।

समाज और राज्य के सम्बन्ध की मीमांसा करने से मालूम पड़ता है कि समाज

Being in moved form flows past us, we fix in our eyes the form as such, as something extended and timelessly standing past, and entirely ignore direction and destiny. State is history regarded as at the halt, history the state regarded as on the move." Decline of the West II पृष्ठ १६१।

राज्य की अपेक्षा प्राचीनतर और अधिक नैसर्गिक है। मानव की राजकीय समस्याओं का नियंत्रित समाधान पाने के लिए राज्य का उदय, भावना और प्रवृत्ति से ही समस्याओं का समाधान खोजने के बदले बौद्धिक तर्कशीलता से उनका समाधान खोजने की अवस्था का जबरदस्त सूचक है। समाज, राज्य की अपेक्षा अधिक विशाल और बृहदाकार हो सकता है। जैसे साम्यवादी समाज, रूसी राज्य से विशालतर है। राज्य का कार्यक्रम एक सीमित क्षेत्र में हो सकता है। भारत-राज्य भारतदेश तक ही अपना कार्य-साधन कर सकता है; किन्तु कोई धार्मिक समाज देश-देशान्तर में अपना प्रचार-कार्य कर सकता है। हिन्दू समाज अधिक कालव्यापी है; किन्तु मौर्य-राज्य या गुप्त-राज्य एक सीमित समय तक ही टिक सका। समाज मानव के साथ अधिक संश्लिष्ट है। जीवन के पग-पग पर समाज की सत्ता का हमें बोध होता है; किन्तु विशेषतः नियंत्रण के अवसर पर ही राज्य हमसे टकराता है।

समाज का आधार है—मनुष्य की स्वाभाविक वृत्तियों का समूहीकरण। यह प्रक्रिया मानव को इच्छापूर्वक सत्कर्म में नियोजित करने में व्यक्त होती है। राज्य अपने कार्य को करने में, अन्ततोगत्वा, दण्डशक्ति का आश्रय लेता है। राज्य भी प्रथम आज्ञा, निर्देश, विज्ञप्ति, सूचना, उपदेश से काम लेता है; किन्तु अपनी आज्ञा का उल्लंघन होने पर वह नियंत्रण का अवश्य ही प्रयोग करेगा। परम्परा प्राप्त धर्मों, नियमों, व्यवहारों से समाज अपनी व्यवस्था चलाता है[1]। किन्तु स्पष्ट विधियाँ तथा लिखित अनुशासन ही आधुनिक राज्य के मुख्य साधन हैं। हिंसा का प्रश्न समाज और राज्य को पूर्णतः पृथक् कर देता है। समाज की संस्थाएँ आर्थिक दण्ड दे सकती हैं, प्रायश्चित भी करा सकती हैं; किन्तु यदि कोई मनुष्य उनकी व्यवस्था को नहीं माने, तो वे उसे अलग कर दे सकती हैं; किन्तु उसे कैद नहीं कर सकतीं या शारीरिक दण्ड नहीं दे सकती। आधुनिक राज्य को विधि-सम्मत हिंसा के प्रयोग का पूर्ण एकाधिकार है। अन्य कोई समाज, परिषद् या संस्था या गिरोह हिंसा का प्रयोग नियमतः नहीं कर सकता। यदि करेगा, तो, उसे स्वयं राज्य के दण्ड को सहना होगा। केवल मात्र राज्य ही अपनी विधि-व्यवस्था की सुरक्षा के लिए हिंसा का विधिसम्मत प्रयोग कर सकता है। समाज उतनी ही दूर तक आर्थिक या प्रायश्चितात्मक दण्ड दे सकता है जितनी दूर तक मनुष्य स्वेच्छया उसे स्वीकार करता है। किन्तु राजकीय दण्ड तो अनिवार्यतः भोगना ही पड़ेगा। अतएव विधिनिर्माण और उसकी रक्षा और व्यवस्था के लिए हिंसापूर्ण दण्ड का एकाधिकार राज्य को समाज के पृथक्

१. W. G. Summer, Folkways; P. Vinagradoff, Historical Jurisprudence खण्ड १, पृष्ठ १५८, खण्ड २, पृष्ठ १९-२०

करता है[१]। हिंसा और दण्डशक्ति के प्रयोग करने के कारण राज्य में, समाज की अपेक्षा अधिक व्यग्रता, अनमनीयता और रौद्र का दर्शन होता है[२]। समाज अपेक्षाकृत अधिक नम्र, उदार और प्रशान्त मालूम पड़ता है।

समाज के स्वरूप में वह स्पष्टता और निर्देशनीयता नहीं है, जो राज्य में पाई जाती ह। समाज वैयक्तिक और अल्पसंख्यकों के स्वार्थों का साधन कर सकता है। समाज का एक वर्ग प्रतिस्पर्धा में दूसरे वर्ग को दबाने की चेष्टा में लगा रहता है। समाज में विभिन्न स्वार्थ परस्परविरोधी उद्देश्यों के पालन करने में लीन रहते हैं। राज्य सर्वदा निरपेक्ष भाव से सामान्यहित का पालन करना चाहता है। इसका तात्पर्य यह नहीं ह कि राज्यविशेष किसी शोषक वर्ग को पुष्ट करने के लिए अन्य वर्गों का शोषण और उत्पीड़न नहीं करता। किन्तु राज्य का नैतिक आदर्श यही है कि वह सर्वसामान्य का हित-साधन करे। यदि सामान्य नियम-प्रवर्तन के बदले स्वार्थविशेष को पुष्ट करनेवाले नियमों का वह पालन करता है, तब वह आदर्शच्युत और पथभ्रष्ट राज्य कहा जायगा। किन्तु समाज का उदय इसी दृष्टि से होता है कि पृथक्-पृथक् वर्ग, श्रेणियाँ और मानवों का गुट अपने-अपने स्वार्थ की सिद्धि करें। इस प्रकार का स्वार्थसाधन करना असंगत

---

१. Rudolfvon Jhering के अनुसार समाज श्रेष्ठतर है, राज्य का स्थान अपेक्षाकृत अवर है। समाज के उद्देश्यों से नियमित व्यवस्था के परिरक्षण के लिए ही राज्य अपनी विधियों के द्वारा हस्तक्षेप करता ह। द्रष्टव्य Jhering Der Zweek in Recht

२. दण्ड सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥१८॥
समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रंजयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः ॥१९॥
यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्डेष्वतन्द्रितः।
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः ॥२०॥
सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभोहि शुचिर्नरः।
दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते ॥२२॥
दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात् ॥२४॥
य श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥२५॥

तुलनीय, मनुस्मृति, अध्याय—७

नहीं है। समाज के मनुष्य भी सामान्य कल्याण के नियम का अनुवर्तन करें, यही आदर्श होना चाहिए; किन्तु विभिन्न वर्गों का स्पष्ट स्वार्थसाधन होने पर भी समाज चल सकता है। किन्तु राज्य यदि प्रत्यक्ष और स्पष्टरूप से स्वार्थ साधन में वर्गविशेष की सहायता करने के लिए नियम बनावे, तो शीघ्र राज्यक्रान्ति के द्वारा उसका अन्त हो सकता है। यदि गुप्त रूप में राज्य वर्ग-विशेष का स्वार्थसाधन कर रहा भी हो, तथापि वह इसकी घोषणा कदापि नहीं कर सकता; किन्तु समाज में ब्राह्मण-वर्ग स्पष्टतः ब्राह्मणों का या वर्गकों का वर्ग स्पष्टरूप से कर्मकरों का हित-साधन करने के लिए नियम बना सकता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि समाज का व्यावहारिक उद्देश्य है--पृथक् मानवों, संघों आदि का पृथक्-पृथक् कल्याण। सर्वसाधारणकल्याण की कामना, इसमें मूलभूत न होकर आनुषंगिक रहती है। राज्य का मूल उद्देश्य है--समष्टि की सुरक्षा।

किन्तु इस प्रकार भिन्न-उद्देश्य होते हुए भी राज्य, समाज के अन्तर्भूत है। राज्य समाज का एक अंश या एक रूप है। समस्त समाज में शांति तथा सुरक्षा की व्यवस्था के बाह्य उपकरणों को संगठित करना राज्य का मुख्य लक्ष्य है। इस प्रकार समाज के अन्तर्वर्ती होकर भी राज्य का एक स्पष्ट रूप है। समाज का जो दण्डधर का रूप है, वही राज्य है। समाज के कलात्मक, नैतिक और आध्यात्मिक अभ्युदय से भी सम्बन्ध रहता है। कला, नीति, दर्शन, धर्म, अध्यात्म आदि के बाह्य आधारों को ही राज्य व्यवस्थित करता है; किन्तु उनकी स्वयमेव उनकी उन्नति करना इसका लक्ष्य नहीं है[1]। समाज में वर्तमान मनुष्यों में एक रागात्मिका वृत्ति का दर्शन उनके पारस्परिक सम्बन्धों में होता है। राज्य की कार्यप्रणाली भावनानिरपेक्ष तथा वस्तुनिष्ट होती है। समष्टि में सम्बन्धों का प्रणयन व्यक्तिप्रधान होता है। किन्तु अवैयक्तिकीकृत सम्बन्ध और अनुशासनों को चलाना ही राज्य की नौकरशाही का मुख्य कार्य है[2]। समष्टि या समाज मानव-प्रधान तथा रागात्मिकावृत्यनुचालित होता है। किन्तु राज्य वस्तुप्रधान, तर्कप्रधान और नियमविध्यनुचालित होता है। समाज विशाल और विराट् है और मानवजीवन में निष्ठ होकर उसे लक्ष्यग्राही तथा सोद्देश्य बनाता है। राज्य समाज का एक अनिवार्य आवश्यक प्रकटीकरण और रूप है; किन्तु उतना मूलभूत और परमातासम्पन्न नहीं है, जितना समाज। समाज के लक्ष्यों की इयत्ता नहीं है, राज्य के लक्ष्य सीमित हैं।

---

१. कला की कृतियों का संग्रह तो राज्य कर सकता है; किन्तु कलात्मिका अनुभूति वैयक्तिक संवेदनशीलता तथा साधना पर आश्रित है। राज्य पुस्तकालयों का निर्माण कर सकता है; किन्तु उनसे लाभान्वित होना वैयक्तिक श्रम पर निर्भर करता है।

२. Max Weber, Wirtschaft und Gesellschaft, (द्रष्टव्य लेख, 'Bureaucracy')

राज्य के दार्शनिक रूप की व्याख्या करने के लिए इसके ऐतिहासिक उद्भव को ध्यान में रखना आवश्यक है। कोई भी संस्था अपने क्रियाकारित्व में अपनी ऐतिहासिकता से अवश्य प्रभावित होती है। हेगेल और बोसांक्वेट विकसित राज्य की तार्किक या बौद्धिक व्याख्या को ही दार्शनिक राजनीतिशास्त्र का सार समझते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में दार्शनिक पद्धति का तात्पर्य कृत्स्नज्ञान को प्राप्त करने में ही समझा गया है। साम्प्रतिक क्रियाकारित्व अवकाश से सत्वरप्रसूत कोई आकस्मिक वस्तु नहीं है, अपितु निरन्तर ऐतिहासिक विकास का ही फल है। वस्तुओं का लक्ष्य कोई काल्पनिक लोकोत्तर, अनुभवातीत, अध्यारोप नहीं है, वरन् इतिहास की धारा के साथ-साथ वस्तुओं में अनुस्यूत मूलतत्त्व का प्रकटीकरण है। उदाहरणार्थ, मार्क्सवादी राज्य की शोषणशीलता का वर्णन करने के लिए पिछले मानव-समाज का आश्रय लेते हैं। कोई वस्तु अभी क्या कार्य कर रही है, इसको विशद रूप में समझने के लिए इसका ऐतिहासिक ज्ञान अपेक्षित है। अतएव हेगेल और बोसांक्वेट की दार्शनिक राज्य-व्याख्या को अपूर्ण मानकर कृत्स्नदर्शिनी दार्शनिक पद्धति ऐतिहासिक विकास का अनुशीलन आवश्यक मानती है। अनेक दार्शनिकों और समाजशास्त्रियों ने राज्य और अधिकार आदि विषयों की महत्त्वपूर्ण मीमांसा की है। उनके विचारों का अध्ययन और आलोचना उन विषयों के सम्पूर्ण ज्ञान के लिए आवश्यक है। क्या हाब्स, स्पिनोजा, रूसो आदि के राज्य सम्बन्धी विचारों का ज्ञान प्राप्त किये विना राज्य विषयक हमारा ज्ञान पूरा कहा जायगा ? कदापि नहीं।

राज्य के ऐतिहासिक विकास की मीमांसा करने के पूर्व इसके विकास सम्बन्धी कुछ अयुक्त सिद्धांतों का उल्लेखमात्र आवश्यक है। वेद में क्षत्र या राजकीय दण्ड और व्यवस्था को देवोत्पन्न माना है। पुरुषसूक्त में चातुर्वर्ण्य की उत्पत्ति पुरुष से बताई गई है। बृहदारण्यक उपनिषद् में क्षत्र, सत्य से उत्पन्न बताया गया है। मनुस्मृति, महाभारत, और शुक्रनीति में दण्ड या दण्डधारी नरपति को देवताओं के अंश से उत्पन्न या ब्रह्मा का पुत्र माना गया है। बायबिल में सांसारिक व्यवहारों में देव के हस्तक्षेप का उल्लेख आता है। यहूदी-राज्य के संस्थापक हजरत मूसा को बराबर जिहोभा का आदेश आता था। संतपाल ने संस्थापित शक्तियों को देवसंस्कृत कहा है। सोलहवीं, सत्रहवीं शताब्दी में यूरोप में दैवीजन्मवाद के बदले दैवी अधिकारवाद का सिद्धान्त उपस्थित किया गया। इस प्रकार विचारधारा अवैज्ञानिक युग में खूब विकसित हुई। विज्ञान और धर्मनिरपेक्षतावाद के विकास के बाद सामाजिक और राजकीय तत्त्वों का ईश्वरनिरपेक्ष कारण खोजा जाने लगा और इसलिए इस देववादी सिद्धान्त का लोप हो गया। राज्य की व्याख्या के सम्बन्ध में अनुबन्धवाद का सिद्धान्त सत्रहवीं और अठ्ठारहवीं सदी में घोषित किया गया। इस प्रकार की विचारधारा के सूक्ष्म बीज महाभारत, कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा प्लेटो के रिपब्लिक में एक पात्र ग्लौकन आदि में मिलते हैं। राज्य को मानवसंकल्पजात तो

अंशतः माना जा सकता है; किन्तु दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की यह स्थापना है कि समाज नैसर्गिक है। अनुबन्धवाद अनैतिहासिक है। रूसो के अनुबन्धवाद की परिणति फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति के उत्पात, अत्याचार में हुई। अतः हेगेल ने इस सिद्धान्त का खण्डन किया। अनुबन्ध साधारण कानूनी व्यवहार में प्रयुक्त होता है, राज्य के सम्बन्ध में इसका प्रयोग राज्य को अतिशय कृत्रिम बना देता है। पुनश्च, अनुबन्ध, जो उसका सदस्य हो, उसीको बाँध सकता है। राज्य में, उसके क्षेत्र में रहनेवाले सारे मनुष्य बँधे हुए हैं। अनुबन्धवाद राज्याज्ञानुकारिता की सम्यक् व्याख्या नहीं करता है और इसीलिए बेंथम, ग्रीन तथा बोसांक्वेट ने इसका खंडन किया है।

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में ऐतिहासिक या विकासवादीय विचार ही संगत मालूम पड़ता है। समाजशास्त्रीय विकासक्रम के अनुसंधान में अरस्तू, बोंदां, ग्रीन आदि ने परिवार को ही राज्य का मूल माना है। परिवार प्राणात्मक और अनुरागात्मक संगठन है। परिवार में मानव, एकता, अनुशासन आदि सीखता है। नियंत्रण का बीज भी परिवार से शुरू होता है। किन्तु राज्य के उद्भव में परिवार एक कारक है। अन्य भी कारक हैं। धर्म के विकास से राज्य के विकास को भी सहायता मिली है। मिस्र, यूनान और आंशिकरूप में सिन्धु-सभ्यता में धात्री या रक्षिका देवी का विवरण मिलता है। समस्त नगर या राजकीय व्यवस्था की एक देवीविशेष रक्षा करती है, इस प्रकार की विचारधारा से राजकीय संगठन दृढ़ होता है। राज्य के विकास और दृढ़ीकरण में धर्म का जबर्दस्त हाथ है। धार्मिक आन्दोलन के साथ समूह की भावना का विस्तार हुआ। बौद्धधर्म के प्रचार ने संघ अर्थात् धार्मिक एकता की भावना दृढ़ की। इस संघात्मक एकता की भावना का राजनीतिक प्रयोग किया जा सकता था। कभी-कभी राजकीय शक्ति के ऊपर धार्मिक आवरण डालकर भी धर्म ने राज्य की सहायता की है। इसलाम का खलीफा अपने राजकीय बल को धर्मनेतृत्व से बताता था। रूस का आर्थोडाक्स चर्च सर्वदा जारशाही का समर्थन करता था। कभी-कभी धार्मिक संघों ने अपनी अलग दलबन्दी की है और राज्य के कार्यों में भाग लिया है। कभी-कभी राजनीतिक दल, धार्मिक विचारों का पोषण करते हैं, दूसरी ओर कभी-कभी धार्मिक दल राजनीतिक प्रश्नों पर अपने विचार प्रकट करते हैं। इस प्रकार के कार्य से राजनीतिक जीवन अधिक पेचीदगीपूर्ण बनता है और इस गूढ़ता के समाधान में राजकीय जीवन का विकास होता है।

राज्य के ऐतिहासिक दृढ़ीकरण में दण्डशक्ति का भी महत्त्वपूर्ण हाथ है। भारतवर्ष में प्रायः सोलहवीं सदी ईसवी पूर्व से सातवीं सदी ईसवी पूर्व तक उत्तरी भारत में आर्य-सभ्यता का विकास हुआ और इस आर्य सभ्यता के विकास में आर्यों की सैन्य शक्ति का भी हाथ था। सात छोटे-छोटे राजकीय टुकड़ों से एक इंगलैंड का निर्माण भी शस्त्र के बल पर ही हुआ। बिसमार्क ने अपनी 'रक्त और फौलाद' की नीति का आश्रय लेकर

तीन युद्धों के सहारे जर्मनी का राष्ट्रवाद पुष्ट किया। इटली में भी ऐसी ही धारा देखी गई और वहाँ के राष्ट्र का भी विकास युद्ध के सहारे हुआ। बिम्बिसार, अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त मौर्य तथा अशोक ने भारत का संगठन दण्ड के सहारे किया था। भारतीय सभ्यता के महान उन्नायक राम और कृष्ण भी दण्डधर ही थे। किन्तु केवलमात्र युद्ध या बल म राज्य का उद्भव और विकास जैसा आपनेहायमर, गुम्प्लोविक्ज, डूरिंग तथा अंशतः स्पेन्सर ने किया है, भ्रामक है। यद्यपि राज्य को ऊपर से देखने पर यही विदित होता ह कि राज्यशक्ति के रूप में दण्डाधिकारियों के बल का विजय हुआ; किन्तु सच बात यह ह कि विजयी वर्ग की नीति शक्ति, संगठन, नियम, अनुशासन आदि पर आश्रित है। इतिहास का यह नियम है कि नीति से विरहित दण्डशक्ति अधिक दिन टिक नहीं सकती। अल्लाउद्दीन, मुहम्मद तुगलक तथा औरंगजेब का पतन यही शिक्षा देता है। अतिरंजित शक्ति का प्रयोग करनेवाले असीरिया, इसलाम और मंगोल साम्राज्य का पूर्ण विनाश हो गया। इसलिए राज्य के विकास में दण्ड या बल को एक-कारक ही माना जा सकता है। राजकीय शक्ति नानामुखी है और केवल दण्ड से उसकी व्याख्या सम्पूर्ण सभव नहीं ह। पुनश्च, एक कारक होते हुए भी दण्ड या बल मूलकारक नहीं है। कोई राज्य समयव्यापी हो, इसके लिए आवश्यक है कि वह जन-कल्याण की भावना से अनुप्राणित हो। शक्ति और लोभ का वेगपूर्ण समर्थन शक्तिसंचालकों में भी फूट डाल देना है, जिससे शीघ्र ही उनका अन्त हो जाता है। किसी भी राजकीय नेता की शक्ति केवल दण्डबल पर आश्रित नहीं रहती है। कला, कौशल, बुद्धिविलास, उद्यम, अध्यवसाय, व्यक्तित्व आदि सब नेतृत्व के लिए अपेक्षित है। महात्मागांधी की शक्ति उनके आकर्षक व्यक्तित्व और निमल सदाचारपूर्ण जीवन पर आश्रित थी। अतएव आवश्यक है कि राज्यशक्ति को टिकाऊ बनाने के लिए, यद्यपि इसकी प्राप्ति सैन्यदल या दण्डबल से हो, तथापि सवसाधारण की कल्याणकामिता से इसके नियमितीकरण और विधिसम्मतीकरण निष्पक्ष हों।

आधुनिक राष्ट्रवादाधारित राज्यों का प्रारम्भ यूरोप में सोलहवीं शताब्दी में हुआ। इगलैंड, फ्रान्स, स्पेन, पोर्तुगाल आदि म आधुनिक राज्य का विकास हुआ। इस विकास में पूंजीवाद और धार्मिक महासुधार का स्पष्ट प्रभाव है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के सम्यक् विकास के लिए आन्तरिक शान्ति अनिवाय है। व्यापारियों और पूँजी की रक्षा के लिए आवश्यक है कि गहराष्ट्र शक्तिशाली हो। अन्यथा अन्य देशों के साथ संघर्ष में हार खानी होगी। पूँजीवाद का विकास तभी हो सकता है जब घर में शान्ति हो और पूंजीवादियों के हित को अन्य देशों में सुरक्षा हो सके। अतः शक्तिशाली राष्ट्रवाद और तदाधारित राज्य की स्थापना में पूंजीवाद का हाथ रहा है[1]। किन्तु केवल पूँजीवाद से आधुनिक

१. The Communist Manifesto; J. Stalin, Marxism and

राज्यविकास की व्याख्या करना अपूर्ण है। धार्मिक महासुधार ने रोम के पोप की अन्तर्राष्ट्रिय महत्त्वाकांक्षाओं को गहरी चुनौती दी। उसके विपरीत प्रोटेस्टेंट ने राजा को ही श्रेष्ठ समझना आरम्भ किया। इंगलैंड में आठवें हेनरी और एलिजाबेथ ने धार्मिक अधिकार को भी पूरा स्वायत्त कर लिया। धार्मिक महा सुधार आन्दोलन के जो विभिन्न दल बन गये थे, उनको नियमशील बनाने के लिए एक जबर्दस्त राज्य की आवश्यकता थी। फ्रांस में विभिन्न सामन्तशाही दलों के विच्छिन्नकारी प्रभाव को कम करने के लिए मजबूत राज्य विकसित हुआ। किन्तु यद्यपि आधुनिक राज्य एक नूतन संस्था है, तथापि राजकीय व्यवस्था पुरानी है। अत्यन्त साधारण ढंग की राज्य-व्यवस्था प्राचीन मनुष्यों में भी पाई जाती है। ऐंगल्स के मतानुसार बारहवीं सदी ईसा पूर्व यूनान में तथा छठी सदी ईसा पूर्व रोम में राज्य का उद्भव हुआ। ऋग्वेद में विकसित राज्य व्यवस्था का वर्णन आता है। मगध के साम्राज्यवाद ने सोलह जनपदों के स्थान में, प्राय: उत्तर-पूर्व भारत में एक शक्तिशाली राज्य बनाया। इस प्रकार दिवोदास, सुदास आदि के समय से जो शक्तिसंचय की धारा चल रही थी, ऐतरेय ब्राह्मण में जिसे शास्त्रीयरूप से वर्णित किया गया, उसे मगध के राजकीय विकास ने एक संगठित दिशा प्रदान की[१]।

राज्य के दार्शनिक स्वरूप-विवेचन का महान् प्रयास प्लेटो में मिलता है। जिस प्रकार मानव आत्मा के ज्ञानात्मक, राजसिक और भोगात्मक त्रिविध रूप हैं, उसी प्रकार समाज और राज्य में भी तीन अंश हैं। राज्य के शासक शिक्षा के विकास के द्वारा ज्ञान का रूप प्रकट करते हैं। राज्य के रक्षक राजसिक वृत्तियों के केन्द्रित रूप हैं। कृषक भोग के लिए खाद्यान्न उत्पन्न करते हैं। अतएव जिस प्रकार मानव आत्मा का त्रिविध रूप है, उसी प्रकार राज्य के निर्माण में भी दार्शनिक, सैन्य और आर्थिक तीन कारक तत्त्व हैं। इसमें दार्शनिक तत्त्व की ही प्रधानता है। यद्यपि आर्थिक और सैन्यशक्ति के द्वारा जनसमूह एकता की उपासना करता है, तथापि समष्टिगत एकात्मभाव ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होता है। प्लेटो राज्य के विकास में मन या आत्मा का प्राधान्य स्वीकार करता है। सत्ता की दृष्टि से भौतिक पदार्थों की अपेक्षा मन या आत्मा, प्रत्यय के समीपतम है और चूँकि समस्त जगत् प्रत्ययों का ही प्रकाशन है, अत: उनकी अभिव्यक्ति-प्रक्रिया मानव मन या आत्मा के माध्यम से हो सकती है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र भौतिक पदार्थों का

---

the National Question; H. Laski, The Rise of European Liberalism.

१. V. P. Varma, Studies in Hindu Political Thought, (बनारस, १९५४) प्रथम अध्याय।

महत्त्व स्वीकार करते हुए भी ऐसा मानता है कि मानव या आत्मा को प्रभावित करके ही वे अपना प्रभाव व्यक्त कर सकते हैं। किन्तु मानसिक या आत्मिक तत्त्व की प्रधानता मानने पर भी और यह स्वीकार करने पर भी कि मन को प्रभावित कर ही भौतिक तत्त्व अपना प्रभाव व्यक्त कर सकते हैं, नेट्लशिप और बार्कर के इस मन्तव्य को कि प्लेटो के मतानुसार राज्य मनःप्रसूत है, मैं भ्रान्त मानता हूँ[1]। राज्य को मनःप्रसूत मानना, दो ही अर्थ में ठीक हो सकता है--(क) राज्य को वैयक्तिक मन से प्रोत्पन्न मानना। इस प्रकार की कल्पना करना वैयक्तिक विज्ञानवाद के खतरेवाले सिद्धान्त का समर्थन करना है। (ख) राज्य किसी जागतिक मन का प्रकटीकरण है। एकरस, अद्वैत, जागतिक मन का सिद्धान्त प्लेटो में नहीं पाया जाता है। अतएव प्लेटो के समस्त दर्शन पर ध्यान देते हुए यही कहा जा सकता है कि उसके अनुसार जगत् के राज्य राज्य-प्रत्यय के पार्थिवीकरण हैं और इस पार्थिवीकरण की प्रक्रिया में यद्यपि मुख्यता से विभिन्न मानव मन को माध्यम किया गया है, तथापि आर्थिक और सैन्य शक्ति का भी कारक के रूप में परिग्रहण किया गया है। राज्य में मानसिक और आत्मिक तत्त्व का प्राधान्य स्वीकार करने के कारण प्लेटो 'राज्य के सुधार के लिए सैनिक शिक्षा के साथ-साथ वैज्ञानिक और दार्शनिक शिक्षा की पराकाष्ठाप्राप्ति को भी अनिवार्य मानता है। राज्य एक सावयव बलात्मिका कृति है और इसके सुशासन के लिए दार्शनिकवृत्तिसम्पन्न शासकों की आवश्यकता है। क्षुद्र स्वार्थों को हटाने के लिए राज्यशासकों को प्लेटो ने परिवारहीन और धनहीन रहने की शिक्षा दी। सम्पत्ति का कम-से-कम भोग तो अवश्य अपेक्षित है, अन्यथा शासकवृन्द भोगवाद में लीन हो सकता है, किन्तु वैयक्तिक परिवार के बदले स्त्रियों और सन्तानों की समष्टि रहे, ऐसा प्लेटो का सिद्धांत मेरे विचार में असंगत, भ्रामक और मानवता को पशुत्व की ओर ले जानेवाला है। राज्य में एकता अपेक्षित है। परस्पराश्रयिता, राज्य की सुरक्षा और राज्य की पूर्णता के लिए एकता तो अपेक्षित है, किन्तु एकता की खोज में वैयक्तिक परिवार को भी नष्ट कर देना अपनेको हास्यास्पद बनाना और

1. R. L. Nettleship; Lectures on the Republic of Plato पृष्ठ ६८: "The whole Republic is really an attempt to interpret human nature psychologically; the postulate upon which its method rests is that all the institutions of society, class organization, law, religion, art, and so on, are ultimately products of the human soul, an inner principle of life which works itself out in these outward shapes".

अनुभवशून्यता का परिचय देना है। फिर भी, दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से इतनी दूर तक प्लेटो का ऋण स्वीकार करना चाहिए कि उसने बड़े गम्भीर भाव में यह प्रस्ताव रक्खा कि राज्य का सुधार अर्थलोलुप शासकों से नहीं हो सकता है। इसके लिए समग्रदर्शित्वसम्पन्न, नीतिमान्, शिवप्रत्यय के ज्ञाता, दार्शनिक की आवश्यकता है।

अरस्तू के अनुसार राज्य नैसर्गिक समष्टि है। साधारणतः संस्थाएँ सीमित लक्ष्यों की अभिपूर्त्ति करती हैं, किन्तु राज्य सर्वग्राही और सर्वश्रेष्ठ समष्टि है। तीव्र और प्रचण्ड नैतिक 'मनोवैज्ञानिक, सामाजिक एकीकरण की भावना राज्य में व्याप्त है। राज्य की एकता केवल देशकालोपाधियुक्त सामीप्य या एकत्रीकरण का परिणाम नहीं है। चेतनाविशिष्ट मानवों की अन्योन्याश्रयिता की ही परिणति राज्य में होती है। सावयव परस्पराश्रयिता और नैतिक भावनाओं का घनीभाव राज्य में परिदृष्ट होते हैं। राज्य एक स्वधारित समष्टि है, किन्तु समाज में वर्तमान मनुष्यों के जीवन से पृथक् नहीं है। उनके जीवन के सहारे और उनकी क्रियाओं के माध्यम से ही राज्य की सत्ता प्रकट होती है। जिस प्रकार फिख्ट आदममूलर या औथमार स्पान ने राज्य की एक अतिसत्ता या अतिव्यक्तित्त्व की कल्पना की है, वैसा विचार अरस्तू में नहीं पाया जाता है[1]। मानव की नैसर्गिक समूहशीलता ही राज्य का मूलाधार है। राज्य सर्वोत्कृष्ट और सर्वग्राहिणी समष्टि है और इसलिए राज्य और समाज तथा राज्य और सरकार में अन्तर अरस्तू के विचार-शास्त्र में नहीं प्राप्त होता है। अरस्तू ने परिवारों से ग्राम का निर्माण और ग्रामों के समूह से राज्य का निर्माण माना है। किन्तु इस विकास प्रक्रिया का पूरा ऐतिहासिक स्पष्टीकरण उसने नहीं किया है। अनेक ग्रामों से नगर-राज्य के निर्माण की प्रक्रिया कितनी दूर तक सामाजिक कल्याण की भावना की अनुप्रेरणा है और कितनी दूर तक युद्धादि के द्वारा यह एकता स्थापित है, इसका साफ-साफ वर्णन अरस्तू में नहीं मिलता है। अरस्तू और हेगेल दोनों के दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की यह एक विशाल देन है कि राज्य का मूल लक्ष्य वे सुरक्षा या सम्पत्ति का स्थिरीकरण नहीं मानते हैं। कल्याणपूर्ण जीवन की साधना ही उनके मतानुसार अभीष्ट है। यह ठीक है कि जिसे वे कल्याण कहते हैं, वही मेरे अनुसार कल्याण का तात्पर्य नहीं है। किन्तु इतना मुझे अभिप्रेत है कि राजनीतिशास्त्र केवल संस्थाओं की दण्डप्रक्रिया का या सामाजिक लक्ष्यों की युक्तिपूर्ण साधनापूर्त्ति का शास्त्र नहीं है, किन्तु परमकल्याण की प्राप्ति का एक प्रबल माध्यम है। अरस्तू के अनुसार आदर्श राज्य को ऐसा होना चाहिए कि वह अपने निवासियों की आवश्यकताओं की प्रायशः स्वयमेव पूर्त्ति कर ले। मानव-चरित्र के उत्कर्ष और उन्नयन पर अरस्तू की दृष्टि थी, इसलिए राजकीय शिक्षा द्वारा शारीरिक और मानसिक उन्नति की आवश्यकता पर उसने बल दिया है। अरस्तू की ऐसी मान्यता है कि नागरिकों की

---

१. Fichte, Adam Muller तथा Othmar Spann.

सन्तुष्टि अपेक्षित है, अन्यथा राज्यक्रान्ति के अवसर आ जायँगे। किन्तु जनता को सन्तुष्ट रखने के सिद्धान्त का जो बार्कर ने यह तात्पर्य निकाला है कि संकल्प या सम्मति ही अरस्तू के अनुसार राज्य का आधार है, ऐसा कहना, मेरी समझ में, अनुबंधवादी, प्रजातंत्रीय निष्कर्षप्रदाता, सामाजिक संकल्पवाद की दृष्टि से अरस्तू की व्याख्या करना है। अरस्तू की विचारधारा में राज्य का एक अनुस्यूत प्रयोजन है। प्राचीन यूनानी सभ्यता में मौलिक तत्त्व, वैयक्तिक संकल्प या सम्मति का प्रकाशन नहीं, अपितु समष्टि के सहारे कल्याणसाधन था।

दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से, यूनानी तत्त्वशास्त्रियों का यह विचार एक बड़ी देन है कि समष्टि के सहारे ही कल्याणसाधना हो सकती है। स्वतः व्यक्ति एक भावमात्र है। समष्टि के सहारे ही उसकी वृत्तियों का प्रस्फुटन और केन्द्रीकरण तथा उसके व्यक्तित्व का निर्माण होता है। जहाँ तक समष्टि के सहारे ही मानव को कर्मयोग के पालन करने का अवसर मिलता है, वहाँ तक समाज और राज्य का महत्त्व स्वीकार करना चाहिए। निरंकुश यादृच्छिकता और स्वेच्छाचारिता मानव को चकनाचूर कर ही दम लेती है। अतएव मानव के स्वस्थ विकास के निमित्त समष्टि की महती आवश्यकता है। किन्तु आधुनिक प्रजातंत्र की दृष्टि से यूनानी विचारधारा की कमियाँ भी स्पष्ट हैं। यूनानी, राज्य को एक प्रत्यक्षसंवद्य वस्तु के समान मानते थे और इस अतिरंजित नगर-राज्यवाद का यह फल हुआ कि एक विशाल समस्तयूनानव्यापी राज्य का कोई विकास न हो सका। तीव्रतमरूप से स्वकीय स्वतंत्रता के पोषक यूनानी राज्य मैसिडन साम्राज्य के सामने बिलकुल नहीं टिक सके। यूनानियों की विचारधारा में, यूनानी मानव, अन्यों से श्रेष्ठ था। अतएव तीव्र वर्णश्रेष्ठतावाद भी उनके अन्दर था। मानव एकता या समानता का भाव फैलानेवाले बौद्धधर्म, स्ताइक धर्म और ईसाई धर्म की शिक्षा ने इस वर्ण श्रेष्ठतावाद को जबर्दस्त चुनौती दी है। आज के राजनीतिशास्त्रवेत्ता भी मानव एकता के आदर्श का समर्थन करते हैं।

यूनानी विचारशास्त्रियों ने दार्शनिक राजनीतिशास्त्र का महत्त्वपूर्ण युग उपस्थित किया था। उनके विचारों का आधुनिक प्रकाशन जर्मनी और इंगलैंड के विज्ञानवाद में प्रकृष्ट रूप से हुआ। रूसो, प्लेटो की विचारधारा से प्रभावित था और इसी प्रभाव के कारण समष्टि को नैतिकीकरण का प्रमुख साधन उसने स्वीकृत किया। राज्य को यांत्रिक एकत्रीकरण के रूप में समझने के कारण नैतिक कर्मयोग के लिए उचित क्षेत्र नहीं प्राप्त होता है। मानव-स्वभाव को गहरे रूप में समझने का प्रयास रूसो ने किया। रूसो का प्रभाव, जर्मन विज्ञानवाद पर, स्वयं काण्ट ने स्वीकार किया है[१]। फिख्टे ने राज्य का बड़ा

१. Kant, Philosophy of Right, Feelings of the Sublime and the Beautiful.

उदात्त रूप वर्णित किया है । उसके अनुसार राज्य राष्ट्रवाद की भी सृष्टि करता है और उसके इस विचार का इटली के फासिस्टवाद पर प्रभाव पड़ा है । जर्मन विज्ञानवाद के राजनीतिक दर्शन का उत्कृष्ट रूप हेगेल में व्यक्त हुआ। हेगेल युवावस्था में प्रचण्ड राष्ट्रवादी था। उस समय जर्मनी में कोई संगठित शक्तिशाली राष्ट्र न था। हेगेल के मरने के चालीस वर्ष बाद बिसमार्क ने जर्मनी को एक आधुनिक राष्ट्र का रूप दिया । जर्मनी में सामाजिक और आर्थिक श्रेणियों का उस समय अवशेष वर्त्तमान था और उनका ही हेगेल के नागरिक समाज के सिद्धान्त पर गहरा असर है[१] । नीतिशास्त्र में, हेगेल, काण्ट का विरोधी था। काण्ट के मतानुसार शिवसंकल्प का चरम महत्व है। प्रकृष्ट रूप से विशुद्ध संकल्प रखकर निष्काम कर्म करना मानव का परम लक्ष्य है। हेगेल के मतानुसार काण्ट का विनिश्चित अवश्यकर्त्तव्यता का नैतिक नियम मानव-संकल्पों की परिशुद्धि ओर वासना-राहित्य पर तो अवश्य ध्यान देता है, किन्तु कर्त्तव्यों की कोई सूची प्रस्तुत न करने के कारण खोखला है। हेगेल समस्त इतिहास और जगत् में विश्वात्मा का प्रकाशन देखता है और इसी दृष्टि से सामान्य संकल्प और मानव के सीमित संकल्प का मिलन-केन्द्र उसने राज्य को बताया। हेगेल के राज्य की कल्पना, उसी ऐतिहासिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि पर निर्मित हुई है[२] ।

हेगेल ने सामाजिक अनुबंधवाद का खंडन किया। अनुबन्ध भावात्मक और वैयक्तिक अधिकार से सम्बन्ध रखता है । राज्य पूर्णतः नीतिनिष्ठ है और इसे अनुबन्धप्रजनित कहना क्षेत्र-संकर दोष का भागी बनना है। हेगेल के अनुसार राज्य, नैतिक परम विज्ञान की जागतिक सत्यता है। सामाजिक प्रथाओं के सहारे इसकी अभिव्यक्ति होती है और वैयक्तिक आत्मचैतन्य में भी वह वर्तमान रहता है । परिवार और श्रेणियाँ, राज्य की दो नैतिक भित्तियाँ हैं। किन्तु परिवार का आधार है रागात्मिका वृत्ति, राज्य का आधार है निश्चित विधि और स्पष्ट तर्कणाशक्ति । राज्य, तर्कणाशक्ति की अभिव्यक्ति है । यह आत्म-विनिर्णयकारी और निरपेक्ष संप्रभुता-सम्पन्न है । राष्ट्रवादाधारित राज्य जगत् म सर्वश्रेष्ठ शक्ति है । अपने पार्श्ववर्ती राज्यों के साथ व्यवहार करने में प्रत्येक राज्य पूर्ण स्वतंत्र है और किसी भी प्रकार के अन्य नियामक नियम वहीं नहीं रह सकते। हेगेल के मतानुसार राज्य के मुख्य कार्य हैं--(क) नागरिक समाज की व्यवस्था और नियंत्रण; (ख) संसद, कार्यकारिणी और नरपति के कार्यों का विभाजन और संगठन; (ग) युद्ध में राज्य को रक्षा करना और उसके सम्मान का महात्म्यप्रकाशन तथा (घ) कला,

---

१. "The Civil Society"--जर्मन भाषा का शब्द है Das burgerliche Gesellschaft.

२. Hegel, Philosophy of Right. Philosophy of History.

धर्म और दर्शन की उन्नति का आधार प्रस्तुत करना। हेगेल के मतानुसार यूनान और रोम में नगर-राज्य की एकता थी। सामन्त प्रथा के समय अतिरंजित स्वतंत्रता का उदय हुआ। आधुनिक खृष्टीय धर्मावलम्बी जर्मन जातियों के राज्य में राज्य की एकता और वैयक्तिक स्वतंत्रता का समन्वय प्राप्त होता है।

यूरोप में दार्शनिक राजनीतिशास्त्र के प्रणयन में प्लेटो और हेगेल इन दो विचार-वेत्ताओं का अतिशय महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः तुलनात्मक रूप से इनकी राज्यमीमांसा का अध्ययन आवश्यक है। प्लेटो और हेगेल, दोनों राज्य के ऐतिहासिक उद्भव और विकास से अलग, राज्य के प्रत्यय का विश्लेषण करते हैं। किन्तु प्लेटो के मतानुसार प्रत्ययबाहुल्य है और अनेक प्रत्ययों में से एक है—राज्यप्रत्यय। इस द्युलोकवासी अभौतिक राज्यप्रत्यय का जागतिक विवर्त कैसा होगा, इसका विवेचन प्लेटो करता है। हेगल के अनुसार प्रत्यय एक विशाल, सावयव, सर्वग्राही तत्त्व है। शाब्दिकता और क्रियान्वयता का समीकरण ही प्रत्यय है। यदि जगत् में वर्तमान राज्य प्रत्यय का प्रतिफलन और प्रतिबिम्ब बनाना प्लेटो का उद्देश्य है तो विश्वात्मा के जागतिक प्रकटीकरण का मौलिक माध्यम ऐतिहासिक दृष्टि से, राज्य को बताना हेगेल का पुरुषार्थ है। किन्तु प्लेटो ने कभी भी किसी राज्यविशेष को राज्य प्रत्यय का पूर्ण प्रकटीकरण नहीं बताया। 'रिपब्लिक'' ग्रंथ में राज्यप्रत्यय का विशद वर्णन कर, उसकी जागतिक अभिव्यक्ति को कठिन समझ कर कुछ अधिक व्यवहारोपयोगी एक-दूसरे राज्य का वर्णन उसने 'लॉज' नामक ग्रंथ में किया। हेगेल के 'अधिकार का दर्शन' नामक ग्रंथ में तो नहीं, किन्तु 'इतिहास का दर्शन ग्रंथ' में कुछ स्थलों पर ऐसी स्पष्ट ध्वनि सुनाई पड़ती है मानों राज्यप्रत्यय का पूर्ण प्रकटीकरण तत्कालीन जर्मनी में हो गया हो। राज्य और समाज में कोई अन्तर यूनानी विचारधारा में नहीं पाया जाता। हेगेल ने राज्य और समाज में प्रकृष्ट अन्तर किया है, यद्यपि वह ऐसा मानता है कि परिवार और समाज का पूर्ण पर्यवसान राज्य में ही हुआ है और उसीके आधार पर वे टिक सकते हैं। प्लेटो के समय की राज्य-व्यवस्था साधारण थी और राज्य तथा राष्ट्र आदि के विभिन्न का जो निदर्शन हेगेल में है, वह प्लेटो में नहीं है। राजकीय सुधार का मुख्य साधन प्लेटो के मतानुसार आध्यात्मिक दर्शन है। हेगेल के अनुसार मुख्य विज्ञानात्मक तत्त्व ईसाइयत के द्वारा प्रचारित आध्यात्मिक व्यक्तिवाद है। कल्पना के लोक में बहुत विचरने-वाला प्लेटो शासकवर्ग के लिए सम्पत्ति के साथ-साथ वैयक्तिक परिवार का भी तिरोभाव कर डालता है। किन्तु ईसाइयत के द्वारा प्रवर्तित एकपत्नीव्रत का कट्टर समर्थन हेगेल ने किया है। प्लेटो के अनुसार न्यायव्यवस्था मुख्य है। वैयक्तिक न्याय का तात्पर्य है—मानव की ज्ञानात्मिका राजसिक और भोगात्मिका प्रवृत्तियों का सात्विकीकरण और सामाजिक न्याय का तात्पर्य कि प्रत्येक वर्ग पूर्ण निष्ठा से स्वकर्तव्य का पालन करे। हेगेल के मतानुसार मानव इति

वृत्त में वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ स्वातंत्र्य के समन्वय का महान् प्रयास दृष्टिगत होता है। स्वातंत्र्य का अनुसंधान जागतिक तार्किकता का एक निश्चित लक्ष्य है। शिक्षा जो यूनानी राजनीतिशास्त्र की एक महती देन है, उस पर से औदासीन्य हेगेल के विचार शास्त्र में एक खटकनेवाली वस्तु है। हेगेल शिक्षा को नागरिक समाज के अन्तर्गत मानता है। शिक्षा का महान् उन्नायक प्लेटो अनेक शासकों को वैसी ही शिक्षा देना चाहता है जिससे उनका चरित्रगठन हो। यदि होमर, हेसोयाड, सोफोक्लिज के ग्रन्थों में भी मानव-आत्मा को अधःस्तर पर ले जानेवाले कुछ स्थल हों तो उन्हें राज्य से बहिष्कृत करने की माँग उसने की है। प्लेटो ने कला का भी विरोध किया है। कला को अनुकरणमात्र मानकर प्रत्यय का अन्वेष्टा प्लेटो, कला को सत्य से तीन बार अलग मानता है[1]। प्रथम प्रकृष्ट सत्य हुआ—चतुष्टपादिका का प्रत्यय। उससे निम्नतर का सत्य भौतिक जगत् में वर्तमान अनेक चतुष्पादिकाएँ। निम्नतम कोटि का सत्य हुआ कला के द्वारा भौतिक चतुष्पादिका की आकृति। हेगेल के समय में यूरोप में कला का उन्नयन हो रहा था[2] और पूर्ण प्रत्यय के प्रकाशन का प्रथम रूप उसने कला को माना है। धर्म और दर्शन में पूर्ण प्रत्यय का प्रकृष्ट प्रकाशन होता है। अतः यदि प्लेटो के दार्शनिक राजनीतिशास्त्र में कला का नगण्य रूप है तो हेगेल के अनुसार नैतिक तत्व के घनीभावरूप राज्य से भी उत्कृष्ट तत्व का दर्शन कला में होता है।

टामस हिल ग्रीन, हेगेल की विचारधारा से प्रभावित था[3]। किन्तु हेगेल के समूहवाद की अपेक्षा काण्ट के व्यक्तिवाद का उस पर अधिक प्रभाव था। ग्रीन के अनुसार राज्य का आधार दण्डबल नहीं, अपितु सामान्यहित के प्रत्यय द्वारा इसका नियमितीकरण है। राज्य एक ऐसी समष्टि है जिसमें मानव अपने अधिकार चैतन्य द्वारा बँधे रहते हैं। राज्य को सम्पूर्ण अधिकार नहीं है और न यह स्वातंत्र्य की पूर्ण अभिव्यक्ति है। राज्य वैधानिक आधार पर कार्य करता है। मानव के बाह्य सम्बन्धों का ही नियंत्रण राज्य द्वारा हो सकता है? आन्तरिक भावनाओं की परिशुद्धि आचारशास्त्र का विषय है। हेगेल ने राज्य को अतिशय तार्किकता का आगार बताया था। ग्रीन ने सामान्य हितवाद का जोरों से समर्थन किया। मानव समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन कर ही नीतिमान् बन सकता है। किन्तु जिस प्रकार भावनासंशुद्धि का संदेश काण्ट में आता है, उसी प्रकार ग्रीन ने भी यादृच्छिकता, निष्कामता और भावना तथा बुद्धि के सामंजस्य पर ध्यान दिया है।

१. Republic, Book X.
२. Bosanquet, History of Aesthetic.
३. Complete work of T.H. Green तीन खण्डों में।

ब्रैडले की विचारधारा में राज्य का अतिशय औदात्य अभिव्यक्त हुआ; क्योंकि वह हेगेल से बहुत प्रभावित था[1]। राज्य केवल एक यंत्र नहीं है। यह एक वस्तुनिष्ठ मन है तो आत्मनिष्ठ और आत्मचैतन्ययुक्त रूप अपने नागरिकों में धारण करता है। यह नियंत्रण और विधि के द्वारा कार्य करता है; किन्तु इसकी आज्ञाकारिता में मानव को सन्तोष और सुख की प्राप्ति होती है। राज्य अपनी प्रेरणा के द्वारा मानव को जीवन संदेश प्राप्त कराता है। यदि मानव अपने पदोचित और राज्यवृत्त-निमित्तक कर्मों को करता है तब कह सकते हैं कि इसने अपना पूरा नैतिक कर्तव्य किया है। विलियम वैलेस भी हेगेल का ही अनुयायी था। इसने तो राज्य को एक मरणधर्मादेवता या ईश्वर कहा और ऐसा प्रस्ताव रखा कि इसे सर्वशक्तिमान और सर्वश्रेष्ठग्राही होना चाहिए[2]। अधिकारों का निर्देशक राज्य ही है।

हेगेल के द्वारा प्रणीत दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की पूर्ण परिणति बोसांक्वेट में हुई[3]। ग्रीन ने अंग्रेजी उदारवाद और काण्ट के आधारशास्त्र से प्रभावित होकर हेगेल के उग्र राज्यवाद का खंडन किया था। उसके आक्षेपों के परिहार के द्वारा हेगेल को पुनरपि समर्थित करने का प्रस्ताव बोसांक्वेट ने रक्खा। समाजशास्त्र के प्रसार के कारण जो राजनीतिशास्त्री राज्य को भी एक संस्था कह रहे थे, उनकी मान्यता को विरोधाभासयुक्त कह कर राज्य की वृत्तात्मक कल्पना का इसने प्रणयन किया। इसके अनुसार राज्य केवल राजकीय संगठन का नाम नहीं है। अपितु राज्य एक विशाल समष्टि है जो समाज की प्रत्येक संस्था को जीवन-दान करता है। राज्य प्रायः समाज का समकक्ष ही है। राज्य का इतना वैशिष्टय है कि विधिसम्मत दण्डप्रयोग का इसे एकाधिकार है। राज्य, मानव के प्रत्येक जीवन-संस्था का व्यापक सामंजस्य उपस्थित करता है। प्रथम तो यह उपदेश, निर्देश, विज्ञप्ति आदि के द्वारा कार्य करता है; किन्तु अन्ततः दण्ड का प्रयोग करता है। कहीं-कहीं बोसांक्वेट ने राज्य को

१. F. H. Bradley, Ethical Studies.
२. William Wallace, Lectures and Essays on Natural Theology and Ethics.
३. Bernard Bosanquet, A Philosophical Theory of the State, Social and International Ideals; R. F. A. Hoernle, Bosanquet's Philosophy of the State, Political Science quarterly, Vol. XXXIV, १९३३, पृष्ठ ६०९-६३१; B. Pfannensstill, Bernard Bosanquet's Philosophy of the State (१९३६); W. H. Dawson, 'Bosanquet', Encyclopaedia of the Social Sciences.

समाज का एक बाह्यसंबंध नियंत्रक अंग माना है, और कहीं-कहीं समाज और राज्य को एकार्थक कहा है, यद्यपि दण्ड का एकाधिकार सर्वदा राज्य को है, समाज को नहीं। राज्य का लक्ष्य है—कल्याणकारी जीवन को प्राप्त करना, किन्तु शक्ति का केन्द्र होने के कारण इसकी कार्यप्रणाली उस चैतन्य के साथ सूक्ष्मतापूर्वक कार्य नहीं कर सकती जो नैतिक जीवन का मूल है; अतएव राज्य केवल सदाचारपूर्ण जीवन के निमित्त आवश्यक वस्तुस्थिति को उत्पन्न कर सकता है। कल्याणकारी जीवन के बाह्य अवरोधों का अन्त करना ही इसका पुरुषार्थ है। इस कार्य के निमित्त मनुष्यों को मृत्युदंड तक देने का इसे अधिकार है और उनकी वफादारी को एकमात्र केन्द्र होने का भी हक है। यद्यपि दंडप्रयोग का राज्य को एकाधिकार है, तथापि यह राज्य का मूल आधार नहीं है। प्रत्येक मानव के अन्दर अंतिम रूप से अभीष्ट है, सामान्य-हित-सम्पादन की प्रवृत्ति। यह कल्याणप्रसाधिका वृत्ति शनैः-शनैः चैतन्य प्राप्त करती है। इस वृत्ति का राज्य द्वारा प्रकाशित 'सामान्य इच्छा' से तादात्म्य है[१]। अन्ततोगत्वा परिशुद्ध सामान्य संकल्प को ही संकल्पीकृत करना मानव का पुरुषार्थ है। इस प्रकार का संकल्प ही राजकीय आज्ञानुकारिता का अन्तिम स्रोत है। इस प्रकार यद्यपि राज्य, समष्टि का अनुप्राणकर्त्ता, मानव के शिवसंकल्प का बाह्यीकरण तथा दंडशक्ति का एकमात्र स्रोत होने के कारण अतिशय प्रकृष्ट रूप धारण करता है, तथापि पूर्ण सत्य की इयत्ता इससे कदापि नहीं होती। परम सत्य की अभिव्यक्ति प्रकृष्ट रूप से कला, धर्म और दर्शन में होती है और इसलिए राज्य को सावयव पूर्ण का एक अंग ही कहा जा सकता है। पूर्णता का दर्शन करने के लिए राजनीतिक सिद्धान्त से परे जाना होगा[२]।

१. G. H. Sabine, Bosanquet's Theory of the Real Will, The Philosophical Review, १९२३, पृष्ठ ६३३–६५१; A. D. Lindsay and Harold Laski, Bosanquet's Theory of the General Will, Proceedings of the Aristotelian Society, १९२८, पृष्ठ ३१–६१।

२. Bosanquet, The Philosophical Theory of the State, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ३१०। There is, therefore, no breach of continuity when the immediate participation of numbers, the direct moulding of life by the claims and relations of selves, falls away, and the human mind, consolidated and sustained by society, goes further on its path in removing contradictions and

हेगेल, ग्रीन, वैलेस, ब्रैडले, बोसांक्वेट आदि के द्वारा प्रणीत दार्शनिक राज्यशास्त्र की कतिपय विशेषताएँ हैं। समाज को विभिन्न वैयक्तिक, मानसिक प्रक्रियाओं का केवलमात्र एकत्रीकरण कल्पित करने के कारण शास्त्रीय ढंग से समाज को उन्मूलित करने की जो प्रवृत्ति दीख रही थी, उसके विपरीत एक स्वस्थ प्रतिक्रिया इस विचार-धारा में व्यक्त हुई। समष्टि को नीतिमान् मानना और सामष्टिक कर्मयोग से मानव-उन्नयन मानना इस राज्यशास्त्र की विशेषता है। वस्तुत: समष्टि से व्यतिरिक्त मानव एक खोखलामात्र है। उसे अपने पद या आश्रम के कर्त्तव्यों का अवश्य पालन करना चाहिए। दार्शनिक राज्यशास्त्र ने राज्य को दण्डप्रयोग का एकाधिकार देते हुए भी संकल्प को ही उसका मूल आधार माना। प्राय: आलोचकों को पता नहीं है कि अपने ग्रंथ 'अधिकार का दर्शनशास्त्र' में हेगेल ने दण्डाधारवाद का खंडन कर संकल्पाधारवाद का समर्थन किया है[१]। मानव एक चैतन्यशील प्राणी है और सदाचारप्रेमी है। उसकी वफादारी का केन्द्र बनने के लिए राज्य को अवश्य ही उसकी सहमति और सहयोग से चलना होगा। जैसे-जैसे देश और विदेश में शिक्षा-प्रसार के कारण चैतन्य का विकास हो रहा है, वैसे-वैसे यह आवश्यक हो गया है कि बर्बर जातियों में प्रचलित

shaping its world and itself into unity. Art, Philosophy, and religion, though in a sense the life-blood of society, are not and could not be directly fashioned to meet the needs and uses of the multitude and their aim is not in that sense 'social'. They should rather be regarded as a continuation, within and founded upon the 'commonwealth, of the work which the commonwealth begins in realising human nature; विशेष विवेचन के लिए द्रष्टव्य Bosanquet, The Principle of Individuality and value, The value and Destiny of the individual.

१. Hegel, The Philosophy of Right (Oxford edition): "The basis of the State is the power of reason actualizing itself as will." पृष्ठ २७९, "Commonplace-thinking often has the impression that force holds the state together, but infact its only bond is the fundamental sense of order which everybody possesses" पृष्ठ २८२।

और कतिपय जर्मन विचारशास्त्रियों के द्वारा समर्थित दण्डाधारवाद का राजनीतिशास्त्र से निष्कासन कर दिया जाय। सभ्यता और संस्कृति की विरोधिनी शक्तियों के उन्मूलन तथा शांति और सुरक्षा के लिए राज्य, दण्ड का प्रयोग अवश्य करेगा; किन्तु एक अन्तिम साधन को उसका मूलाधार ही कल्पित करना भ्रामक है। दण्ड राज्य का अन्तिम साधन है, मानव का संकल्प और सम्मति ही उसका मूलाधार है। दार्शनिक राज्यशास्त्र के आधुनिक यूरोपीय प्रणेताओं ने जीवन को एक आध्यात्मिक-समष्टि के रूप में देखा था। नागरिक जीवन भी एक निर्मल कर्तव्य-पालन है और इस के सहारे मानव को अपनी वृत्तियों का ज्ञान और आत्मचैतन्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार जर्मन-अंग्रेजी दार्शनिक राज्यशास्त्र की दो शिक्षाएँ अवश्य उपादेय हैं--(क) कर्म-योग और (ख) राज्य-संबंधी संकल्पाधारवाद।

किन्तु प्रस्तुत पुस्तक में मानव के नैतिक और आध्यात्मिक स्वरूप के आधार पर राज्यसूत्र को हम स्थापित करना चाहते हैं। मानव के नैतिक और आध्यात्मिक रूप पर बल देना, बौद्धधर्म, वेदान्त, गाँधी आदि के विचार का मूल है। इस दृष्टि से हेगेल, बोसांक्वेट आदि के अनेक विचार हमें असंगत मालूम पड़ते हैं। ग्रीन के अतिरिक्त प्रायः समस्त विज्ञानवादियों ने अतिरंजित राज्यवाद का समर्थन कर डाला। प्रजातंत्रीय विचारधारा विधान के द्वारा मानव-चैतन्य और वैयक्तिक अधिकारों की घोषणा कर राज्य की शक्ति को कम करने का आदेश देती है। राज्य की अधिक शक्ति का, व्यवहार में तात्पर्य है--राज्य के नाम पर काम करने वाले सरकारी नौकरों की शक्ति में वृद्धि[१]। अतः यदि मानव-चैतन्य को सुरक्षित करना है तब राज्य की शक्ति को कम करना ही होगा। मानव-जीवन नैतिकता पर आधारित है और नैतिकता का मूल है—यादृच्छिक रूप से अन्य मानवों के अधिकारों का ज्ञान। इस प्रकार की नैतिकता, शिक्षा और धर्मप्रचार के द्वारा ही मिल सकती है। राज्य को नैतिक जगत् का एकमात्र रक्षक मानना और नैतिक तत्त्व का वास्तवीकरण इसे कहना, असंगत बातें हैं। राज्य के कुछ कर्तव्य अतीव आवश्यक हैं, किन्तु मानव के समस्त कर्तव्यों का केन्द्रबिन्दु राज्य नहीं है।

हेगेल, बोसांक्वेट आदि ने ऐसा प्रस्ताव रखा है कि वे राज्य के प्रत्यय का बोध करा रहे हैं न कि किसी वास्तविक राज्य का चित्रण कर रहे हैं। इस प्रत्यय का बोध करने के लिए, तर्क के अतिरिक्त ऐतिहासिक आधार की भी आवश्यकता है। तर्क के द्वारा स्वातंत्र्य या सत्संकल्प या सामान्य हित की विचारधारा का विश्लेषण किया जाता है। किन्तु इस बौद्धिक विन्यास के अतिरिक्त यूरोपीय सभ्यता में जो राज्य

१. Duguit, Law in the Modern State.

का पूर्ण परिपाक दिखाई पड़ता है, उसी से हेगेल और बोसांक्वेट को अपने विवेचन के लिए ऐतिहासिक आधार प्राप्त हुआ है। अतः यह कहकर छुटकारा नहीं मिल सकता कि वे लोग वस्तविक राज्य की नहीं; किन्तु राज्य के प्रत्यय की मीमांसा कर रहे हैं। या तो वे यूरोपीय राज्यों के पूर्ण विकसित स्वरूप का वर्णन कर रह हैं या स्वयं अपनी तर्कणाशक्ति और कल्पनाशक्ति के आधार पर राज्य के लिए एक आदर्श चित्र खड़ा कर रहे हैं। मेरा कहना है कि दोनों दृष्टियों से ही अनेक भ्रांतियाँ उनके विचारधारा में हैं। जर्मनी या इंगलेंड, कहीं के भी राज्य को लें, उसे स्वातंत्र्य की अभिव्यक्ति मानना भ्रामक है। जबतक देश में अत्याचार, अनाचार, शोषण और भयानक वर्ग-संघर्ष हैं तबतक पीड़ित समाज के लिए तो कदापि भी राज्य स्वातंत्र्य का मूर्त रूप नहीं है। बोसांक्वेट का कहना है कि वह किसी भी राज्यविशेष से सम्बन्ध नहीं रखता, अपितु राज्य के प्रत्यय या विचार या प्रयोजन का वर्णन कर रहा है। किन्तु समाज और राज्य का प्रायशः एकीकरण, या राज्य को मानव के शिवसंकल्प से तादात्म्यप्राप्त कदापि विचार या आदर्श किसी भी दृष्टि से स्वीकार नहीं किया जा सकता।

हेगेल और बोसांक्वेट ने राज्य का दो अर्थों में प्रयोग किया है। कभी तो राज्य से वे केवल राजनीतिक व्यवस्था या संगठन समझते हैं और कभी समाज के नियंत्रण की समष्टि। अपने इस दूसरे अर्थ में राज्य, परिवार, चर्च, विश्वविद्यालय, नागरिक समाज आदि को जीवन और निर्देश प्राप्त करनेवाला हो जाता है।[1] इस प्रकार राज्य और समाज में पार्थक्य और विश्लेषण कठिन हो जाता है। यद्यपि

१. Bosanquet, Philosophical Theory of the State. P. 149 "The State, as thus conceived, is not merely the political fabric. The term state, accents indeed the political aspect of the whole, and is opposed to the notion of an anarchical society. But it includes the entire hierachy of institutions by which life is determined, from the family to the trade, and from the trade to the church and the University. It includes all of them, not as the mere collection of the growths of the country, but as the structure which gives life and meaning to the political whole, while receiving from it mutual adjustment, and therefore expansion and a more liberal air."

बोसांक्वेट ने कहा है कि राज्य और नागरिक समाज में पार्थक्य-स्थापन हेगल के विशिष्ट मौलिक चिंतन का निदर्शक है, तथापि जब राज्य ही समाज का भी आत्मदर्शक तथा निदर्शक बन जाता है तब समाज राज्य का एक उपांग ही हो सकता है। ऐसी अवस्था में समाज और राज्य का पृथक्करण जो प्रजातंत्रीय विचारधारा का मूल आधार है, नष्ट हो जाता है[१]। इस प्रकार के विचार का पर्यवसान राज्य के अतिरंजित शक्तिवाद में अवश्य हो जायगा। समाज, मानव के स्वेच्छापूर्ण, सहयोगितापूर्ण, क्रियाकलापों और सम्बन्धों का समन्वित रूप है। राज्य के पास दण्ड-विधान, दमन, नियंत्रण का एकाधिकार है। अतः समाज और राज्य में पृथक्करण अत्यन्त अपेक्षित है। यूनान में समाज और राज्य में पार्थक्य नहीं था। किन्तु उस समय प्राकृतिक नियमवाद की विचारधारा प्रचलित थी जिससे राज्य का शक्तिवाद नियंत्रित था[२]। आधुनिक भौतिकवादी युग में जब ईश्वरीय नियम या नैसर्गिक नियम का विचार नहीं माना जाता है, तब ऐसी अवस्था में राज्य और समाज का पृथक्करण ओर अलग-अलग उनके कार्यों और अधिकारों का निर्देशन परम आवश्यक है, अन्यथा दण्डशक्ति-समन्वित राज्य समाज पर आक्रमण करेगा तथा कार्यबाहुल्य का बहाना बनाकर मानव-अधिकारों को कुचलने की चेष्टा करेगा।

राज्य को नतिक जगत् का एकमात्र परिरक्षक मानना तथा स्वतः व्यक्तित्वसम्पन्न मानना भी निराधार है। राज्य अनेक व्यक्तियों का समूह तो है; किन्तु स्वयं तात्त्विक दृष्टि से व्यक्तित्वसम्पन्न नहीं है। यदि राज्य का स्वतः एक चेतनासम्पन्न नैतिक व्यक्तित्व रहता तो दुनिया के इतिहास का स्तर अधिक उत्कृष्ट होता। अन्ताराष्ट्रिय जगत् में दो विश्व-महासमरों के कारण जो प्राकृतिक और पाशविक दुरवस्था दिखाई पड़ती है, वह इसीलिए कि स्वार्थसाधक शासकों न राज्य के व्यक्तित्व का नारा लगाकर अपने पक्ष को इतना पुष्ट कर लिया कि जर्मनी के नैतिक भावा-

१. E. Barker, Reflection on Governments, Principles of Social and Political Theory; L. T. Hobhouse, Metaphysical Theory of the State; R. M. Maciver, The Modern State, The Web of Government.

२. Yea, for these laws were not ordained of Zeus, And she who sits enthroned with gods below, justice, enacted not these human laws. Nor did I deem that thou, a mortal man, could'st by a breath annual and override The inmutable unwritten laws of Heaven. They were not born to-day nor yesterday; They die not; and none knoweth whence they sprang.

पन्न समाजशास्त्रियों ने या तो चुप्पी साध ली या राज्य का ही समर्थन किया। जब राज्य को व्यक्तित्वसम्पन्न माना जाता है तब मानवव्यक्तित्व से भी अधिक प्रकृष्ट एक राज्यव्यक्तित्व परिकल्पित हो जाता है। राज्य को व्यक्तित्वसम्पन्न मानना उसे सप्रयोजन मानना है। किन्तु समूहशील मानवों के प्रयोजन के अतिरिक्त राज्य का अन्य कोई निजी प्रयोजन नहीं हो सकता। राज्य के पृथक् विलक्षण व्यक्तित्व की कल्पना का तात्पर्य है--मानवों को व्यक्तित्वविहीन करना; क्योंकि ऐसी अवस्था में राज्य अपने व्यक्तित्व की सिद्धि में इन मानवों को साधनभूत ही मानेगा।

हेगेल ने राज्य को सर्वोत्कृष्ट सामान्य माना है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति, उस सामान्य का प्रकाशनमात्र रह जाता है। किन्तु इस प्रकार की कल्पना व्यक्ति के स्वातंत्र्य का अपहरण करती है। बोसांक्वेट का भी प्रायः ऐसा ही मन्तव्य है और उसने राज्य को समस्त संस्थाओं का प्राणप्रदाता माना है। किन्तु राज्य के इस अतिरंजित विशदीकरण का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। प्राचीन भारत में जो सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था पाई जाती है, वह किसी संगठित राज्य-प्रणाली का प्रतिफल नहीं थी, अपितु ऋत और धर्म के व्यापक प्रभाव से उत्पन्न हुई थी। राज्य भी धर्म की व्यवस्था का समर्थक और अनुमोदक था[१]। पुनश्च, गांधी और मार्क्स दोनों एक ऐसी, मानव की सामूहिक अवस्था की, कल्पना करते हैं जब राजकीय नियंत्रण का पूरा अवसान हो जायगा। राज्य के निरसन से ही मानव की शांत, सहयोगितापूर्ण प्रवृत्तियों का उदय होगा। इस प्रकार की रूपान्तरित अवस्था में शांति, सुव्यवस्था और संस्थाओं का विकास राज्य के अभाव में ही अच्छी तरह होगा। संस्थाओं के परिवर्त्तन आर्थिक, राजनीतिक, यांत्रिक तथा तांत्रिक शक्तियों के विकास पर आश्रित हैं। राज्य की चेतन-प्रक्रिया एक सीमित अंश तक ही सामाजिक संस्थाओं के परिवर्तन में भाग लेती है। जन-संख्या के विकास और पूंजीवाद के अप्रत्याशित संवृद्धि के कारण आधुनिक काल में अनेक संस्थाओं का विकास और उनके जीवन में अपेक्षित परिवर्तन भी होते रहते हैं। तार्किकतायुक्त राज्य के चेतन निर्देश से इन संस्थाओं का परिचालन और परिवर्तन मानना असंगत है।[२] भारत में अनेक राज्यों के परिवर्तन होने पर भी कुल, जाति आदि संस्थाएं सर्वदा अपना जीवन बिताती चली आई हैं।[३]

---

१. V. P. Verma, "Studies in Hindu Political Thought and its Metaphysical Foundations" (तृतीय अध्याय)।

२. John R. Commons, The Legal Foundations of Capitalism; T. Parsons, The Structure of Social Action.

३. Sri Aurobindo, The Foundations of Indian Culture; Jayaswal, Hindu Polity.

मानव के व्यक्तित्व में द्वित्व की अकारण कल्पना भी बोसांक्वेट में पाई जाती है। मानव के व्यावहारिक व्यक्तित्व की प्रवृत्ति सुखान्वेषण की ओर है और उसका चेतन आत्मा सामान्य कल्याण की खोज करता है, ऐसा मन्तव्य रूसो के आधार पर उसने स्थापित किया। किन्तु मेरे विचार में मानव की कल्याणकामिनी इच्छा का राज्य की सामान्य इच्छा से तादात्म्य मानना अनर्गल है। क्या गांधी, दयानन्द, लेनिन की कल्याणकामिनी इच्छा का कभी किसी राज्यविशेष की सामान्य इच्छा से तादात्म्य हुआ ? इस प्रकार का तादात्म्य मानने का अर्थ होता है--राज्य के दो रूप की कल्पना करना। सामान्य हित का वाहक राज्य चैतन्यसम्पन्न है और व्यापक चेतनासंतान का एक छोर यदि मानव है तो दूसरी अन्तिम सीमा पर समाज और राज्य है। किन्तु संघर्ष के अवसर उपस्थित होने पर दण्डधर रूप में राज्य एक अचेतन यन्त्र के समान प्रतीत होता है। राज्य की यांत्रिकता और चेतनविहीनता का रूप इसे मानव-कल्याण के निमित्त आवश्यक बाह्य अवस्थाओं का प्रस्तोतामात्र स्थापित करता है। इस प्रकार के विचार में विरोधाभास मालूम पड़ता है। यदि व्यापक रूप में राज्य हमारे अन्तस्तल की कल्याणकामिनी प्रवृत्ति से एकात्मभूत है तब शक्तिधारण कदापि उसका मूल तत्व नहीं हो सकता है। प्रजातंत्रीय राज्य-व्यवस्था में शक्ति और दण्ड की बड़ी आवश्यकता है; क्योंकि प्रजातंत्रीय समाज कोई अहिंसक समाज तो है नहीं; किन्तु एक ओर तो ऐसी कल्पना करना कि राज्य में व्यक्ति और समष्टि का भावनात्मक और संकल्पात्मक सम्मेलन होता है और फिर ऐसा मानना कि दण्डविधान राज्य का मूल तत्त्व है, परस्पर विरोधी कल्पनाएँ हैं। दण्ड का विधान द्वैत और पार्थक्य पर आश्रित है। जहाँ भावनात्मक अद्वैत है, वहाँ दण्ड का क्या प्रयोजन है ?

दार्शनिक राजनीतिशास्त्र आध्यात्मिक चैतन्यसम्पन्न मानव को ही श्रेय का अन्तिम वाहक और संस्थान मानता है। अतएव पूर्वीय और पाश्चात्य विचारधारा के आधार पर जिस राजनीतिशास्त्र के प्रणयन का यहाँ प्रस्ताव किया जा रहा है, वह राज्य को मानव-कल्याण का एक साधन—विराट् साधन--मानता है; किन्तु स्वतः उसको व्यक्तित्व-सम्पन्न, चेतनायुक्त तथा सामान्यहित का वैयक्तिक परम अभीप्सा से तादात्म्य कराने वाला नहीं मानता है। केवल शब्द-विश्लेषण या बुद्धिप्रजाल को यह दार्शनिक पद्धति नहीं मानता है। अनेक शास्त्रों के द्वारा ज्ञात सिद्धान्तों के समन्वय का उपक्रम ही दार्शनिक प्रयास है। अतएव इतिहास, समाज-शास्त्र और व्यावहारिक अनुभव पर जो ज्ञान आधारित है, उसको ध्यान में रखते हुए आज के युग में एक ऐसे दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की अपेक्षा है जो मानव-एकता और उन्नति का निर्मल संदेश दे, न कि प्रजातंत्रीय प्रणाली और वैयक्तिक अधिकार का विनाश करनेवाला उग्र राज्यवाद प्रचारित करे। सामाजिक और आर्थिक प्रेरणाओं और

विकास-क्रियाओं को ध्यान में रखकर ही राज्य की पूरी व्याख्या हो सकती है। राज्य, मानव की नियंत्रणकारिणी व्यवस्था का केन्द्रागार है; किन्तु यह समस्त सामाजिक संस्थाओं को जीवन और चेतना देनेवाला सामाजिक या राजकीय वृत्त नहीं है। मानव-विकास के लिए कर्मयोग आवश्यक है; किन्तु ब्रैडले का ऐसा मन्तव्य कि स्थान चुनने की आंशिक स्वतंत्रता तो मानव को है; किन्तु कर्त्तव्यनिर्णय की नहीं, अन्ततः समाज के अधिनायकवाद का समर्थक हो जायगा। चैतन्ययुक्त नीतिशील मानव को इसकी स्वतंत्रता है कि किस प्रकार वह सामान्य कल्याण का परमोत्कृष्ट मार्ग निष्पन्न कर सकता है, अपनी पूर्ण विचारणा से इस संबंध में वह स्वयं निर्णय करे। जब हम कहते हैं कि कर्त्तव्यों का निर्णय समाज करेगा तब उस समय भी स्वयं समाज तो कुछ करता नहीं, उसके नाम पर कुछ व्यक्तिविशेष ही कार्य करते हैं। एक समय था जब मजदूरों से, इकरार के अतिरिक्त भी कार्य लेना, पूँजीवादी समाज कर्त्तव्यपालन ही समझता था। किसी भी समाज की प्रचलित अवस्था अनेक अतर्कसंगत कर्त्तव्यों का दलितवर्ग से पालन कराती है। मनुष्य की नैतिकता और चेतना का यह तकाजा है कि वह अपनी बुद्धि से अपने कर्तव्य का निर्णय करे और उन्हें भ्रामक और अतर्कसंगत समझने पर उनका विरोध करे। शाक्यगण-राज्य में शासन करना बुद्ध का कर्तव्य था या मानवमोक्षमार्ग का अनुसंधान? राम का कर्त्तव्य प्रजाशासन था या जंगलगमन? कर्त्तव्य क्या है, इसका निर्णय बराबर करना पड़ता है। कर्तव्यनिर्णय के अवसर वैयक्तिक जीवन में बराबर आते हैं। अपने प्रति और समाज के प्रति हमारा क्या कर्त्तव्य है, इसका बराबर ध्यान रखना है किन्तु समाज और राज्य के नाम पर किसी समूहविशेष को हमारे कर्तव्य-निर्णय का अधिकार सौंपना स्वतंत्रता पर आघात करना है। कर्त्तव्य की कर्तव्यता इसी में है कि निष्काम कर्मयोग के मंगलमय संकल्प से हम प्रभावित रहें, और इसी एकान्त भावना से सर्वदा अनुप्रेरित हों। इस प्रकार की अनुप्रेरणा प्रदान करने में राज्य एक संस्था है, संस्थासर्वस्व कदापि नहीं।

इतिहास की उत्पादनात्मक-आर्थिक व्याख्या स्वीकार कर मार्क्स और एंगल्स ने राज्य का विवेचन किया। उनके अनुसार उत्पादनप्रक्रिया के अनुसार सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण होता है। सामाजिक सम्बन्ध ही समाज का असली रूप है और इसका आर्थिक आधार है[१]। राज्य,

---

१. Marx, Critique of Political Economy; "In the social production which men carry on they enter into definite relations which are indispensable and independent of their will; these relations of production correspond

सामाजिक सम्बन्धों या उत्पादन-प्रक्रिया के अधीशों का एक साधन है[१] । पुरातन साम्यवाद के बाद सभ्यता, वैयक्तिक सम्पत्ति, मुनाफे के लिए विनिमय और शोषण-क्रिया का उदय हुआ। शोषकवर्ग अपनी शोणषक्रिया को विधिसम्मत रूप देने के लिए राज्य को अपना साधन बनाता है। समाज की प्रक्रियाओं से उत्पन्न होकर भी राज्य एक अलग संस्था बन जाता है। राज्य एक क्षेत्राश्रित संस्था है, न कि रक्ताश्रित। सर्वव्यापक कर के द्वारा यह अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और विशेषतः आधुनिक काल में नौकरशाही और सैन्यशक्ति राज्य का आधार हैं। राज्य मुख्यतः शोषक-वर्ग का एक साधन है। कभी-कभी जैसे प्रथम और तृतीय नेपोलियन तथा विस्मार्क के समय में, राज्य वर्गों का संतुलन बनाये रखता है और किसी एक वर्गविशेष का ही हित-पोषण नहीं करता है[२] । जबतक समाज में वर्गसंघर्ष और शोषण रहेगा, राज्य की आवश्यकता होगी। मार्क्स तथा एंगल्स का ऐसा विचार है कि साम्यवादी शोषणहीन और वर्गहीन समाज में राज्य स्वतः विदीर्ण हो जायगा। उसी समय पूर्णता, समानता और सच्ची स्वतंत्रता का दर्शन होगा[३] ।

---

to a definite stage of development of their material powers of productions. The sum total of these relations of production constitutes the economic structure of society—the real foundation on which rise legal and political superstructures and to which correspond definite forms of social consciousness. The mode of production in material life determines (bedingt) the general character of the social political and spiritual processes of life".

१. The communist manifesto:—"The bourgeosie, has at last, since the establishment of modern industry and of the world market, conquered for itself, in the modern representative state, exclusive political sway. The exclusive of the modern state is but a committee for managing the common affairs of the whole bourgeoisie".

२. Origin of the Family.

३. Origin of the Family; Socialism, Utopian and Scientific.

मार्क्स के विचार में अवश्य ही सचाई है; किन्तु अंशतः ही । निस्सन्देह, आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली वर्गों ने अपना राजकीय प्रभुत्व सर्वदा स्थापित किया है । यूनान में दासाधिपतियों के और मध्ययुग में सामन्तशाहों के राजनीतिक प्रभाव का वर्णन आता है । अट्ठारहवीं शताब्दी में, इंगलैण्ड में अल्पसंख्यक धनियों का प्रभुत्व था । अमेरिका में भी अफ्रिका-निवासियों को दास बनाकर रखनेवाले लोगों का विशाल राजनीतिक प्रभाव था । प्रजातंत्रीय मतदान-प्रणाली में भी देखा गया है कि आर्थिकसत्तासम्पन्न वर्ग गरीबों का मत खरीद लेता है । अमेरिका के इतिहास में एसा देखा गया है कि कभी-कभी बड़े-बड़े पूँजीपतियों और बैंकशाहों के स्वार्थ की रक्षा के लिए अमरीका की सेना, अन्य देशों में भेजी गई[१] । चीन में यूरोपीय निहित आर्थिक वर्गों का संघर्ष कई वर्षों तक चला[२] । अफ्रिका में यूरोपीय आर्थिक वर्गों के स्वार्थ की रक्षा के लिए सेना भेजी गई[३] । अनेक अवसरों पर पूँजीपतियों के स्वार्थ को सुरक्षित करने के लिए राज्य ने सैन्यशक्ति का उपयोग किया है । इटली के राजनीतिशास्त्रवेत्ता मोस्का, परेटो, मिशेल्स आदि ने इतिहास के आधार पर यह सिद्ध करना चाहा है कि किसी-ने-किसी प्रकार, बौद्धिक शक्ति या सैन्य-शक्ति या राजकीय शक्ति का सहारा लेकर एक अल्पसंख्यक वर्ग सत्ता को अधिकृत कर लेती है[४] । धन एक प्रचंड शक्ति है और मानव-समाज पर इसका गहरा प्रभाव है । हैरिंगटन ने कहा था कि जिस प्रकार सम्पत्ति का वितरण होता है, उसी का अनुसरण राजसत्ता भी करती है[५] । मैडिसन, गूयजो, थियरी आदि ने भी रानीतिक संघर्षों और आन्दोलनों के पीछे आर्थिक निहित स्वार्थों का संघर्ष ही कारणभूत माना है[६] । अतएव मार्क्स और एंगल्स ने यदि राज्य को आर्थिक सत्ताधारियों का प्रतिनिधि माना है तो अवश्य ही एक प्रचलित सामाजिक सचाई की ओर उन्होंने ध्यान दिलाया है । यद्यपि बौद्ध साहित्य से लेकर आधुनिक काल तक भारतीय राज्य-प्रणाली में श्रेष्ठियों के प्रभाव और प्रभुत्व का वर्णन आता है; तथापि राजकीय

---

१. Charles A. Beard, The Idea of National Interest.
२. Vinacke, A History of the Far East in Modern Times.
३. Bukharin, Imperialism and World Economy, Moone, Imperialism and World Politics.
४. G. Mosca, The Ruling class; V. Pareto, Mind and Society; R. Michels, Political Parties.
५. Harrington, Oceana.
६. Madison, Guizot, Augustin Thiorry.

शक्ति को आर्थिक सत्ता का एक विवर्तमात्र मानना एक अतिरंजित कल्पना है।

राजकीय शक्ति नानामुखी है। दार्शनिक राजनीति-शास्त्र की यह मान्यता है कि राजकीय शक्ति के अनेक स्रोत हैं। केवल आर्थिक सत्ता से या केवल सैन्यदण्ड से राजकीय शक्ति की सम्यक् व्याख्या नहीं हो सकती। तिब्बत में, मिस्र देश में, बाबुल में और अरब में अनेक वर्षों तक देवतंत्र प्रचलित था। देवतंत्र में, राजकीय शक्ति का धारण करनेवाला दैवी विभूति से सम्पन्न माना जाता है। अनेक अवसरों पर इस प्रकार के विभूति-सम्पन्न नेताओं का पराक्रम इतिहास में देखने में आता है। हजरत मुहम्मद, जान आफ आर्क और जान काल्विन की शक्ति इसी दैवी विभूतिसम्पन्नता का ही परिणाम है। यहाँ इस बात की विवेचना नहीं करनी है कि दैवी विभूति का विचार तर्क की दृष्टि से ठीक है या नहीं। समाजशास्त्रीय दृष्टि से इतना ही पर्याप्त है कि जिन लोगों के ऊपर शक्ति का प्रयोग हो रहा है, वे उस प्रयोक्ता नेता या नायक को दैवी विभूतिसम्पन्न मानें[१]। महात्मा

विभूतिवाद (Charisma) की व्याख्या करते हुए जर्मन समाजशास्त्री मार्क्स वेबर ने लिखा है–"Charisma knows only inner determination and inner restraint. The holder of charisma seizes the task that is adequate for him and demands obedience and following by virtue of his mission. His success determines whether he finds them. His charismatic claim breaks down if his mission is not recognized by those to whom he feds he has been sent. If they recognize him, he is their master—so long as he knows how to maintain recognition through proving himself. But he does not derive his right from their will, in the manner of an election. Rather the reverse holds: it is the duty of those to whom he addresses his mission to recognize him as their charismatically qualified leaders: ....Chairman can be, and of course regularly is, qualitatively particularized. This is an internal rather than an external affair, and results in the qualitative barrier of the charisma holder's mission and power. In meaning and in content the

गांधी, लोकमान्य तिलक, लाला लाजपत राय की राजनीतिक शक्ति उनके निर्मल चरित्र, देशसेवा और प्रचण्ड देशभक्ति का परिणाम था, न कि आर्थिक शक्ति का प्रतिफलमात्र। जर्मन समाजशास्त्री टौनियस की यह मान्यता रही है कि कोई भी विचार प्रकृष्ट रूप से जगत् में प्रचारित हो, इसके लिए आवश्यक है कि शक्तिशाली वर्ग उसका समर्थक बने, अन्यथा महत्त्वपूर्ण विचार भी पोषण के अभाव में विलीन हो जाते हैं। तथापि ईसाई धर्म, बौद्धधर्म आदि के प्रचार का इतिहास बताता है कि मानव के निर्मल चरित्र के आगे संसार की शक्तियाँ झुक जाती हैं। शक्ति अनेकस्रोतस्विनी है, कभी सेना, कभी चरित्र, कभी संगठनकारिता आदि के कारण राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति होती है। सीधे यह कहना कि जिन लोगों के हाथ में आर्थिक उत्पादन-प्रक्रिया का स्वामित्व है, उन्हीं का राज्य है, एक अतिरंजित साधारणीकरण है। इतिहास में आर्थिक शक्तियों का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी उनको एकमात्र शक्तिस्रोत मानना या सर्वश्रेष्ठ या सर्वनियामक मानना भ्रामक है[१]।

राज्य, उत्पादनप्रक्रिया के आधार पर स्थापित उत्पादन-सम्बन्धों के अनुसार नियमित होता है। इस प्रकार का विचार भी अतिव्याप्ति दोष से दूषित है। इतिहास में ऐसा देखा गया है कि उत्पादनप्रक्रिया की—जापान, ब्रिटेन और अमेरिका में—समानता रहते हुए भी उत्पादन-सम्बन्ध अर्थात् सामाजिक संगठन भिन्न-भिन्न हैं। सामन्तशाही प्रथा और यांत्रिक उद्योगवाद की उत्पादन-प्रक्रिया में महान् अन्तर है। किन्तु वाष्प, विद्युत् आदि शक्तियों पर आधारित उत्पादन-प्रक्रिया समान रूप से प्रायः समस्त आधुनिक देशों में व्यवहार में लाई जाती है, चाहे वह अमेरिका हो या फ्रांस या रूस। अतएव उत्पादन-प्रक्रिया निश्चित रूप से सम्बन्ध का नियमन करती है, ऐसा मानना असंगत है। पुनश्च ऐसा भी देखा जाता है कि एक ही राज्य में एक ही समय में, अनेक उत्पादन-प्रक्रियाएँ हों, जैसे—कुटीर-प्रणाली, मिल-प्रणाली आदि।

---

mission may be addressed to a group of men who are detinited locally, ethmically, socially, politically, occupationally, or in some other way. If the mission is addressed to a limited group of men, as is the rule, it finds its limits within their circle." (Essays in Sociology, पृष्ठ (२४६–२४७)।

१. V. P. Verma "Class structurc and Democratic Dynamics" Indian Journol of Political Science, September, 1953.

यूनान में प्राय: सातवीं शताब्दी ई० पूर्व से लेकर चौथी शताब्दी ई० पूर्व तक उत्पादन-प्रक्रिया दासों के श्रम और मजदूरों तथा कृषकों के श्रम पर आधारित थी; किन्तु इस बीच उत्पादन-प्रक्रिया की समानता के बावजूद अनेक राजकीय शक्ति के परिवर्तन यूनान में हुए। अभिजाततंत्र, प्रजातंत्र, अर्थतंत्र और दंडतंत्र आदि अनेकों शासन-प्रणालियों का जन्म हुआ। अतएव उत्पादन-प्रक्रिया, उत्पादन-संबंध और राज्य इन तीनों में किसी प्रकार का कार्यकारणपरक नियम बताना ऐतिहासिक दृष्टि से भ्रान्त है।

मार्क्स और एंगल्स के विचार में कुछ अन्य असंगतियाँ भी हैं। कभी वे कहते हैं कि निरंकुश राज्यतंत्र सामन्तशाही प्रथा का अनुसरण करता है, तथा कभी वे कहते हैं कि निरंकुश राज्यतंत्र पूँजीवादी व्यवस्था का राजकीय रूप है तथा कभी वे कहते हैं कि प्रजातंत्र पूँजीवादी व्यवस्था का राजनीतिक समानान्तर है[१]। अपरं च, मार्क्स और एंगल्स ने कहा है कि जब संसार में आर्थिक शोषण का जन्म होता है, तभी राज्य का भी उदय होता है, किन्तु दूसरी ओर एंगल्स ने यह कहा कि प्राथमिक साम्यवाद में भी कुछ सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राज्य का उदय हो गया था[२]।

राज्य मानव की एक तीव्र सामाजिक आवश्यकता है। मानव की यादृच्छिक वृत्तियों का सामाजिक उन्मूलन में परिवर्तन न हो जाय, इसके लिए राज्य अपेक्षित है। मार्क्सवाद की ऐसी मान्यता है कि साम्यवादी दुनिया मे केवल वस्तुओं का नियंत्रण होगा, मानव का प्रशासन नहीं। इस प्रकार की विचारधारा मार्क्सवाद के धार्मिक स्रोत और अनुप्रेरणा को व्यक्त करती है। संत अगस्तीन तथा उदारवादी आक्तन, बुर्खार्डट आदि राजनीतिक शक्ति को मानव के पतन का फल मानते हैं। धार्मिक सम्प्रदायों ने ऐसी कल्पना स्थापित की है कि मानव का कालान्तर में स्वभाव-परिवर्तन हो जायगा और इसीलिए राज्य अनावश्यक होकर विलीन हो जायगा। राज्य का स्वत: विदीर्ण होना, मार्क्सवाद का यह विचार, मानवस्वभाव के रूपान्तर की कल्पना पर आश्रित है। किन्तु इतिहास पर दृष्टि डालने से, इस प्रकार का रूपान्तर एक आदर्शमात्र प्रतीत होता है। निकटवर्ती कुछ सदियों में इस प्रकार का संभाव्य रूपांतर विश्वासप्रदायक नहीं मालूम पड़ता है। पुनश्च वस्तु-नियंत्रण और जन-प्रशासन में अन्तर करना बड़ा कठिन है। वस्तुएँ, जनसमाज से अलग नहीं

१. The Communist Menifesto, origin of the family, Revolution and Counter Revolution.

२. Engels, Anti Duhring (पृष्ठ १६५, १६८, २०२)

रहतीं। उनके नियंत्रण की प्रक्रिया में निःसंदेह ही जनसमाज के ऊपर नियंत्रण का प्रश्न उपस्थित हो जायगा। वस्तुओं के वितरण आदि के प्रश्न को लेकर संघर्ष के अवसर उपस्थित होंगे ही। राज्य का जो दण्डधर का रूप है, उसमें प्रजातंत्र और समाजवाद के विकास के साथ-साथ परिवर्तन अवश्य होगा। किन्तु मानव-समाज की ऐसी रूपरेखा जिसमें नियंत्रण का निरसन हो जायगा, काल्पनिक प्रतीत होती है।

वेदान्त दर्शन के अनुसार मानव में तीन प्रकार की एषणाएँ मुख्य हैं:—(क) सम्पत्ति की एषणा, (ख) पारिवारिक सुख की एषणा, (ग) लोक अर्थात् सांसारिक यश, ऐश्वर्य, शक्ति की एषणा[१]। आधुनिक सामाजिक मनोवैज्ञानिकों ने उदाहरणार्थ टामस, परेटो, स्माल आदि ने मानव में चार, छः आदि मूल प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है[२]। मानव एक संश्लिष्ट प्राणी है। उसमें सात्विक, राजसिक और तामसिक तीनों प्रकार की वृत्तियाँ हैं। केवलमात्र धन को उपार्जित करने की वृत्ति तामसिक वृत्ति है। समस्त राज्य को ही नहीं, अपितु समस्त इतिहास को इस मूल वृत्ति से व्याख्येय बनाना समाजशास्त्रीय दृष्टि से भ्रामक, असंगत और निराधार है। राजकीय शक्ति को अवर और आर्थिक शक्ति को प्रमुख मानना, इसके लिए कोई निश्चित आधार

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद् ४।५।२२

२. विलियम आयजक टामस के अनुसार मूल इच्छाएँ चार हैं—

(क) नवीन अनुभव की इच्छा।

(ख) प्रतिवेदना की इच्छा। (Desive for Response)।

(ग) सम्मान की इच्छा।

(घ) सुरक्षा की इच्छा।

आल्बियन स्माल के अनुसार मनुष्य की रोचकता (Interest) के छः वर्ग हैं—

(क) स्वास्थ्य-अनुराग:—इसके भी तीन पुर्नविभाग हैं—

(१) अन्न-अनुराग

(२) काम-अनुराग

(३) कर्म-अनुराग

(ख) वित्त-अनुराग

(ग) सामाजिकता-अनुराग

(घ) सौन्दर्य-अनुराग

(च) ज्ञान-विज्ञान-अनुराग

(छ) धर्म और नीति-अनुराग (Rightness Interest)।

नहीं है। अतएव कृत्स्नज्ञानान्वेषी दार्शनिक राजनीतिशास्त्र शक्ति की नानामुखता को स्वीकार कर ऐसा मानता है कि कभी धार्मिक, कभी आर्थिक और कभी राजनीतिक शक्ति की प्रमुखता रहती है। मैकियावेली ने कहा है कि कभी सिंह की वृत्ति तथा कभी लोमड़ी की वृत्ति सफलता प्राप्त करती है[१]। कौटिल्य ने बताया है कि दण्ड का आधार विनय है[२]। अतएव कृत्स्नान्वेषी शास्त्र किसी एक मूल प्रवृत्ति के आधार पर राजनीति की व्याख्या नहीं करता है।

दार्शनिक आधार पर निर्मित राजनीतिशास्त्र सम्यक् शास्त्रीय मीमांसा के लिए राज्य के लक्ष्य, साध्य या प्रयोजन को, राज्य के वास्तविक क्रियात्मक स्वरूप से अलग मानता है। हेगेल, ग्रीन, बोसांक्वेट ने पहले प्रश्न की मीमांसा की है और मार्क्स, लेनिन परेटो आदि ने दूसरे प्रश्न की। दोनों सम्प्रदायों की कमियाँ बताई जा चुकी हैं। अब आवश्यकता है कि इन दोनों पक्षों द्वारा स्थापित कुछ सत्य संदेशों का, मानव के नैतिक और आध्यात्मिक रूप को स्वीकार कर चलनेवाले राज्यशास्त्र में, समाहार कर लिया जाय। कृत्स्नज्ञानान्वेषी दार्शनिक शास्त्र की यह मान्यता है कि कोई भी सिद्धान्त नितान्त भ्रान्त नहीं होता है। सत्य का अंश उसमें अनिवार्यतः विद्यमान रहता है, भ्रान्ति अतिरंजितता के कारण आती है। हेगेल और मार्क्स दोनों अतिरंजितता के दोष के भागी हैं। निस्सन्देह राज्य का लक्ष्य सम्यक् रूप से मानवजीवन को सुखी, स्वस्थ तथा आनन्दान्वेष्टा बनाना है। वर्गविशेष का यंत्र न बनकर व्यापक सामूहिक हित का अनुसंधान ही इसका प्रयोजन हो सकता है। स्वतः यह मनुष्य को नैतिक या धार्मिक या आध्यात्मिक नहीं बना सकता है; क्योंकि नैतिक या धार्मिक जीवन के आधार हैं--भावना का परिमार्जन और प्रेरणा की यादृच्छिकता। किन्तु समाज के लोग नैतिक, धार्मिक या आध्यात्मिक जीवन बितावें, इसके लिए आवश्यक है कि समस्त अपेक्षित बाह्य उपादान राज्य प्रस्तुत करे। आन्तरिक विकास अपनी सदिच्छा और उन लोगों के सहवास से प्राप्त होता है, जो स्वयं अपना विकास कर चुके हैं या उस क्षेत्र में आगे बढ़ रहे हैं। किन्तु अपढ़, भूखे और निराधार मानव से धार्मिक और हित की उपासना करनेवाले जीवन के यापन की आशा करना, असंभव कल्पना है। दुनिया के इतिहास में कभी-कभी ऐसा देखा गया है कि शास्त्रीय दृष्टि से अपठित होने पर भी मानव महत्ता को प्राप्त कर सकता है, जैसे मुहम्मद, रामकृष्ण परमहंस आदि। किन्तु जनसाधारण को नैतिक जीवन बिताने के लिए अपेक्षित बाह्य उपादान अवश्य राज्य द्वारा प्राप्त होना चाहिए। अतएव सर्वसामान्यहित का समस्त साधनों से अनुसंधान ही राज्य का प्रयोजन हो सकता है।

---

१. Machiavelli, Prince.

२. विनयमूलो दण्डः प्राणभृतां योगक्षेमावहः।

इस हित के लिए शांति, सुरक्षा, प्रजातन्त्र, शोषणहीन समाज आदि की प्राप्ति आवश्यक है।

किन्तु सामान्य तर्कसंगत हित की सम्प्राप्ति का उद्देश्य रखते हुए भी, ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर मालूम पड़ता है कि राज्य एक मूलतः शक्तिधारक यंत्र है। भेरीघोष को धर्मघोष में बदलनेवाले राज्यकाल दुनिया में कम होते हैं। जनता के कल्याण के लिए राज्यकोष को भी खाली कर देनेवाले, 'हर्ष'-जैसे शासक भी विरले प्राप्त होते हैं। राज्य को, अन्तिम रूप में, व्यवस्था, निर्देश, सामंजस्य, सुरक्षा आदि साध्यों की प्राप्ति के लिए, दण्ड का एकाधिकार देना ही होगा[१]। सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ ऐसे दण्डप्रयोग के अवसर कम अवश्य हो जाते हैं। किन्तु जबतक मानवस्वभाव में मौलिक रूपान्तर नहीं हो जाता, जिसकी आशा बहुत ही कम है, राज्य की आवश्यकता होगी ही। वर्त्तमान जगत् पर ध्यान देने से मालूम पड़ रहा है कि राज्य के पास इस विधिसम्मत दण्ड का पूर्ण आधिपत्य है। अपने दण्ड-विधान को कानूनी रूप अवश्य राज्य प्रदान करता है; किन्तु वस्तुतः सर्वसामान्य हित की दृष्टि से उसके औचित्य का निर्णय मानव की परिष्कृत बुद्धि ही कर सकती है। अतएव दार्शनिक राजनीतिशास्त्र अन्य भौतिकवादी या विज्ञानवादी राजनीतिशास्त्रों से इस अंश में विलक्षण है कि मानव के उदात्त बौद्धिक और नैतिक चैतन्य की अपेक्षा सदसद् का विवेचन करनेवाला दूसरा अधिक सत्य साधन यह नहीं मानता। यह स्वार्थ का प्रचारक नहीं, किन्तु परमार्थ का अन्वेष्टा है। साथ ही कर्मसंकट उपस्थित होने पर मानव की नैतिक बुद्धि को ही यह परमार्थदर्शिनी बताता है[२]।

१. Max Weber, 'Politics as a Vocation, Fssays in Sociology पृष्ट ७६–१२८।

२. तुलनीय—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
कर्मणोह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥
यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥
त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित् करोति सः॥

मानव की नैतिक और आध्यात्मिक चेतना पर बल देने की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि राज्य एक संस्था है, यह एक व्यक्तित्वसम्पन्न इकाई नहीं है। मानव हृदय की संवेदनशीलता, भावप्रवणता और नमनीयता राज्य में नहीं प्राप्त हो सकती है। इसीलिए आवश्यक है कि राज्य के स्वरूप और तज्जनित इसकी कमियों का हमें ज्ञान रहे। राज्य का सम्यक् प्रयोग हो सके, इसके लिए चैतन्ययुक्त समष्टि की आवश्कता है। राज्य की यांत्रिकता और इसकी दण्डप्रियता को दूर करने के लिए चैतन्यसम्पन्न समष्टि नितांत वांछनीय है। जिस समष्टि को अपने अधिकार और कर्तव्य की मर्यादा का वास्तविक ज्ञान है, उसी को हम चैतन्यसम्पन्न कह सकते हैं। इसी प्रकार की समष्टि राज्य को भी उद्‌बुद्ध बना सकती है और इससे अपेक्षित कार्य ले सकती है। राज्य साधन है, साध्य कदापि नहीं; इस प्रकार का सतत परिज्ञान ही समष्टि और राज्य के तत्सम्बन्धों को बनाये रख सकता है।

आज समाजवाद, साम्यवाद, सामाजिक न्यायवाद, जन-कल्याणवाद, अधिनायकवाद, इन विभिन्न विचारधाराओं के प्रभाव के कारण राज्य के कार्यों का अपरिकल्पित विस्तार हुआ है। राज्य की पेचीदगी बढ़ रही है और उन्नीसवीं शताब्दी के उस उदारवाद को, जिसने उद्योगनियंत्रण, राजकीय शिक्षा-व्यवस्था, सामाजिक कल्याणकारी कानून आदि को राज्य की परिधि के बाहर समझा था, हम प्रतिक्रियावादी समझते हैं[१]। जर्मनी में प्रचारित विधिराज्य (रेख्ट्‌सस्टाट) की कल्पना भी, जिसके अनुसार सबसे बड़ा राजकीय आदर्श यह है कि विधियाँ सामान्यग्राहिणी हों तथा स्वतंत्र न्यायालयों द्वारा उनका प्रयोग हो, आज अधूरी है[२]। ईप्सित या अनीप्सित, किसी भाँति भी, राज्य अपने कर्त्तव्यों को बढ़ा रहा है। ऐसी दशा में आवश्यक है कि राज्य किन-किन मामलों में हस्तक्षेप करेगा, इसके लिए अनुभवसंश्रित नियम बना लिये जायँ। किन्तु ये नियम सार्वकालिक नहीं हो सकते। आवश्यकतानुसार इनमें परिवर्तन करना ही होगा। अतः यह नितांत वांछनीय है कि चेतन और विलक्षणव्यक्तित्वसम्पन्न मानव उचित साधन के रूप में राज्य का प्रयोग कर सकें। राज्य को साधन कहने का

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥ (गीता ४, १९–२२)

१. V. P. Verma, "From Liberalism to Totalitarianism", The Calcutta Review, जनवरी, १९५३

२. Otto Gierke, Das deutsche Genossenschaft.

यह मतलब नहीं है कि आज की दुनिया में राज्य के सतत परिवर्धनशील कर्तव्य-राशि की ओर से हम उदासीन हैं। जब हम राज्य को साधन मानते हैं तब हमारा तात्पर्य है कि चेतन समष्टि या चेतन नैतिक मानव ही साध्य है, न कि राज्य। राज्य के कर्तव्यों में अभूतपूर्व अप्रत्याशित परिवर्धन उसके स्वरूप का परिवर्तन नहीं करता है। कर्तव्य में परिवर्धन के कारण यह और भी आवश्यक हो जाता है कि राज्य की साधन-भूतता स्वीकृत की जाय, नहीं तो राज्य के नाम पर, कोई दलीय सरकार समाज के परम चैतन्य का प्रतिनिधि बन कर शक्ति का अवांछित निरंकुश प्रयोग करने लगेगी। समाज में वर्तमान संघर्षों और असमानताओं को हटाने के लिए तथा सामान्यहित का पोषण करने के लिए आवश्यक है कि वैयक्तिक दृष्टि से मानव अपने नैतिक, चेतन स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करे। जिस समष्टि में इस प्रकार के उदात्तधर्मा मानव अधिक संख्या में रहेंगे, वही समष्टि राज्य को सच्चे अर्थ में कर्तव्यशील बना सकती है।

राज्य को हम उपादेयप्राप्ति या श्रेयानुसंधान का बाह्य साधन मानते हैं। जब मानव ही साध्य है तब राज्य के अन्यायपूर्ण विधियों और आदेशों के विरुद्ध संघर्ष करना मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। राज्य को पूर्ण प्रत्यय या परम विज्ञान का जागतिक केन्द्रीकरण या सामान्य और विशिष्ट संकल्पों का घनीभाव माननेवाले भले ही राज्य के प्रतिरोध को असंगत समझें; किन्तु मानव के नैतिक चेतन स्वरूप पर बल देने वाला राजनीतिशास्त्र राज्य की उचित अनाज्ञाकारिता और विरोध को तर्कसंगत मानता है[1]। यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि शास्त्रीय दृष्टि से राज्य और सरकार में भेद रहते हुए भी, व्यवहार में सरकार ही राज्य को अभिव्यक्त करती

१. तुलनीय :–Locke Second Treatise on Civil Government, अनुच्छेद १६८ : "And where the body of the people, or any single man, is deprived of their right, or is under the exercise of a power without right and have no appeal on earth than they have a liberty to appeal to heaven whenever they judge thc cause of sufficient movement....yet they have, by a law antecedent and paramount to all positive laws of men, reserved that ultimate determination to Themselves which belongs to all mankind, where there lies no appeal on earth—Viz., to judge whether they have just cause to make their appeal to heaven. And this judgement they cannot part with it being out of a

है[१]। प्रजातंत्रीय शासन-प्रणाली में सरकार एक दल की सरकार है। वर्त्तमान निर्वाचन-पद्धति में यह संभव है कि, जनता का बहुमत प्राप्त किये बिना भी, कोई दल अपनी सरकार बना ले। इस प्रकार के सरकार को मानव और समष्टि के भाग्य का विधाता मानना एक खतरनाक प्रस्ताव है। सामान्यहित और जन-कल्याण का आश्रय लेकर यदि कोई दलीय सरकार, समष्टि के प्यारे आदर्श और परम्परा को कुचलने का प्रयास करती है तब उसका विरोध करना चेतन मानव का परम कर्तव्य है। सरकार का आधार है जनसम्मति और इसकी उपेक्षा और अवहेलना करने पर विशृंखलता उत्पन्न हो जायगी। अतएव सर्वदा अपने अधिकारों का चैतन्य मनुष्य के लिए अपेक्षित है। इसी मानव अधिकारवाद के नाम पर अमेरिका, फ्रांस और रूस में जनक्रान्तियाँ हुईं। इसी अधिकारवाद के व्यापक पोषण के लिए तिलक और गांधी ने अंग्रेजी सरकार का विरोध किया। प्रजातंत्रीय शासनप्रणाली का मूल है—विरोध का संयमित प्रयोग। कुछ विचारकों का ऐसा मत है कि प्रजातंत्रीय प्रणाली में राज्याज्ञाविरोध के अवसर नहीं आवेंगे क्योंकि विरोधकारी मनुष्य, वैधानिक तरीके से कानून को बदलने के लिए जन चैतन्य या जनमत उत्पन्न कर सकते हैं। बिना जनचैतन्य उत्पन्न किये विरोध करना सामाजिक विशृंखलता या अराजकता उत्पन्न कर देगा। बहुत सी अवस्थाओं में इस नियम का पालन हो सकता है। किन्तु ऐसे अवसर भी आ सकते हैं जब राज्याज्ञा का विरोध व्यक्ति का परमोत्कृष्ट कर्तव्य हो सकता है। जब प्रजातंत्र का अनेक बार मंत्र जपनेवाले संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रजातंत्रीय शासनप्रणाली का अवलम्बन कर अश्वेतांगों के साथ अमानुषिक व्यवहार किया जाता है, तब एक चेतन मानव का वहाँ क्या कर्तव्य है? वह देखता है कि जनमत बदला नहीं जा सकता। मानवता का कुचलना और मर्दित होना देखकर उसकी आत्मा कराह उठती है। वह ऐसी शासन-प्रणाली के

---

man's power so to submit himself to another as to give him a liberty to destroy him, God and nature never allowing a man so to abondon himself as to neglect his own preservation, and since be cannot take away his own life, neither can be give another power to take it. Nor let any one think this lays a perpelteal foundation for disorder, for this operates not fill the in covenience is so great that the majority feel it and are weary of it and find a necessity to have it amended."

१. Leon Duguit, Law in the Modern State; Harold Laski, A Grammar of Politics.

विरोध में उठ खड़ा होता है। राज्य का वह विरोध करता है, 'कर' नहीं देता है या कानून नहीं मानता है। ऐसी अवस्था में उसका कार्य नीतिसंगत ही नहीं अपितु परम कर्तव्य है। क्या प्रजातंत्रीय शासनप्रणाली की दुहाई दक्षिण अफ्रिका के शासक नहीं दे रहे हैं? अतएव हमें केवल शब्दजाल—समाजवाद या प्रजातंत्र या मानवहित—से नहीं प्रभावित होना है। वस्तुस्थिति का वास्तविक निरीक्षण मानव-बुद्धि ही कर सकती है और यदि कोई विचारशील मानव या श्रेणी या संस्था पूर्णतः मानती है कि कोई राज्य या सरकार स्वार्थग्रस्त होकर सन्मार्ग से विचलित हो गई है तो अवश्य वह उसका विरोध करे। चेतन मानव के उद्‌बुद्ध अन्तःकरण से बढ़कर सदसद्विवेचन का कोई अन्य साधन नहीं है और जब मानव की व्यवसायात्मिका बुद्धि किसी राजकीय विधि अध्यादेश आदि को अन्तःकरणहन्ता मानती है तब उस अवस्था में राजकीय विरोध अवश्य कर्तव्य है। राज्य शब्द का नारा लगाने से कुछ नहीं होता। आज्ञाकारिता राज्य के लिए नहीं की जाती है, अपितु उन विराट् लक्ष्यों की सिद्धि के लिए है जिनका राज्य साधन है। जब लक्ष्यपूर्ति खतरे में है तब विरोध अवश्यंकरणीय है। अपने अन्तरात्मा की पुकार को क्रियान्वित कर ही मानव, इतिहास की वेगवती धारा में, अपनी देन उपस्थित कर सकता है। दुनिया के महान् नेता—बुद्ध, मुहम्मद, क्रामवेल, गाँधी, सनयातसेन आदि—इसीलिए महान् हैं कि अपने विलक्षण व्यक्तित्व से उन्होंने समाज और मानवता की सेवा की है। अपने अन्तरात्मा की आवाज को दवाना अपने व्यक्तित्व को कुचलना होगा। अतएव यह महान् मंत्र सर्वदा स्मरणीय है:—

न जातु कामान्नभयान्नमोहाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखेत्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्यत्वनित्यः॥

किन्तु अवसरविशेष पर राज्य की अनाज्ञाकारिता या उसका विरोध या उसके खिलाफ बगावत के समर्थन का यह अर्थ नहीं है कि हम अराजकतावाद का समर्थन कर रहे हैं। माक्स स्टरनर का अहंकाराश्रित अराजकतावाद, बाकूनिन और क्रोपाटकिन का सामूहिक अराजकतावाद, टाल्सटाय का धार्मिक अराजकतावाद तथा अरविन्द का आध्यात्मिक अराजकतावाद, मानव-स्वभाव की सम्यक् मीमांसा नहीं कर सका है[१]। कुछ अंशों में राज्य की केन्द्रीकरणशीलता, तथा यांत्रिकता के विरोध में न्याय, स्वतंत्रता तथा सादगी का संदेश अवश्य अराजकतावाद ने दिया है। किन्तु अराजकतावाद में वर्तमान के प्रति घोर असन्तोष, शून्यवाद तथा भविष्य के प्रति अति-

१. Max Stirner, The Ego and his eqown; E. H. Carr, Michael Bakunin; Kropatkin, Memoirs of a Revolutionist, N. Berdyaev, The Russian idea; J. Hecker, Russian Sociology; Sri Aurobindo, The Human Cycle.

रंजित आशावाद इन तीनों का संमिश्रण है। टालस्टाय के अतिरिक्त अन्य अराजकतावादी घृणा और द्वेष का भी पूरा प्रचार करते हैं। एक अराजकतावादी, बेन्जमिन टकर ने तो यहाँ तक कह डाला कि यदि मानव के पास ताकत हो तो उसे सारे संसार को अपनी इच्छा का अनुगामी बनाने का अधिकार है[१]। यह एक भयंकर प्रस्ताव है। मानव की वर्तमान प्रवतियों को देखते हुए केवल यही कहा जा सकता है कि अराजकतावाद एक घोर प्रतिक्रिया का प्रचारक है। किन्तु राज्य के कार्यविशेष का विरोध करना, अराजकता का प्रचार नहीं है। कार्यविशेष के विरोध से विधि की आज्ञाकारिता का नितान्त तिरोभाव नहीं हो जाता है। एक संगठित शक्तिशाली राज्य का वही वर्ग या विशेष व्यक्ति विरोध करेगा जो अपेक्षित दण्डसहन के लिए तैयार होगा। यदि दण्डसहन के भय के बावजूद वह विरोध करने को तैयार है तब इसका मतलब है कि उसकी आत्मा किसी विधि या आदेश से नितान्त क्षुब्ध है। इस ओर का परित्याग कर ही वह व्यक्ति सर्वभूतहित की सिद्धि कर सकता है। सर्वहित को विचारधारा उस व्यक्ति को तो समष्टि से अलग मानती नहीं है। अपने आत्मा के आदेश की पूर्ति कर ही कोई मानव अपनी दृष्टि से समाज की सेवा कर सकता है। विरोध और अनाज्ञाकारिता का अवसरविशेष पर आत्मिक अभिव्यक्ति के लिए समर्थन न तो सामाजिक उन्मूलन का और न अराजकतावाद का संदेश है। इस प्रकार की युक्तियाँ निहित स्वार्थों के प्रतिनिधि ही दिया करते हैं। क्या श्रमिक नेताओं के कुछ राज्यविरोधी कार्यों से समाज विशृंखलित हो जाता है? क्या बर्ट्रेंड रसल के युद्ध में जाने की राज्य-आज्ञा को न मानने से, अंग्रेज जाति को कानून न मानने की छूत की बीमारी हो गई? दार्शनिक राजनीतिशास्त्र ऐसा मानता है कि यदि सामान्यहित, सर्वमानवकल्याण या कम-से-कम सर्वनागरिककल्याण के लक्ष्य से यदि दण्डधर राज्यच्युत होता है तो राज्य का विरोध अवश्यंकरणीय है। प्रजातांत्रिक राज्य में इस प्रकार के अवसर कम आवेंगे, किन्तु इस प्रकार के विरोध की संभवनीयता ही राज्य को सत्यथानुगामी बना सकती है।

---

१. Benjamin Tucker, Instead of a book, by a man Too Busy to Write One : a Fragmentary Exposition of Philosophical Anarchsm.

षष्ठ अध्याय

संप्रभुता और विधि

मानव-हित की सम्प्राप्ति ही सभ्यता और संस्कृति का परम उद्देश्य है। इस व्यापक हितभावना को साकार बनाने के लिए ही सामाजिक और राजकीय संस्थाओं का विकास हुआ है। मनुष्य के अन्दर समूहशीलता निसर्गजात है और अल्प मात्रा में ही क्यों न हो, हितसाधन का संदेश हमें बर्बर जातियों में भी प्राप्त होता है। किन्तु सभ्यता और संस्कृति के विकास से यह प्रवृत्ति साकार और मूर्तिमती होती है। सामान्य जीवन सुखमय और कल्याण-सम्पादक हो, इस विचार को क्रियान्वित करने के लिए जितनी संस्थाएँ निर्मित हुई हैं, उनमें राज्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। आंशिक मात्रा में चर्च और धर्म इससे तुलना कर सकते थे; किन्तु आधुनिक युग में योजनाबद्ध समाज के निर्माण के प्रयत्नों ने राज्य को सर्वोत्कृष्ट और सर्वप्रमुख संस्था के रूप में स्थापित किया है। किन्तु राज्य का यह महत्त्व और इसकी बढ़ती हुई गरिमा, किसी कार्यविशेष को सम्पन्न करने की दृष्टि से ही है। राज्य, समाज नहीं है। यूनानी विचारकों ने तथा हाब्स ने समाज और राज्य में अन्तर नहीं माना है। किन्तु आधुनिक समाजशास्त्र के विकास के साथ बहुत स्पष्ट रूप से समाज और राज्य की पृथक्ता को स्वीकृत किया गया है। लुडविग स्टायन, स्पेन्सर, लेस्टर वार्ड, हाबहाउस आदि समाजशास्त्री समाज के यादृच्छिक और राज्य के दमनाश्रित सम्बन्धों में बहुत अन्तर मानते हैं। मनुष्य की समस्त अन्तःक्रियाओं और सम्बन्धों को हम समाज के अन्तर्गत मानते हैं। मानव के सामहिक सम्बन्धों का समन्वय ही समाज है। मनुष्य के प्राणात्मक जीवनमूलक और समूहशीलताधारित सम्बन्धों के द्वारा ही समाज की इयत्ता व्यक्त होती है। किन्तु जिन सम्बन्धों में दमन और नियंत्रण का परिदर्शन होता है, उन्हें हम राज्य के अन्तर्गत मानते हैं। मानव-विकास के साथ-साथ नियंत्रण की मात्रा कम हो जाती है और स्वतंत्रता, नैतिक चैतन्य और मानव-कल्याण के बाह्य उपकरणों की सिद्धि में राज्य का साहाय्य प्राप्त होता है, तथापि राज्य को अन्य संस्थाओं से पृथक् करनेवाला यंत्र दमन ही है। कह सकते हैं कि राज्य का मूलतत्त्व न होते हुए भी दमन उसका प्रधान साधन और लक्षण है। दमनयंत्र का वैधिक एकाधिकार ही राज्य के संस्थागत रूप को व्यक्त करता है। किन्तु सका तात्पर्य यह नहीं

है कि दमन को ही मूल मानकर राज्य उससे अपना तादात्म्य स्थापित करे। इसका यह अर्थ है कि संकटकाल में अथवा नागरिकों तथा संस्थाओं के बीच संघर्ष उपस्थित होने पर राज्य को ऐसा अधिकार चाहिए कि वह निश्चयात्मक रूप से उसका निपटारा कर सके और जरूरत पड़े तो अपने निपटारे को मान्य बनाने के लिए दण्ड का भी उपयोग कर सके। समाज की निर्माण-प्रक्रिया में ही यह तर्क समाया हुआ है। वैधिक दृष्टि से, इस कार की अन्तिम शक्ति के अभाव में समाज नहीं टिक सकता है।

किन्तु राज्यशक्ति सर्वदा सैन्यबल से ही कार्य नहीं करती है, यद्यपि सैन्यबल शक्ति को उत्पन्न करनेवाले आवश्यक कारकों में एक है। शक्ति, संगठन, व्यवस्था तथा चरित्रबल से उत्पन्न होती है। शक्ति नानामुखी है। अन्य ताकतों को अपने पक्ष में करना अर्थात् विचार-विमर्श के सहारे अन्यों को अपने पक्ष में करना भी शक्ति-प्राप्ति का महान् साधन है और प्रजातंत्र के विकास के साथ इस प्रकार की शक्ति की अधिक आवश्यकता होती है। शक्ति की प्राप्ति में व्यक्तित्व का भी बड़ा प्रभाव है। व्यक्तित्व कैसे प्राप्त होता है, यह कहना कठिन है। किन्तु व्यक्तित्व का प्रधान लक्षण है उत्कर्षप्रदायक वैलक्षण्य की प्राप्ति। इस प्रकार के वैलक्षण्य का इतिहास पर प्रभाव सर्वत्र व्यक्त होता है। विनय तथा नैतिक परम्परा का पालन भी शक्ति प्रदान करता है। किन्तु व्यक्तित्व तथा विनय को भी कर्तृत्वमूलक प्रभाव समाज और इतिहास की व्यापक परम्पराओं, अनुस्मृतियों, आशाओं तथा आकांक्षाओं की विशाल पृष्ठभूमि में ही प्राप्त होता है। इससे यह स्पष्ट है कि जब हम कहते हैं कि राज्य को दमन और हिंसा के प्रयोग का वैधिक एकाधिकार है, तब इसका अर्थ अनाचार या शक्ति का मदान्ध उपयोग नहीं है। यह राज्य को पशुत्व का पोषक बनाने का मन्त्र नहीं है। समाजशास्त्रीय निर्माण-क्रिया का सिद्धांत बताता है कि व्यापक सामाजिक शक्तियों के पारस्परिक घात-प्रतिघात और संघर्ष के अन्तर्गत ही राजकीय दमन-क्रिया का भी उपयोग होता है। सामाजिक शक्तियों से व्यतिरिक्त, ऐवरेस्ट की चोटी के समान, राजकीय दमनशक्ति कदापि नहीं है। किसी विशाल अट्टालिका के मस्तक पर वर्तमान अन्तिम पत्थर के समान राजकीय शक्ति नहीं है; किन्तु व्यवस्था के प्रत्येक अंग में अनुगत है। व्यवस्थित समाज का यही लक्षण है कि दमन की क्रूरता और बाह्यता का मनुष्य को कम-से-कम अनुभव हो। प्रक्रिया इतनी सुव्यवस्थित हो कि दमन के अवसर कम से कम हों। किन्तु तार्किकता का यह तकाजा है कि सामाजिक संगठन को सर्वदा वर्तमान बनाये रहने के लिए, राज्य के पास संप्रभुता हो। संप्रभुता, वैधिक शक्ति के केन्द्रीकरण का नाम है।

संप्रभुता के तर्कशास्त्र में यह निहित है कि वह निरपेक्ष हो। यदि संप्रभुता-

सम्पन्न-शक्ति, किसी अन्य शक्ति की अपेक्षा रखती है तब यह दूसरी शक्ति संप्रभुतासम्पन्न हो जायगी। अतएव निरपेक्षता आवश्यक है; किन्तु निरपेक्षता से जिस प्रचण्ड भयंकर एकाधिकारवाद की ध्वनि निकलती है वह हमें अभिप्रेत नहीं है। निरपेक्षता से हमारा तात्पर्य इतना ही है कि जब राज्य ने किसी विषय पर अपना निश्चित मत व्यक्त कर दिया, तब जबतक इस राज्य को क्रान्ति के द्वारा उलट नहीं दिया जाता, तबतक उसका मत मानना ही होगा। निरपेक्षता का उपयोग भी नीतिमान् चेतन मनुष्यों के बीच करना है। किसी सर्वशक्तिमान् महत्तम इन्द्र की यह मायाशक्ति नहीं है। निरपेक्षता भी इस अर्थ में समाजसापेक्ष है। दूसरी बात यह ध्यान में रखने योग्य है कि यह निरपेक्ष शक्ति विधिसम्मत शक्ति है। यह निरपेक्षता एक अधिकार है न कि अतिरंजित बल। केवल बल से कोई अधिकार नहीं मिलता है[१]। स्पायनोजा के इस मत को कि अधिकार का बीज शक्ति है, हम असमाजशास्त्रीय मानते हैं[२]। स्वस्थ नीतिमान् मनुष्यों का समाज बल या केवल भौतिक शक्ति के आधार पर नहीं टिक सकता है। शीघ्र ही वहाँ विद्रोह हो जाता है, जहाँ केवल बल का प्रयोग होता है। अपनी संप्रभुता को व्यक्त करने के लिए एक अन्तिम उपकरण के रूप में राज्य दमनशक्ति का प्रयोग करेगा; किन्तु यह उसका मूलतत्त्व नहीं है। राज्य की निरपेक्ष संप्रभुता शक्ति को टिकाऊ बनाने के लिए विधि के सहारे उसको समाजीकृत तथा तर्कसंगत बनाना पड़ेगा तथा विनय और सामान्य परंपरा में निष्ठ करना होगा। इनके बिना निरपेक्षता का प्रजातंत्रीय परंपरा में कोई अर्थ नहीं है। निरपेक्षता एक बौद्धिक कल्पना है; किन्तु आवश्यक है। व्यवस्थित राज्य के विधि-विहित निर्देशों को अवश्यम्मान्य बताना ही इसका तात्पर्य नहीं है। स्वेच्छाचारिता तथा एकतंत्र से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव यद्यपि संप्रभुता शब्द से प्रशक्त एकाधिकारिता ध्वनित होती है, तथापि हमें समाजशास्त्रीय दृष्टि से निरपेक्ष अप्रतिहत विधिविहित शक्तिकेन्द्र की कल्पना आवश्यक मालूम पड़ती है। किन्तु साथ-

१. तुलनीयः—Rousseau, Social Contract, Book I, chapter iii "The strongest is never strong enough to be always the master, unless he transforms strength into right, and obedience into duty. Force is a physical power, and I fail to see what moral effect it can have. To yield to force is an act of necessity, not of will—Let us then admit that force does not creats right, and that we are obliged to obey only legitimate powers."

२. Spinoza के अनुसार Potentia ही jus का बीज है।

ही-साथ दार्शनिक राजनीतिशास्त्र का यह विचार--कि अवसर उपस्थित होने पर नैतिक और आत्मिक चैतन्य की रक्षा के लिए मानव विधिविहित राज्य के अनुशासनों का उल्लंघन ही नहीं, प्रतिरोध भी कर सकता है–भी अक्षुण्ण है। राज्य अपनी गरिमा और प्रतिरक्षा के नाम पर ऐसे व्यक्ति को दण्ड देकर अपनी संप्रभुता को व्यक्त करेगा। तथापि राज्य का विरोध कर मानव आत्मिक शक्ति को अभिव्यक्त करेगा। मानव को नीतिमान् और चेतन मानने पर भी हमें समाजशास्त्रीय दृष्टि से संप्रभुता के विचार को सुरक्षित रखना आवश्यक प्रतीत होता है। प्राचीनकाल में नागरिक और साम्राज्य के बीच कादाचित्कता का सम्बन्ध था। युद्धकाल उपस्थित होने पर या वार्षिक कर वसूल करने के लिए मिस्र, बाबुल या असीरिया के राज्य की सत्ता का अनुभव नागरिकों को होता था। वह एक दूरवर्ती सम्बन्ध था। किन्तु आधुनिक प्रजातन्त्र ने स्थानीय स्वायत्त-शासन और योजनाबद्धता के सहारे ऐसे अवसर उपस्थित किये हैं कि नागरिकता एक सर्जनात्मक राजनीतिक अनुभव का रूप धारण कर ले। मानव के नैतिक चैतन्य के अवरोध से राज्य के कम-से-कम हस्तक्षेप भी अनर्गल और स्वतंत्रताविरोधी प्रतीत हो सकते हैं। किन्तु चाहे हम प्राचीन साम्राज्यों की बात करें या आधुनिक प्रजातंत्र की, दोनों ही अवस्थाओं में राज्य की सत्ता को कायम रखने के लिए आवश्यक है कि यदि किसी प्रश्न पर राज्य का मत विधिविहित रूप से व्यक्त हुआ है तो उसे सम्मानित किया जाय। राजनीतिशास्त्र का यह बड़ा विरोधग्रस्त प्रश्न है कि संप्रभुता का वास्तविक लक्षण क्या है? संक्षेप में इतना ही कह सकते हैं कि केवलमात्र निरपेक्ष दमनशक्ति को संप्रभुता मानना, एक भावात्मक कल्पना है। प्रजातंत्रीय और सभ्य देशों में इस दमनशक्ति का प्रयोग सर्वदा लिखित रूढिगत विधि के अनुसार ही करना होगा। वैधिक आदर्श और वैधिक शासन की परम्परा से, राज्य बाहर नहीं है। पुनश्च, कोई भी आधुनिक राज्य मानवकल्याणानुवर्ती होकर अधिकारों को पुष्ट और व्यवस्थित करने के लिए ही अपनी शक्ति का प्रयोग करेगा, न कि शक्तिमोह से मूढ़ बालक के समान अपने से कमजोर साथियों को धमकाने में। इस प्रकार संप्रभुता के क्रियान्वयन का वातावरण उन समस्त परम्पराओं, भावनाओं, आदर्शों और प्रक्रियाओं के सहारे निर्मित होता है जो नागरिकता को विधिसम्मतता के व्यवहारीकरण में रूपान्तरित करती हैं। अतएव निरपेक्ष संप्रभुता मानव के सामान्य कल्याण-साधन की परम्परा में ही विकसित हो सकती है और उसी में उसका प्रयोजन है। किन्तु प्रत्येक विकसित संस्था में, समाजशास्त्रीय दृष्टि से, एक ऐसे केन्द्र को निर्दिष्ट करना, जो प्रत्येक अवसर पर निश्चयात्मकता से अन्तिम निर्णय घोषित कर सके, आवश्यक प्रतीत होता है और इसी कारण अभी हाल में जो विधान एशिया के नव स्वतंत्र देशों में स्वीकृत हुए हैं, उनमें भी संप्रभुता के विचार को समर्थित किया गया है। इस प्रकार

कह सकते हैं कि संप्रभुता स्वतं और अन्तिम राजनीतिक वैधिक शक्ति का नाम है और प्रत्येक राज्य में इसकी आवश्यकता है। यह केवल भावमूलक कल्पना नहीं है; किन्तु समस्त संगठित देशों में इस कल्पना का मूर्त उदाहरण देखने को मिलता है। यद्यपि राज्य के नाम पर और उसके व्यापक अनुशासन के अन्तर्गत प्रत्येक निर्णयकारी स्तर पर शक्ति का प्रयोग होता है, तथापि इन शक्तियों का तर्कतः जहाँ मूल स्रोत है, वहीं संप्रभुता की संस्थिति को हम मानते हैं। स्पष्ट है कि परम्परागत या व्यक्तित्व की गरिमा से प्रभावित शक्ति ही संप्रभुता नहीं है[1]। सर्वदा यह स्मरण रखना है कि संप्रभुता विधिशास्त्र का विचार है और जहाँ विधिविहितता नहीं है, वहाँ अतिरंजित बलवाद रह सकता है, संप्रभुता कदापि नहीं। यह तर्कसंगत और विधिसंगत अन्तिम शक्ति का नाम है।

यूनान में संप्रभुता की स्पष्ट विचारधारा का अभाव है। कोई एक मिश्रित स्पष्ट शब्द जिससे यूनानी भाषा में उस भावना का बोध होता है जिसका अंग्रेजी में 'सावरेंटी' अथवा जर्मन में 'स्टाट्सहोहाइट' शब्द से बोध होता है, यूनान में नहीं पाया जाता है।[2] यूनान का समाज पूर्णतः भेदीकृत नहीं हुआ था और विभिन्न स्तरों, अर्थात् धर्मसंगठन आर्थिक संस्थाएँ, राज्य आदि के अलग-अलग न होने के कारण एक संप्रभुतासम्पन्न शक्ति की कल्पना की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। जब विभिन्न स्तरों ोर क्षेत्रों में संघर्ष होता है, तभी विधिशास्त्र की दृष्टि से, उनमें एक के उत्कर्ष को व्यक्त करने के लिए संप्रभुता की कल्पना की आवश्यकता होती है। यूनान का समाज एक सरल समाज था और विभिन्न स्वार्थों का उसमें पूरा संगठन नहीं हुआ था। संप्रभुता की कल्पना एक धर्मनिरपेक्ष भौतिकवादी जगत् में होती है। यूनान में सर्वदा यह भावना व्याप्त रही कि अतिराजनीतिक महान् नियम, जिन्हें 'मोयरा' कहते थे; समस्त देवों, मनुष्यों आदि को परिगृहीत किये हुए हे।[3] विश्वव्यापक अप्रतिहार्य अलौकिक नियम की कल्पना, राजनीतिक संप्रभुता की कल्पना की विरोधिनी है। इसी कारण वैदिक और औपनिषदिक संस्कृति में विराट् ऋत और प्राथमिक सनातन धर्म की

१. जर्मन समाजशास्त्री माक्स वेबर (Max Weber) के अनुसार शक्ति तीन प्रकार की है:—
   (क) Traditional Power
   (ख) Charismatic Power
   (ग) Rational–Legal Power
२. Staatshoheit.
३. Republic, Book X.

विचारधारा को वैशिष्ट्य प्रदान करते हुए राजनीतिक दृष्टि से किसी पुरुषविशेष या शक्तिकेन्द्र को सम्प्रभतासम्पन्न नहीं माना गया था। प्लेटो दार्शनिक की परिमार्जित और परिष्कृत बुद्धि को ही शासनकार्य के निमित्त आवश्यक मानता था। अपने रिपब्लिक ग्रंथ में उसने दार्शनिक-शासक की विचारधारा को परिपुष्ट किया है। तथापि उसका विचार था कि कुछ महत्त्वपूर्ण नियम ऐसे हैं जिनकी महत्ता का स्वीकार उच्च राज्यपालों को भी करना होगा। इस प्रकार के चार महत्त्वपूर्ण नियम थे।[१] प्रथम, राज्य में विशृंखलता उत्पन्न करनेवाले अर्थातिरेक और दरिद्रता को आने न देना। द्वितीय, राज्य की सीमा उतनी ही हो जितनी एकता के लिए आवश्यक है। तृतीय, अपनी मानसिक शक्ति के अनुरूप प्रत्येक मानव किसी एक ही कार्यविशेष को सम्पन्न करे। विशिष्टता और दाक्ष्य की प्राप्ति इसीसे हो सकती है कि एक मनुष्य एक ही कर्म करे। चतुर्थ, राज्य में शिक्षापद्धति और संगीत आदि में कोई परिवर्तन न किये जायँ। जिस प्रकार आधुनिक राज्यों में कुछ मूलभूत संविधानात्मक नियम रहते हैं, उसी प्रकार प्लेटो भी इन चार मौलिक आधारभूत नियमों को राज्यपालों के निमित्त आवश्यक मानता है। अपने ग्रंथ 'लाज' में उसने विधि का उत्कर्ष स्वीकार किया है। अरस्तू के अनुसार नियमों और विधियों के वर्तमान रहने से ही सुराज्य स्थापित होता है, अन्यथा प्रवृत्तियों और यादृच्छिक एषणाओं का प्राधान्य हो जाता है। अतः यद्यपि प्लेटो और अरस्तू में इस प्रकार के विचार मिलते हैं जिनका तात्पर्य प्रायः वही है जो आधुनिक संप्रभुता का है, तथापि जो स्पष्टता और निर्देशनीयता संप्रभुता से व्यक्त होती है, उसका यूनान में अभाव था।

अनेक विचारकों का प्रस्ताव है कि संप्रभुता का विचार रोमन साम्राज्य में विकसित हुआ[२]। रोमन साम्राज्य के विधिशास्त्री 'इम्पीरियम' शब्द का प्रयोग करते थे। 'इम्पीरियम' शब्द रोम के सम्राट् की शक्ति और संप्रभुता का बोधक था। 'इम्पीरियम' के समानार्थवाची कुछ अन्य शब्द भी तत्कालीन साहित्य में प्राप्त होते हैं[३]। सामन्तवादी युग में 'इम्पीरियम' के विचार का पूर्णतः लोप तो नहीं हुआ, तथापि एक अन्य विचारधारा का आगमन हुआ। यह अनुबन्ध या 'कानकार्डिया' की विचारधारा थी। सामन्तशाह या सामन्तवादी युग का नरपति संप्रभुता के आधार पर नहीं, अपितु अनुबन्ध के आधार पर शासन करता था। मध्ययुग में नैसर्गिक और ईश्वरीय नियमों का विचार के प्राधान्य था।

१. Republic, Book IV
२. Leon Duguit, Law in the Modern State.
३. उदाहरणार्थ, Potestas, Seigneurie आदि।

संप्रभुता राज्य की निरपेक्ष शक्ति का बोध कराती है, किन्तु मध्ययुग में ऐसा विचार था कि ईश्वरीय नियम सर्वोत्कृष्ट और सर्वश्रेष्ठ हैं। संप्रभुता के विचार के अभाव में ऐसा विचार मध्ययुग में रहा कि राजकीय शक्ति एक न्यास है और यदि समुचित शासन न हो तो दूसरे के हाथ में यह शक्ति सौंपी जा सकती थी। यद्यपि मध्ययुग में संप्रभुता के विचार का अभाव था, तथापि कुछ विचारकों में इसका आभास मिलता है। यूरोपीय मध्ययुग में जर्मन सम्राटों और इटली के पोप में प्रायः दो शताब्दी तक संघर्ष होता रहा। इसी समय सन् १३०२ में पोप अष्टम बोनिफ़ास ने एक फर्मान निकाला, जिसमें पोप की शक्ति को एक बार धार्मिक घोषित किया गया[१]। संप्रभुता अद्वैतमूलक और अपरित्यजनीय है, इस प्रकार की भावी विचारधारा का बोनिफास पूर्वरूप प्रकटित कर रहा था। प्रसिद्ध विचारक मार्सिगलियो ने भी शक्तिप्राचुर्य का विचार उपस्थित किया।[२]

यूरोपीय पुनरुत्थान और धार्मिक सुधार आन्दोलन के जन्म के बाद संप्रभुता का विचार वेग से समर्थित हुआ। सामन्तवादी युग वैयक्तिक अधिकार का युग था। राजकीय पद भी उस समय सम्पत्ति के रूप में समझे जाते थे। मध्ययुगीन राजा अपने पितृमूलक अधिकार से शासन करता है, ऐसा विचार उस समय था। किन्तु आधुनिक संप्रभुता-वाद जनसुरक्षा और व्यापक शान्ति को स्थापित करनेवाली शक्ति के रूप में गृहीत हुआ। यूरोपीय धार्मिक सुधार-आन्दोलन से संप्रभुतासम्पन्न आधुनिक राज्यों के उत्थान में सहायता मिली।[३] सुधार-आन्दोलन ने पोप की शक्ति को कमजोर कर दिया। इंगलैण्ड में आठवें हेनरी और एलिजाबेथ ने पोप की शक्ति की पूरी अवमानना की और स्वयं धर्मनेत्री बन बैठीं। पोप की, यूरोप-भर में शक्ति संचालित करने की महत्त्वाकांक्षा को इससे बड़ा धक्का लगा। पोप की शक्ति के कम होने का मुख्य कारण यह था कि अब यूरोप के कुछ देशों में राजा को ही प्रा न्य मिलने लगा। सामन्तवाद के अन्तिम दिनों में गृहकलह बहुत व्याप्त था और मजबूत दृढ़ राजकीय शक्ति के अभाव में अनाचार, अशांति बढ़ रही थी। इंगलैण्ड में 'गुलाबों की लड़ाई' इसका उदाहरण है। फ्रांस में भी गृहकलह और सामन्तों के आपसी युद्ध पराकाष्ठा को पहुँच गये थे। महासुधार के कारण यूरोप दो धार्मिक दलों में विभक्त हो गया। अतएव सामन्तवादी युग के अवशेषस्वरूप अशांति और कलहों के अतिरिक्त

१. Unam Sanctum
२. Plenitudo Potestatis
३. Harold Laski, A Grammar of Politics, Ibid, 'Democracy', Encyclopaedia of the Social Sciences.

संघर्ष और युद्ध को प्रश्रय देनेवाले अन्य कारण भी उपस्थित हो गये। यूरोप में घोर अशान्ति और अव्यवस्था का साम्राज्य हो गया। इस संकट से त्राण पाने का एक ही मार्ग था और वह था कि राजकीय शक्ति को पूर्ण सुदृढ और संप्रभुतासम्पन्न बनाया जाय। मजबूत राजकीय शक्ति ही सुव्यवस्था स्थापित कर सकती थी। इस प्रकार देखते हैं कि मध्यकालीन सभ्यता के पतन और महासुधार-आन्दोलन का संप्रभुतासम्पन्न राज्य की कल्पना को मूर्त करने में बड़ा हाथ है। यूरोपीय-पुनरुत्थान ने वह मानसिक स्वतंत्रता उत्पन्न की थी कि जिसके बल पर मनुष्य पोप की शक्ति को तिलांजलि देकर राष्ट्रिय राज्य के झंडे के अन्तर्गत खड़े हो सकें।

इस प्रकार आधुनिक संप्रभुता को जन्म देने में मध्ययुगीन सामन्तवादी सभ्यता के पतन और महासुधार आन्दोलन का प्रकृष्ट महत्त्व है। दूसरी ओर विकसनशील पूँजीवाद और उसके कार्यवाहक मध्यमवर्ग ने भी इसकी आवश्यकता का अनुभव किया। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था सतत गतिशील है। इसके विकास के लिए आन्तरिक सुरक्षा अनिवार्य है। पूँजीवादी व्यवस्था विश्वव्यापी वाणिज्य पर आधारित थी और इसके निमित्त भी आवश्यक था कि एक मजबूत संप्रभुतासंपन्न गृहसरकार कायम हो, जो अन्य स्थानों और समुद्रों में मध्यवर्ग के हित का प्रतिनिधित्व कर सके। जबतक सर्वत्र राजनीतिक सुरक्षा नहीं प्राप्त होती, तबतक पूँजीवाद बाहर उन्नति नहीं कर सकता था। सतत विकास, परिग्रह और गतिशीलता ही पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के मूल हैं। आन्तरिक क्षेत्र में सामन्तशाहों और बाह्य क्षेत्र में अन्य प्रतियोगियों से सुरक्षा प्राप्त करने के लिए विकसनशील पूँजीवाद ने संप्रभुतावाद का समर्थन किया। इंगलैंड के मध्यवर्ग के हित की रक्षा के लिए हालैण्ड से क्रामवेल ने युद्ध किया। अतः आधुनिक संप्रभुतावाद के जन्म में धार्मिक महासुधार और पूँजीवाद का विशेष महत्त्व स्वीकरणीय है। इन दो महान् आन्दोलनों के फलस्वरूप ही वह ऐतिहासिक वास्तविकता सामने आई, जिसकी पृष्ठभूमि में बोदाँ, हाब्स आदि ने संप्रभुतावाद का सैद्धान्तिक रूप उपस्थित किया।

बोदाँ ने सर्वप्रथम आधुनिक युग में संप्रभुता का मंत्र उच्चारित किया। विधियों के द्वारा अप्रतिहत सर्वोत्कृष्ट सर्वशक्तिमत्ता का नाम ही संप्रभुता है। किन्तु बोदाँ के ऊपर इतने अंश तक मध्ययुग का प्रभाव है कि संप्रभुता को वह दैवी या नैसर्गिक नियम से अनुशासित मानता है। बोदाँ संप्रभुता को राजा के द्वारा अधिकृत मानता था, इसी कारण फ्रांस में वंशाधिकार के नियामक 'सेलिक नियम' को भी आधारभूत

---

१. Jean Bodin, Republic, Book. I—संप्रभता को उसने 'legibus soluta' कहा है।

उसने माना और बताया कि कोई भी राजकीय विधि उसका उल्लंघन नहीं कर सकती थी। इस प्रकार राजकीय संप्रभुता पर नैसर्गिक या दिव्य नियम तथा आधारभूत 'सेलिक नियम' की उत्कृष्टता उसने व्यक्त की है। हाब्स ने संप्रभुतावाद को नरपतित्व से पृथक् कर इस विचार को अधिक सशक्त बनाया। इंग्लैण्ड के गृहयुद्ध की पृष्ठभूमि में ही उसने संप्रभुता का सिद्धान्त निर्मित किया था। उसके अनुसार संप्रभुताप्राप्ति के दो मार्ग हैं[१]। प्रथम मार्ग--संस्थानात्मक है। यह सहमति से प्राप्त होता है और एकतंत्र, अल्पतंत्र या जनतंत्र के द्वारा यह प्रकटित हो सकता है। दूसरा मार्ग--बलप्राप्त्यामक है। यह शक्ति पर आधारित है। और पितृतत्वात्मक तथा अधिनायकात्मक पद्धतियों से प्रकटित होता है। हाब्स ने मानव की निसर्गजात समाजशीलता का निराकरण किया और मनुष्य को एषणाग्रस्त और भयापन्न मानकर यह कल्पना प्रसारित की कि जबतक पूर्ण संप्रभुतासम्पन्न राज्य वर्तमान रहता है, तभी तक समाज टिक सकता है--अर्थात् दण्ड को समाज को साधार और नियामक बनानेवाला कल्पित कर उसने शक्तिवाद का उग्र विचार उपस्थित किया[२]। उसकी संप्रभुतावादिता का ही यह प्रभाव था कि उसने बताया कि

१. Hobbes, Leviathan, chapter XVIII और XIX, "Sovereignty by Institution, तथा chapter XX, Sovereignty by Acquisition" संप्रभुतावाद का विचार हाब्स के ग्रंथ, The Citizen (१६४२) में भी पूर्णतः व्यक्त हुआ है।

२. हाब्स ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "(लेभायथान, अध्याय-१८) में संप्रभुतासम्पन्न शक्ति का निम्नलिखित अधिकारों का उल्लेख किया है:--

(क) प्रजा के द्वारा संप्रभु का किसी भी प्रकार का प्रतिरोध अन्याययुक्त है।

(ख) संप्रभु के द्वारा आधारभूत अनुबन्ध का अतिक्रमण, प्रजा को समान अतिक्रमण का कोई कारण नहीं प्रदान करता है।

(ग) अल्पसंख्यक वर्ग किसी भी प्रकार से संप्र. की अनाज्ञाकारिता में नहीं प्रवृत्त हो सकता है।

(घ) संप्रभु किसी भी प्रकार अन्यायपूर्ण या हानिकारक कार्यों का कर्त्ता नहीं घोषित किया जा सकता है।

(च) संप्रभु अवध्य है और अन्य किसी भी प्रकार से प्रजा उसे दण्डित नहीं कर सकती है।

(छ) प्रजा द्वारा समस्त विचार-प्रकाशन और सिद्धान्ताभिद्योतन का नियंत्रण संप्रभु द्वारा होगा। प्रकाशनार्थ समस्त पुस्तकों की वह परीक्षा करा सकता है।

राज्य अन्य वस्तुओं के समान धर्म-संगठनों को भी अपने अधीनस्थ और नियंत्रित कर सकता है[१]। उसके अनुसार संप्रभुतासम्पन्न राज्य की कोई आज्ञा अन्यायपूर्ण नहीं हो सकती है; क्योंकि अनुबन्धों का पालन ही न्याय है और अनुबन्ध के सहारे ही संप्रभुतासम्पन्न राज्य को पूर्ण शक्ति दी गई है। हाब्स की विचारधारा का प्रभाव स्पायनोजा पर भी था। स्पायनोजा का कहना है कि अधिकार शक्तिप्रजनित है। शक्ति सत्ता की अभिव्यंजिका है। शक्ति का उत्कर्ष ही सर्व व्यक्त है। प्रकृति या ईश्वर भी शक्ति का केन्द्र है। राज्य की शक्ति, उसके अन्तर्गत मनुष्यों की शक्ति का केन्द्रित रूप है। शक्ति के अनुरूप ही अधिकार प्राप्त होते हैं, इसी कारण कोई राज्य पूर्ण एकच्छत्र और शक्तिमान् नहीं हो सकता; क्योंकि राजकीय प्रक्रिया कदापि मनन और संकल्पन का नियंत्रण नहीं कर सकती है। अतएव आंशिक मानव स्वतंत्रता से राजकीय संप्रभुता बाधित है। सत्रहवीं शताब्दी में यदि एक ओर हाब्स और स्पायनोजा राज्य की संप्रभुता का अनुमोदन कर रहे थे तो दूसरी ओर जर्मन लेखक अलथुसियस जनता की संप्रभुता का समर्थन करता था। अलथुसियस के अनुसार जब जनता, वैयक्तिक रूप से नहीं,

(ज) सम्पत्ति पर पूरा अधिकार संप्रभु का है।···and "Therefore, this property, being necessary to peace and depending on sovereign power, is the act of that power, in order to the public peace."

(झ) न्याय-विभाग पर संप्रभु का पूर्ण अधिकार है।

(ट) युद्ध और शांति के सम्बन्ध में पूर्ण निर्णय करने का अधिकार संप्रभु को है।

(ठ) युद्ध और शांति-काल में सचिवों, मंत्रियों, कार्यकारी अध्यक्षों को नियुक्त करने का संप्रभुताशक्तिसम्पन्न पुरुष को एकाधिकार है।

(ड) धन, सम्मान आदि से आदर करने का अथवा शारीरिक और आर्थिक दण्ड देने का संप्रभु को अधिकार है।

(ढ) नागरिकों में सम्मान-तारतम्य या सम्मान-परम्परा-क्रम स्थापित करने का भी संप्रभु को अधिकार है।

इन द्वादश विशाल अधिकारों की सूची से स्पष्ट है कि मैकियावेली, और बोदां की अपेक्षा अत्यन्त प्रचण्ड अधिकार हाब्स ने संप्रभु को प्रदान किया है।.

१. Hobbes, The citizen अध्याय १८; Leviathan, अध्याय ३९ ।

अपितु निगमात्मक या प्रमण्डलात्मक रूप से कार्य करती है तब वह अन्तिम रूप में संप्रभुतासम्पन्न है। इस प्रकार अलथुसियस, रोमन-साम्राज्य तथा मध्ययुग में यदा-कदा उद्घोषित जनता संप्रभुतावाद का समर्थक बना। रूसो 'सामान्य संकल्प' की संप्रभुता का समर्थक था। सामान्य हित जनता के बहुमत का एकत्रीकृत रूप नहीं है। सामान्य संकल्प सर्वदा कल्याणकामना करता है, यद्यपि अवसरविशेष पर इसका बौद्धिक रूप मन्द हो सकता है। इस सामान्य संकल्प का व्यवहारीकरण ही संप्रभुता है। राज्य को सामान्यसंकल्प का वाहक बनने पर ही नैतिक रूप प्राप्त होता है, अन्यथा उसके प्रतिरोध में क्रान्ति हो सकती है। अतः सामान्य संकल्प ही संप्रभु है, अतएव उसका प्रत्येक कार्य विधिसम्मत है। सामान्य-संकल्प का पोषक होने के कारण रूसो प्रतिनिधि-प्रथा का विरोधी था। शक्ति दूसरे को दी जा सकती है; किन्तु संकल्प का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता है। यद्यपि रूसो दार्शनिक दृष्टि से सामान्य संकल्प की संप्रभुता का पोषक था, तथापि तत्कालीन फ्रान्स के नेताओं ने उसे प्रजातांत्रिकता का पैगम्बर ही माना। रूसो का स्पष्ट प्रभाव सन् १७९१ के फ्रांसीसी संविधान पर व्यक्त होता है[१]। इस संविधान में स्पष्ट कहा है कि संप्रभुता मूलतः राष्ट्र में रहती है। संप्रभुता एक, अविभाज्य तथा अप्रदेय है। इस संप्रभुतावाद की जो धारा बोदाँ और हाब्स, स्पायनोजा आदि में उपस्थित हुई थी, वह अपने जनतंत्रात्मक रूप में रूसो में व्यक्त हुई। किन्तु हाब्स और रूसो, दोनों के मत में ही संप्रभुता एकीकृत विराट् राजकीय शक्ति का ही नाम है।

जर्मन दार्शनिक हेगेल के अनुसार संप्रभुता, तत्वात्मक एकता अथवा आदर्शात्मकता को कहते हैं। राज्य के जितने पद हैं, वे व्यवस्थित रहें और पदस्थ व्यक्ति एक व्यापक संपूर्णता को ध्यान में रखते हुए अपना कार्य करें, यह संप्रभुता के कारण ही संभव है। हेगेल को अनेक आलोचकों ने शक्तिवाद या अधिनायकवाद का पोषक माना है। अनियंत्रित शक्तिवाद का उसने तिरस्कार किया है। शक्तिवाद या अधिनायकों की उच्छृंखलता उस समय व्यक्त होती है जब विधि का शासन समाप्त हो जाता है। संप्रभुता उस वैधिक व्यवस्था का नाम है जब समस्त राजकीय अधिकारी और कर्मचारी

१ सन् १७९१ का फ्रांसीसी संविधान घोषणा करता है—"the source of all sovereignty resides fundamentally in the nation . . . . . Sovereignty is one and indivisible, inalienable and imprescriptible". इस उद्धरण के लिए द्रष्टव्य, Leon Duguit, Law in the Modern State. p. 11.

राज्य के प्रत्यय की सम्पूर्णता को ध्यान में रखते हुए निज कर्मों का पालन करें। संप्रभुता सावयववाद का पोषक सिद्धान्त है। जिस प्रकार किसी जन्तु के समस्त अंग परस्पराश्रित और संबद्ध रहते हैं, उसी प्रकार संप्रभुता के कारण राज्य के समस्त अंग और उपांग एक आदर्शात्मकता से संग्रथित रहते हैं। किन्तु इस प्रकार की पूर्णता की अभिव्यक्ति के लिए आत्मनिष्ठता अपेक्षित है और आत्मनिष्ठता एक व्यक्ति के द्वारा वेदितव्य होती है, अतः राज्य की संप्रभुता का चरम बिन्दु नरपति है जो तर्कसंगत संविधान के द्वारा राज्यकर्म करता है। जिस प्रकार राज्य की आन्तरिक संप्रभुता की अभिव्यंजना पूर्णता के द्वारा होती है, उसी प्रकार अपने प्राणों की हत्या के द्वारा भी राज्य की प्रतिरक्षा करना उसकी बाह्य संप्रभुता की रक्षा के निमित्त आवश्यक है। हेगेल के अनुसार राष्ट्रभावापन्न राज्य तर्कणात्मक तात्विकता और प्रत्यक्ष वास्तविकता की मूर्ति है और इसी कारण यह पार्थिव जगत् में पूर्णतः निरपेक्ष है। इसका तात्पर्य हुआ कि अपने पड़ोसियों के समक्ष प्रत्येक राज्य संप्रभुतासम्पन्न और पूर्णतः स्वतंत्र है। उनके द्वारा इसकी संप्रभुता का अभिज्ञान और स्वीकरण अत्यन्त अपेक्षित है। राज्य को इस प्रकार संप्रभुतासम्पन्न मानने से अन्ताराष्ट्रिय विधि का कोई महत्व नहीं रह जाता है। अन्ताराष्ट्रिय विधि नैतिक और संकल्पात्मक इच्छाओं का समूह है और किसी प्रकार भी इसकी अवश्यम्पालनीयता सिद्ध नहीं है। इस प्रकार आन्तरिक और बाह्य संप्रभुता का उग्र पोषण करने के कारण प्रजातंत्रीय क्षेत्रों में हेगेल का नाम घोर शक्तिवाद के पोषक के रूप में हो जाता है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के घोर कारनामों को देखते हुए हेगेल जनसंप्रभुता का विरोधी हो गया था।

निरपेक्षतापूर्ण संप्रभुता का उग्र समर्थक 'जान आस्टिन' विश्लेषणात्मकतावादी था। उसके अनुसार निर्दिष्ट मानवों की उत्कृष्ट संप्रभुताशक्ति की स्वतंत्र राज्य में आवश्यकता है। निर्दिष्टता पर बल देने के कारण अस्पष्ट सामान्य संकल्प को संप्रभु वह नहीं मानता है। इस संप्रभुतासमन्वित मानव-शक्ति को ही अधिकांश जनता अपना अभ्यस्त आज्ञानुवर्तित्व अर्पित करती है। विधिसम्मत नियम इस संप्रभु से निःसृत होते हैं। आस्टिन वैधिक परिपूर्ण निरपेक्ष संप्रभुता का समर्थक था। किन्तु अनेक दृष्टियों से उसकी आलोचना की गई है। ऐतिहासिकों का कहना है कि प्राच्य देशों के एकतंत्रीय शासन में भी सम्राट् पूर्ण निरपेक्ष नहीं था। जनता की परम्पराओं और विश्वासों को कुचल कर कोई सम्राट् शक्तिवाहक नहीं रह सकता था। आस्टिन प्रतिरोध का विरोधी था; क्योंकि अभ्यस्त आज्ञानुवर्तित्व जनता के अधिकांश से प्राप्त करना संप्रभुता का लक्षण है। राज्य पर किसी भी प्रकार का बाह्य नियंत्रण उसे अस्वीकृत था। अतः निर्धारितता और निरपेक्षता अर्थात् सम्पूर्णशक्तिमत्ता को ही संप्रभुता का मौलिक तत्त्व मानकर आस्टिन वैधिक दुनिया में

ही विचरण करता है। आस्टिन के विधिशास्त्र की समस्या है--निर्धारित संपूर्ण-शक्तिमत्ता और अभ्यासाश्रित आज्ञानुवर्तित्व का सामंजस्य। स्पष्ट है कि जब आज्ञानुवर्तित्व अभ्यासगत हो जाता है तब एकाधिकारपूर्ण शक्ति की आवश्यकता नहीं रहती है। एकाधिकारवादिता का पर्यवसाय दमन तथा नियंत्रण में होता है और दमन तथा नियंत्रण की वहीं आवश्यकता है, जहाँ राज्य की आज्ञा की अनुवर्तिता स्वाभाविक नहीं है। इस असंगति के बाद भी आस्टिन के विधिशास्त्र की एक विशेषता हमें ग्राह्य है। जहाँ तक उसने किसी भी विकसित राज्य में निश्चयात्मक मत व्यक्त करने के लिए एक निर्धारित शक्ति की आवश्यकता अनुभव की है, वहाँ तक उसका विचार संगत है। यह ठीक है कि उसने इस संप्रभुतासंपन्न शक्ति की निरपेक्षता के अनुसंधान में समाजशास्त्र और इतिहास तथा नीतिशास्त्र के द्वारा उपस्थित तत्त्वों का परिग्रहण नहीं किया है। प्रजातंत्रीय परंपरा के विकास और सामाजिक शास्त्रों की उन्नति के कारण राजकीय शक्ति के स्वरूप को हम आज आस्टिन की अपेक्षा अच्छी तरह समझ सकते हैं।

आस्टिन के अनुसार संप्रभुता का यथार्थ तत्त्व है--निर्धारित और सम्पूर्ण शक्ति-सम्पन्न केन्द्र। तार्किक उपपत्ति की दृष्टि से उसका कहना ठीक है। विधिशास्त्र की दृष्टि से निश्चयात्मक मत का प्रकाशन करनेवाले शक्तिकेन्द्र की नितान्त वांछनीयता है; किन्तु इस शक्तिकेन्द्र को समाज से व्यतिरिक्त नहीं माना जा सकता है। समाज में अनेक शक्तियाँ वर्त्तमान हैं, जिनके अन्तर्गत ही संप्रभुता कार्य कर सकती है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र चैतन्यसम्पन्न मानव के अधिकार का पोषक है। प्रजातंत्र के विकास के कारण जनमत एक प्रमुख शक्ति के रूप में हमारे सामने आ गया है। औद्योगिक सभ्यता के विकास के साथ-साथ अनेक श्रेणियों और संस्थाओं का विस्तार हुआ है। आज हाब्स और रूसो के समान संस्थाओं का खंडन करना या उनकी उपेक्षा करना असामयिक है। दूसरी ओर इतिहास की धारा ने अन्ताराष्ट्रिय समाज को उत्पन्न किया है। अतः आज की दुनिया में केवलमात्र निरपेक्ष संप्रभुतावाद का मंडन शाब्दिक प्रतीत होता है। केवलमात्र शक्ति का नारा बुलन्द करना दास-प्रथा के उपयुक्त भले ही हो, स्वस्थ चेतन मानवों के लिए उपयोगी कदापि नहीं हो सकता। अन्ताराष्ट्रिय विधि की उपेक्षा करना, जैसा हेगेल ने किया है, अब असामयिक हो गया है। दो विश्वमहासमरों ने अन्ताराष्ट्रिय समाज और व्यवस्था को निर्मित करना आज की सभ्यता और संस्कृति के लिए अत्यन्त अनिवार्य बना दिया है। किन्तु समाजशास्त्र, विश्व-इतिहास और प्रजातंत्र की दृष्टि से आस्टिन और हेगेल के मत को अपूर्ण मानते हुए भी इतना कहना ठीक है कि किसी भी आधुनिक सभ्य राज्य में अन्तिम निश्चय को व्यक्त करनेवाली और उस मत को दमन का आश्रय लेकर भी मान्य करानेवाली शक्ति की

नितान्त आवश्यकता है। कह सकते हैं कि आस्टिन का मत अपूर्ण है; किन्तु गलत नहीं है।

दार्शनिक राजनीतिशास्त्र के अनुसार राज्य चेतन नीतिमान् मानव के आत्म-साक्षात्कार का एक साधन है। अपने क्षेत्र में निवास करनेवाले मनुष्यों का अधिक-से-अधिक सुख किस प्रकार सिद्ध हो सकता है, इसको व्यावहारिक बनाना ही राज्य का लक्षण है। स्पष्ट है कि यदि राज्य एक साधन है, तब अपने साध्य की संसिद्धि के लिए आवश्यक शक्ति ही उसके निमित्त अपेक्षित है। यदि राज्य, नीतिमान् मानव के समस्त बाह्य सम्बन्धों को विधिविहित प्रणाली से अनुशिष्ट करने का साधन है तो स्पष्ट है कि उसके अनुरूप ही शक्ति इसको प्राप्त होनी चाहिए। निरपेक्ष अतिरंजित शक्ति की माँग अनावश्यक है। कार्य और शक्ति में अनुपात को बनाना होगा। यदि राज्य को मानवमात्र का परम प्रकृष्ट साध्य माना जायगा, तभी इसको सर्वशक्तिमान् तथा निरपेक्ष माना जा सकता है। प्रजातंत्रीय व्यवस्था राज्य की अपेक्षा समाज और चेतन व्यक्तियों को अधिक महत्त्वपूर्ण मानती है। अतः कार्य के निमित्त आवश्यक शक्ति की अपेक्षा अधिक शक्ति का प्रयोग करना, प्रजातंत्रीय व्यवस्था में संभव नहीं है।

उन्नीसवीं शताब्दी से ही संप्रभुतावाद का खंडन प्रारम्भ हो गया है। लाबाण्ड और जेलिनेक के अनुसार संप्रभुता राज्य का आवश्यक तत्त्व नहीं है। इनके अनुसार मौलिक, अपरिदत्त, नियंत्रण का अधिकार ही राज्य का मूल लक्षण है; किन्तु इस प्रकार का अधिकार संप्रभुता से अधिक पृथक् नहीं है। चार्ल्स बेनोआ ने प्रजातंत्रीय व्यवस्था के विकास के कारण संप्रभुता को गलत और खतरे से पूर्ण बताया।[२] ब्रिटेन में बहुलवाद या अनेकवाद का सिद्धान्त उद्घोषित हुआ। जिस प्रकार औपनिषदिक अद्वैतवाद के विरोध में जैन दर्शन ने बहुलवाद की घोषणा की थी, उसी प्रकार जर्मन विज्ञानात्मक अद्वैतवाद की प्रतिक्रिया में विलियम जेम्स ने बहुलवादी, जगत् का दर्शन उपस्थित किया।[3] लास्की के बहुलवाद पर जेम्स का प्रभाव था। बहुलवादी विचारधारा पर अन्य प्रभाव भी थे। ओटो गियर्के ने जर्मनी के मध्यकालीन आर्थिक और सामाजिक

१. Paul Laband, Das Staatsrecht des deutschen Reiches; Georgjellinek, Allegemeine Staatshbe (१६०५) इनकी आलोचना के लिए द्रष्टव्य, Willonghby, The Fundamental concepts of Public Law.

२. Charles Benoist, Lacrise de l'etat moderne. Del' organisation du suffrage universal (१६०२)।

३. William James, The Pluralistic Universe.

विकास का इतिहास प्रस्तुत कर निगमों का प्रकृष्ट महत्त्व घोषित किया। गियर्के ने अलथुसियस के राजनीतिक दर्शन का—जिसमें स्पष्ट रूप से राज्य को संस्था कहा गया है और समाज का संघात्मक रूप स्वीकृत है—भी पुनरुद्धार किया। गियर्के की विचारधारा से मेटलैण्ड और बार्कर भी प्रभावित थे।[२] इंगलैण्ड में बार्कर, फिगिस, लिण्डसे, लास्की, कोल आदि ने बहुलवादी विचारधारा से प्रभावित हो निरपेक्ष संप्रभुतावाद का खंडन किया[३]। प्रथम विश्वमहासमर के बाद राज्यवाद के विपरीत जो प्रतिक्रिया हुई थी, इसी के फलस्वरूप बहुलवाद का विचार दृढ़ता से व्यक्त हुआ। फिगिस के अनुसार राज्य की निरपेक्ष शक्तिसम्पन्नता का सिद्धान्त यूरोपीय पुनरुद्धार और धार्मिक महासुधार के कारण उपस्थित हुआ है। उसने राज्य को 'समाजों का समाज' घोषित किया। बहुलवाद की विशेषता है कि इसने समाज में वर्तमान अनेक संस्थाओं के यादृच्छिक प्रकर्ष का वर्णन किया है। निश्चित राज्यनिरपेक्ष संप्रभुतावाद का व्यवहारीकरण नाना संस्थाओं के प्रकृष्ट महत्त्व की उपेक्षा करता है। आज का राज्य केवल व्यक्तियों के सम्बन्धों की व्यवस्था नहीं करता है, अपितु अनेक शक्तिशाली संस्थाओं के साथ व्यक्ति का सामंजस्य उपस्थित करना भी उसका लक्ष्य है। किन्तु संस्थाओं के प्रकृष्ट माहात्म्य को स्वीकार करते हुए भी उनमें सामंजस्य प्रस्थापित करने के निमित्त राज्य की महती आवश्यकता है। यह ठीक है कि रोमन कैथोलिक चर्च जैसी संस्था आधुनिक यूरोपीय राज्य से प्राचीनतर है और इसमें विश्वास रखनेवाले लोगों की दृष्टि में राज्य से भी यह अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह भी ठीक है कि कभी-कभी एक मजदूर की दृष्टि से श्रमिकसंघ राज्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण मालूम पड़ सकता है। यह एक साधारण अनुभव का विषय है कि परिवार असंख्य नागरिकों की दृष्टि में राज्य की अपेक्षा अधिक रागात्मक महत्त्व रखता है। यह भी ठीक है कि अनेक संस्थाओं का जन्म नागरिकों के राज्यव्यतिरिक्त श्रम से सिद्ध हुआ है। परन्तु इन सब बातों के होते हुए भी लास्की की यह माँग कि संप्रभुता के विचार को राजनीतिशास्त्र से बहिष्कृत कर देना चाहिए, भावुकतापूर्ण

१. Otto Girke, Das deutsche Genosseneschaft (१८६८-१९१३) चार बृहत् खंडों में।

२. F. W. Maittand, The Collected Papers of F. W. Maitland खंड ३, पृष्ठ ३०४-३२०; Maitland, Political Theories of the Middle Ages (इसमें) Gierke के Genessenschaft के कुछ भाग का अनुवाद है)।

३. E. Barker "The Superstition of the state", London Times Literary Supplement, July 1918; Figgis churches in the

और असंगत है।[१] समाज समानान्तर रेखा पातिक संस्थाओं से नहीं बना हुआ है। इसमें अनेक संस्थाएँ हैं। उनके पारस्परिक संघर्षों को समाहित करनेवाला राज्य नितान्त आवश्यक है। राज्य विवादग्रस्त प्रश्नों का निश्चयात्मक समाधान कर सके, इसके निमित्त संस्थाओं की अपेक्षा उसका विशालतर महत्त्व स्वीकार करना ही पड़ेगा। अन्य संस्थाएँ आर्थिक दण्ड या प्रायश्चित्त दण्ड दे सकती हैं; किन्तु शारीरिक दण्ड केवल राज्य ही दे सकता है। प्रतिरक्षा के प्रश्नों की उपस्थिति होने पर चर्च और श्रमिकसंघों के ऊपर भी राज्य अपना नियंत्रण कर सकता है। यदि कोई धार्मिक संगठन प्राणायाम, संध्या आदि की व्यवस्था करता है तो यह उसका आन्तरिक प्रश्न है और इसमें वह पूर्ण स्वतंत्र है; परन्तु यदि धर्मसंगठन या चर्च नागरिकों में अव्यवस्था का समर्थन करता है तो उसको उचित दण्ड देना राज्य का ही कार्य है। अतः स्पष्ट है कि यद्यपि राज्य भी एक संस्था है और समाज से इसका तादात्म्य नहीं है, तथापि मानव के व्यापक हितों की रक्षा की जिम्मेवारी इसके ऊपर है और उसका पालन करने में वह अन्य संस्थाओं को उचित दण्ड दे सकता है। अतः यद्यपि बहुलवाद की यह विशेशता रही है कि सने हेगेल और आस्टिन के विचारों की तिक्रिया में अन्य सामाजिक संस्थाओं का महत्त्व घोषित किया, तथापि राज्य का अन्य संस्थाओं के बीच सामंजस्य उपस्थित करने का जो कार्य है, उसकी पूरी मीमांसा यह नहीं कर सका।

Modern State; A. D. Lindsay, "The State in Recent Political Theory", Political Quarterly, 1914 पृष्ठ १२८-१४५ H. J. Laski, Studies in the Problem of Soveiregnty, Authority in the Modern State, Foundations of Sovereignty, Studies in Law and Politics.

१ Harold Laski, A Grammar of politics पृष्ठ ४४-४५; "It will be here argued that it would be of lasting benefit to political science if the whole concept of sovereignty were surrendered," "पृष्ठ ६५"; "It is enough, for the moment, to postulate the disappearance of State-sovereignty as the condition without which the life of reason is impossible to states."

सामंजस्य केवल उपदेशप्रदान से नहीं हो सकता। बिना शक्ति के, क्रियात्मक सामंजस्य कदापि उपस्थित नहीं किया जा सकता। यह समाजशास्त्र का एक निश्चित मन्तव्य है कि अन्य संस्थाओं की अपेक्षा, सामान्यहित की दृष्टि से, राज्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र का यह विचार है कि राज्य समुचितरूप से अपनी शक्ति का उपयोग कर रहा है या नहीं, अथवा सामंजस्य-स्थापन के बहाने किसी वर्गविशेष के स्वार्थ का पोषण तो नहीं कर रहा है, इन सब बातों की मीमांसा करना नीतिमान् चेतन नागरिक का कर्तव्य है। किन्तु अनेक अपूर्णताओं के होते हुए भी, किसी व्यवस्था को चलाने के निमित्त राज्य को अन्ततोगत्वा निश्चयात्मक मतघोषण और क्रियान्वयन का सम्पूर्ण अधिकार देना पड़ेगा। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अगन्तव्य क्षेत्रों मे प्रवेश करने का वह प्रयास करेगा। यदि विधिसम्मत प्रणाली से राज्य अपनी शक्ति का उपयोग न करेगा तो शीघ्र ही राज्य के नाम पर कार्य करनेवाले सरकारी कर्मचारी अपने को पदच्युत और कारागार में पायेंगे और अधिक अन्याय करने पर चार्ल्स प्रथम और सोलहवें लुई के समान शूली पर भी चढ़ाये जा सकते हैं। तथापि व्यवस्था का तर्कशास्त्र इस बात की माँग करता है कि आन्तरिक प्रश्नों के समाधान में राज्य के पास विधिसम्मत निरपेक्षशक्ति आवश्यक है; किन्तु यतः उसका सर्वदा अन्य सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक शक्तियों के संघर्षक्षेत्र में प्रयोग करना पड़ेगा, अतएव अधिकतम मात्रा में उसको नैतिक बनाना अनिवार्य है। अतः यह कहना कि राज्य संप्रभुतासम्पन्न नहीं है, अनर्गल प्रलाप है, दूसरी ओर सम्पूर्ण संप्रभुता का अर्थ घोर शक्तिवाद करना भी नितान्त भ्रामक है। राज्य विधि की दृष्टि से सम्पूर्ण अधिकारसम्पन्न है; किन्तु उतनी ही दूर तक, जहाँ तक वह बुद्धिमानी से कार्य लेता है और जनमत उसके पक्ष में यदि पूर्णतः नहीं तो कम-से-कम प्रतिरोधी नहीं है। जर्मनी में शक्तिवाद के उग्र पुजारी बिस्मार्क को भी रोमन कैथोलिक चर्च से समझौता करना पड़ा। नेपोलियन और मुसोलिनी भी अपनी शक्ति का दम्भ करते हुए चर्च से समझौता करने को बाध्य किये गये। इस प्रकार स्पष्ट है कि एक विस्तृत विशाल संघर्षशील जगत् में शक्ति-योग को प्रकटित करना है। संयम और बुद्धिशीलता के आधार पर ही इस संघर्ष में विजय प्राप्त हो सकती है।

राज्य के घोर शक्तिवाद के उपासकों के विपरीत हम देखते हैं कि अनेक अवसरों पर संगठित श्रेणियों और संस्थाओं ने राज्य की उपेक्षा की है। सन् १९४६ लेकर सन् १९४७ ई० तक अनेक घटनाएँ देश और विदेश में ऐसी

हुईं, जिनसे अंगरेजी पार्लमेण्ट की आँख खुल गई[1] और भारतीय स्वतंत्रता को प्रदान करनेवाला कानून उसे बनाना पड़ा। विधिशास्त्र की दृष्टि से संप्रभुतासम्पन्न अंग्रेजी राजा और संसद् को वास्तविकता के सामने झुकना पड़ा। मुसलिम लीग के 'प्रत्यक्ष कर्म' की नीति ने भारत-सरकार को पाकिस्तान स्वीकार करने पर बाध्य किया। महात्मा गांधी जी के आन्दोलन के सामने दक्षिण अफ्रिका की सरकार को झुकना पड़ा। ये उदाहरण बताते ह कि ऐसे अवसर राजकीय जीवन में उपस्थित होते हैं जो वैधिक सम्प्रभुतासम्पन्न शक्ति को भी झुकने पर बाध्य करते हैं। स्पष्ट है कि राज्य और उसके नाम पर कार्य करनेवाली सरकार की व्यवस्था कुछ आवश्यक माँगों के पूर्ति के लिए हुई है। इस अर्थ में लाक्षणिकता की दृष्टि से राज्य को अनुबंधप्रजनित मान सकते हैं। नागरिकों को इस बात का पूर्ण अधिकार है कि वे इसकी खोज करें कि राज्य वस्तुत: अधिकारों और कर्त्तव्यों की सम्यक् व्यवस्था कर रहा है या नहीं। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र राज्य को नीतिमान् चेतन मनुष्यों के आत्मदर्शन के निमित्त आवश्यक बाह्य उपकरणों का ज्ञापक और व्यवस्थापक मानता है। अत: सम्यक् रूप से सरकार अपना कार्य कर रही है या नहीं, इसकी मीमांसा करना प्रत्येक नागरिक का नैतिक कर्त्तव्य है। आध्यात्मिकता की यह माँग है कि यदि नागरिक की बुद्धि में सरकार के कार्य असंगत और विपथगामी प्रतीत होते हैं तो निस्सन्देह वह उनका विरोध करे। किन्तु इस प्रकार का विरोध दैनिक घटना न होकर, उचित अवसरों और कठिन गंभीर परिस्थितियों में होना चाहिए। अत: दार्शनिक राजनीतिशास्त्र अपना अन्तिम आधार मानव की व्यवसायात्मिका बुद्धि को मानता है, जिसका बीज प्रत्येक मानव में वर्तमान है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र का यही लक्ष्य है कि मानव के आत्मसाक्षात्कार के निमित्त आवश्यक जो विराट् श्रेय हैं, उनकी पूर्ति का साधन राज्य को बनाया जाय। इसके निमित्त जनता को शिक्षापूर्ण अभिवांछित है। शिक्षित जनता को ही अधिकारचैतन्य रह सकता है ओर वही सरकारी सेवकों को अपने अनुकूल बना सकती है। प्रजातंत्रीय व्यवस्था में यह अनिवार्य है कि सरकार, जनमत को अपनी नीति का पूरा आधार बनावे। इसके लिए अपेक्षित है कि जनसंस्थाओं की, सरकारी नीति-निर्माण में पूरी सलाह ली जाय। संविधान में स्पष्ट रूप से सरकार का अवधिकाल और इसकी निर्माण-विधि लिखित रहनी चाहिए। प्रजातंत्रीय सरकार, शक्ति-केन्द्रीकरण पर ध्यान न देकर क्षेत्रीय और कर्मीय विकेन्द्रीकरण पर ध्यान देगी।[2] अत: स्पष्ट है कि राज्य नागरिकों की हितरक्षा का साधक है न कि अपनी शक्ति का संवर्धक। राज्य की शक्ति की जो सामान्यता और संप्रभुता विधिशास्त्र में प्रकटित हैं, वे कम-से-कम प्रजातंत्रीय व्यवस्था में

१. R. Palme Dutt, India To-Day.

१. Territorial decentralization and functional devolution.

अवश्य ही जनकल्याणात्मक कर्म में प्रयुक्त होने के लिए ही हैं। किन्तु तर्कशास्त्र की दृष्टि से राज्य को संप्रभु मानना ही पड़ेगा, अन्यथा व्यवस्था नहीं रह जायगी। दैनिक व्यवहार में जनसंघर्ष हो, उस समय उसका समाधान करने के लिए राज्य की संप्रभुता आवश्यक है। जब किसी श्रमिक संस्था के लोग अपनी दर्शनधारा का आश्रय लेकर हिंसा और उत्पात मचावें, उस समय समाज के परित्राण के निमित्त अनिवार्य है कि राज्य उस संस्था के ऊपर अपनी संप्रभुता स्पष्ट घोषित कर उसका हिंसात्मक दमन भी करे। अतः राज्य को निरपेक्ष संपूर्ण संप्रभुता-सम्पन्न मानना आवश्यक है। हाँ, राज्य अपने को कायम रखने के लिए सर्वदा ही अपनी शक्ति का सामाजिक और नैतिक आदर्शों के अनुवर्तन में प्रयोग करे, इस नियम को अवश्य चरितार्थ करना चाहिए। अतः मैकिवर का राज्य को चर्च और क्लब आदि के समकक्ष घोषित करना अत्यन्त भ्रामक है[1]। राज्य को वैधिक संप्रभुतासम्पन्न मान कर भी मानव नैतिकता का पोषक दार्शनिक राजनीतिशास्त्र स्वीकार करता है कि जब सामान्यहित, अधिकार-व्यवस्था आदि के आदर्श को छोड़ कर, राज्य वर्गहित, शोषकहित आदि का समर्थन करता है, तब क्रान्ति के सहारे उस राज्य को उलट डालना भी परम कर्तव्य है।

यह ठीक है कि कुछ अन्य संस्थाओं ने राज्य की अपेक्षा अधिक रागात्मक सहानुभूति जनता से प्राप्त की है, तथापि सभ्यता का इतिहास बताता है कि बर्बरता से परित्राण पाने में राज्य एक महान् साधन है। जब मौर्य-साम्राज्य और गुप्त-साम्राज्य कमजोर हो गये, तब यवनों और हूणों ने इस देश में बड़ा खतरा उत्पन्न किया। शक्तिशाली राज्य, प्रतिरक्षा के निमित्त बड़ा आवश्यक है और भारतीय इतिहास की अनेक साम्राज्यों के पतन के फलस्वरूप उत्पन्न विशृंखलता के रूप में, यही शिक्षा है कि सुरक्षा की मनोवैज्ञानिक और सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति राज्य के द्वारा ही हो सकती है। अतः यदि बहुलवाद की भ्रामक विचारधारा के लिए यूरोप और विशेषतः इंगलैण्ड में आंशिक आवश्यकता थी भी तो स्वतंत्र भारत के लिए यह बड़े खतरे से भरा हुआ विचार है। आन्तरिक प्रश्नों में संस्थाओं को स्वतंत्र मान कर भी, सर्वसामान्य प्रश्नों

R. M. Maciver, The Modern State. pp. 467-468, "Legally, the state is unlimited, because it is itself the source of legal enactment, but it is no more absolute on that account than, say, the church, because it is the source of ecclesiastical law, or the Royal and Ancient Club, because it alone prescribes the laws of golf."

का जहां तक सम्बन्ध है, राज्य को उनसे प्रकृष्टतर मानना ही पड़ेगा। किन्तु सर्व-कल्याणपोषक आदर्शों को क्रियान्वित करने के लिए जो राज्य के कार्य हों, वे यदि सर्वदा वैधिक परम्परा का अनुगमन करें तो एकच्छत्रवाद का खतरा नहीं उपस्थित होगा। राज्य को साधन मानने से, उसके विरोध में उचित अधिकारों की माँग की जा सकती है। यदि रास्ते में किसी व्यक्ति या किसी संस्था की गाड़ी से चोट लग जाने पर नागरिक को हर्जाना मिलता है, तो उसी प्रकार राज्य पर भी आवश्यकता पड़ने पर अभियोग लगाया जा सकता है। राज्य अपने सेवकों के कार्यों के लिए पूरा उत्तरदायी है और वैधिक व्यवस्था की यह माँग है कि राज्य को भी अधिकार और उत्तरदायित्व के व्यापक नियम से बँधना होगा। यदि राज्य सम्यक् व्यवस्था की कामना करता है, यदि शासितों के संकल्प को अपनी नीति का वह आधार बनाना चाहता है तो नागरिकों के उचित अधिकारों का परिरक्षण कर ही उसकी संप्रभुताशक्ति आदर्श-वती बन सकती है। प्रजातंत्र के विकास से यह अनिवार्य हो गया है कि केवल निरपेक्ष सर्वशक्तिमान् राज्य का राग अलापने से कुछ नहीं होगा। वास्तविकता के जगत् में राज्य को रहना है। वास्तविक जगत् में अंतिम निरपेक्ष शक्ति एक शाब्दिक जालमात्र है। राजकीय संप्रभुता के पीछे भी अन्य महती सामाजिक और नैतिक शक्तियां कार्य कर रही हैं। इनकी उपेक्षा प्रत्यक्ष खतरे को उपस्थित कर देती है, जैसा १६४६ ई० में इंगलैण्ड, १७८६ ई० में फ्रान्स तथा सन् १६४२ में भारत के इतिहास से स्पष्ट विदित है।

अबतक के विवेचन से स्पष्ट है कि जिस संप्रभुतावाद का बीज रोम के कानून-शास्त्र में है, जिसका आधुनिक पोषण बोदाँ, हाब्स, स्पायनोजा, रूसो, हेगेल, आस्टिन आदि ने किया है, उसका आधुनिक अन्ताराष्ट्रियवाद, बहुश्रेणीवाद, मानव अधिकारवाद, प्रजातंत्रवाद आदि के जमाने में नये तरीके से विश्लेषण करना होगा। इसके निमित्त समाजशास्त्र, इतिहास और दर्शनशास्त्र से हमें सहायता लेनी पड़ेगी और संप्रभुताशक्ति की भी क्रमिक परम्परा[1] स्थापित करनी होगी। किसी एक सामान्य सिद्धान्त से ही सामाजिक संजटिलता और विविधता का सम्यक् बोध नहीं होगा।

दार्शनिक राजनीतिशास्त्र के अनुसार सबसे व्यापक और मूलभूत संप्रभुता ऋत की है। ऋत उस शक्ति का नाम है जो मानव को सत्पथ पर प्रेरित करती है।[2] भौतिकवादी और यंत्रवादी दुनिया में प्राथमिक नियम पर विश्वास करना कठिन

१. क्रमिक परम्परा=Grades and levels of sovereignty

२. सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मयज्ञः पृथ्वीं धारयन्ति। (अथर्ववेद १२-१-१)
ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।

है। तथापि तिहास की यही शिक्षा है कि राजनीतिक समस्याओं के समाधान के लिए एक अति-राजनीतिक नियम की आवश्यकता है। ऋत से हमें किसी धर्मविशेष का समर्थन अभीष्ट नहीं है। ऋत से हमारा तात्पर्य उन विशाल व्यापक आदर्शों से है जो मानवमात्र के कल्याण के निमित्त आवश्यक हैं[१]। आज की प्रतियोगितावादी संघर्षशील दुनिया में शान्ति और सुव्यवस्था के लिए नैतिक नियमों का माहात्म्य-प्रकटीकरण आवश्यक मालूम होता है। केवल राज्य या राज्यविशेष के संविधान पर ही पूरा बल देने से मानवता की भावना शिथिल हो जाती है। हमें सर्वभूतहितवाद का ध्यान रखते हुए मानव-संस्कृति के उन्नायक आदर्शों को संरक्षित करना है।

ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः ।।
ऋतस्य दृळ्हा धरुणानि सन्ति पुरूणि चन्द्रा वपुषे वपूंषि ।
ऋतेन दीर्घमिषणन्त पृक्ष ऋतेन गाव ऋतमा विवेशुः ।।
ऋतं येमान ऋतमिद्वनोत्यृतस्य शुष्मस्तुरया उ गव्युः ।
ऋताय पृथिवी बहुले गभीरे ऋताय धेनू परमे दुहाते ।।-(ऋग्वेद ४-२३-८-१०)

× × ×

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन ।
आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ।।
(ऋग्वेद १-१५६-३)

× × ×

वयमिन्द्र त्वायवः सखित्वमा रभामहे ।
ऋतस्य नः पथा नयाति विश्वानि दुरिता ।। (ऋग्वेद, १०-१३३-६)

× × ×

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात् ।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशो मिनाति ।।
(ऋग्वेद १-१२४-३)

× × ×

इमे चेतारो अनृतस्य भूरेर्मित्रो अर्यमा वरुणो हि सन्ति ।
म ऋतस्य वावृधुर्दुरोणे शग्मासः पुत्रा अदितेरदब्धाः ।।
(ऋग्वेद ७-६०-५)

१. V. P. Verma, Nature of the Concept of Dharma and its influence on Hindu Political Philosophy, Journal of the Bihar Research Society, June, 1952, P.P. 294–297.

ऋत की संप्रभुता से हमारा केवल यही तात्पर्य है कि राज्यविशेष की जनता अपनेको संप्रभुतासम्पन्न मान कर, मानवता की उपेक्षा न कर दे। ध्यान में रखना है कि संप्रभुता का आधुनिक विचार मध्यकालीन धार्मिक एकता की बिश्रृंखलता के कारण ही उत्पन्न हुआ है। मानव की नैतिक एकता हमारा उद्देश्य है। तभी सर्वभूतहितवाद की संसिद्धि हो सकती है। इस व्यापक सर्वभूतहितवाद पर ध्यान आकृष्ट करने के लिए, क्षणस्थायी सांसारिक भोगों के पीछे पागल दुनिया को सत्पथ पर लाने के लिए और राज्य भी किसी विशिष्ट साध्य का साधन है, इस मंत्र को चरितार्थ करने के लिए ऋत की संप्रभुता मानना आज आवश्यक है। ऋतवाद का इतिहास में वर्तमान देवतंत्र या पुजारीवाद से किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। ऋतवाद का अर्थ है—मानव के नैतिक और आत्मिक चैतन्य का पोषण। इस ऋत का ज्ञान व्यवसायात्मिका बुद्धि के द्वारा होता है। ऋतवाद को संप्रभुता मानने के दो व्यावहारिक परिणाम हैं। प्रथम, यह व्यापक मानवता का समर्थन करता है। अतः यदि कोई राज्य मानवगरिमा और सम्मान का अपहरण करता है, तो उसके नियम सत्वर अवैधिक घोषित किये जा सकते हैं। युद्ध-लिप्सा, बलवाद, दण्डवाद को नियंत्रित करना ऋतसंप्रभुतावाद का परिणाम होगा। इसका दूसरा परिणाम है, आवश्यकता पड़ने पर प्रतिरोध का समर्थन। यदि मानव की व्यवसायात्मिका बुद्धि किसी राजकीय नियम को अन्यायपूर्ण समझती है या विराट् श्रेयों का खण्डनकर्ता मानती है तो वह उसका अननुवर्तित्व कर सकती है और यदि प्रश्न अत्यन्त गम्भीर है तो मानव उसका प्रतिरोध भी कर सकता है। अतः मानव एकता, शाश्वत शान्ति और व्यवसायात्मिका बुद्धि के आधार पर समर्थित प्रतिरोध-सिद्धान्त का पोषण करने के लिए ऋतसंप्रभुतावाद दार्शनिक राजनीतिशास्त्र का आवश्यक अंग है।

ऋतसंप्रभुतावाद का सम्बन्ध मानव-इतिहास और संस्कृति से है। यह मानवता को दृष्टि में रखकर ही क्रियान्वित हो सकता है। समाजविशेष और राज्यविशेष की दृष्टि से जनता को संप्रभुतासम्पन्न मानना, संप्रभुता का दूसरा स्तर है। प्रजातंत्रीय परम्परा की दृष्टि से जनता या लोक या 'विशः' की संप्रभुता का अर्थ है—अन्तिम दृष्टि से जनता की भावना, आशा, ऐतिहासिक परम्परा का महत्व स्वीकार करना। जनसंप्रभुतावाद का यह अर्थ नहीं है कि जनता के पास निश्चित ही सैन्यबल की अधिकता है। आज की युद्धकला के विकास के साथ-साथ सरकार की सैन्यशक्ति का अतिरंजित अप्रत्याशित विकास हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी के समान अब बड़े-बड़े शहरों में घेरा डालकर सरकार को पराजित करना सम्भव नहीं है। जनसंप्रभुतावाद, अतः जनता की भौतिकवादी सैनिक शक्ति के समर्थन का सिद्धान्त नहीं है। इसका अर्थ है कि कोई भी सरकार जनकल्याण, जनता की आशा, उसके संकल्प आदि का उल्लंघन

कर टिक नहीं सकती है। आज जनता की प्रचण्ड शक्ति और उसके महान् प्रकृष्ट संकल्प-बल का पता लग रहा है। शक्तिवाद का मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय विश्लेषण बताता है कि राष्ट्र को मजबूत बनाने का मार्ग सैनिकशक्ति की अभिप्राप्ति नहीं है, अपितु जनता की चरित्रशक्ति और प्रतिरोध करने का प्रचण्ड आत्मबल है। चेतन जनसमाज का आत्मबल प्रतिरक्षा का अमोघ अस्त्र है। जनवाद के प्रकृष्ट महत्त्व को देखते हुए ही प्रजातंत्र में वयस्कमताधिकार का नियम बनाया गया है। कोई भी प्रजातंत्रीय सरकार इस व्यापक जनवाद की उपेक्षा कर खतरे को मोल ेगी। जनता की शक्ति ही राज्य को परिपुष्ट करती है और जनसंकल्प उसको नवचेतना प्रदान करता है। यद्यपि रूसो का यह विचार कि सामान्य संकल्प वस्तुत: स्वयं शासन-व्यवस्था चलावे, आज के विशाल राष्ट्रों के लिए अव्यावहारिक है, तथापि इतना स्पष्ट है कि राजकीय शक्ति को केवल दमनयंत्र के रूप में व्याख्येय मानना असमीचीन है। जनसंप्रभुतावाद का सिद्धान्त बताता है कि राज्य में वर्तमान संप्रभुता किसी निर्धारित श्रेणी या दल की बलवत्ता नहीं ह अपितु जनता की पारस्परिक अन्योन्याश्रयिता और स्वभावसंसिद्धि का चेतनीकरण है[१]। संगठित जनता जब संगठित होकर कार्य करती है तब प्रजातंत्र की आशा का प्रकृष्ट केन्द्र जनतासंप्रभुतावाद या विशःसंप्रभुतावाद वेगवान् और फलवान् होता है।

संप्रभुतावाद का पहला स्तर है—ऋतसंप्रभुता और दूसरा स्तर है जनसंप्रभुता। पहला नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शों का पोषक है और दूसरा जनता की ऐतिहासिक और सामाजिक विकासधारा का। संप्रभुतावाद का तीसरा स्तर है—संविधान की स्वतंत्रता[२]। जिन प्रजातंत्रीय देशों में लिखित संविधान है, वहाँ संविधान का प्रकृष्ट महत्त्व है। जहाँ संविधान में परिवर्तन करने की विशेष प्रणाली है, वहाँ संवि ान को साधारण विधियों से पथक् किया गया है। इंगलैण्ड में संविधानात्मक नियम और साधारण विधि में कोई अन्तर नहीं है। अमेरिका में यह पृथक्ता स्पष्ट मानी जाती है। संवि ान की संप्रभुता विशिष्ट राजकीय शक्तियों के अधिकार और उत्तरदायित्व का क्रियात्मक नियंत्रण करती है। संविधान का अधिकार पाकर ही, राज्य की जो विधियाँ तदनुकूल रहती हैं, उन्हें नियंत्रणकारित्व प्राप्त होता है। संविधाननिर्माण और तदनुकूल विधिनिर्माण करने का अधिकार जिन राजकीय शक्तियों को मिला हुआ है, उनका महत्त्व आधुनिक विकसित सभ्य समाज में स्वीकार कर ही कोई व्यवस्था टिक सकती है।[३]

---

१. Miss Follett, The New State.

२. द्रष्टव्य—E. Barker, Principles of Social and Political Theory.

३. तुलनीय—Bosanquet, Philosophical Theory of the State

संप्रभुतावाद के जो तीन स्तर, ऋतसंप्रभुता, जनसंप्रभुता और संविधान संप्रभुता, हमने स्वीकृत किये हे, वे क्रियाकारित्व की दृष्टि से हें। इस प्रकार के तीन स्तरों का स्वीकरण हमें एक ओर आस्टिन और हेगेल के उग्र राज्यशक्तिवाद से बचाता है और दूसरी ओर बहुलवाद के भ्रमजाल से भी त्राण करता है। यह संप्रभुता को सामाजिक और राजनीतिक कार्यसंस्थापन का एक साधन मानता है। ऋतसंप्रभुता न केवल नैतिक आदर्शों को पुष्ट करती है, अपितु मानव-एकता का भी पोषण करती ह। आज अन्ताराष्ट्रिय व्यवस्था, आदर्शवाद की वस्तु नहीं; किन्तु सभ्यता के त्राण का एकमात्र मार्ग है। ऋत की संप्रभुता के आधार पर ही न्याय और स्वातंत्र्य के समर्थक मानव-समाज और अन्ताराष्ट्रिय एकता की स्थापना हो सकती है। राज्य को ही वास्तविक रूप में सम्पूर्ण शक्तियों का आगार मानना आज की दुनिया में असामयिक हो गया है और बड़ा-बड़ा दण्ड मानवता को इसके लिए भोगना पड़ा है। अतः आज न केवल सामाजिक और राष्ट्रिय क्षेत्र में सामंजस्य-स्थापन की आवश्यकता है, अपितु राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों का भी शांतिपूर्वक सुझाव करना है। यह तभी संभव है जब मानव को साध्य माननेवाले सर्वभूतकल्याणवाद के पोषक ऋत को ही संप्रभु मानकर हम स्वार्थसाधक और युद्धोत्तेजक सीमित राष्ट्र की संप्रभुता से त्राण पा सकें। इस प्रकार व्यापक समन्वय कर ही हम मानव-सभ्यता और संस्कृति को प्रशस्त कल्याण पथ का अनुगामी बना सकते हें।

कानून और संप्रभुता में क्या सम्बन्ध है, इसकी मीमांसा करने के पूर्व कानून का सभ्यता के विकास में क्या महत्त्व है, इसकी विचारणा करना आवश्यक है। कानून या नियम का एक व्यापक अर्थ है। जब हम जगत् में वर्तमान कार्य-कारण-भाव का ज्ञापन करते हें अथवा सृष्टितत्त्व के धारक और नियामक विशाल नियमों का अनुशीलन करते हैं तब हम कानून या नियम का व्यापक अर्थ ग्रहण करते हैं। इसी अर्थ को ध्यान में रखकर हम न्यूटन और आयन्स्टीन के भौतिकशास्त्रीय नियमों का उल्लेख करते हें। इस व्यापक अर्थ के अतिरिक्त कानून या विधि का एक सीमित समाजशास्त्रीय अर्थ है। नियम या कानून से हमारा तात्पर्य व्यवहार के साधारणीकृत सामान्य विचारों से है। क्रियात्मक व्यवहार को व्यवस्थित और नियंत्रित करनेवाले सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर ही कोई संस्था या कोई समाज टिकता है। जहां-जहां कोई संस्था या समूह

पृष्ठ XXIII, "Our theory does not place soverignty in a determinate person a body of persons, but only in the working of the system of institutions as a whole."

या श्रेणी है, वहाँ-वहाँ हम नियमों को पाते हैं। विना किसी नियम के मनुष्य के आपसी सम्बन्धों को चलाना अत्यन्त कठिन हो जायगा। अतः यदि किसी प्रकार वैज्ञानिक दृष्टि से कुछ देर तक नियमों को स्वतःसिद्ध या अनुगत न मान कर केवल मानवदृष्टिनिःसृत माना भी जाय तो सामाजिक और राजकीय क्षेत्र में नियम या कानून की सत्ता अनिवार्य रूप से स्वीकरणीय है। बहुत-से प्राचीनेतिहासवेत्ताओं का कहना है कि प्राचीन और मध्यकालीन सभ्यता में कानून नहीं पाये जाते, अपितु रीतियों के द्वारा समाज का संचालन होता था[१]। रीति और विधि की पृथक्ता को ध्यान में रखते हुए अनेक समाजशास्त्रियों और प्राचीन-मानवशास्त्रियों ने अनेक ग्रंथ प्रणीत किये हैं। प्राचीन मानव-समाज में कानून बनानेवाली कोई संस्था नहीं थी। किन्तु तथापि सत् और असत् का कुछ ज्ञान अवश्य था। कबीलों की प्रचलित रीतियों और प्रथाओं का उल्लंघन करने से कभी-कभी निर्वासन और मृत्यदण्ड मिलते थे[२]। प्राथमिक समाज में रीतियों और प्रथाओं पर तत्कालीन धार्मिक विश्वासों का बहुत प्रभाव था। उस समय में जो प्रथाओं और रीतियों के अनुवर्तन की परम्परा चली, वही पीछे चलकर राजकीय आज्ञाकारिता में परिणत हो गई। प्राचीन वैदिक संकृति में ऋत और धर्म की विशाल कल्पना का जन्म हुआ। वैदिक युग में भी कानून बनानेवाली कोई निश्चित संस्था नहीं थी। वेदयुग में भ्रूणहत्या, वीरहत्या और ब्राह्मणहत्या बड़े अपराध समझे जाते थे। पंचविंश ब्राह्मण के अनुसार विश्वासघात बड़ा पाप माना जाता था। किन्तु वैदिक-काल में अपराधियों के दण्डविधान के लिए किसी संगठित प्रणाली या संस्था का उल्लेख नहीं मिलता है। अबतक प्रायः ऐसा विचार कार्य कर रहा था कि जिन लोगों के प्रति अपराध किये गये हों, उन्हीं लोगों को अपना वैर सधाना चाहिए। किन्तु धर्मसूत्रों में जैसा विचार आता है कि राजा को दण्ड के रूप में अपराधियों से जुर्माना वसूल करना चाहिए। गौतम और आपस्तम्ब के धर्मसूत्र के अनुसार कुछ दूर तक कण्टकशोधन की व्यवस्था हो चली थी। धर्मस्थीय के सम्बन्ध में भी आंशिक उल्लेख धर्मसूत्रों में आता है, यद्यपि कण्टकशोधन और धर्मस्थीय का विस्तृत विवरण कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ही प्राप्त होता है। उत्तरवैदिक काल में राजा प्रधान न्यायाधीश हो गया। वैदिक सभ्यता और संस्कृति में कानून का पूरा महत्त्व जानने के लिए मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति पर विचार करना आवश्यक है।

---

१. Henry Maine, Ancient Law, Early History of Institutions Summer, Folkeways; Julius Jolly, Rechtund Sitte.

२. Lowie, Primitive Society, अध्याय १४।

यूनानी सभ्यता में भी कानून का विकास हुआ। किन्तु यूनान में भी लिखित कानूनों की संख्या अल्प ही थी। रीति और प्रथाओं का ही वहाँ प्राबल्य था। कानून सर्वसामान्य अभी नहीं हो पाया था। अन्य देश से आये मनुष्य किसी नागरिक का आश्रय प्राप्त कर ही कानून द्वारा स्थापित संरक्षण को प्राप्त कर सकते थे[१]। थीसीयस ने यूनान की कानूनी प्रथा को व्यवस्थित करने का प्रयास किया। सोलन ने ड्रैको के कानून को परिवर्तित तो नहीं किया; किन्तु तत्कालीन ऋणग्रस्तों की अवस्था को सुधारने के निमित्त अपने कानून बनाये[२]। यूनानी कानून में हम, कानून के ऊपर आर्थिक वातावरण और अवस्था का परिणाम देखते हैं। प्राचीन काल की समस्त सभ्यताओं में ईश्वरीय संदेशवाहक प्राथमिक कानूनदाता का उल्लेख आता है। हम्मुराबी, मूसा, मनु की भाँति यूनान में भी लायकरगस, ड्रैको, सोलन, कारोण्डास आदि का प्रभाव दिख पड़ता है। इन कानूनज्ञापक नेताओं के माहात्म्य में कुछ दूर तक धार्मिक प्रभाव भी व्यक्त होता है। इस व्यापक विचारधारा के

१. Aristotle, Politics III, 1, : "Nay, resident alieus in many places do not possess even such rights completely, for they are obliged to have a patron, so that they do but imperfectly participate in citizenship, and we call them citizens only in a qualified sense."

२. Aristotle, Politics II, १२ : "As to Solon, he is thought by some to have been a good legislator, who put an end to the exclusiveness of the oligarchy, emancipated the people, established the ancient Athenian democracy, and hameonized the different elements of the state....The truth seems to be that the council and the elected magistracy existed before the time of Solon, and were retained by him, but that he formed the courts of law out of all the citizens, thus creating the democracy, which is the very reason why he is sometimes blamed....Solon, himself, appears to have given the Athenians only that power of electing to offices and calling to account the magistrates which was absolutely necessary, for without it they would have been in a state of slavery and enmity to the government."

अतिरिक्त यूनान में, कानून तर्कसंगत व्यवस्थापक सामान्य नियम हैं, यह कल्पना भी शनः शनैः विकसित हो रही थी । अरस्तू के अनुसार वासना से अपरिगृहीत तर्क को ही कानून कहते हैं । यूनान के राजनीतिशास्त्र में कानून का महत्त्व पूर्णतः स्वीकृत था । सोफिस्ट सम्प्रदायवादियों ने मानव स्वतंत्रता के नाम पर कानून का परिहास किया । हिप्पीयास के अनुसार कानून, जनसमाज पर क्रूरता का प्रहार करता है; क्योंकि प्रकृतिविरुद्ध अनेक कर्मों को करने को यह बाध्य करता है[१] । यद्यपि अपने ग्रंथ रिपब्लिक में प्लेटो ने विशिष्ट राज्यपालों की निष्णात परिमार्जित बुद्धि का समर्थन किया है, तथापि अपने 'लाज' ग्रंथ में कानून का उसने उत्कर्ष बताया है[२] । तर्क के धार्मिक और सुनहले तन्तु को ही उसने राज्य का सार्वलौकिक नियम या कानून घोषित किया है । सर्वश्रेष्ठ के नेतृत्व के साथ सहयोग करना चाहिए, यही प्लेटो के अनुसार कानून का मार्ग है । अरस्तू ने कानून को व्यवस्था का प्रदाता माना है[३] । हिप्पोडामस की आलोचना करते हुए अरस्तू ने वैधिक परिवर्तन का सुन्दर विश्लेषण किया है । सभ्यता के विकास के साथ-साथ कानून में भी परिवर्तन होना चाहिए; क्योंकि प्राचीनकाल के निवासी कोई पूर्णज्ञानसम्पन्न तो थे नहीं । यह संभव भी नहीं है कि समस्त कानून लिख दिये जायँ। अतः समय की आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन अभिवांछित हो सकता है । इससे यह सिद्ध होता है कि कुछ कानून को बदलना चाहिए । किन्तु अरस्तू के अनुसार परिवर्तन तना व्यापक और उग्र नहीं होना चाहिए कि जनसमाज में कानून के अनुवर्तन का वह अभ्यास ही समाप्त हो जाय जो दीर्घकाल में प्राप्त होता है ।

---

१. Plato, protagoras, 337—Hippias के अनुसार " by nature like is akin to alike, whereas law is the tyrant of mankind and often compels us to do many things which are against nature."

२. Plato, Laws, 645 "the sacred and golden cord of reason called by us the common law of the state ;.. Now we ought always to cooperate with the lead of the best, which is law"

३. Aristotle, Politics III" Therefore he who bids the law rule may be deemed to bid God and Reason alone rule, but he who bids man rule adds an element of the beast ; for desire is a wild beast, and passion perverts the minds of rulers, even when they are the best of men. The law is reason unaffected by desire."

यूनान में, सैद्धान्तिक और व्यावहारिक क्षेत्र में, विधिशास्त्र में यद्यपि उन्नति हुई, तथापि मूलतः यूनान की देन साहित्य, दर्शन और कला के क्षेत्र में ही है। विधिशास्त्र में यूनान की अपेक्षा रोम की देन अत्यन्त अधिक महत्त्वपूर्ण है। विधि को सर्वसामान्य बनाने में और राज्यव्यवस्था से उसका संबन्ध-स्थापन सुसंगठित करने में रोम का अतिशय महत्त्व है। रोम के प्रारम्भिक वैधिक विकास का अध्ययन करने के लिए 'द्वादश मेज' का अनुशीलन आवश्यक है। धार्मिक प्रथाओं और सामाजिक परम्पराओं के पाश से विधि को अंशतः उन्मुक्त करने का यत्न इस समय किया गया। रोम में 'इक्वीटी' (अर्थात् विधि के शाब्दिक और यान्त्रिक रूप की अपेक्षा उसके आदर्शात्मक रूप पर बल-प्रदान) का भी एक सीमा तक विकास हुआ। पूर्वी रोमन-साम्राज्य के शासक जस्टीनीयन के कोड में क्रमबद्ध विधिशास्त्र का एक जबर्दस्त रूप रोम ने यूरोपीय सभ्यता को दिया है।

मध्ययुग में नैसर्गिक और ईश्वरीय नियम का प्राधान्य रहा। उस समय के विचारकों की मान्यता थी कि इस व्यापक हितसाधक नियम के विपरीत जितने पार्थिव नियम हों, उनका तिरस्कार करना चाहिए। 'टामस अक्वायनास' के अनुसार तर्क का धार्मिक अनुष्ठान ही कानून है[१]। कानूनी मर्यादा के पालन के लिए उसने कानून की घोषणा करना आवश्यक माना है।

आधुनिक युग के प्रारम्भ से कानून के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप का पूर्ण विकास हुआ। प्राचीनकाल में राजाज्ञा का सम्पूर्ण कानूनी व्यवस्था में सीमित स्थान था[२]; किन्तु आधुनिक काल में संसद् या कांग्रेस में हजारों कानून प्रतिवर्ष बनाये जाते है। कानून के अपरिकल्पित विकास के अनेक कारण हैं। आधुनिक सभ्यता में भौतिकवाद का प्राधान्य है। पहले ऋत या वरुणपाश या देवनियम में विश्वास के के प्राबल्य रहने से ही कितने अपराध नहीं किये जा सकते थे। भौतिकवाद और धर्मनिरपेक्षतावाद का विकास प्राचीन नैतिक और धार्मिक बन्धनों को शिथिल कर देता है और इस कारण सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने के लिए बाह्य कानूनी और राजनीतिक दमनयंत्र को स्थापित करना पड़ता है। भौतिकवाद के विकास के अतिरिक्त, पूँजीवाद के विकास के कारण भी कानून का विस्तार हुआ है। पूँजीवाद अनुबन्धवाद पर आश्रित है और इकरारनामों के अभूतपूर्व विस्तार में दीवानी कानून या धर्मस्थीय का विस्तार होता है। सामन्तवाद क्षेत्रीयसीमापरिबद्ध अर्थव्यवस्था है। पूँजीवाद का विकास संसारव्यापी अर्थव्यवस्था को जन्म देता है और इस विशाल और व्यापक

१. St. Thomas Aquinas, Law as an "ordinance of reason."
२. Eduard Meyer, *Geschichte des Altertums* Vol. I. Part 2.

संगठन का संचालन करने के लिए अनेक कानूनों की आवश्यकता होती है। कानून के अभूतपूर्व विकास का तीसरा कारण आधुनिक सभ्यता है । आधुनिक सभ्यता का आदर्श है—तर्कसंगतता और बौद्धिक स्वायत्तीकरण । समस्त सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की पूर्ण जानकारी करना तथा जानकारी के बाद उसके सम्बन्ध में कानून बनाकर उसका नियं ण करना, आधुनिक सामाजिक आदर्शवाद का लक्षण है। आधुनिक सभ्यता के जनतंत्रात्मक ंश का विकास होने पर राज्य जनकल्याणपोषक है, इस प्रकार के विचार की परिवृ हुई है और इसके साथ आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों में राज्य का हस्तक्षेप बढ़ा है। राज्य के हस्तक्षेप के विस्तार का अर्थ है कानून का विस्तार; क्योंकि कानून के सहारे किसी प्रश्न या किसी विषय में राज्य अपना प्रभाव व्यक्त कर सकता है।

इस प्रकार भौतिकवाद, पूँजीवाद और तर्कसंगतता के सार्वत्रिक विकास के कारण आधुनिक युग में कानून का अपरिकल्पित विस्तार संभव हुआ है। कानून के विधेयात्मकतावादी संप्रदाय ने राज्य को ही कानून का प्रदाता या जनक कल्पित किया था। राज्य की संवर्धनशील संप्रभुता का यह प्रधान प्रभाव समझा गया कि राज्य को नियंत्रणकारी नियमों के उद्भव करने का एकमात्र अधिकार है। विधेयात्मकतावाद का उग्र प्रचारक 'हाब्स' था। प्राकृतिक या नैसर्गिक नियम से पृथक् उसने राजकीय नियम की ओर निर्देश किया[1]। उसके अनुसार राजकीय नियम संप्रभुतासम्पन्न शासक की आज्ञा है ौर उसका अनुवर्तन करना पूर्ण आवश्यक है। नैसर्गिक नियम की मध्यकालीन धार्मिक परम्परा के विपरीत प्रतिक्रिया 'हाब्स' ने की, यद्यपि नैसर्गिक नियम का अन्तिम ंडन ह्यूम और हेगेल ने किया। कानून और अधिकार के सम्बन्ध में जो विचारसंकरता थी, उसका भी पूर्व विरोध 'हाब्स' ने किया। अधिकार स्वतंत्रता है अर्थात् वह स्वतं ता जो राजकीय कानून मानवों के हिस्से ें छोड़ देता है। किन्तु राजकीय कानून का अनुवर्तन तो विवश होकर भी करना होगा। इस प्रकार प्राकृतिक स्वतंत्रता का, कानून, हमलोगों से अपहरण करता है। केवल संप्रभुतासम्पन्न शक्ति ही कानून का निर्माण कर सकती हैं।[2] संप्रभु जिस कार्य को करने के लिए बाध्य करे, वही न्याय है

१. Thomas Hobbes, *Leviathan*, अध्याय २६।

२. Thomas Hobbes, Leviathan, अध्याय, २६, Civil law is to every subject, those rules which the commonwealth hath commanded him, by word, writing, or other sufficient sign of the will, to make use of, for the distinction of right and wrong ; that is to

और इस प्रकार के द्वन्द्वात्मक तर्क से हाब्स यह सिद्ध करता है कि कोई अन्यायकारी कानून नहीं हो सकता। किन्तु यद्यपि अन्यायकारी कानून नहीं हो सकता, तथापि आचारशास्त्रीय मूलभूत प्राकृतिक नियम के विपरीत जानेवाला अनैतिक कानून और व्यक्ति अथवा समाज को कमजोर करनेवाला घातक या नाशक कानून हो सकता है[१]। निश्चित ही संप्रभुतावाद और विधेयात्मक कानूनशास्त्र के निर्माण में हाब्स का अतिशय सैद्धान्तिक और शास्त्रीय महत्त्व है तथापि कानून को राज्याज्ञा से एकाकार बताकर उसने सीमित समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण का परिचय दिया है। आज्ञा का भाव, उत्तम और अवर के बीच ही स्थापित होता है। कम-से-कम प्रजातंत्रीय आदर्शवाद कानून का वह रूप स्वीकृत करता है, जिसमें शासक और शासित दोनों व्यापक वैधिक साम्राज्य के अन्तर्गत हैं। राज्य के

---

say, of what is contrary, and what is not contrary to the rule. Likewise, that none can make laws but the commonwealth, because our subjection is to the commonwealth only. And the commonwealth only, prescribes and commands the observation of those rules which we call law. The sovereign of a commonwealth, be it an assembly or one man, is not subject to the civil laws. Positive, are those which have not been from eternity, but have been made laws by the will of those that have had the sovereign power over others; and are either written, or made known to men, by some other argument of the will of their legislator. But civil law is an obligation; and takes from us the liberty which the law of nature gave us...... but the civil law takes away that liberty, in all cases where the protection of the law may be safely stayd for.

१. T. H. Green, Principles of political obligation §96, "So Hobbes said that there could be no 'unjust law,' A law was not a law unless enacted by a sovereign and 'the just' being that to which the sovereign obliges, the sovereign could not enact the unjust, though it,

नाम पर जिन नियमों का उद्घोष सरकारी सेवक करते हैं, उनसे वे स्वयं भी बँधे हुए हैं। नरपति-परम्परा और असमानतामूलक सामाजिक व्यवस्था के लिए कानून की आज्ञा अथवा अध्यादेश से एकाकारता भले ही उचित हो तोभी प्रजातंत्रीय परम्परा में कानून को शासकों की आज्ञा या उनका हुक्म या फर्मान मानना असंगत प्रतीत होता है। कुछ अवसरविशेष अथवा आकस्मिक संकट के समय भले ही कानून का आज्ञामूलक रूप व्यक्त हो, तथापि संस्कृति की व्यापक धारा को देखते हुए यही कहना पड़ता है कि मानव-समाज को व्यवस्थित करने के लिए कानून एक आधारभूत सामग्री है। कानून की व्यापक धारा शीघ्र नहीं बदलती है। कभी-कभी राज्यों में बड़ा रूपान्तर हो जाता है, तब भी कानून की परम्परा प्रायः सुरक्षित ही रहती है। कभी-कभी कानून में मौलिक परिवर्त्तन, उदाहरणार्थ रोम में 'प्लेबियन' लोगों को अधिकार देनेवाले कानून, अथवा नेपोलियन का कोड, या बेंथम के कानूनी सुधार के निर्देश, संस्कृति की धारा में व्यापक परिवर्त्तन की अभिव्यंजना करते हैं। अतः कानून को केवल आज्ञा अथवा हुक्म मानना समाजशास्त्रीय दृष्टि से असंगत प्रतीत होता है। कानून की व्यवस्था समाज को संचालित करने के लिए की जाती है। मानव-विकास के विस्तार के साथ शनैः-शनैः नियंत्रण का स्थान सहमति ग्रहण करती है। वही कानून कायम रह सकता है जो नागरिकता का समर्थन कर सके[१]। नागरिकता का समुचित पालन एक आध्यात्मिक अनुभूति है; क्योंकि आत्महित के साथ परमार्थ की भी संसिद्धि इससे होती है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र इस नागरिकता के आध्यात्मिक तत्त्व का

might enact the inequitable and the pernicious, the inequitable' presemably meaning that which conflicts with a law of nature, the pernicious that which tends to weaben individuals or society."

१. तुलनीय, St. Thomas Aquinas, *Summa Theologica*, I, xc : "Since law is a rule and standard of human action, it is necessarily related to reason.... Since law is the rule of human conduct, the ultimate end of which is happiness and, indeed, the common happiness, it is necessarily always ordained for the common good... Since law ordains the common good, law can be created by the reason, not of any individual, but of the multitude or of the prince acting for the multitude."

समर्थक है। कानून को केवलमात्र शक्तिधरों की आज्ञा मानना दासप्रथा के लिए भले ही उपयुक्त हो, प्रजातंत्रीय नागरिकता के निमित्त कदापि समीचीन नहीं है। अतः मानव की व्यवसायात्मिका बुद्धि को राजकीय कानून के अन्तिम मीमांसन का अधिकार देकर, दार्शनिक आधार पर विनिर्मित राजनीतिशास्त्र असंगत नियमों और कानूनों के प्रतिरोध का वैयक्तिक अधिकार स्वीकार करता है। अतः विविध कार्यकारी सामाजिक तत्त्व और व्यापक नैतिकता की पृष्ठभूमि में ही कानूनों का निर्माण हो सकता है।

दार्शनिक दृष्टिकोण के आधार पर नैतिकता और विधि में पृथक्ता प्रदर्शित करने का यत्न 'काण्ट' ने किया[१]। विधेयात्मकतावादी सम्प्रदाय में केवल सामाजिक वास्तविकता

---

१. Kant, the *Introduction to fue Metaphysic of Morals* (Abbott edition) पृष्ठ २६६:—"These laws of freedom are called, in contradistinction to physical laws, *moral laws*. In so far as they are directed to mere external actions and their lawfulness, they are called *judicial*; but when they demand that these laws themselves shall be the determining ground of the actions, they are *ethical*, and in this case we say—the agreement with the former constitutes the *legalety* agreement with the latter the morality of the action. The freedom to which the former laws relate can only be freedom in its external exercise, but the freedom to which the latter refer is freedom both in the internal and external exercise of the dective will in as far namely, as this elective will is determined by laws of reason." वही पृष्ठ २७४–२७५:-"Accordingly, all legislation may be divided into two classes in respect of the springs employed. That legislation which at once makes an action a duty, and makes this duty the spring, is *ethical*. That which does not include the latter in the law, and therefore admits a spring different from the idea of duty itself, is *juridicial*. As regards the latter, it is easily seen that this spring, which is distinct from the idea of duty, must be derived from the pathological motives of choice, namely, the in-

का ग्रहण था, अन्तश्चेतना का उसमें स्थान नहीं था । नैतिकता और विधि में अन्तर बताकर दोनों को अलग-अलग क्षेत्रों में शक्तिशाली काण्ट ने माना । नैतिकता आन्तरिक वृत्ति है। आत्म-स्वातंत्र्य और विशुद्धकर्मवाद की भावना से अनुवर्तित होना इसका लक्षण है । कानून का सम्बन्ध बाह्य कर्मों के सुव्यवस्थापन से है। मानव के बाह्य सम्बन्धों का नियंत्रण करना कानून की मर्यादा है[१] । नतिकता और कानून में जो पार्थक्य काण्ट ने बताया, उसका पूरा प्रभाव ग्रीन में व्यक्त हुआ[२] । ग्रीन के अनुसार राज्य बाह्यकर्मों को नियंत्रित कर सकता ह और राजकीय कानून से उन्हीं कर्मों को करने के लिए मानव को बाध्य करना चाहिए जिनका करना, किसी भी प्रकार की भावना से क्यों न हो, अत्यन्त आवश्यक ह[३] । नैतिकता और कानून का इस प्रकार पृथक्करण हमें मान्य है। कानून वस्तुनिष्ठ ह । बाह्य कर्मों का नियंत्रण उससे होता है; किन्तु नैतिकता आत्मनिष्ठ है। भावना का संशोधन, व्यवसायात्मिका बुद्धि की अभिप्राप्ति और आन्तरिक आत्मिक प्रसारण नैतिकता का लक्ष्य ह । कानून के सहारे किसी को नैतिकता का चैतन्य प्राप्त कराना असंभव है। मानव-समाज को व्यवस्थित और संगठित करने के लिए कानून की स्थापना होती ह । कानून का सम्बन्ध सभ्यता से ह; किन्तु नैतिकता संस्कृति की अनुमोदिका है। श्रेयस्कर जीवन की प्राप्ति के निमित्त जिस विशाल कल्याणकामिता की आवश्यकता है, उसकी प्राप्ति ही नैतिकता का लक्ष्य है। कानून का क्षेत्र ह मर्यादा, नैतिकता का क्षेत्र है,

---

clinations and aversions, and amongst these from the latter *since it is a legislation, which must be court raining, not an invitation, which is persuasive.*"

१. A. Vishinsky, *law of the Soviet State*, पृ० ३१–३२ ।

२. तुलनीय Korkuvnov,—"Law as the delimination, morality as the evaluation of interests."

३. T. H. Green, *Lectures on the Principles of Political Obligation* §15, "Those acts only should be matter of legal injunction or prohibition of which the performance or omission, irrespectively of the motive from which it proceeds, is so necessary to the existence of a society in which the moral end stated can be realised, that it is better for them to be done or omitted from that unworthy motive which consists in fear or hope of legal consequences than not to be done at all."

औचित्य। काण्ट और ग्रीन ने नैतिकता ौर विधि में पार्थक्य व्यक्त किया। इस प्रकार के पार्थक्य का पूण अतिरेक 'केलसन' में हुआ जिसने न्याय और विधि का भी पृथक्करण स्थापित किया[1]। केलसन का 'विशुद्ध कानून का समर्थक संप्रदाय अनुभवनिष्ठ कानून और लोकोत्तर आदर्शवाद से प्रभावित न्याय को अलग-अलग करना चाहता है[2]। केलसन के अनुसार कानून किसी मानवोत्तर शक्ति का अभिप्रकाशन नहीं है, अपितु एक निश्चित सामाजिक प्रक्रिया है जो मानव-अनुभव पर आश्रित है। केलसन का लोकोत्तरवाद का खंडन तो ठीक है; किन्तु न्याय की परम्परा को बहिष्कृत करना एक विधिशास्त्री के मस्तिष्क के निमित्त अपेक्षित होकर भी व्यवहार में राज्य की शक्ति का ही संवर्धन करता है। न्याय और विधि के पृथक्करण से, संभव है, वह व्यवस्था उत्पन्न हो जाय, जिसका उग्र सैद्धान्तिक प्रकटीकरण थ्रेसिमाक्स के इस कथन में हुआ था कि न्याय बलवानों के स्वार्थ का पोषक है। हम न्याय और कानून के इस पृथक्करण का समर्थन नहीं करते। अवश्य ही कानूनशास्त्र, सामाजिक परम्परा का अनुमोदन करता ह और न्याय की प्रवृत्ति नैतिकता के पोषण में है। कानून एक व्यापक और सामान्य परिस्थिति की कल्पना कर निर्मित होता है। किन्तु न्याय की भावना इस बात का संरक्षण करती है कि वैयक्तिक उदाहरणों में कानून की सामान्यता के कारण कहीं अनौचित्य का अनुवर्तन न हो जाय। शास्त्रीय विवेचन का नारा लगाकर नैतिकता का बहिष्करण हमें अभीष्ट नहीं है। अतः शक्तिवाद के प्रत्यक्ष आक्रमण से त्राण पाने के लिए नैतिकता-पूर्ण न्याय का समर्थन ही कानून का उद्देश्य होना चाहिए। जो न्याय का परिरक्षण न कर सके, वह कानून असंगत है और मानव-संस्कृति का परिष्कार और अभ्युन्नयन उससे सिद्ध नहीं हो सकता है।

नैतिकता और कानून में जो पार्थक्य काण्ट ने बताया था, उसका विस्तृत खंडन हेगेल ने किया। समाज या राज्य में जिस व्यापक मन का क्रियात्मकीकरण हुआ

---

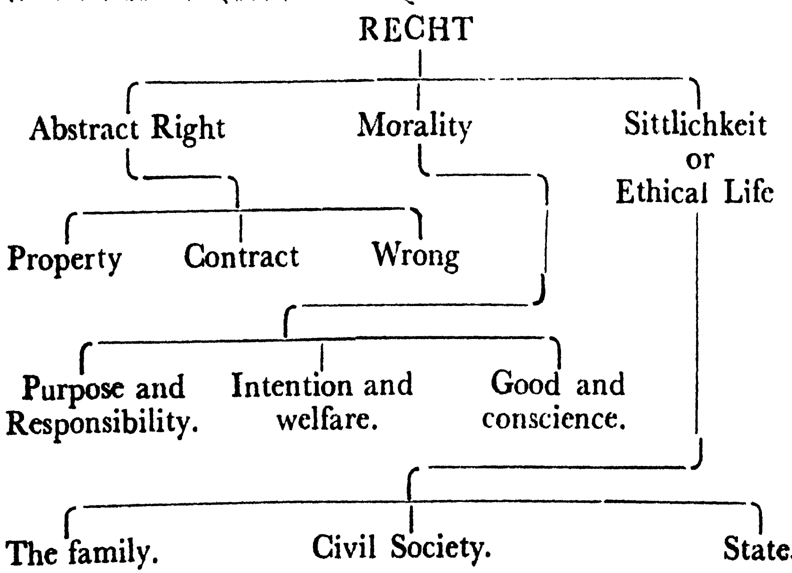
१. Hans Kelson, *Allgemeine Staatslehre*; *The (eneral Theory of Law and State.*

२. Hans Kelsen, *General Theory of Law and State*, पृष्ठ XV "The puve theory of law insists upon a clear distinction between empirical law and transcendental justice by excluding the latter from its specific concerns. It sees in the law not the manifestation of a superhuman authority, but a specific social technique based on human experience."

हैं उसे हेगेल ने 'रेख्ट' कहा है[१]। रेख्ट की प्रथम अवस्था है कानून की अक्षरात्मक अवस्था। इस अवस्था में अधिकार की केवल भावात्मक कल्पना रहती है। कानून की अक्षरात्मक अवस्था की प्रतिक्रिया में संकल्प और अन्तश्चेतना का उत्कर्ष व्यक्त होता है। इस समय मानव को आत्मिक चैतन्य का बोध होता है। अक्षरात्मक विधशास्त्र वस्तुनिष्ठता का प्रतीक है, अन्तश्चेतना आत्मनिष्ठता का बोध कराती है। दोनों का समन्वय सिट्लिखकाइट या नैतिक तत्त्व में होता है। यह सामाजिक कर्मशीलता की अवस्था है। परिवार, नागरिक समाज और राज्य के प्रति अपेक्षित कर्मों को सम्पन्न कर मानव अपने वास्तविक बोध-समग्रता-मूलक स्वातंत्र्य और नैतिकता की प्राप्ति करता है। इस समय संकल्प का परिनिष्पन्न रूप व्यक्त होता है। हेगेल के अनुसार रेख्ट स्वतंत्रता की साकार मूर्त्ति है[२]। रेख्ट शब्द कानून और कानून का आत्मिक तत्त्व दोनों का बोध कराता है। केवलमात्र राजाज्ञा हेगेल के अनुसार सामाजिक व्यवस्था का एक अंशमात्र है। संकल्प, रीति

---

१. निम्नलिखित चित्र इसको स्पष्ट करता है :--



२. Hegel, *Philosophy of Right* §4: The basis of right is, in general, mind; its procise place and point of origin is the will. The will is free, so that freedom is both the substance of right and its goal, while the system of right is the realm of freedom made actual, the world of mind brought forth out of itself like a second nature,"

प्रथा, भावना, परम्परा आदि आवश्यक सामाजिक निर्देशन और संचालन की पद्धतियाँ हैं। हेगेल, ऐतिहासिक परम्परा के सहारे व्यक्त, जनता के आत्मिक आदर्श का पूर्ण समर्थक था और सी कारण उसने राज्य को भी सिट्लिखकाइट अर्थात् रीतिमूलकता के अन्तर्गत स्थापित किया है। हे ल की मूल मान्यता है कि विधि और स्व त्रता में सामंजस्य है[१]। रेख्ट शब्द बहुत व्यापक है और संस्कृत विधि शब्द इसका पूरा अर्थव्यंजन नहीं करता है। प्रजातंत्रीय परम्परा में आंशिक रूप से राजकीय विधि स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त करती है; किन्तु विधि और स्वतंत्रता का अपना-अपना क्षेत्र है। हेगेल के का न सम्बन्धी विचारों में इतना सत्य अवश्य है कि ऐतिहासिक और सामाजिक शक्तियों के वृत के अन्तर्गत उसने राज्य को समझने का प्रयास किया है। दार्शनिक राजनीतिशास के अनुसार स्वतंत्रता और कानून में नितान्त पार्थक्य नहीं है जैसा सीली और स्पेन्सर ने कल्पित किया है, न स्वतंत्रता का वास्तवीकरण रेख्ट है, जैसा हेगल ने माना है, और न सामान्य संकल्प किसी को स्वतंत्र होने के लिए विवश कर सकता है जैसी रूसो की मान्यता है। अवश्य ही समाजोपयोगी और राजकीय कर्म का पालन मानव को कर्मयोग का पथिक बनाकर आत्मसाक्षात्कार के बाह्य साधनों को उपस्थित करता है; किन्तु स्वतंत्रता मानसिक और नैतिक यादृच्छिकता की वृत्ति है और अन्तश्चेतना के सतत अनुसंधान से इसका दर्शन संभव हो सकता है।

मार्क्सवाद ने कानून के विकास और प्रक्रिया की व्याख्या अपने आधारभूत समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, ऐतिहासिक भौतिकवाद, के आधार पर की है। एंगल्स ने कहा है कि विधिशास्त्री यह समझता है कि वह स्वतंत्र स्वतः सिद्ध सिद्धान्तों के आधार पर कार्य कर रहा है; किन्तु वस्तुतः कानून केवल आर्थिक व्यवस्था के प्रतिफलमात्र है[२]। मार्क्स के अनुसार आर्थिक अवस्थाओं की अभिव्यक्ति राजनीतिक और नागरिक कानून के द्वारा होती है[३]। सम्पत्तिशाही के मन्तव्यों के अनुसार ही कानून बनते हैं[४]। आधुनिक पूंजीवादी व्यवस्था में कानून मध्यवर्गीय अर्थशाहों के संकल्प का प्रतिबिम्ब है[५]। किन्तु कानून केवल गतिहीन प्रतिबिम्ब या छायामात्र नहीं है। उनका प्रभाव भी आर्थिक व्यवस्था पर व्यक्त होता है। इंगलैण्ड के फैक्ट्री कानून

१. Recht को Freiheit का 'Dasein' हेगेल ने बताया है।

२. Marx and Engels, Selected Correspondance, पृष्ठ ४८२।

३. Marx, Poverty of Philosophy, पृष्ठ ६०।

४. Marx, Capital, प्रथम खण्ड, पृ० ६७५ नोट।

५. Marx and Engels, The communist Manifesto.

उदाहरणस्वरूप हैं। इन कानूनों के कारण छोटे व्यवसाय प्रायः समाप्त हो गये और बड़े व्यवसायों में उनको सम्मिलित हो जाना पड़ा। किन्तु, जो कानून आर्थिक अवस्था के अनुरूप रहते हैं, वे ही प्रभावोत्पादक सिद्ध हो सकते हैं। जैसे-जैसे उत्पादन-प्रक्रिया में रूपान्तर होता है, वैसे-वैसे कानूनों मे भी परिवर्तन हो जाता है यूनान और रोम के कानून तत्कालीन उत्पादन-प्रक्रिया का प्रद्योतन करते हैं [१]। मध्ययुग के कानून के द्वारा सामन्तशाहों और श्रेणियों का समर्थन होता था [२]। पूँजीवादी युग में कानून पूँजी का स्वार्थसाधन करता है।

मार्क्सवाद मुख्यतः कानूनशास्त्र की दृष्टि से विधेयात्मकवादी है। यह कानून को राज्य का प्रणीत नियम मानता है। यह ठीक है कि राज्य स्वयं उत्पादनप्रक्रिया से नियंत्रित होता है। यद्यपि आर्थिक व्यवस्था के समर्थन और पोषण के लिए प्रत्येक युग में राज्य नूतन कानूनों का निर्माण करता है, तथापि पुराने कानून भी अवशिष्ट रह सकते हैं। ऐंगल्स के अनुसार जर्मन जातियों में तद्युगीन वैयक्तिक स्वतंत्रता-सम्बन्धी नियम इंगलैण्ड के मध्यकालीन सामान्य कानून में सुरक्षित रखे गये और इंगलैण्ड से ये कानून अमरीका और उपनिवेशों में गये [३]। मार्क्सीय विचारधारा में ऐतिहासिकता और विधेयात्मकता का समन्वय है। यह ऐतिहासिक विकास को स्वीकार करते हुए यह मानती है कि कानूनों का विकास होता है और कानून शाश्वत या सनातन नहीं है। किन्तु, कानून का प्रधान स्रोत राज्य को मानकर यह विधेयात्मकतावादी सिद्ध होती है। केलसन के अनुसार जितने भी अराजकतावादी विचार हैं, वे सब नैसर्गिक नियम को मानते हैं। अतः मार्क्सवाद भी शोषणहीन, वैयक्तिक सम्पत्तिहीन, वर्गहीन समाज के प्रादुर्भाव और राज्य के तिरोभाव में विश्वास करता है, अतः कलेसन उसे नैसर्गिक नियम में विश्वास करनेवाला मानता है [४]। किन्तु, यह प्रयोग लाक्षणिक ही हो सकता है, क्योंकि लोकोत्तरवाद का खंडन करनेवाला मार्क्सवाद साम्यवादी समाज के संबन्ध में इतना ही स्वीकार करेगा कि शोषणहीनता, मानव-स्वभाव में एक उग्र रूपान्तर उपस्थित करेगी

१. Engels, Origin of the Family, पृष्ठ १३२, पृष्ठ २०५, Engels, Socialism, Utopian and Scientific' पृष्ठ २७ Engels, Feuerbach, पृ० ११५ Engels, Anti-Duhring पृष्ठ ११४।

२. Engels, Feuerbach पृष्ठ ८७ Engels, Anti-Duhring पृष्ठ ११६।

३. Engels, Feuerbach पृष्ठ ११५, *Socialism, Utopian and Scientific* पृष्ठ २७।

४. Hans Kelsen, *General Theory of Law and State*, पृष्ठ ३९३।

और मानव सच्चे अर्थ में नैतिकता का अनुमोदन करेगा, किन्तु नैसर्गिक नियम को प्राक्समाजीय या प्राक्-राजकीय अवस्था का द्योतक मानकर उसका समुद्धार विज्ञान और यंत्रवाद से पूर्णतः प्रभावित मार्क्सवाद को सर्वथा अनभीष्ट है।

मार्क्सवाद ने जो कानून की मीमांसा प्रस्तुत की है, निस्सन्देह उसमें यथार्थवादिता है। कानूनी व्यवस्था का किस प्रकार शक्तिशाली वर्ग अपने स्वार्थ के निमित्त पोषण करता है, इस गम्भीर सत्य की ओर उसने बड़े वेग से हमारी दृष्टि को दौड़ाने का सन्देश दिया है। मार्क्सवाद यह बताता है कि संविधान का केवल शाब्दिक अध्ययन यथेष्ट नहीं है। कानून की सम्यक् और सम्पूर्ण मीमांसा के निमित्त कानून-निर्माताओं के निजी स्वार्थ की जानकारी अत्यन्त आवश्यक है। मार्क्सवादी न होते हुए भी अमरीकन इतिहासवेत्ता चार्ल्स बीयर्ड ने अमरीकन संविधान की आर्थिक व्याख्या प्रस्तुत की है[1]। कानून के आवरण में और कानून के सहारे भी किस प्रकार मानव-सभ्यता में शोषण का समर्थन किया गया है और किस प्रकार न्यायप्रणाली को अत्यधिक खर्चीली बनाकर गरीबों को न्याय से वंचित किया गया है, इस ओर मार्क्सवाद हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। किन्तु, आवश्यक यथार्थवादिता के साथ-साथ इसमें समाजशास्त्रीय दृष्टि से कुछ जबर्दस्त कमियाँ भी हैं। किसी भी संस्था के संचालन के लिए कुछ आवश्यक व्यावहारिक नियमों की नितान्त आवश्यकता है। इन नियमों का अस्तित्व संस्थाओं के लिए सम्मत अनिवार्यता है। अव्यवस्था तथा उथल-पुथल से बचाने के लिए और संस्थाओं के उद्देश्य के सम्यक् परिपालन के लिए नियम अत्यन्त अनिवार्य हैं। इन नियमों को ही, जो मानव-व्यवहार के साधारणीकृत सिद्धान्त हैं, हम कानून कहते हैं। केवल उत्पादनक्रिया का अनुवर्ती और शासकवर्ग के आर्थिक स्वार्थों का प्रतिफलनमात्र कानून को मानना संकुचित दृष्टिकोण का परिचय देना है। कानून की शास्त्रीय मीमांसा करनेवालों ने बताया है कि कानून (या विधि) अनेक संघर्षपूर्ण स्वार्थों के पारस्परिक समन्वय से उत्पन्न होते हैं। अर्थात् विधि किसी एक वर्ग के स्वार्थों की नितान्त पोषिका न होकर अनेक विभिन्न वर्गों के स्वार्थों को किसी प्रकार समन्वित कर सामाजिक संध्वनि उत्पन्न करने का प्रयास है। विभिन्न स्वार्थ, संघर्ष आगे बढ़ते-बढ़ते युद्ध में न संलग्न हो जाय, इसी कारण कानून की आवश्यकता होती है। विधि-निर्माण के इतिहास का अध्ययन करने से मालूम पड़ता है कि केवल सम्पत्ति-व्यवस्था का ही परिणाम कानून में देखना अत्यन्त सीमित दृष्टिकोण है। सोलन के विधिविधान पर

१. Charles A. Beard, *An Economic Interpretation of* the Constitution (न्यूयार्क, १९१३), *The Econimic Basis of Politics* (न्यूयार्क, १९२२), *American Government and Politics* ।

निस्सन्देह तत्कालीन यूनान की आर्थिक अवस्था का प्रभाव है। रोम के कानून पर तत्कालीन विनिमयमूलक उत्पादन-प्रक्रिया का प्रभाव दीख पड़ता है। तथापि निष्पक्ष समाजशास्त्री को मालूम पड़ेगा कि यूनानी कानून पर यूनानी धर्म का तथा रोमक कानून पर स्तोयक दर्शन का अक्षुण्ण प्रभाव है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री माक्स वेबर ने बताया है कि आधुनिक पूँजीवादी युग में रूपात्मक तर्कसंगतता और आदर्शात्मक तर्कसंगतता में संघर्ष हो रहा है[१]। किस प्रकार कानून और न्याय में सामंजस्य किया जाय, इसका प्रयत्न, इस संघर्ष का राजनीतिक उदाहरण है। निस्सन्देह, धर्म, दर्शन आदि का पूरा प्रभाव कानूनी व्यवस्था पर पड़ता है और इसको केवल आर्थिक प्रक्रियाओं का प्रतिफलनमात्र नहीं माना जा सकता है। विधि का सम्बन्ध सभ्यता के विकास से है और वैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का भी शनैः-शनैः परिणाम कानूनी व्यवस्था पर व्यक्त होता है। उदाहरणार्थ, विज्ञान के विकास से अनेक रासायनिक पदार्थों के गुणों का परिचय मिलता है और कुछ तत्त्व यदि हानिकर हों तो जनसमाज की रक्षा के लिए इनपर नियंत्रण लगाया जा सकता है। सभ्यता के विकास के साथ मानव के लिए नये क्रियाक्षेत्र भी उत्पन्न होते हैं और उनके संगठन और उनकी व्यवस्था के लिए कानून की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ, औद्योगिक सभ्यता के विस्तार के साथ अणुशक्ति का पता मिला और उसके प्रयोग आदि का नियंत्रण करने के लिए अनेक कानूनों की आवश्यकता पड़ी। कहने का तात्पर्य है कि सभ्यता के विस्तार का इतिहास कानून के द्वारा व्यक्त होता है और अनेक प्रकार की सामाजिक शक्तियाँ विधिनिर्माण में हिस्सा लेती हैं। साम्यवादी व्यवस्था में वर्गहीनता की उपलब्धि हो जाने पर भी पारिवारिक, शिक्षणात्मक तथा संस्थागत विषयों के सम्बन्ध में विधिनिर्माण की आवश्यकता होगी। अतः विधि को सम्पत्ति-व्यवस्था का प्रतिफल या प्रकाशन मात्र मानना समाजशास्त्रीय दृष्टि से अपूर्ण कल्पना है।

सभ्यता के विकास के साथ सन्निविष्ट होकर मानव के सामाजिक व्यवस्थापन में विधियों का प्रकृष्ट महत्त्व है। यह ठीक है कि कानूनी पाबन्दी का उल्लंघन करने से दण्ड भोगना पड़ता है; पर यह भी सत्य है कि अन्ततः प्रतिरक्षा और स्वतंत्रता के विस्तार के लिए ही राज्य ने कानून की स्थापना की है या समाज ने कानून का संगठन किया है। केवल राजकीय शक्ति का विस्तार अथवा जनसमाज का उत्पीडन कानून का प्रयोजन नहीं हो सकता है। अतः कानून का मानव-स्वभाव से कोई संबन्ध नहीं बताना तथा उसे केवल राज्य की आज्ञा मानना भ्रम का

---

१. Formal rationality और Substantive rationality.

भ्रम है[1]। बेंथम का प्रभाव आष्टिन पर पड़ा और राजकीय संप्रभुतासम्पन्न पुरुषों की आज्ञाराशि को ही उसने विधि अथवा विधेयात्मक विधि की संज्ञा दी है। किन्तु, इस प्रकार आज्ञा से विधि का तादात्म्य करना समाजशास्त्रीय दृष्टि से असंगत है। समाजशास्त्र बताता है कि कोई भी संस्था सामान्य संकल्प की भावना से अनुप्राणित होकर नाना प्रकार की शक्तियों से प्रभावित होती है। राजकीय आज्ञा, सामाजिक नियंत्रण का एक रूप है, उसका सर्वस्व कदापि नहीं। जब राज्य अपनी आज्ञाओं और अध्यादेशों का उद्घोषण करता है तो उसकी सर्वशक्तिमत्ता के कारण ही उनका पालन नहीं होता है। इतिहास में अनेक उदाहरण हैं जिनसे मालूम पड़ता है, कि केवल राजकीय स्रोत से प्रस्तुत होने के कारण ही विधि का अनुर्वातित्व नहीं होता है, अपितु उस विश्वास से कि उनके सहारे जन-कल्याण का पोषण होता है। किसी भी स्वस्थ समाज के अध्ययन से मालूम पड़ता है कि विधि का महत्त्व इसी कारण है कि विधि द्वारा प्रवर्तित शांति और व्यवस्था के साम्राज्य से मानव-स्वतंत्रता के निमित्त आवश्यक बाह्य वातावरण प्रस्तुत होता है और वैसे वातावरण में ही अधिकारों का सम्यक् निर्वाह हो सकता है। विधि का राज्य की सर्वशक्तिमत्ता के भय के कारण अनुर्वातित्व दासयुग के लिए भले ही उपयुक्त हो, किन्तु जिस स्वस्थ नीतिमान् चेतन मानव के समाज की बात हम कर रहे हैं, उसके लिए नहीं। अत: समाजशास्त्रीय और दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण करने पर हमें मालूम पड़ता है कि जिस स्रोत से विधियों का निस्सरण होता है उसकी तकांडरूपता के अतिरिक्त हमें विधि के उस आदर्श स्वरूप का भी ध्यान रखना होगा जिससे नीतिमान मानव के अधिकारों का पोषण होता है। इस प्रकार अनुशीलन करने से विधि के अन्तर्गत केवल संप्रभु की आज्ञा का ही नहीं, अपितु सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का हमें प्रकाशन मिलता है। मनुस्मृति का सातवां और आठवां अध्याय, शारदा कानून, भारत का संविधान--इनमें से प्रत्येक में एक-एक युग की सांस्कृतिक मनोधारा का इतिहास मिलता है। विधि-निर्माण करनेवालों के मूल में सांस्कृतिक चेतना का व्यापक और निश्चित प्रभाव परिदृष्ट होता है। विधि सभ्यता से सम्बन्ध रखती है; क्योंकि यह मानव-समाज को परिष्कृत और परिपुष्ट करने का बाह्य उपादान है; किन्तु विधि के द्वारा उन्मुक्त मानव-शक्तियों से संस्कृति का प्रसार होता है। अत: विधि और राज्याज्ञा की तदाकारता के विचार को हमें छोड़ना होगा। विधि, बाह्य सुरक्षा की व्यवस्था कर मानव के क्रियात्मक रूप के विकास का साधन उपस्थित करती है; किन्तु पूर्ण स्वातंत्र्य का उदय करने में विधि एक साधन ही, महत्त्वपूर्ण साधन ही क्यों नहीं, है। स्वतंत्रता के अनेक आधार हैं जिनमें स्वभावानुकूल कर्मयोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अत:

१. Bentham, Principles of Legislation.

बोसांक्वेट की यह मान्यता की विधि और व्यवस्था के सहारे हमारे सामान्य तार्किक चैतन्य का उदय होता है, भ्रमपूर्ण है। विधि और व्यवस्था बाह्य उपकरण और साधन हैं। सामान्य तर्कसंगत चैतन्य का उदय महती तपस्या और साधना से होता है। यह भी संभव है कि किसी प्रबुद्ध मानव का चैतन्य समाज द्वारा स्थापित बाह्य व्यवस्था से उच्चतर स्तर पर स्थित रहे। ऐसी अवस्था में अवसर उपस्थित होने पर ऐसा मानव, व्यवसायात्मिका बुद्धि का आश्रय लेकर सामाजिक और राजकीय व्यवस्था का प्रतिरोध कर सकता है। अनेक उदाहरण ऐसे देखे जा सकते हैं जब विधि और रीति किसी चैतन्य से आविष्ट नहीं होकर केवल परम्परागत शैथिल्य और अज्ञान का उदाहरण ही प्रस्तुत करती हैं। ऐसी अवस्था में विधि को स्वतंत्रता की उपलब्ध वास्तविकता मानना भ्रमपूर्ण होगा।

विधि की ऐतिहासिक व्याख्या करते हुए स्पेंगलर का कहना है कि कानून शक्तिशालियों की सम्पत्ति है[1]। शक्तिशालियों का कानून ही सब के लिए कानून बन जाता है। कानून में संकल्प का अतिशय महत्त्वपूर्ण रूप व्यक्त होता है। विधि के दो रूप हैं[2]। (क) परम्परापरक विधि का सम्बन्ध कृषि-जीवन से है। इसमें जीवन की अनुभूति का आधार रहता है। ( ) संगठित और तर्कसंगत विधि का सम्बन्ध नागरिक जीवन से होता है और अध्ययनात्मक अनुभूति इसका आधार रहती है। स्पष्ट है कि स्पेंगलर की व्याख्या भी अपूर्ण है। जिस प्रकार मार्क्सीय ऐतिहासिक भौतिकवाद आर्थिक अथवा उत्पादनात्मक तत्त्व द्वारा प्रजनित, सम्पत्तिशाहों के संकल्प और स्वार्थ के आधार पर विधि की व्याख्या करता है, उसी प्रकार शक्तिवाद में विश्वास करनेवाला स्पेंगलर केवल दण्डधरों के संकल्प को आधार मानकर अपना विचार उपस्थित करता है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से दोनों ही, मार्क्स तथा स्पेंगलर, अपूर्णता के दोषी हैं। हमें दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की कृत्स्नमूलिका पद्धति आकर्षक प्रतीत होती है; क्योंकि इसमें सामाजिक वास्तविकता की नानामुखता पर ध्यान देकर अनेक कारणवादी, पद्धति का आश्रय लिया जाता है।

समाजशास्त्रीय अनेक कारणवाद का आश्रय करते हुए भी दार्शनिक राजनीतिशास्त्र मानता है कि कानून का लक्ष्य केवल सामाजिक व्यवस्था का निर्वाह नहीं, किन्तु प्रशस्त जीवन की अभिप्राप्ति है। इस प्रकार का प्रशस्त जीवन विराट् श्रेयों की उपासना से प्राप्त हो सकता है। यदि मानव की व्यवसायात्मिका बुद्धि मानती है कि विधि से

१. Oswald Spengler, Decline of the west भाग २, पृष्ठ ३४५,।

२. Oswald Spengler, The Decline of the west भाग २, पृष्ठ ३६३, Law को उसने "willed from the Being" माना है।

इन श्रेयों की सिद्धि नहीं हो रही है और केवल आंशिक स्वार्थों का इनसे परिपोषण होता है तब वह इनका प्रतिरोध कर सकती है। मानव-जीवन की कृतार्थता खुशामदी-पन में नहीं है; किन्तु विशाल आदर्शवाद की प्राप्ति के निमित्त शहादत में है। जगत् के महान् उन्नायक बुद्ध, ईसामसीह, दयानन्द और गांधी में इसी शहादत की भावना का दर्शन होता है। संस्थाओं की सार्थकता इसी में है कि उनके द्वारा चेतनतर जीवन का दर्शन हो। जीवन को उत्कृष्टतर बनानेवाली ज्ञानधारा और व्यापक जीवन-अनुभूति से जब कानून और संस्थाओं का सम्बन्ध छट जाता है तब वे केवल शैथिल्य और तमोगुण का परिवहन करती हैं। सत्त्व का उदय तथा प्रशस्ततर चैतन्य का अनुप्रवेश ही उन्हें सम्यक् मार्ग का उन्नायक बना सकता है। अतः मानव-संस्कृति के अभ्युदय के लिए मानव के नैतिक ज्ञानस्तर का परिवर्द्धन अपेक्षित है। सतत संसर्जनात्मक कर्तृत्व ही संस्कृति का प्राण है और इसकी रक्षा के लिए आवश्यक है कि यदि आत्मिक और नैतिक उन्नति का समर्थन विधि द्वारा नहीं हो तो उस विधि को बदल दिया जाय। केवल राजकीय संप्रभुतावाद के शाब्दिक समर्थन से विधि को शाश्वतता नहीं मिल सकती है। मानव की व्यवसायात्मिका बुद्धि की परिनिष्णात निर्णयकारिणी शक्ति ही अन्तिमरूपेण राजकीय कानून और व्यवस्था की समर्थिका है। जब उस शक्ति का विरोध तत्कालीन राजकीय कानून और आज्ञाओं से हो तो उनका प्रतिरोध करना अत्यन्त आवश्यक है। आधुनिक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में ऐसे अनेक उदाहरण दिखाई पड़ते हैं जब कानून अपना उत्तम मानव-कल्याण साधनात्मक तथा अधिकारपोषक रूप छोड़ कर वर्गस्वार्थों का समर्थन करता है। अमरीका, इंगलैण्ड और भारत में यदि न्यायालयों के निर्णयों का अध्ययन किया जाय तो अनेक अवसरों पर दीख पड़ेगा कि वर्ग-स्वार्थ के पोषण के लिए श्रमिकों और श्रमिक-संघों के साथ न्याय नहीं किया गया है। यह अव्यवस्था मानव-संस्कृति के लिए घातक है। यदि थ्रेसिमाकस के इस कथन का न्याय शक्तिधरों का स्वार्थसाधक है, वास्तवीकरण हमें अपेक्षित नहीं है तब निश्चित ही विराट् श्रेयों की सम्प्राप्ति के निमित्त हमें न्याय, विधि और व्यवस्था का प्रयोग करना होगा। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र मानव के सनातन आत्मिक चैतन्य का पोषण करता है। ऋतसंप्रभुतावाद और विराट् श्रेयवाद हमारे सामने राजकीय व्यवस्था और विधि को अधिकतम मात्रा में प्रशस्त और तर्कसंगत करने का मार्ग उपस्थित करते हैं। आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थों के दलदल से ऊपर हटकर जब हम मानव-जीवन और संस्कृति की विशालता का दर्शन करते हैं, तब हमें इस बात की आवश्यकता प्रतीत होती है कि राजनीतिक कर्त्तव्यों की परिपूर्ति के निमित्त भी आत्मिक उत्कर्ष को व्यक्त करनेवाली नैतिक विराट्ता की कल्पना अवश्य की जाय। इस प्रकार की कल्पना

कानन, व्यवस्था, और संप्रभुतावाद को मानव कल्याणवाद तथा अधिकारवाद की भावना से युक्त करती है। इस प्रकार की कल्पना यह भी व्यक्त करती है कि यदि मानव श्रयों की परिपुष्टि कानून विशेष से नहीं होती हो तो प्रतिरोध विहित है। किन्तु, प्रतिरोध वैधिक होना चाहिए, हिंसात्मक नहीं। हिंसा अन्तिम साधन है जब समस्त साधन बेकार साबित हो चुकी हों।

अबतक के विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि एक परिपूर्ण विधिशास्त्रात्मक दर्शन के निर्माण के लिए तीन मौलिक आधारभत बातों की आवश्यकता है। (क) मानव कल्याणवाद की भावना से ही किसी संस्था या प्रथा या ऐतिहासिक ईकाई को जीवनदान और प्राण-प्ररणा मिलती है। यदि राज्य, समाज और राष्ट्र को दीर्घकल्याण-वादी बनना है तो मानव अधिकारवाद के व्यापक पोषण को ही उन्हें अपना लक्ष्य बनाना होगा।[1] विज्ञान, दर्शन समाजशास्त्र आदि के विकास से जिस मानववादी प्रजातंत्रीय भावना का प्रसारण हुआ है वह किसी प्रकार के संकुचित वर्गस्वार्थपो ण और शक्तिधरों के मनोवांछित अनाचार का समर्थन नहीं कर सकती है। (ख) विधि के समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक स्रोतों का भी अनुसंधान करना होगा। केवल मात्र हाब्स, बेंथम, आस्टिन अथवा जर्मनी के विधेयात्मकतावादियों के समान विधि की राज्याज्ञा से तदाकारता का समर्थन करना अपूर्ण और असंगत है। सभ्यताओं और संस्कृतियों का इतिहास हमें बताता है कि स्पष्ट निर्धारित संप्रभु की आज्ञा कानून का एक स्रोत है, एकमात्र स्रोत कदापि नहीं। (ग) मानव की व्यवसायात्मिका बुद्धि में विश्वास रखनेवाला दार्शनिक राजनीतिशास्त्र ऐसा मानता है कि विधि का यदि दुरुपयोग हो और मानव अधिकार के बदले यदि अल्पसंख्यकों के स्वार्थ का पोषण किया जाता हो तो वैसी अवस्था में मानव के नैतिक और आत्मिक चैतन्य को व्यक्त करने के लिए कानून और राज्य की आज्ञाओं और अध्यादेशों का विरोध करना परम पुरुषार्थ है।

विधि सामाजिक व्यवस्था को सुसंगठित बनाती है।[2] लाक्षणिक प्रयोग की दृष्टि से कह सकते हैं कि विधि सावयववाद की पोषिका है; क्योंकि इसमें सम्पूर्ण राज्य

---

१. प्रजातंत्र का समर्थक न होकर भी Treitschke का विचार समीचीन है। Heinrich Von Treitschke, Politics II पृष्ठ ५८८—"The State does not identify itself with physical power for its own sake ; it is Power in order to protect and to further the hightest welfare of the human race."

२. W. E. huking, Present Statur of the Philosophy of Law and of Right पृष्ठ ८५–६७।

या समाज को सुव्यवस्थित करने का प्रयास व्यक्त होता है। किन्तु, सामाजिक संगठन के पोषक अन्य तत्त्व भी हैं; उदाहरणार्थ धर्म, एतिहास की परम्परा, स्मृति आदि। प्राचीन मनुष्यों के समाज में नियंत्रण के अनेक स्रोत थे। इतिहास का अनुशीलन बताता है कि संगठन और नियंत्रण की स्थापना की प्रक्रिया में विधियों का अनुवर्तन केवल इसी कारण से नहीं होता है कि तर्कसंगत स्रोत से उनका उद्भव हुआ है। किसी स्रोत को हम तर्कसंगत तभी तक मानते हैं जब तक उससे मानव का नैतिक उन्नयन होता है। अरस्तू ने बताया है कि अभ्यास के कारण मानव विधियों का अनुवर्तन करता है। अभ्यास पर बल देने का तात्पर्य है कि विधि का सम्बन्ध मानव की समाजशीलता से है। सामाजिक संजटिलताओं को ध्यान में रखकर इतना ही कहा जा सकता है कि आज्ञानुवर्तित्व, भय और दण्डप्रक्रिया के कारण नहीं व्यक्त होता है। निरंकुश एकच्छत्र राज्यों और तानाशाही व्यवस्था में कुछ अंश तक भले यह संभव हो, किन्तु स्वस्थ नीतिमान् मानवों के समाज में दीर्घकालीन आज्ञानुवर्तित्व सामाजिकता के यादृच्छिक प्रवाह का फल है। जिस शक्तिकेन्द्र या स्रोत को हम विधि का निर्माण करनेवाला मानते हैं, उसका वैशिष्ट्य इसी कारण से माना जाता है कि उसका लक्ष्य है मानव के अधिकारों का पोषण। इसके लिए आवश्यक है कि सरकार स्वयं संविधान के द्वारा अनुशिष्ट हो। जिन देशों में लिखित संविधान नहीं है वहाँ पर भी जो व्यापक कार्यसम्पादनकारी परम्परा है उसका अनुवर्तन वांछनीय है। जिन नियमों और विधियों का निर्माण सरकार करती है वे उसके सेवकों को भी बाध्य करें, तभी विधिराज्य का दर्शन हो सकता है। इस प्रकार की व्यवस्था होने पर ही कानून का अनुवर्तन केवल एक बाह्य क्रिया न होकर क्रियात्मक और संसर्जनात्मक नागरिकता की भावना से युक्त हो सकती है। विधि-निर्माण में न्यायाधीश का भी सर्जनात्मक महत्त्व है। वह केवल विधियों का विनियोग और व्यावहारिक प्रयोग ही नहीं करता है, अपितु अपने बौद्धिक कौशल से उन्हें नूतन रूप भी प्रदान करता है। संक्षेप में कह सकते हैं कि समष्टि की कल्याणकामिता और विधि के निर्देशन में सामंजस्य स्थापित होना चाहिए। सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में जिस प्रकार परिवर्तन होते हैं तथा उनके अनुसार मानव-कल्याण के सम्बन्ध में जो विचार प्रसारित होते हैं उनके अनुरूप रहकर ही कानून अपनी तात्त्विकता का निर्वाह कर सकते हैं। मानवहितवाद की परिवर्तनशील स्थापनाओं के अनुपात में जब विधि के आदर्शों में परिवर्तन नहीं होता है तब क्रान्ति के अवसर उत्पन्न हो जाते हैं। क्रान्ति या सामाजिक विप्लव को रोकने का एकमात्र राजमार्ग यही है कि राज्य केवल अपने कानूनी अधिकार अथवा संविधान की धाराओं की शाब्दिक दुहाई न दे, किन्तु अपने व्यावहारिक कृत्य द्वारा

अपने को आदर्श के अनुरूप सिद्ध करे। इस प्रकार स्पष्ट है कि राजनीतिशास्त्र में हमें केवल शाश्वत सनातन आधारभत उद्देश्यों का परिशीलन नहीं करना है, अपितु एतिहासिक और सामाजिक वास्तविकता से भी हमारा पूरा प्रयोजन है। जब हम वास्तविकता पर दृष्टि डालते हैं तो स्पष्ट मालूम पड़ता है कि उन्हीं कानूनों का सम्यक् परिपालन होता है जो भूतहित की भावना से प्रभावित हैं। सरकार का टिकाऊपन भी इसी पर आश्रित है कि वह न केवल हाब्स या आष्टिन या हेगेल के ग्रंथों का उद्धरण देकर अपना परिपोषण करे, अपितु मानव-अधिकारों का पो ण करने के लिए अधीनस्थ यांत्रिक, आर्थिक और राजनीतिक साधनों का उपयोग करे। विधि, सामाजिक नियंत्रण का एक महान् अस्त्र है। राजकीय नियमों की व्यापकता ही उन्हें अ कार का पोषक बनाती है, अन्यथा उनसे केवल सीमित स्वार्थों का रक्षण हो सकता है। स्पष्ट है कि सामाजिक संव्यवस्था के लिए राज्य की नियं णकारी, व्यापक, ठोस, विधियों का समाज के संजटिल शक्तिकेन्द्रों के साथ सामंजस्य स्थापित करना होगा। विभिन्न श्रेणियों और संगठनों का परिपूर्ण सामंजस्य ही विधि का आदर्श है। इस प्रकार का सामंजस्य तभी संभव है जब समाज मानवहितवाद के श्रेय का अनुसंधान करे।

संप्रभुता और राज्य की ऐतिहासिक विकास-प्रक्रिया पर ध्यान देने से मालूम पड़ता है कि विधिनिर्माण, राजकीय प्रभुत्व का प्रधान लक्षण सोलहवीं शताब्दी के बाद से ही माना जाने लगा। आदिम संस्कृतियों में रीति-रिवाजों, प्रथाओं और अनुश्रुतियां की प्रधानता थी। कोई विशिष्ट वर्ग या कोई विशिष्ट पुरुष विधियों का निर्माण करेगा, यह एक विचित्र बात उस समय मालूम पड़ सकती थी। मिस्रदेश और बाबुल तथा चीन में परम्परागत प्रथाओं का प्राधान्य था। शतपथ ब्राह्मण में नरपति को धर्मगोप्ता कहा गया है। प्राचीन और मध्यकालीन अनेक निरंकुश शासक भी परम्पराप्राप्त रीतियों के परिवर्तन की कल्पना नहीं कर सकते थे। भारतीय परम्परा भी यही थी कि शाश्वत रूप से वर्तमान सनातन सत्यों का अनुगमन ही राज की व्यवस्था का वैशिष्ट्य है। जब यहूदी पैगम्बर या भगवान् बुद्ध कोई नई बात भी कहते हैं तो सर्वदा इस बात की घोषणा करते हुए कि प्राचीन पुरुषों की कही हुई बातों का वे केवल अनुमोदन कर रहे हैं। मध्ययुग में नैसर्गिक नियमवाद का अतिशय प्रभाव था और इसी कारण कोई राजत्व का वाहक नूतन विधि का निर्माण करने से सर्वदा भय खाता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक युग के पहले परम्पराप्राप्त नियमों का प्राबल्य था। किन्तु, जब संप्रभुतावाद का विकास हुआ तब प्रभुत्वशक्ति की अभिव्यंजना के माध्यम कानून समझे गये। प्राचीनकाल और सामन्तवादी युग में राजा कर वसूल कर सकता था

और आवश्यकता पड़ने पर उद्दाम सैन्यबल का परिचय दे सकता था, किन्तु नूतन विधियोंका प्रवर्तन प्रायः नहीं कर सकता था। वेग से और अत्यधिक संख्या में विधि-निर्माण, यह संप्रभुतावाद द्वारा प्रजनित विचार है। हाब्स और आष्टिन का यह मन्तव्य कि विधि-निर्माण संप्रभुता का निश्चित चिह्न है, प्राचीन और मध्यकालीन सभ्यता के लिए सवथा अनुपयुक्त था।

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में सामाजिक शास्त्रों के प्रभत विकास से संप्रभुता और विधि के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अधिक गहरा हो गया है। विधि को संप्रभुता का केवल निर्देशन ही अब हम नहीं मानते हैं। विधियों का निर्माण सामाजिक शक्तियों के संघर्ष के द्वारा उत्पन्न वातावरण में होता है। राज्य की संप्रभुता सीमित है और स्वेच्छाचारपूर्वक आज्ञाप्रदान उसका लक्षण नहीं है। जिन देशों में लिखित संविधान है, वहाँ पर राज्य और उनके कर्मचारियों को उसके व्यापक निर्देशन के अन्तर्गत कार्य करना पड़ता है। कहने के लिए अँग्रेजी पार्लियामेण्ट के पास पूर्ण संप्रभुता है, किन्तु व्यवहार में इसके अधिकारों पर अनेक प्रतिबन्ध हैं। जसे-जैसे प्रजातंत्रीय भावना का विकास होता जायगा, इस प्रकार के प्रतिबन्ध बढ़ेंगे ही। दूसरी ओर, संस्कृति के विकास के साथ-साथ मानव की नैतिक चेतना का प्रसारण होता है। निम्नवर्ग के लोगों और पीड़ितों, कृषकों तथा सर्वहारावर्ग में भी विधिशीलता की भावना का विकास हो रहा है। सदियों से सताये हुए एशिया के निवासी आज अपने अधिकारों के लिए चैतन्यवान् हो उठे हैं। आज इन देशों में वही सरकार टिक सकती है जो जनसमाज की आशाओं तथा आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व कर सके। यदि यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी क्रांतियों का युग था तो बीसवीं शताब्दी में बूढ़े एशिया ने बड़ी जबर्दस्त करवट ली है और आज राष्ट्रीय, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में जिस सामूहिक क्रियात्मक चैतन्य का हम दर्शन कर रहे हैं उसके आधार पर यह प्रत्यक्ष विदित हो जाता है कि हाब्सवाद तथा आष्टिनवाद की परिसमाप्ति का युग आ गया है। इस व्यापक अधिकारचैतन्य के जमाने में वही राज्य या वही सरकार टिक सकती है जो जनसमाज के व्यापक कल्याण के लिए विराट् श्रेयों को चरितार्थ कर सके। इस प्रकार विश्व-राजनीति और संस्कृति की व्यापक धारा में जो भयानक रूपान्तर हो रहे हैं उन्हें देखते हुए विधि और संप्रभुता के दर्शन का नूतन विलेखन करना होगा। आज के युग की तीन प्रधान धाराएँ हैं—प्रजातंत्र, एशिया का सर्वविध उत्थान और तीसरा अन्तरराष्ट्रीयवाद का प्रचार। प्रजातंत्र भी अब केवल राजनीति के अर्थ में परिगृहीत नहीं किया जाता है। समाजवाद के विस्तार से सामाजिक न्याय अब अवश्यम्पालनीय आदर्श हो चला है। प्रजातंत्र के विकास और विस्तार ने जो सबसे बड़ी बात मानव संस्कृति को प्रदान की है, वह है

विधिशीलता या विधिराज्य में विश्वास का दृढ़ीकरण। इसने राज्य की शक्तिवाहन-स्वरूपसम्बन्धी व्याख्या की समाप्ति कर डाली है और राज्य को एक क्रियासम्पादक संस्था का रूप प्रदान किया है। सरकार की बात आज हम इसलिए नहीं मानते हैं कि संप्रभुता का दिव्य आकर्षण सरकारी अफसरों के मुखमंडल पर वर्तमान है, अपितु इसीलिए कि वे जनता के कार्यप्रसाधक हैं तथा जिन नियमों और विधियों का वे प्रवर्तन कर रहे हैं उनके द्वारा वे स्वयं बँधे हुए हैं। केवल राज्य की गरिमा के कारण संप्रभुता की माँग आज सर्वथा असमीचीन है। आज तो राज्य को उतनी ही शक्ति दी जा सकती है जितनी उसके कार्यसम्पादन के निमित्त आवश्यक है। सामाजिक संगठन और व्यापक लोकसंग्रह की सिद्धि के लिए जो विधियाँ और नियम अपेक्षित हैं उनका पालन कर ही आधुनिक राज्य टिक सकता है। आज राज्य के पृष्ठपोषक न्यायाधीश अपनी न्यायात्मक कर्तृत्वशक्ति का अनुचित फायदा उठाकर येन केन प्रकारेण निहित स्वार्थों का पोषण नहीं कर सकते। सार्वत्रिक विधिशीलता और समुद्बुद्ध प्रजातंत्रीय चैतन्य विधि को वस्तुनिष्ठ बनाने का आदर्श उपस्थित करते हैं। विधि का वैशिष्ट्य इतिहास की संचित ज्ञानराशि तथा अनुभवों के मानवकल्याणात्मक प्रयोग पर आश्रित है। इस प्रकार, मानव कल्याण के प्रसाधक संकल्पों तथा श्रेयों का क्रियान्वयन करनेवाले कर्मयोग में सहायता प्रदान कर ही विधियों की वस्तुनिष्ठता कायम रह सकती है। केवल राज्य के व्यक्तित्व का नारा लगाना जैसा गेबेर[1] आदि विज्ञानशास्त्रियों ने लगाया है आज की अवस्था में सर्वथा अनुपयुक्त है। जलिनेक का 'राज्य पर स्वतः प्रतिबन्ध' वाला सिद्धान्त भी आज अनुपयक्त है।[2] इस समय तो व्यापक प्रजातंत्रीय चैतन्य तथा अन्तरराष्ट्रीयवाद द्वारा राष्ट्र-राज्य पर समुत्थापित प्रतिबन्धों की वांछनीयता है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र हमारे सामन स्वकीय सुरक्षा, सम्पत्ति आदि की व्यवस्था करनेवाले नियमों और विधियों से ही सन्तुष्ट होने का मार्ग नहीं उपस्थित करता है, अपितु मानव-कर्मयोग का वह व्यापक आदर्श प्रस्तुत करता है जब हम जगत् के प्रति अपने उचित कर्तव्यों की प्राप्ति में राजकीय विधि की सहायता चाहते हैं। समाज, राज्य की अपेक्षा प्रकृष्टतर और विशालतर है। राज्य द्वारा व्यवस्थापित विधि सकी

१. Karl Friedrich V on Gerber, Grundzugeeines systems des deutschen Staatsrechts, system des deutschen Privatrechts.

२. Georg Jellinek, Allgeneine Staatslehre. इसने "Auto-limitation" के विचार का समर्थन किया है, द्रष्टव्य, Jellinek, System der subjectiven offentlichen Rechte (फायवर्ग, १८९२), Die Erklarung der Menschen-und Burgeurechte (लायपजिक, १८९५)

संरक्षा के लिए है।[1] मानव की व्यवसायात्मिका बुद्धि ही इसका निर्णय करेगी कि कितनी दूर तक राजकीय नियम सामाजिक कल्याण और मानवहित का पोषण करते हैं। यदि इनके द्वारा मानव-कल्याण सिद्ध नहीं होता हो तो इनका प्रतिरोध करना मानव का कर्त्तव्य है।

संप्रभुता और विधि के सम्बन्ध में दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की दो स्थापनाएँ हैं। (क) संप्रभुतावाद और विधि को व्यापक सामाजिक संघर्षों और प्रस्तुत शक्तियों से व्यतिरिक्त कर समझना अत्यन्त भ्रमपूर्ण है। राजकीय और वैधिक शक्ति भी सामाजिक आवर्तों के बीच ही प्रकटित होती है। अतः विकास की पद्धति के अनुसार जिस प्रकार सामाजिक चेतना का प्रसारण होता है उसी के अनुरूप ही राजकीय और वैधिक शक्ति अपना स्वरूप-परिवर्तन करती है। जब एकतंत्र अथवा अल्पतंत्र का जगत् में प्रभाव था तब हाब्सवाद तथा आष्टिनवाद पनप सका। आज प्रजातंत्रीय विकास की परम्परा ने हमारे सामने राजकीय और वैधिक शक्ति का, व्यापक मानवता की कल्याणकामिता से तादात्म्य प्राप्त कराने का, आदर्श उपस्थित किया है। संस्कृति की धारा से अलग कर कुछ विशिष्ट वर्गों तथा कुछ शासक लोगों के स्वार्थसाधक संकल्पन के रूप में विधि को समझना आज के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। संस्कृति की ऐतिहासिक धारा से एकाकारता प्राप्त कर ही विधियों को वस्तुनिष्ठता प्राप्त होती है और इस प्रकार का वस्तुनिष्ठ नियम सरकारी नौकरों पर भी पूरा शासन कर सकता है। राज्य के नाम पर कार्य करनेवालों के संकल्पों का वह कठपुतली नहीं है। विधियों की वस्तुनिष्ठता का पूरा परिचय हमें दीवानी कानून तथा फौजदारी कानून में मिलता है। विधि की वस्तुनिष्ठता का यह तकाजा है कि राज्य अपने कार्यों का पूरा उत्तरदायित्व स्वीकार करे। इस प्रकार, वर्धनशील वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति के लिए विधियों को अधिकतम मात्रा में सामान्य कल्याण का पोषक बनाना होगा। अरस्तू तथा रूसो दोनों का ऐसा प्रस्ताव है कि विधियों को सामान्य बनाना चाहिए[2] और

१. Morris R. Cohen, Law and the Social order, R. pouned, An Introduction to the Philosophy of Law.

२. Aristotle, Politics IV, 4, "The demagogue makes the decrees of the people overside the laws, by referring all things to the popular assembly...for where the laws have no authority, there is no constitution. The law ought to be supreme over all, and the magistrates should judge of particulars, and only this should be considered a constitution. So that if democracy be a real form of government, the sort of system in which all things are regulated by decrees is clearly not even a democracy

उन्हें व्यक्तिसापेक्ष तथा अवसरसापेक्ष बनाना उनका विधित्व ही नष्ट कर डालना है। व्यापक ऐतिहासिक और सांस्कृतिक विकास के साथ जो सामाजिक सर्वविध शक्तियाँ प्रवाहित हुई हैं उनके साथ सन्निविष्ट कर हम विधि को केवल संसद् के सदस्यों अथवा न्यायाधीशों के आन्तरिक ज्ञान और संकल्प की परिधि से हटाकर उसे विशालतर मार्ग का अनुसंधानकर्ता मानते हैं। इस प्रकार का विचार हो हमें वर्गस्वार्थों के दलदल से ऊपर उठाकर मानव-कल्याण के प्रसाधक विधि-नियमों का दर्शन करा सकता है। इस प्रकार के विधि नियमों की यदि एक देश में स्थापना हो तो उनसे अन्तरराष्ट्रीय-वाद का पोषण ही होगा। संकुचित स्वार्थों के पोषक ही मानव-कल्याण की विरोधी अतिरंजित राष्ट्रीय संप्रभुता तथा धिक एकाधिकार का राग उच्चारित करते हैं। मानवकल्याणवाद तथा अन्तरराष्ट्रीयतावाद का आदर्श तभी पल्लवित और पुष्पित हो सकता है जब देशविशेष में संप्रभुता और विधि के इस नूतन स्वरूप का दर्शन और व्यवहार में पालन हो। (ख) दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की मौलिक आधारभूत स्थापना है मानव को नैतिक और आध्यात्मिक चैतन्य का वाहक मानना। यह तभी संभव है जब मानव की व्यवसायात्मिका बुद्धि राजकीय और सामाजिक संस्थाओं का निरीक्षण करेगी। यदि मानवहित साधक न होकर राज्य संप्रभुतावाद का आवरण खड़ा कर स्वेच्छाचारिता और निरंकुशता से कार्य करेगा और विधि को सामाजिक वृत्त से हटाकर अपनी संकल्पशक्ति का क्रियान्वित रूप मानेगा तो उस समय उसका प्रतिरोध करना मानव का कर्तव्य हो जाता है। आलोचकगण कहेगा कि मैं अराजकतावाद और विश्रृंखलता का पोषण कर रहा हूँ। मानव की व्यवसायात्मिका बुद्धि ही समस्त सांस्कृतिक चेतना तथा आध्यात्मिक उन्नति का महान् स्रोत है। अतएव, उसका समर्थन अराजकता तथा विश्रृंखलता का समर्थन कैसे हो सकता है? यदि किसी नीतिमान् पुरुष के प्रतिरोध से सचमुच विश्रृंखलता फैलती है तो इसका तात्पर्य यह होता है कि अनाचार और पाषण्ड तथा वर्ग-स्वार्थ के कारण समाज पहले से ही नष्टप्राय था, नीतिमान् पुरुष के प्रतिरोध ने आवरण को हटाकर अनावृत सत्य का प्रकटीकरण कर दिया है। नीतिमान् आध्यात्मिक मानव, सत्य तथा विराट् श्रेयों का हार्दिक समर्थन करता है। उसका विश्वास है कि सत्य का पालन मानव को तथा जातियों को उत्थानपथ पर ही ले जाता है। सत्य का मार्ग कठिन तपस्या का मार्ग है। उस पथ के पथिक को अभय का पालन करना होता है तथा क्षुद्र दैहिक तथा जातीय स्वार्थों से ऊपर उठकर मानवहित-साधना को ही अपना निर्मल उद्देश्य बनाना होता है।

in the true sense of the world, for decrees relate only to particulars."

सप्तम अध्याय

राष्ट्रवाद

राष्ट्रवाद आज की दुनिया में प्रायः सर्वत्र व्याप्त है। अफ्रिका के जिन देशों में वह अभी नहीं फैल सका है, वहाँ भी वह अपना प्रभाव जमाने का यत्न कर रहा है। विश्व की राजनीति का यह एक अत्यन्त विवादग्रस्त प्रश्न है। मानव-सभ्यता और संस्कृति के साथ राष्ट्रवाद का प्रश्न जुड़ा हुआ है। राष्ट्रवाद मानव-भावना के साथ गहरे रूप में सम्बद्ध है। राष्ट्र का आधार अनेक स्थानों में जातिगत भावना रही है। किन्तु, राष्ट्रवाद का पूरा विकास वहीं होता है जहाँ स्वतन्त्र सरकार और राज्य की माँग राष्ट्रभावापन्न व्यक्ति करते हैं। जर्मन भाषा में कभी-कभी स्वतन्त्रता की भावना को व्यक्त करने के लिए 'नेशनालिटी' तथा राजनीतिक एकता के भाव को व्यक्त करने के लिए 'नेशन' का प्रयोग होता है।[1] साधारणतः हम जन और राष्ट्र में विभेद करते हैं।[2] जन शब्द का प्रयोग मनुष्यों की उस एकत्रीकृत राशि का बोध कराने के लिए होता है जिसम देशकालगत सामीप्य के साथ-साथ कुछ भावनात्मक सांस्कृतिक तथा विचारात्मक समानता हो। किन्तु, सामान्य व्यापक एकता की भावना से आविष्ट होकर जब जनसमूह अपनी निजी सरकार की व्यवस्थापना करना चाहता है तभी हमें राष्ट्रवाद या राजनीतिक राष्ट्रवाद का दर्शन होता है। राष्ट्रवाद सामूहिकता की भावना का दृढ़ीकरण है। जिस प्रकार सामूहिकता की भावना क्रमशः तीव्रता, घनीभाव और रागात्मिकता की अभिवृद्धि प्राप्त करती है, उसी प्रकार राष्ट्रवाद दृढ़ और पुष्ट होता है। समष्टि की कल्पना में जिस देशकालगत तथा संकल्पात्मक आधार की आवश्यकता है उसका परिपाक हमें राष्ट्रवाद मे मिलता है। राष्ट्रवाद की भावना हम क्षुद्र स्वार्थ, ऐहिक पाशबद्धता तथा सीमित क्षत्रीयता का अतिक्रमण कर देश के साथ व्यापक तादात्म्य प्राप्त करने का संदेश देती है और इस प्रकार मानव के आत्मिक प्रसारण में राष्ट्रवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जो ममता यूनानविचारियों को अपने नगर-राज्यों से थी वही ममता व्यापक स्तर पर राष्ट्रवाद नागरिकों से

१. H. Trietschke, Poltiics I, पृष्ठ २७१.

२. Rabindranath Tagore, Nationalities ने People और Nation में अन्तर बताया है।

चाहता है। व्यापक समष्टि के साथ रागात्मक चैतन्य का प्रसारण कर, राष्ट्रवाद आध्यात्मिक रूप धारण करता है। मानव समष्टियों का वैशिष्ट्य इसी में है कि उनका वस्तुनिष्ठ स्वरूप मानसिक चैतन्य से आप्लावित रहे। इस चैतन्य का प्रकाश ही ग्राम जनपद और देश को महान् आदर्शों का अभिव्यंजक बनाता है। मानव-मस्तिष्क का अनुप्रवेश जिस वस्तु में भी होगा उस वस्तु का अतिप्राकृतिक आध्यात्मिक स्वरूप हमारे सामन प्रकट होता है। आध्यात्मिकता का चरम परिपाक, इस प्रकार, अबतक जहाँतक मानव के सामूहिक विकास का प्रश्न है, राष्ट्र के रूप में हुआ है।

राष्ट्र ग्राम, जनपद या नगर की अपेक्षा बहुत व्यापक है। कहाँ यूनान के छोटे-छोटे नगर-राज्य और कहाँ आज का विशाल चीन, भारत और संयुक्त राज्य अमरीका। उर, किश, लगाश तथा बाबुल के नगर-राज्य भी क्षेत्रफल की दृष्टि से बहुत छोटे थे। आज विशाल जनसंख्या एक राज्य में निवास करती है। किन्तु, यद्यपि जनपद की अपेक्षा राष्ट्र बड़ा होता है तथापि सभ्यता और संस्कृति की अपेक्षा यह छोटा है। पश्चिमी वैज्ञानिक और यांत्रिक सभ्यता अनेक राष्ट्रों में व्याप्त है। वेदकालीन संस्कृति से लेकर आजतक संस्कृति का सातत्य भारत में दीख पड़ता है, किन्तु भारतीय स्वतंत्र राष्ट्र अभी अत्यन्त नवीन है। जब मानव सामूहिक जीवन का इतना विकास कर लेता है कि जनपद और प्रदेश उसके जीवन के क्षेत्रीय आधार नहीं रह सकते तब शनः-शनैः राष्ट्रवाद का विकास होता है। राष्ट्रवाद के विकास और विस्तार के लिए अपेक्षित है कि इसका क्षेत्रीय आधार, जनपद की अपेक्षा अधिक विस्तृत बनाया जाय और फिर इस विशाल आधार का आध्यात्मिक संकल्पों से आप्लावन हो। जब सांस्कृतिक और आध्यात्मिक भावनाओं के एकीकरण की भौतिक अभिव्यंजना होती है तभी राष्ट्रवाद प्रस्फुटित होता है।[१] विशाल जनराशि का मिल-जुल कर जीवन के अनेक सर्वसामान्य प्रश्नों का समाधान खोजना इसके लिए अपेक्षित ह। इस प्रकार सामूहिक सम्बन्धों के दृढ़ीकरण से राष्ट्र का आभ्यन्तरिक विस्तार होता है। दूसरी ओर अन्य राष्ट्रों की तुलना में पृथक्ता तथा वैभिन्य की भावना का भी प्रसारण होता है।

१. तुलनीय, Maciver, Society (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ १५६ Communities, for all their external marks, are not objective things, they are spiritual realities. The limits of community are psychological limits, and its expansion, in a world provided with the physical means of communication, is an expansion of attitude. मैकिवर के अनुसार राष्ट्रवाद का आधार है—"Community Sentiment".

जिस प्रकार वैयक्तिक चैतन्य का रहस्योद्घाटन करने के लिए अन्तरात्मदर्शन तथा वृत्ति-एकीकरण के अतिरिक्त अन्यों से पार्थक्यबोध भी आवश्यक है उसी प्रकार राष्ट्रीय अभिचैतन्य के निमित्त भी। मानव-इतिहास की विशाल प्रवहणशील धारा पर जब सामाजिक शक्तियों का केन्द्रीकरण कर किसी विशाल तत्त्व का प्रकटीकरण होता है तभी राष्ट्रीय भावना का घनीभूत प्रभावकारी रूप व्यक्त होता है। अपना अभिज्ञान करने के लिए अन्यों से पार्थक्य का ज्ञान भी अपेक्षित है। मनुष्य में समाजशीलता निसर्गप्रसूत है और इस वृत्ति को पूर्ण चेतन बनाकर अपना स्वतंत्र राजकीय जीवन बनाने की भावना से जब जनसमाज एकता को प्राप्त करना चाहता है तब राष्ट्रवाद का उदय होता है। अतः राष्ट्रवाद व्यापक चेतन समाजशीलता के प्रबोधन के सहारे नागरिक और राजकीय जीवन का संगठन चाहता है। स्पष्ट है कि मानव के आध्यात्मिक तथा नैतिक चैतन्य को मूलतत्त्व माननेवाले दार्शनिक राजनीतिशास्त्र में राष्ट्रवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

राष्ट्रवाद के अनेक भौतिक आधार हैं। भूमि अथवा निवासस्थान के साथ रागात्मक प्रेम स्वाभाविक है। अथर्ववेद में भूमि को माता कहा है। जिस प्रकार की ममता हिन्दुओं को गंगा से है उसी प्रकार की ममता जर्मनों को राइन से और रोम निवासियों को टायबर से। चीन देश के लोगों का अपने पूर्वजों की भूमि से प्रेम जगद्विदित है। अत्यन्त प्राचीनकाल से ही, जिस भूमि में पूर्वपुरुषों को या तो गाड़ा गया अथवा जलाया गया उससे अकृत्रिम प्रेम स्वाभाविक है। इसीलिए, राष्ट्रवाद के विकास के साथ-साथ देशस्थ जातियाँ, इतिहास की यथेष्ट व्याख्या कर अपने को उस देशविशेष का मूल निवासी सिद्ध करना चाहती हैं और यदि मूल निवासी नहीं तो कम-से-कम सबसे अधिक दिन तक निवास करनेवाली तो अवश्य ही प्रमाणित करना चाहती हैं। भारतीय आर्य कौन हैं, कहाँ से और कब आये यह प्रश्न अभी भी नहीं सुलझ सका है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि अनेक विद्वान् अपने देश को ही आर्यों का मूल निवासस्थान सिद्ध करना चाहते हैं। जब तिलक ने यह बताने का प्रयास किया कि ऋग्वेद के अनेक मंत्र साढ़े चार हजार वर्ष, ईस्वी पूर्व के हैं हैं तो भारतीयों को इसमें सन्तोष हुआ।[१] किन्तु जब ह्विलेब्राण्ट यह कहता है कि ऋग्वेद के कुछ मंत्र अफगानिस्तान में बने तो हमें भावनात्मक कष्ट होता है। भूमिविशेष का, राष्ट्रवाद का प्रतीक स्थापित करने में बड़ा स्थान है। प्रयाग, , काशी, अयोध्या, बदरिकाश्रम, द्वारका, रामेश्वरम् आदि का हिन्दू-हृदय पर प्रचण्ड अधिकार है। राष्ट्रवाद इस प्रकार की क्षेत्रीय रागात्मकता का पूरा फायदा उठाता है। जब खतरे

---

१. B. G. Tilak, Orion.

के अवसर उपस्थित होते हैं तब इन प्रसिद्ध स्थानों का नाम लेकर जननता और व्याख्याता जनता की भावनाओं को उभाड़ते हैं। जिन स्थानों पर शहीदों का रक्त गिरा हो वे स्थान भी पवित्र हो जाते हैं और तीव्र राष्ट्रीयता के प्रतीक हो जाते हैं। आधुनिक भारत में जालियानवाला बाग सी प्रकार प्रख्यात है।

भमि के अतिरिक्त भाषा भी राष्ट्रीय चैतन्य के विकास में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है।[1] स्विटजरलैण्ड में तीन भाषाओं का व्यवहार होता है, तथापि वहां का राष्ट्रवाद प्रशस्त है। फिर भी, यह सत्य है कि भाषा राष्ट्रीय भावना की जबर्दस्त पोषिका है। संस्कृत भाषा में वेद और वेदान्त के ऋषियों के विचार निहित हैं। वाल्मीकि, व्यास, शंकर, कालिदास, श्रीहर्ष की विचारधारा का संरक्षण संस्कृत भाषा कर रही है। यूनानी भाषा के सहारे आधुनिक एथेन्सनिवासी होमर, हेसोयाड, सोफोक्लिज, एशाचिलस तथा एरिष्टोफानिस के विचारों का अनुशीलन कर उनसे अपना भावनात्मक तादात्म्य स्थापित कर यूनानी राष्ट्र का अपन को अभिन्न अंश मानता है। तुलसीदास के रामायण ने समस्त उत्तरी भारत में एक व्यापक एकता की भावना के प्रसारण में योगदान किया है। स्वामी दयानंद ने हिन्दी में सत्यार्थप्रकाश लिखकर इस भाषाजनित राष्ट्रीय एकता का संगठन करना चाहा था। आयरलैण्ड म राष्ट्रवाद के उदय के साथ वहाँ की भाषा का पुनरुद्धार आरम्भ हो गया। अमरीका की भी राष्ट्रभाषा अँगरेजी है, किन्तु अमरीकी अँगरेजी को, इंगलैण्ड में वर्तमान अँगरेजी से पृथक् करने का यत्न अमरीकन राष्ट्रवाद को व्यक्त करता है। भाषा राष्ट्रीय एकता की पोषिका है, इसी कारण महात्मा गाँधी न हिन्दी के व्यवहार पर बल दिया था। भाषा के सहारे केवल प्राचीन विचारों का संरक्षणमात्र नहीं होता ह, अपितु इसकी शब्दराशि, व्याकरण के नियम, छंद और रस तथा अलंकार के सहारे सामूहिक वृत्तियों तथा संकल्पों का प्रकटीकरण होता है। यही कारण है कि गीता के शब्दों और श्लोकों में जो भारतीय भावना को जाग्रत करने की शक्ति ह वह संसार के अन्य देशों के धर्मग्रन्थों में नहीं है। दूसरी ओर, जो आश्वासन एक विश्वासी अँगरेज को बायबिल के राजा जेम्स के द्वारा कराये गये अनुवाद में मिलता है उसे वह दूसरी भाषा में लिखे गए धर्मग्रंथ से नहीं मिलता है। मानव की समाजीकरण-क्रिया में भाषा का बड़ा वेगवान् और बलवान् प्रभाव है। भाषा के सहारे ही सभ्यता और संस्कृति का परिरक्षण होता है। महाभारत और कालिदास के रघुवंश में जो स्वस्थ शक्तिप्रदायक तेजस्वी मंत्र हम प्राप्त होते हैं, अन्य भाषाओं में वर्तमान रहने पर भी उन संदेशों में वह

1. Encyclopaedia of Social Sciences, 'Nationalism', Encyclopaedia of Religion and Ethics, 'Nationality'.

प्रभावोत्पादिनी शक्ति हमारे लिए नहीं रह जाती है, क्योंकि हमारे हृदय की वृत्तियों का जो नैसर्गिक तादात्म्य संस्कृत के साथ है वह अन्य भाषाओं के साथ नहीं है।

धर्म का भी राष्ट्रवाद के साथ गहरा सम्बन्ध है। यूरोप में राष्ट्रीय भावना के अभिप्रसारण में धार्मिक महासुधार आन्दोलन का जबर्दस्त हाथ है। धार्मिक महासुधार ने पोप की शक्ति को चुनौती दी और इस प्रकार वहाँ राष्ट्रीय भावना के समर्थक नरपतियों की शक्ति बढ़ी। राजा केवल राजकीय शक्तिधर न होकर धार्मिक क्षेत्रों में भी शक्ति की माँग करने लगा। राष्ट्रवाद को किस प्रकार धार्मिक भावना से समर्थन मिला है उसका पूरा निदर्शन आधुनिक भारत के इतिहास में देखा जा सकता है। ब्रह्मसमाज के प्रवर्तक राममोहन राय बड़े मानववादी और स्वातंत्र्यप्रेमी थे। उनके ऊपर उपनिषद् के अद्वैतवाद का प्रभाव था। स्वामी दयानंद का देशप्रेम अद्भुत था। वैदिक शिक्षाओं की प्राचीन भित्ति पर आधुनिक राष्ट्रवाद को प्रतिष्ठित करने का स्वप्न स्वामी दयानंद का था[१]। मैं वेद में आधुनिक भौतिक विज्ञान के तत्त्वों का उल्लेख नहीं मानता हूँ। मैं यह भी नहीं मानता कि वेद समस्त विद्याओं का बीज है तथापि ऐतिहासिक दृष्टि से इतना ठीक है कि दयानंद के इस विचार से कि वेद सब विद्याओं का केन्द्र है, बड़ा ही राष्ट्रोन्नयनकारी प्रभाव हुआ। पश्चिमी सभ्यता के आक्रमण के कारण जब शिक्षित भारतवासी निराशायुक्त हो आत्मविश्वास खोकर शून्यवादी बन रहे थे उस समय दयानंद, विवेकानन्द, तिलक और गाँधी की शिक्षाओं ने देश में तेजस्वी महामंत्र का संचार किया। बंगाल के राष्ट्रीय आन्दोलन पर विवेकानन्द का प्रभाव, स्वयं सुभाष बोस ने स्वीकार किया है[२]। विपिनचन्द्र पाल भी अध्यात्मवाद से प्रभावित थे। भारत के उदारवादी नेता पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के पोषक थ, किन्तु उग्रपन्थी नेतागण--तिलक, लाला लाजपत राय, अरविन्द आदि महान् राष्ट्रवादी थे और उन्हें प्राचीन वेदान्त, गीता आदि से ही निर्मल सर्वहितकारी कर्मयोग का मंत्र मिला था[३]। धर्म का व्यापक नैतिकता से तादात्म्य

१. Dayananda Commemoration Volume; T. L. Vasvani, The Torch-Bearer; Lajpat Rai The Arya Samaj; Sri Aurobindo, Bankima-Tilak-Dayananda.

२. Vivekananda, Lectures from Colombo to Almora; Subhas Chandra Bose, An Indian Pilgrim.

३. Athalye, Life of Tilak; Kelkar, Life of Tilak; Sri Aurobindo, The Ideal of the Karmayogin, The Doctrine of Passive Resistance, A system of National Education, Uttarapara speech, Speeches, लाजपत राय, आत्मकथा, तरुण भारत।

प्रचारित कर गांधी ने राजनीति को भी धर्म पर आधारित रखने का संदेश दिया है। अट्ठारहवीं शताब्दी में भारत अधोगति और तामसिकता की पराकाष्ठा को पहुंच चुका था। पानीपत, पलासी और बक्सर की हार से सर्वत्र प्रमाद, अनुशोचन और विषाद का साम्राज्य था। उस अवस्था में शक्ति और स्वास्थ्य का संचार करनेवाले मन्त्र का बीज धार्मिक जगत् में ही प्राप्त हुआ। आर्यधर्म की महिमा का ज्ञान प्राप्त कर ही भारतवर्ष ने अपनी शक्ति का अनुभव किया। पराधीन भारत को जब यह महान् मंत्र मिला कि वेद और वेदान्त की संस्कृति में निर्मल अध्यात्म की वह अखण्ड धारा प्रवाहित हो रही है, जिससे त्रस्त और पीड़ित मानवता का उद्धार हो सकता है तब इस देश के लोगों को नूतन प्राणसंचार का अनुभव हुआ। वेद, वेदान्त, गीता की संस्कृति का निर्मल सन्देश जगत् को सुनाने के लिए ही भारत का राजनीतिक उद्धार अभिवांछित है, इस प्रकार की घोषणा ने पराधीन, शोषित, पीड़ित देश को एक विशाल जीवनाधार प्रदान किया। इस प्रकार धार्मिक आशावाद तथा धार्मिक प्रचारवाद[1] ने भारतवर्ष के आत्मिक तथा मानसिक आधार को प्रशस्त कर राष्ट्रवाद के विकास और प्रसार के लिए जबर्दस्त आधारशिला तैयार की। भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में भी धार्मिक आशावाद और धार्मिक भविष्यवाद[2] ने राष्ट्रवाद को मजबूत किया है। यहूदी जाति का इतिहास प्रायः दो हजार वर्षों से भी अधिक समय तक निरन्तर, धर्मविद्वेष के कारण, उत्पीड़न का इतिहास है। किन्तु, अपना कोई निजी देश न होने पर भी, अनेक युरोपीय देशों में पीड़ित और त्रस्त किये जाने पर भी यहूदियों ने अपने प्राचीन धर्म और धार्मिक समष्टि में अक्षुण्ण विश्वास रक्खा और इसी प्रचण्ड विश्वास ने उनके अन्दर आशावाद का प्राणसंचार किया। धर्म की एकता की भावना ने ही इस पीड़ित जाति को अनेक आक्रमणों के बावजूद भी जीवित रखा है। अमरीका में जो पहले प्यूरिटन लोग गये उनमें भी धार्मिक आशावाद बड़ा उग्र और प्रचण्ड था। अनेक आर्थिक और राजनीतिक यातनाओं के बावजूद भी ये प्यूरिटन अपने धर्म के साथ

१. प्रचारवाद=Messianism.

२. भविष्यवाद=Futurism; B. K. Sarkar, Creative India; Zacharias, Renascent India; D. S. Sarma, The Renaissance of Hinduism; The Cultural Heritage of India (प्रकाशित रामकृष्ण मिशन।) अन्य देशों के लिए द्रष्टव्य Hans Kohn, Western Civilization in the near East, Nationalism and Imperialism in the Hither East, A History of Nationalism in the East.

समझौता करने को तयार नहीं थे और अपने धर्म की रक्षा करने के लिए ही उन्होंन अतलांतक महासागर लाँघ कर अमरीका में जाकर अन्ततोगत्वा एक विशाल राष्ट्र की नींव डाली। मिस्र देश में भी इसलाम धर्म के सुधारवादी सम्प्रदायों का, राष्ट्रवाद को पोषण करनेवाला प्रभाव, अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त से ही प्रकट हो रहा है। जापान में भी शिण्टोधर्म ने वहाँ के राष्ट्रवाद को मजबूत किया है। धर्म अनेक प्रकार से राष्ट्रवाद को पुष्ट करता है। धर्म नैतिक कर्तृत्व का जनक है और धार्मिक नियमों का नैतिक अनुवर्तन वयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को संगठित तथा शक्तिशाली बनाता है। धर्म परिवार और विशेषतया मातृशक्ति का प्रकृष्ट महत्त्व बताता है। अनेक राष्ट्रीय नेताओं ने अपने अनुभव से बताया है कि जो नैसर्गिक श्रद्धा की भाषा उनमें अपनी जननी के प्रति थी उसी भावना का व्यापक प्रसारण देशभक्ति में हो गया था[1]। देश और राष्ट्र को मातृभूमि कहने का यही तात्पर्य है। 'वन्देमातरम्' प्रार्थना में बंकिमचन्द्र ने भारत के इस विशाल मातृत्व का वर्णन अत्यन्त उदात्त शब्दों में किया है। भारत के राष्ट्रवाद में विशेषतया बंगाल के राष्ट्रवाद में यह मातृभाव अत्यन्त प्रकृष्ट था।[2] धर्म आत्मबलिदान की भावना का शिक्षण करता है। मानव को क्षुद्रता तथा स्वार्थ के अतिक्रमण का संदेश तथा विशाल वृत्तों से तादात्म्य प्राप्त करानेवाले कर्मयोग का संदेश भी धर्म से ही प्राप्त होते हैं। जब धर्म अहंभावोत्क्रमणकारी आत्मप्रसारणात्मक कर्मयोग का उपदेश देता है तब राष्ट्रवाद का वह व्यापक धरातल प्रस्तुत करता है। राष्ट्रवाद का अर्थ है विशाल समष्टि के साथ संसंजनात्मक तादात्म्य। इस प्रकार का तादात्म्य तभी संभव है जब हम क्षुद्रता का अतिक्रमण करें। जब देश के सम्मान और उसकी गरिमा की रक्षा के लिए युद्धक्षेत्र में नवयुवक अपने प्राणों का उत्सर्ग करता है तब निस्सन्देह वह धार्मिक यज्ञ का अनुष्ठान कर रहा है। इस प्रकार सामष्टिक हित की संसिद्धि के लिए आत्मबलिदान की शिक्षा देकर धर्म राष्ट्रीय उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है। जब इस आत्मबलिदान की भावना का अभाव हो जाता है तब जाति राक्षसिकता, तामसिकता से ग्रस्त होकर अवनति की ओर वेग से अग्रसर होती है। स्वार्थ की भावना से ही जयचंद और मीरजाफर ने देश के साथ लज्जाजनक व्यवहार किया। धर्म, जातीय संस्कृति और परम्परा का परिरक्षण कर राष्ट्रवाद का ठोस सांस्कृतिक आधार पुष्ट करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि धर्म, राष्ट्रवाद का एक महान् आधार है।

१. श्रद्धानन्द, कल्याणमार्ग का पथिक, महात्मा गांधी, आत्मकथा; Life of Swami Vivekananda दो खंड।

२. लाला लाजपत राय, तरुण भारत।

कुछ आलोचकों का ऐसा विचार है कि धर्म और राष्ट्रवाद परस्पर विरोधी हैं। धर्म व्यापकता, मानवता, एकता की शिक्षा देता है। इस प्रकार यह मानव उन्नति का महान् वाहक है। दूसरी ओर राष्ट्रवाद देशविशेष के स्वार्थों की अभितुष्टि को ही महत्तम यज्ञ मानता है। आक्टन का कहना था कि यूनान और रोम के धार्मिक सम्प्रदाय सीमित क्षेत्रफल के निवासियों के हितों के परिरक्षण का उपदेश देते थे, दूसरी ओर ईसाइयत विशाल मानवबंधुत्व का पोषक है। आक्टन के अनुसार राष्ट्रवाद विनाशकारी सिद्धान्त है, क्योंकि यह मानवतावाद का विरोधी है।[१] आक्टन का कथन बहुत दूर तक ठीक है। किन्तु, उसका प्रस्ताव तभी तक मान्य है जब हम मानवता-विरोधी राष्ट्रवाद के उस मन्त्र का समर्थन करें जिसका नग्न रूप आधुनिक इटली और जर्मनी में परिव्यक्त हुआ है। किन्तु, हम तो राष्ट्रवाद के उस धार्मिक स्वरूप का पोषण करते हैं जो मानव-एकता का विरोधी न होकर उसका समर्थक है। जब देश में वर्ग, श्रेणी, जाति आदि के स्वार्थ मजबूत हो जाते हैं तो इनको विशाल राष्ट्र-भक्ति के अभिसंचार द्वारा दग्ध कर राष्ट्रवाद हमारे जीवन को मजबूत और पवित्र बनाता है। छोटे-छोटे जनपदों और प्रान्तों से ही अपना पूर्ण तादात्म्य न कर विशाल राष्ट्र के साथ एकीभाव स्थापित करने का मन्त्र हमें राष्ट्रवाद से प्राप्त होता है। इस प्रकार की उतरोत्तर वर्धनशील मानवरागात्मिका शक्ति का केन्द्रभूत राष्ट्रवाद धर्म का विरोधी नहीं है। तिलक, गांधी, श्रद्धानन्द आदि विशाल हृदय रखनेवाले मानव थे। भारतीय राष्ट्रवाद को वे यूरोपीय देशों का अन्धानुकरण मात्र न बनाकर मानव-संस्कृति का पृष्ठपोषक आधार बनाना चाहते थे। राष्ट्रवाद का असली सन्देश है, राष्ट्रीय आत्मा का अभिप्रसारण और राष्ट्रीय संस्कृति का व्यापक अभिज्ञान। यह तभी संभव है जब कि राष्ट्र के निवासी राष्ट्रीय अध्यात्मधारा से आप्लावित हों। जिसने राष्ट्र की संस्कृति का आस्वादन किया है उसे ही देश के साथ सात्विक प्रेम हो सकता है। इस प्रकार का सात्विक प्रेम अन्य देशों, अन्य संस्कृतियों और अन्य परम्पराओं के साथ घृणा और असहिष्णुता नहीं उत्पन्न करता है। यह तो मानवता

---

१. Lord Actuon, History of Freedom and other Essays, पृष्ठ २०९; "There is not principle of change, no phase of political speculation conceivable, more comprehensive more subversive, or more arbitrary than this. It is a confutation of democracy because it sets limits to the excercise of the popular will, and substitutes for it a higher principle."

के विराट् दर्शन में एक आवश्यक सीढ़ी है। किन्तु, इतना निश्चित है कि हमें सर्वदा चेतन रहना है, नहीं तो राष्ट्रवाद के पास एक विषैला मार्ग भी है। घृणा, द्वेष, ईर्ष्या और लोभ से आविष्ट होकर अन्य राष्ट्रों के साथ प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता में ही हमारी शक्ति व्यय न होकर संसर्जनात्मक और सर्वभूतहित साधक स्रोतों में प्रवाहित हो, इसके निमित्त आवश्यक है कि हम राष्ट्रवाद को ही अन्तिम और परम धर्म का रूप न दे दें। नैतिक और आध्यात्मिक चैतन्य का वह अत्यन्त गर्हित रूप होगा।

क्षेत्र, भाषा और धर्म राष्ट्रवाद को पुष्ट करते हैं। एक प्रकार से वे इसके आधार हैं। कभी-कभी समानजातित्व की भावना भी राष्ट्रवाद को पुष्ट करती है। दुनिया में जाति अथवा 'रेस' की कल्पना का भयानक दुरुपयोग हुआ ह। यह ठीक है कि जातिविशुद्धतावाद एक भ्रामक सिद्धान्त है।[१] जगत् में विशुद्ध जातियाँ नहीं हैं। सर्वत्र जातीय सम्मिश्रण हुआ है। प्राचीन मानव-शास्त्रियों ने जाति के विकास पर भौगोलिक तथा वातावरणात्मक प्रभावों को स्वीकार किया ह। जब हम रेस अथवा जाति शब्द का व्यवहार करते हैं तो व्यापक अर्थ म तीन जातियों का, अर्थात् श्वेतांग, कौकेशियन, कृष्णवर्ण, नीग्रो तथा पीतवर्ण मंगोलियन जातियों का परिग्रहण होता है। कभी-कभी रेस का अधिक व्यापक अर्थ न ग्रहण कर सीमित अथ किया जाता है। इस अर्थ का उपयोग करते हुए हम यूरोप में अलपाइन, नौर्डिक आदि रेसों का उल्लेख करते हैं। प्राचीन मानवो की उत्पत्ति कैसे हुई, इस विषय में निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। किन्तु, इतना निश्चित है कि वर्तमान स्थिति में हम भिन्न-भिन्न रेसों को देखते हैं। स्पष्टतः एक चीनी और एक अमरीकन श्वेतांग में भौतिक शारीरिक दृष्टि से अन्तर है। यूरोप के निवासियों में भी भिन्न-भिन्न देशों में इस प्रकार का अन्तर, सूक्ष्मता से देखने पर, हम मालूम हो जायगा।[२] हम यह नहीं कहते कि ये अन्तर सार्वकालिक हैं। संभव ह कि मानव जातियों के विषयों में अधिक अनुसंधान होने पर इन भौतिक अन्तरों को कम करन की प्रक्रिया हमें मालूम हो जाय। किन्तु, साम्प्रतिक अवस्था में यूरोप में भी, आंशिक रूप से, भिन्न-भिन्न वर्ण तथा आकृतिवाले लोगों का देशविशेष म प्राधान्य है। किन्तु,

१. F. H. Hankins, The Racial Basis of Civilization; F. Hertz, Race and Civilization; Swami Vivekananda, The East and the West; T. H. Garth, Race Psychology; Ruth Bendict, Race; Science and Politics.

२. तुलनीय, F. Boas, Changes in Bodily form of Descendants of Immigrants.

पृथक्ता और बात है, वर्णश्रेष्ठता बिलकुल दूसरी। फ्रान्सनिवासी, जर्मननिवासी की अपेक्षा जाति अथवा रेस की दृष्टि से अंशतः भिन्न हो सकता है, किन्तु इस भिन्नता के आधार पर यह कल्पना करना कि जर्मन श्रेष्ठ है और फ्रान्सीसी उससे अधम, नितान्त निराधार है। इस प्रकार की कल्पनाओं का शास्त्रीय आधार नहीं होता, अपितु वे राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थों के पोषण के लिए राजनीतिज्ञों द्वारा उपस्थित की जाती हैं। जर्मन वर्णश्रेष्ठतावाद के समर्थक वागनर, चैम्बरलेन, आल्फ्रेड रोजेनबर्ग, हिटलर आदि समाजशास्त्रवेत्ता नहीं, अपितु राजनीतिक चालबाजी में सिद्ध-हस्त थे[१]। अमरीका में हबशी जातियों के उत्थान को रोकने के लिए अनेक वर्ण-श्रेष्ठतावादियों ने हँसी उत्पन्न करनेवाली निराधार युक्तियाँ निकाली हैं। अमरीका में आज जो रेस अथवा जाति की समस्या है वह केवल अल्पसंख्यकों को सताने के लिए ही। हबशी, यहूदी, पोर्टोरिकोनिवासी तथा एशियानिवासी को अमरीका के विशाल धन और स्वातंत्र्य से वंचित करने के लिए ही वहाँ 'रेसवाद' पर इतना ध्यान है और कभी-कभी इतिहास की रेसमूलक अथवा वर्णानुवंशिकतामूलक व्याख्या भी की जाती है[२]। जब हम कहते हैं कि राष्ट्रवाद का आंशिक आधार वर्णानुवंशिकता, है तो हमारा अभिप्राय केवल इतना ही है कि शारीरिक साम्य के कारण अंशतः मानव अपने को एक समझता है। किन्तु, इससे किसी अप्रतिहार्य नियम की उद्घोषणा नहीं करनी चाहिए। शारीरिक साम्य रहते हुए भी बंगाल के हिन्दू और मुसलिम अभी हाल ही में पशुवत् युद्ध करते रहे हैं। जब अमरीका और इंगलैण्ड में अमरीकी स्वा-तंत्र्य-संग्राम के अवसर पर युद्ध हुआ था तब दोनों देशों के निवासी प्रायः एक ही वर्णानुवंशिकता से निस्सृत थे। इतना होते हुए भी यह ठीक है कि शारीरिक साम्य,

---

१. Gobineau, The Inequality of the Human Races; H. S. Chamberlain, The Foundations of the Nineteenth Century; Alfred Roseuberg, The Myth of the Twentieth Century (जर्मन भाषा में); Adolf Hitler, 'Mein Kampf; Hans Gunther, The Racial Elements of European History.

२. Madison Grant, The Passing of the Great Race; Lothrop Stoddard, The Rising Tide of colu against white world supremacy; C. S. Burr, America's Race Heritage; W. Mcdougall, Is America Safe for Democracy.

अर्थात् रंग और आकृति में साम्य, मनुष्य के अन्दर एकता, आंशिक रूप से फैलाने का एक साधन है। यह जातिवाद कोई गणितात्मक सर्वसामान्य नियम न होकर भी आधुनिक इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त रहा है। एक ही मूल पूर्वजों की सन्तान होने का दावा, चाहे बहुत अंश में यह विचार अनैतिहासिक ही क्यों न हो, निस्सन्देह मनुष्यों में एकता की भावना उत्पन्न करता है। वर्णानुवंशिकतावाद आधुनिक राष्ट्रवाद का संचालक एकसूत्र रहा है, इसमे कोई सन्देह नहीं। इसका उत्कृष्ट उदाहरण आष्ट्रिया-हँगरी के इतिहास में मिलता है। इस साम्राज्य के मागयर और चेक लोग सर्वदा अपने को आष्ट्रियनों से, जो वर्णानुवंशिकता की दृष्टि से जर्मन हैं, भिन्न मानते थे और इसी कारण उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन कर अपना स्वतंत्र राष्ट्र बनाया।

राष्ट्रवाद अध्यात्मस्वरूप होते हुए भी बाह्य वस्तुओं और साधनों से व्यक्त होता है। जिस प्रकार मानव का आध्यात्मिक रूप बाह्य कर्मणा के द्वारा प्रकटित होता है, उसी प्रकार राष्ट्रिय चैतन्य की अभिव्यक्ति बाह्य आधारों से होती है। जिस प्रकार अन्नमय और प्राणमय कोश की दुर्बलता के कारण मानव का विज्ञानात्मक विस्तार प्रतिहत हो सकता है, उसी प्रकार भाषा, संस्कृति, शरीराकृति आदि में समानता न रहने पर राष्ट्रवाद भी अंशतः कमजोर हो जाता है। बाह्य और वस्तुनिष्ठ कारण जितने ही प्रशस्त रहेंगे उतनी ही विशेष शक्ति राष्ट्रवाद को प्राप्त होती है। बाह्य कारणों की समानता, मनोवैज्ञानिक समानता का बाह्य किन्तु प्रभावशाली साधन है। बाह्य कारणों की समानता से सहानुभूति का क्षेत्र गम्भीर और गूढ़ बनता है और राष्ट्रभावापन्न मानव अपना राजनीतिक भाग्यनिर्णय स्वयं ही करने का अभिलाषी बनता है। देशभक्ति की भावना प्राचीन और मध्यकालीन संस्कृति में भी पायी जाती है। पोरस, खारवेल, चन्द्रगुप्त मौर्य आदि देशभक्ति के कारण ही भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध हैं। गुप्त, राष्ट्रकूट, चालुक्य सम्राटों की देशभक्ति ही उनको गौरव का पद प्रदान करती है। जब यूनान और फारस में युद्ध हो रहा था उस समय स्पार्टा के जिन वीर नेताओं ने आत्माहुति की उनका आज भी यूनान में स्मरण किया जाता है। किन्तु, प्राचीन काल की देशभक्ति से आज का राष्ट्रवाद दो अर्थों में भिन्न है। प्राचीन और मध्यकालीन सभ्यता में एकतंत्र अथवा अभिजाततंत्र का ही प्राधान्य था। कहीं-कहीं देवतंत्र भी वर्तमान था। किन्तु, आज का राष्ट्रवाद अनेक देशों में प्रजातंत्र के साथ मिश्रित है। यदि राष्ट्र, देश की जनता की भावना का प्रतिनिधित्व करता है तो उसका विस्तार राजनीतिक क्षेत्र में भी होना चाहिए इस प्रकार की भावना आज व्याप्त है। कुछ अधिनायकवादी देशों में उग्रराष्ट्रवाद की अभिव्यक्ति हुई है। इसका अर्थ यह है कि उन देशों में राष्ट्रवाद का सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक रूप तो

वर्तमान है, किन्तु उसके प्रजातांत्रिक राजनीतिक रूप का पूरा प्रकाशन नहीं हो पाया है। आज का राष्ट्रवाद, प्राचीन देशभक्ति से एक दूसरे अर्थ में भी भिन्न है। देशभक्ति मुख्यतया एक नैसर्गिक भावना थी और उसके यादृच्छिक प्रभाव में ही उसका साफल्य था। किन्तु, आज की यांत्रिक और औद्योगिक सभ्यता में प्रचार और प्रसार के अनेक साधन सुलभ हैं और इस प्रकार राष्ट्रीय भावना को कृत्रिम उपायों से उग्र रूप देना आसान है। केवल अधिनायकवादी देशों में ही नहीं, अपितु प्रजातंत्रीय देशों म भी इन कृत्रिम उपायों से कार्य लिया जाता है। आज की राष्ट्रभावना अनिवार्य रूप से अपना राजनीतिक प्रकाशन चाहती है। आत्मातिक्रमण की ठोस निर्मल भावना ही मानव को अपने सीमित स्वार्थ का अतिक्रमण बताती है। यह भावना कभी जनपद-अनुराग कभी संघभक्ति, कभी समाजप्रेम और कभी राष्ट्र-श्रद्धा के रूप म व्यक्त होती है। इस भावना का आधुनिकतम और दृढ़तम रूप राष्ट्रवाद में व्यक्त हुआ है। अट्‌ारहवीं शताब्दी तक राष्ट्रवाद का मूलतः सांस्कृतिक रूप था। आज, विशेषतया फ्रान्स की राज्यक्रान्ति के बाद से, राष्ट्रवाद का राजनीतिक रूप निखरा है। संक्षेप में कह सकते हैं कि मानव का हृदय में वर्द्धमान आत्मातिक्रमणात्मक रागात्मिका वृत्ति ही राष्ट्रीय भावना का मूल है। बाह्य उपकरणों, साधनों और आधारों से इसका पोषण होता है। कभी यह वृत्ति विशेषकर कला, साहित्य, धर्म और दर्शन में व्यापक कर्तृत्व के द्वारा अपना मूर्तरूप प्रकाशित करती है और कभी अपना प्रकृष्ट राजनीतिक रूप व्यक्त करती है। राजनीतिक रूप की प्रधानता के अवसर पर, स्वतंत्र राज्य की माँग राष्ट्रवाद का आवश्यक कार्य हो जाता है। जान स्टुआर्ट मिल का प्रस्ताव था कि एक राष्ट्र के लोगों को एक सरकार की अधीनता में संगठित हो जाना चाहिए, क्योंकि यदि अनेक राष्ट्र के लोग एक साथ रहेंगे तो सरकार एक सैनिकों को दूसरे राष्ट्र की स्वतंत्रता या अपहरण करने में प्रयोग कर सकती है।[१] किन्तु स्पष्ट है कि राष्ट्र और राज्य का पूरा तादात्म्य नहीं हो सकता है। अनेक राष्ट्र जो सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विकसित होते हुए भी राजकीय दृष्टि से स्वतंत्र नहीं हैं उनकी प्रचण्ड अभिलाषा यही रहती है कि उनका निजी स्वतंत्र राज्य हो जाय। भारत में उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में उग्र सांस्कृतिक और आत्मिक राष्ट्रीय चैतन्य का विकास हुआ और यहाँ की जनता राजनीतिक स्वातंत्र्य की कामना करने लगी और उसकी प्राप्ति के निमित्त अनेक यत्न भी किये गये। फलस्वरूप, स्वतंत्रता की प्राप्ति हुई और भारतीय जनता का राज्य बना।

१. John Stuart Mill, 'Nationality', Representative Government, अध्याय १६।

किन्तु स्पष्ट है कि भारतीय राष्ट्रवाद की सम्पूर्ण आशाओं, आकांक्षाओं और प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति भारतीय राज्य के द्वारा नहीं हो सकती है। उदाहरणार्थ, भारतीय राष्ट्रवाद के नैतिक आधारों में अनासक्त कर्मयोग की शिक्षा बड़ी जबर्दस्त थी। जनता अपने कर्तव्य और वृत्तियों के संशोधन के सहारे कर्मयोग का अभ्यास कर सकती है, किन्तु नैतिक यादृच्छिकता पर आधारित इस कर्मयोग का पालन राज्य नहीं कर सकता है। राष्ट्रवाद एक सूक्ष्म दृढ़ रागात्मिका वृत्ति है। अहंपाशबद्धता से महत्तर व्यापक समष्टि का हितवाद ही इसका प्रेरक मंत्र है। इस प्रकार की आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक भावना, बाह्य साधनों और सुरक्षा का प्रबन्ध करनेवाले राज्य से पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं हो सकती है। राष्ट्रवाद का आधार है आध्यात्मिक चैतन्य। राज्य का आधार है शांति, सुरक्षा आदि की स्थापना। राष्ट्रवाद मानव के व्यापक सार्वत्रिक अभिचैतन्य का पोषक और समर्थक है। राज्य, स्वस्थ मानव के सामूहिक जीवन को व्यवस्थित और पुष्ट करने की चेष्टा करता है। जब दुनिया में राष्ट्रवाद नहीं विकसित हुआ था उस समय भी मिस्र, यूनान और बाबुल में राज्य था। विश्वमानववाद का अत्यधिक विकास हो जाने पर राष्ट्रवाद का अन्तरराष्ट्रीयवाद में रूपान्तर हो सकता है, किन्तु उस समय भी विश्व-राज्य स्थापित रह सकता है। किन्तु, राष्ट्रवाद और राज्य में इस प्रकार पार्थक्य रहने पर भी आधुनिक इतिहास में राष्ट्र अपना राजनीतिक स्वरूप-प्रकाशन राज्य के माध्यम से कर रहा है।

जब दुनिया में छोटी बस्तियाँ थीं अथवा छोटे जनपद थे उस समय उनका जीवन स्व-संतुष्ट था। आर्थिक प्रक्रिया सरल थी और जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति ही उसका लक्ष्य थी। किन्तु, आधुनिक जगत् में राज्य के निवासियों का जीवन अत्यन्त परस्पराश्रित हो गया है। आज पुरातन साम्यवाद या छोटे जनपदों में प्राप्त स्व-संतुष्टि असम्भव है। आज बंगाल के निवासियों का जीवन, मद्रास और पंजाब में क्या हो रहा है इससे भी नियंत्रित होता है। जब इगलैण्ड सात छोटे-छोटे जनपदों में विभक्त था उस समय से आज की अवस्था की यदि तुलना करें तो महान् अन्तर दीख पड़ता है। जर्मनी के उस जमाने की तुलना, जब तीन सौ से ऊपर जनपद, नगर और छोटे-छोटे राज्य वहाँ वर्तमान थे, यदि बिस्मार्क और कैसरकालीन जर्मनी से हम करते हैं तब डुगुइ के उस कथन की सत्यता, कि राष्ट्रीयता के विकास के लिए व्यापक और गम्भीर परस्पराश्रयिता अपेक्षित है, हमें मालूम पड़ती है[१] जर्मनी के इतिहास में यह परास्पराश्रयिता मुख्यतः आर्थिक आधारों पर टिकी थी।

१. Leon Duguit, Souverainete et Liberte (१९२२), पृष्ठ ३३।

भारत के इतिहास में यह परस्पराश्रयिता मुख्यत: राजनीतिक है। अशोक, अकबर आदि ने भारतीय इतिहास में राजनीतिक एकता लाने का यत्न किया। प्रान्तीयता के प्रचार से प्रजनित अनेक पराजयों ने व्यक्त कर दिया कि इस देश के निवासियों का राजनीतिक भाग्य एक साथ गुँथा हुआ है और उसका सामान्य सर्वव्यापक समाधान ही खोजना पड़ेगा। किन्तु स्पष्ट है कि इस परस्पराश्रयिता की आवश्यकता को राष्ट्रवाद का ही मूल कारण नहीं मान सकते। मूलत: राष्ट्रवाद आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक वृत्ति है। आर्थिक और राजनीतिक सुरक्षा और परस्पराश्रयिता की आवश्यकता उस मूलवृत्ति को क्रियान्वित करने का अवसर प्रदान करती है।

आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक वृत्ति होने के कारण राष्ट्रवाद संस्कृति की भावना का संवर्धन करता है। सभ्यता का प्रयोजन मानव-जीवन के नागरिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा यांत्रिक आधारों को पुष्ट करने में है। राज्य, सभ्यता के विकास का परिणाम है। संस्कृति का सम्बन्ध मानव जीवन के कलात्मक, रसात्मक तथा नैतिक रूपों से है। राष्ट्रवाद का सम्बन्ध विशेषतया संस्कृति से है।[१] किन्तु, जिस प्रकार संस्कृति को प्राणात्मक आधार प्रदान करने के लिए सभ्यता के विकास की आवश्यकता है उसी प्रकार अध्यात्मभावाश्रित वृत्तिसंस्थित राष्ट्रवाद को राज्य के द्वारा व्यावहारिक पोषण मिलता है। सांस्कृतिक एकता मानव को एक सूत्र में बाँधने में बहुत महत्त्वपूर्ण

१. Spengler: Decline of the west II, पृष्ठ १७१-१७२: "Further, nations are the true city building peoples. In the atrouglds they arose, with the cities they ripin to the full height of their world consciousness, and in the world cities they dissolve. Every town formation that has character has also national character. The village, which is wholly a thing of race, does not yet possess it; the megalopolis possesses it no longer. ....If between the souls of two cultures the screen is impevertable, if no Western may ever hope completely to understand the Indian or the Chinese, this is equally so, even more so, as between well developed nations....In the eighteenth century arose the Western concept of the Nation which sets up the claim to be championed by everybody without exception."

है। सांस्कृतिक एकता यांत्रिक न होने के कारण मानव की भावनाओं को पूर्णतः प्रभावित करती ह । राज्य के विच्छिन्न हो जाने पर भी संस्कृति जनसमाज को एकता प्रदान करती ह। बिम्बिसार-अजातशत्रु के समय से लेकर आजतक भारत में अनेक राजनीतिक रूपान्तर हुए हैं। किन्तु, निरन्तर परिवर्तनों के बावजूद भी संस्कृति की एक विशालधारा भारतीय इतिहास में प्रवाहित दीख पड़ती है । इस विराट् संस्कृति ने भारतीय आत्मा को सर्वदा चैतन्य प्रदान किया है। उन्नीसवीं शताब्दी में , इस विशाल संस्कृति का पोषण और उन्नयन कर, इसी के आधार पर राममोहन राय, ऋषि दयानंद, विवेकानन्द आदि ने शक्तिशाली भारतीय राष्ट्र को स्थापित करने का सन्देश दिया था। तिलक, अरविन्द, महात्मा गांधी, लाजपतराय, सुभाष बोस आदि का भी ऐसा ही विचार था। संस्कृति की धारा का तिरस्कार कर राष्ट्रवाद जीवनशक्ति खो बठता है । संस्कृति, सामष्टिक चैतन्य को पुष्ट करती है। संस्कृति के द्वारा अभिपोषित सामष्टिक भाव ही राष्ट्रवाद को पुष्ट करता है। बीसवीं शताब्दी में तुर्की, मिस्र, भारत और चीन में जिस राष्ट्रवाद का विकास हुआ है उसमें सांस्कृतिक आधार व्याप्त था। तुर्की में पान-तुरानियन आन्दोलन तुर्की की संस्कृति का पोषक था।[१] आयरलैण्ड के राष्ट्रवाद का भी सांस्कृतिक आधार था। फिक्टे, हेगल तथा गेटे ने जर्मनी के राष्ट्रवाद को दार्शनिक और साहित्यिक चेतना प्रदान की।[२] फ्रांस की राज्यक्रान्ति यनान और रोम की सामष्टिक भावना से प्रभावित थी।[३] चीनी राष्ट्रवाद के आधारस्वरूप चीनी सांस्कृतिक पुनरुद्धार वर्तमान था।[४] यूरोपीय राष्ट्रवाद के पीछे सांस्कृतिक पुनरुद्धार की भावना प्रकृष्ट रूप से विद्यमान थी। इस प्रकार राष्ट्रवाद के पोषक के रूप में संस्कृति का व्यापक महत्त्व है। यूरोप में जर्मनी और फ्रांस को अपनी संस्कृति का बड़ा अभिमान है । अमरीका में अभी किसी विशिष्ट संस्कृति का परिपाक नहीं हो पाया है, तथापि जेफरसन, पेन, ह्विटमैन, इमरसन तथा विलियम जम्स आदि के ग्रन्थों में शनैः-शनैः एक अमरीकन संस्कृति का निर्माण हो रहा है।

---

१. Harry Luke, the Making of Modern Turkey; H. Edibe, Turkey Faces West.

२. Fichte, Addresses to the German Nation; Hegel, The Constitution of Germany; V. P. Verma, Hegel, Philosophy of History, The Philosophical Quarterly April 1954; Goethe, Faust.

३. Gilbert Murray, Four Stages of Greek Religion पृष्ठ ५८.

४. Husih, The Chinese Renaissance.

किन्तु यद्यपि अमरीकन संस्कृति का अभी पूरा विकास नहीं हो पाया है, तथापि अपनी भौतिक सभ्यता का ही जबर्दस्त अभिमान अमरीकनों को है। इस प्रकार का अभिमान यद्यपि एक असात्विक वृत्ति है, तथापि तद्देशस्थ निवासियों को आपस में मिल कर रहने का संदेश इससे प्राप्त होता है। क्योंकि सभ्यता का अनक आक्रमणकारियों से रक्षण करने के लिए मिलकर रहना अत्यन्त आवश्यक है। उग्र राष्ट्र-भावनापन्न होने पर जनता अन्य संस्कृति से समागत शब्दों तथा विचारों को निकाल देना चाहती है। कभी-कभी अनेक कृत्रिम शब्दों को इस कारण गढ़ना पड़ता है।[१] किन्तु राष्ट्रवाद का अतिरेक इन समस्त असुविधाओं को सहता है। राष्ट्रभाव अपने अपेक्षित अंश में सामूहिक रूप से सर्जनात्मक कर्म करने की प्रेरणा देता ह। नूतन एशिया में इस प्रकार का सांस्कृतिक चैतन्य अभी प्रसारित हो रहा ह। एशिया और यूरोप की सभ्यताओं म जो आज लगातार चार सौ वर्षों से संघर्ष जारी है उसके फलस्वरूप एशिया की सांस्कृतिक चेतना जाग्रत हो गई है, यद्यपि सभ्यता के क्षेत्र में यूरोपीय जातियाँ एशियाइयों से बहुत आगे हैं। संस्कृति, परम्परागत राष्ट्रवाद को जन्म देती है। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति शीघ्र ही नई दुनिया का निर्माण प्राचीन के अवशेष पर करना चाहती थी। आयरिश विचारक बर्क की दृष्टि में यह खतरनाक कदम था। उसन उस विशाल समृद्ध राष्ट्रीय संस्कृति का समर्थन किया जो धीरे-धीरे उन्नति को प्राप्त करती है तथा जिसमें जाज्वल्यमान नैतिक आदर्शवाद और विशुद्ध देशभक्ति का संचार होता है।[२]

संस्कृति के साथ सम्पृक्त होना राष्ट्रवाद के गम्भीर, उन्नयनकारी रूप की व्यंजना करत हैं।[३] राष्ट्रवाद के दो स्तर हैं। साधारणीकृत स्तर पर राष्ट्रवाद अहंभाव वा

१. उग्र धर्मभावना प्रभावित हिन्दू-राष्ट्रवाद ने अरबी, फारसी, तुर्की, अँगरेंजी आदि के शब्दों का इसी आधार पर, हिन्दी भाषा से निष्काशन प्रचारित किया। आयरलैण्ड के राष्ट्रीय विकास के साथ-साथ 'गेलिक' भाषा का पुनरुद्धार और विस्तार हुआ और अन्य भाषा के शब्दों का प्रयोग अराष्ट्रीय माना गया।

२. Edmund Burke, Reflections on the Revolution in France (१७९०), Appeal from the New to the oldwhigs (१७९१), Thoughts on the cause of the Present Discontents.

३. Joseph Stalin, Marxism and the National Question पृ० ८ "A nation is a historically evolved, stable community of language, territory, economic life, and psychological make-up manifested in a community of culture."

पोषण करता है। अपने विषय में अभिमान न कर हम अपने देश या अपने नेताओं पर अभिमान करते हैं। उग्र रूप धारण करने पर इस प्रकार का अभिमान युद्धलिप्सा में भी बदल जाता है और अपनी संस्कृति की गरिमा को तलवार से भी फैलाने का प्रयास कुबुद्धिपूर्ण नेता कर डालते हैं। किन्तु, चेतन नीतिमत्ता का यही लक्षण है कि राष्ट्रवाद निष्काम कर्मयोग और सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना से प्रभावित हो। जबतक तर्कणात्मक चेतना का अनुप्रवेश राष्ट्रवाद में नहीं होता तबतक वह केवल प्रवृत्ति स्वरूप ही रहता है। राष्ट्रवाद की समग्रमूलिका वृत्ति का तभी पूर्ण विकास हो सकता है जब इसमें तर्क और भावना का पूरा सामंजस्य हो। तर्कणाविरहित प्रवृत्ति शीघ्र मूर्च्छित हो जाती है और वृत्तिनिराश्रित तर्कणा प्राणशक्ति से शून्य रहती है। अतः, आवश्यकता है कि तर्कणा और वृत्ति दोनों का सामंजस्य उपस्थित हो और तभी समग्रमूलिका आध्यात्मिक वृत्ति और बुद्धिशीलता राष्ट्रवाद को परिपुष्ट करेगी। जब बुद्धिशीलता का अभाव रहता है तब राष्ट्रवाद केवल सामूहिक अहंकार का रूप धारण कर जनसमाज को रसातल की ओर ले जाता है। केवल मिथ्या अभिमान अथवा सामूहिक अहंकार का प्रदर्शन राष्ट्रवाद नहीं है। राष्ट्रवाद का विशुद्धस्वरूप तभी प्रकाशित हो सकता है जब व्यापक मानवहितवाद की आदर्शवादिता से उसका आप्लावन हो। यदि एक मनुष्य का अहंकार असात्विक वृत्ति है तो जनसमुदाय का अहंकार भी उत्तेजक और राजसिक हो सकता है। इतिहास में ऐसा भी देखा जाता है कि आधुनिक विज्ञान द्वारा प्रस्तुत साधनों का आश्रय लेकर अनैतिक नेतागण जनसमाज में वर्तमान सामूहिक अहंकार को खूब बढ़ावा दें और फिर जनता के सामने केवल बड़े-बड़े स्वप्नों का आशावाद दृढ़कर अपना स्वार्थ सिद्ध करें। विशद राष्ट्रवाद वही है जो जनसमाज की इच्छाओं, संकल्पों तथा आकांक्षाओं में तात्त्विक समन्वय उपस्थित कर सके। राष्ट्रवाद आध्यात्मिक वृत्ति है और जनता के ज्ञानात्मक चैतन्य के द्वारा ही इसका प्रकाशन हो सकता है। अनेक मानवों का आत्मनिष्ठ व्यक्तित्व ही इसका आधार है। यह कोई भौतिक वस्तु नहीं है। केवल कुछ नेताओं के द्वारा ही जिसका परिवहन संभव हो, ऐसी कोई गम्भीर गणितात्मिका प्रणाली इसमें व्याप्त नहीं है। यह तो एक नैसर्गिक वृत्ति है। जो वृत्ति मनुष्य को परिवार, ग्राम और जनपद से अनुराग सिखाती है वह राष्ट्रवाद के रूप में भी परिणत होती है। मानव-विकास के अगले अध्याय में यह वृत्ति अन्तरराष्ट्रीयवाद के द्वारा प्रकट की जायगी।

जर्मन विज्ञानवाद का महान् पोषक फिक्ट उग्र राष्ट्रवादी था। मानसिक और आध्यात्मिक वृत्ति के रूप में उसने राष्ट्रवाद की व्याख्या की है।[१] उसके अनुसार शाश्वत

१. J. G. Fichte, Addresses to the German Nation.

आध्यात्मिक दिव्य पुरातन शक्ति का अभिप्रकाशन जागतिक जीवन में हो रहा है। जब अपने नैसर्गिक और आध्यात्मिक जीवन-क्रम के विस्तार में कोई जनसमूह किसी विशिष्ट नियम के अनुसार दिव्यशक्ति का प्रकटीकरण व्यक्त करता है तब हमें राष्ट्र-चेतना की अभिप्राप्ति होती है। इस विशिष्ट नियम के अनुसार सामूहिक जीवन का संचालन ही राष्ट्रीयता का पोषण करता ह। इसी के अनुसार राष्ट्रिय चारित्र्य का निर्माण होता है। इस प्रकार सनातन पुराण आदिदेव के अभिव्यक्तीकरण का राष्ट्र एक विशिष्ट प्रकार है। इस प्रकार आदिदेव के साथ राष्ट्र की ऐतिहासिक सत्ता क सामंजस्य करने का यत्न फिक्ट ने किया है। फिक्ट के राजनीतिक दर्शन में राष्ट्र-वाद के समर्थन में एक दूसरी युक्ति भी पाई जाती है। प्रत्येक उच्चाशयसमन्वित व्यक्ति अमरता की प्राप्ति चाहता है। किन्तु, उसका अपना तो 'भस्मान्तं शरीरम्' म ही पर्यवसान होगा। अतः राष्ट्र के नतिक और सांस्कृतिक चैतन्य का संवर्द्धन कर अमरत्व की प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि राष्ट्र अमर है। जिस अमरता के लिए मानव की जबदस्त अभिलाषा ह और जिसकी प्राप्ति वह स्वकीय मृत्युग्रस्त शरीर से नहीं कर सकता ह उसकी प्राप्ति तभी हो सकती है जब अपने से विशालतर किसी सत्ता से वह अपना तादात्म्य कर ले। इस प्रकार अमरता की प्राप्ति, और दिव्य-शक्ति का अभिप्रकाशन इन दो आधारों पर राष्ट्रवाद का विज्ञानात्मक समर्थन फिक्ट ने किया है। जहाँ तक पुरातन आदिदेव के अभिप्रकाशन के विचार का सम्बन्ध ह, वहाँ तक यही कहा जा सकता है कि वह विश्वासमूलक कल्पना ह। इति-हास में दिव्यशक्ति का प्रकाश देखना वैयक्तिक प्रज्ञा पर आधारित ह। सर्वपरीक्षणीय संवेद्य सामान्य नियम यह नहीं है। जहाँ तक अमरत्व की प्राप्तिवाली युक्ति का सम्बन्ध है वह हमें अभीष्ट है। अनासक्त कर्मयोग का पालन तभी संभव है जब मानव किसी विशालतर सत्ता के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करे। विराट् श्रेयों की सिद्धि में अपना बलिदान तक कर देना ही प्रकृष्ट पुरुषार्थ हो सकता है। किन्तु, राष्ट्रीय उद्देश्यों की सिद्धि वहीं तक हमें अभिवांछित है जहाँ तक वह सर्वमानवहित की अभ्यर्थना का एक अंग हो। जहाँ तक अपने अहंकाराश्रित स्वार्थों का अतिक्रमण कर मानव राष्ट्रीय संस्कृति का पोषण और उन्नयन करन का यत्न करता है वहाँ तक उसके जीवन में संगठन, वृत्ति-परिमार्जन और भावना तथा बुद्धि के एकीकरण का उद्योग चरितार्थ हो सकता है।

राष्ट्रवाद के आध्यात्मिक और चैतन्यमूलक स्वरूप का वर्णन हेगेल के दर्शन में पाया जाता है। उसके मतानुसार राष्ट्र की नतिक तात्त्विकता की अभिप्राप्ति तभी संभव है जब वह राष्ट्र वस्तुनिष्ठ विधि तथा स्पष्टतः स्थापित तर्कसम्मत संविधान

प्राप्त कर ले। इतना प्राप्त करने पर उसे संप्रभुता की प्राप्ति होती ह। राष्ट्रभावापन्न राज्य सार्वभौम मन की तात्त्विक बौद्धिकता तथा इन्द्रियग्राह्य वास्तविकता है और इस कारण जगत् में यह पूर्ण शक्तिमान् है। किसी अन्य राष्ट्र-राज्य की अधीनता यह कदापि स्वीकार नहीं कर सकता है। प्रत्येक राष्ट्रीय राज्य अपनी विलक्षण आत्मिक संस्कृति के सहारे अपना प्रकाशन करता है। विश्वात्मा के आत्मविकसनशील और आत्म-चैतन्यात्मक विस्तार में, राष्ट्र को निरपेक्ष प्रत्यय का सिद्धान्त विशेषत: सौंपा जाता है और उस राष्ट्र की कृतकार्यता उसको व्यावहारिक बनाने में ह। एक राष्ट्र एक ही बार जगत् में प्राधान्य प्राप्त करता है, जबतक वह सिद्धान्तविशेष का वास्तवीकरण करता है। जबतक विश्वात्मा के प्रकटीकरण का माध्यम यह राष्ट्रविशेष रहता है तब तक अन्य राष्ट्रों का इसके विपरीत कोई अधिकार नहीं है। जब इसका युग समाप्त हो जायगा तब इतिहास में इसका कोई महत्त्व नहीं रह जायगा। इस प्रकार विश्व में प्रसिद्धि प्राप्त करनवाले राष्ट्रों के जीवन-इतिहास में दो युग देखे जा सकते हैं। प्रथम, वह अवस्था है जब अविस्फुटावस्था से आगे बढ़कर नैतिक चैतन्य और स्वातंत्र्य की वह प्राप्ति करता है और विश्व-इतिहास में अपने को आगे बढ़ाता है। दूसरी अवस्था इसके पतन की है जब यह विश्वात्मा के प्रकाशन का माध्यमभूत नहीं रह जाता है। पूर्ण प्रत्यय तब इसमें कोई अभिरुचि नहीं रखता है।

हेगेल के राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचारों में अनावश्यक नियतिवाद का दर्शन होता है[१]। दार्शनिक दृष्टि मे हेगेल अध्यात्मवादी था। वह अध्यात्मवादी तत्त्वज्ञान का विकास-मूलक ऐतिहासिकतावाद से समन्वय करना चाहता था। किन्तु, अध्यात्मवाद का वास्तविक स्वरूप है सतत सर्जनात्मिका शक्ति का अभिप्रकाशन। जो अध्यात्मवाद मानव के रचनात्मक रूप का बोध नहीं कराता वह झूठा अध्यात्मवाद है। अध्यात्मवाद का मूल मंत्र है, "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत"। जो अध्यात्मवाद किसी देशविशेष में चेतन नीतिमान् मनुष्यों के वर्तमान रहते हुए भी यह संदेश दे कि इस देश का ऐतिहासिक युग समाप्त हो गया है, उसे मैं जड़वाद अथवा तमस्वाद कहूँगा। नियतिवाद और चेतन नीतिमान् मानव का सतत कर्तृत्व, इनमें परस्पर विरोध है। सच्चा अध्यात्मवादी और विज्ञानवादी वही दर्शन है जो हमें यह शिक्षा दे कि नीतिमत्ता का पालन हमारी शक्तियों का परिरक्षण करेगा और इस प्रकार सर्वदा उन्नति का मार्ग प्रशस्त करे। किन्तु, इसके विपरीत यह बताना कि पूर्ण प्रत्यय का जिस देश अथवा राष्ट्र से अनुराग हट गया है वह इतिहास में पुनरपि नहीं चमक सकेगा, थोथा जड़वाद

१. V. P. Verma, Hegal's Philosophy of History, The Philosophical Quarterly, April 1954, पृष्ठ १५—४२।

है। हगेल के राष्ट्रवाद की दूसरी कमजोरी यह है कि शक्ति का ही मूलतः यह पोषक है। इसके अनुसार प्राच्यदेश ,यूनान, रोम तथा जर्मनी में ही विशेषतया विश्वात्मा के प्रत्ययों का प्रकटीकरण हुआ है। जर्मनी म इस प्रकटीकरण का वह परिपाक मानता था। इससे स्पष्ट है कि जर्मनी की अतृप्त राष्ट्रभावना का हेगेल शास्त्रीय समर्थक बनना चाहता था। इतिहास की व्याख्या करन का यह अर्थ नहीं है कि येन-केनप्रकारेण इतिहास को प्रत्ययात्मा वा परिगमन सिद्ध किया जाय। विशुद्ध आत्मवाद यह मानता है कि पूर्णता समष्टि में है। इतिहास पूर्णता की ओर बढ़ रहा है, यह कहना आध्यात्मिक दृष्टि से अधिक संगत है, यह कहने की अपेक्षा कि किसी राष्ट्रविशेष मे पूर्णता का परिपाक संसिद्ध हो गया है। देश-विशेष को विश्वात्मा के प्रत्ययविशेष का वाहक मानने के सम्बन्ध में कोई तर्कणात्मक आधार हेगेल ने नहीं प्रस्तुत किया है। प्राच्य सभ्यताएँ, हेगेल के अनुसार स्वतंत्रता का उदय नहीं व्यक्त करती हैं। वे प्रकृतिनिष्ठता की अवस्था की सूचक हैं। स्पष्ट है कि वेदान्त, बौद्ध विज्ञानवाद और सांख्य कैवल्यवाद जैसे विचार उत्पन्न करनेवाले भारत को प्रकृतिनिष्ठता से आक्रान्त मानना यह बताता है कि हगेल विशुद्ध तर्कणात्मक परीक्षण का आधार न लेकर बुद्धि-विलास और जल्प तथा विकल्प का ही आश्रय ले रहा था। इन कमजोरियों के होते हुए भी हगेल के राष्ट्रवाद-सम्बन्धी विचारों की यह विशेषता है कि संस्कृति के विभिन्न अंगों से—उदाहरणार्थ कला, साहित्य, धर्म आदि से उसने राष्ट्रीय विकास का गहर सम्बन्ध बताया।

राष्ट्रवाद के आध्यात्मिक स्वरूप का वर्णन मेजिनी में पाया जाता है। मेजिनी का प्रभाव केवल विशेषतः इटली और सामान्यतः यूरोप के ही राष्ट्रवादियों पर नहीं दीख पड़ता है। भारत में भी लाजपतराय, तथा अन्य नेता उससे प्रभावित हुए थे। मेजिनी का जीवन अध्यात्म से आप्लावित था। ईश्वर, ईश्वरीय नियम और मानवता, ये ही उसके विचारों के मूलसूत्र थे। ईश्वरीय नियमों का आविष्कार कर उनका मानव-जीवन में प्रवेश कराना ही मजिनी का महान् लक्ष्य था। उसके अनुसार मानव-इतिहास का प्रथम भाग राष्ट्रीयता के आदर्श से प्रभावित है। इतिहास का दूसरा युग वह होगा जब मानवता की कल्पना प्रकृष्ट रूप से क्रियान्वित होगी। मेजिनी राष्ट्रवाद को एक विशिष्ट साध्य का साधन मानता था। यह साध्य है मानवता और मातृत्व का प्रकाशन। मेजिनी प्रजातंत्र और गणतंत्र के आदर्श का पोषण करता था। यद्यपि मेजिनी का आदर्शवाद कावूर और विक्टर इमानुएल के द्वारा परित्यक्त हो गया और मुसोलिनी के इटली ने उसके बदले बीभत्स साम्राज्यवाद का पोषण किया, तथापि मेजिनी के आदर्शवाद ने अनेक देशों में विचारकों और कार्यकर्ताओं को प्रभावित किया था। राष्ट्र-वाद, जनसमूह के आर्थिक स्वार्थों के पोषण का साधन न होकर उसके नैतिक कर्तृत्व

का उन्नायक हो, इस प्रकार के विचारों का पूर्ण समर्थन मेजिनी ने न केवल अपनी पुस्तकों में किया है, अपितु उसका व्यक्तिगत जीवन इसी आदर्शवाद पर संगठित था। मातृभूमि के उद्धार के लिए इस वीर महात्मा ने जो कष्ट सहन किये थे वे बहुत प्ररणा देनेवाले हैं।

फ्रांस के विचारक रेनान ने भी राष्ट्रवाद के आध्यात्मिक रूप का समर्थन किया है।[१] उसके मत में एक ही भाषा को बोलना अथवा एक ही जाति का होना राष्ट्रवाद का पोषक नहीं है। राष्ट्र का निर्माण करने में भूतकालीन कर्मों की स्मृति तथा भविष्य-कर्म को सिद्ध करने की महत्त्वाकांक्षा ही विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। रेनान ने जनता की आत्मा का भी उल्लेख किया है जिसका उदात्त समर्थन रोमाण्टिक दार्शनिकों और हेगेल ने किया था। जन-आत्मा के दो आधार हैं। उपलब्धि, सम्मान, बलिदान और कष्टसहन की गाथाएँ राष्ट्र को एक साथ बाँधती हैं। जब विशाल सांस्कृतिक राशि का संरक्षण करने की भावना जन-समाज को आप्लावित करती है और इसके निमित्त वह कर्म करता है तब राष्ट्रीय कल्पना विशालतर होती है। केवल बाह्य साधनों और आधारों पर बल न देकर इतिहास और संस्कृति में वर्तमान आदर्शवाद से राष्ट्रवाद का सम्बन्ध मिलाकर रेनान ने सामष्टिक चैतन्य पर बल दिया है। रेनान का खंडन करते हुए मैकिवर ने कहा है कि जो लक्षण रेनान ने राष्ट्र के दिये हैं वे एक परिवार, जहाज के कर्मचारी अथवा षड्यन्त्रकारियों के गिरोह में भी घट सकते हैं। स्पष्ट है कि मैकिवर ने रेनान के आशय को समझने में भूल की है[२]। रेनान ने संस्कृति और इतिहास के उस विशाल आदर्शवाद का उल्लेख किया है जिसके बिना राष्ट्र प्राण-हीन हो जाता है। भारतीय राष्ट्रवाद के इतिहास में हमने देखा है कि जब भारतीय जनता त्रस्त, पीड़ित और हताश हो गई थी तब रामायण, महाभारत आदि की वीर-गाथाओं से महती आशा का संचार हुआ था। इतिहास की गौरवगाथाएँ जातीय आदर्श को अक्षुण्ण रखती हैं। इतिहास के विशाल आदर्शों को जीवित रखने का निर्मल

१. Renan, discourse delivered at the Sorbonne in 1832, Qu 'estcequ' Une Nation, Published in Discours et confe-rences. Renan—"What constitutes a nation is not speaking the same tongue or belonging to the same ethnic group, but having accomplished great things in a common in the past and the wish to accomplish them in the future."

२. R. M. MacIver, The Modern State पृष्ठ १२३-१२४।

संदेश हमें भारतीय राष्ट्रवाद के नताओं में मिलता है। शिवाजी के गौरवशाली इतिहास का उद्धरण तिलक सर्वदा दिया करते थे। हमें राष्ट्रवाद का वह आध्यात्मिक रूप अभीष्ट है जो विशाल आदर्शवाद का संचार कर इतिहास में परिव्यक्त विराट् आदर्शों को चरितार्थ करने का मंत्र हमें प्रदान करता है। स्पेंगलर ने भी राष्ट्र का आध्यात्मिक रूप स्वीकृत किया है।[१] राष्ट्रवाद का समुचित विकास तभी संभव ह जब जनता सामयिक ऐषणाओं का परित्याग कर नैतिक संरक्षण और विशाल श्रेय को संसिद्ध करे। भूत का आवश्यक परिरक्षण वर्तमान को शक्तिशाली बनाता ह और शक्तिशाली वर्तमान ही आशावान् भविष्य का स्रष्टा है। राष्ट्रवाद इस दृष्टि से विचारमय शक्ति का संचार कर सकता है। राष्ट्रीय व्यक्तित्व का अभिचैतन्य ही मानव-जीवन को उच्चता का दर्शन कराता है। राष्ट्रीय संस्कृति का परिज्ञान मनुष्य को भोगवाद से हटाकर जीवन को उन्नत और प्रशस्त बनाने को मंत्र देता है। वायको और मौण्टेस्क्यू ने राष्ट्रीय संस्कृति की एकता को राजनीतिक दर्शन का आधार बनाना चाहा था। शनैः-शनैः वह समय आ रहा है जब मानवहितवाद को ध्यान में रखते हुए राजनीतिक दर्शन का निर्माण होगा।

राष्ट्रवाद के विकास के कारण राष्ट्रीय चरित्र भी दृढ़ होता है। अनेक समाजशास्त्रियों ने इस विषय पर विचार किया है कि क्या सचमुच राष्ट्रीय चरित्र नाम की कोई वस्तु है।[२] निस्सन्देह चरित्र व्यक्तियों का होता है। मानव-हृदय ही वृत्तियों का निवासस्थान है।[३] जिस अर्थ में व्यक्ति का चरित्र होता है, ठीक उसी अर्थ में राष्ट्र का चरित्र नहीं हो सकता, क्योंकि जो यादृच्छिक कर्तृत्व शक्ति व्यक्तियों में प्राप्त होती है उसे स्वतंत्र कर्ता के रूप में राष्ट्र नहीं प्राप्त कर सकता। राष्ट्रीय चरित्र का अभिप्रकाशन भी नागरिकों के द्वारा ही हो सकता है। राष्ट्रीय चरित्र का कोई समझ में आने योग्य यदि अर्थ हो सकता है तो यही हो सकता है कि राष्ट्रविशेष के अधिकांश नागरिकों का चरित्र। किन्तु, इस राष्ट्रीय चरित्र के साधारणीकृत सिद्धान्तों के आधार पर यदि हम व्यक्तिविशेष के चरित्र के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करेंगे तो बहुत भ्रम भी हो सकता है। राष्ट्रीय चरित्र कोई स्वयंसंस्थित तात्त्विक

१. Spengler, "Nations are neither linguistic nor political nor biological but spiritual (seelische) unities."

२. S. Madariaga, Englishmen, Frenchmen, Spaniards.

३. वृत्तिसारूप्यमितरत्र। वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः। प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः। योगसूत्र, १।४-६।

वस्तु नहीं है जिसका आनुपातिक प्रकाशन प्रत्येक नागरिक के द्वारा होता है। दूसरी बात यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि राष्ट्रीय चरित्र कोई सनातन वस्तु नहीं है। यदि मेगास्थनीज, फाहियान, अलबेरुनी, बाबर आदि के, भारतीयों के विषय में लिखे गए विचारों का, हम अनुशीलन करें तो हमे मालूम पड़ता है कि जिस प्रकार राष्ट्रीय चरित्र परिवर्तित होता है। यह भी संभव है कि राष्ट्रीय चरित्र के सम्बन्ध में हम जो धारणा बनाते हैं उसके निर्माण में हमारे वैयक्तिक अनुभवों का बहुत बड़ा हाथ है। यदि किसी विदेश में हम जाते हैं और हमारे अनुभव मीठे हुए तो हम उस देश के चरित्र के सम्बन्ध में बहुत अच्छी धारणा बना लेते हैं। कभी-कभी स्वार्थाश्रित होकर भी धर्मप्रचारक दूसरे देश के निवासियों के विषय में अत्यन्त भ्रान्त धारणाएँ फैलाते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोपीय पादरियों ने एशियावासियों की अज्ञानता और भद्दे-पन के विषय में जो गलत बातें पश्चिम में प्रचारित की हैं, उसका दण्ड अब भी एशियावासियों को अपने पश्चिम प्रवास के काल में चुकाना पड़ता है। यह भी विचारणीय विषय है कि राजनीतिक क्रान्ति के फलस्वरूप जातियों और राष्ट्रों के चरित्र में विस्मयकारी रूपान्तर हो जाता है।[१] मुस्तफा कमाल के सुधार-आन्दोलन के पूर्व तुर्क लोग प्रायः किस्मत में विश्वास करते थे। कमाल की राजनीतिक उपलब्धियों ने तुर्की के निवासियों में आत्मविश्वास का संचार कर दिया। साम्यवादी क्रान्ति ने रूस और चीन की जनता में आशावाद तथा आत्मनिर्भरता का जादू-भरा मंत्र फूँक दिया है। महात्मा गाँधी के आगमन के पूर्व भारतीय जनता पर भय का सार्वत्रिक साम्राज्य था। गाँधीजी के आन्दोलन ने देश में नूतन निर्भीकता का व्यापक संचार कर दिया, अतः राष्ट्रीय चरित्र को कोई अव्यक्त कूटस्थ चिर एकरस वर्तमान सत्ता नहीं समझना चाहिए। अधिकांश नागरिकों का चरित्र बाह्य घटनाओं और अनुभवों के आधार पर बदलता रहता है। किन्तु, इतना निश्चित है कि धार्मिक विश्वासों का राष्ट्रीय चरित्र पर, प्रभाव पड़ता है। यदि धर्म निराशावाद है, वैराग्यवाद, मायावाद, आदि की शिक्षा देता है तो जागतिक दृष्टि से कर्त्तव्यहीनता मनुष्यों में आ जाती है। भौगोलिक शक्तियों का भी राष्ट्रीय चरित्र पर प्रभाव पड़ता है। समुद्र के पास रहने वाली जातियाँ अधिक बहादुर और भयों का सामना करनेवाली होती हैं। किन्तु, विचारणीय प्रश्न है कि राष्ट्रीय चरित्र के विषय में ठोस ज्ञान प्राप्त करना बड़ा कठिन है। विश्व-इतिहास के अध्ययन से इसका अच्छा ज्ञान होता है। सामाजिक शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित पद्धतियों का उपयोगकर कुछ विश्वासनीय सामग्री एकत्रित हो सकती है।

१. तुलनीय, N. G. Chernyshevsky, Differences in National Character, Selected Philosophical Essays, पृष्ठ २२०–२५६

किन्तु, राजनीतिक और आर्थिक स्वार्थों के पोषण में तथा घृणा और द्वेष से प्रभावित होकर एक देश में अपने स्वाभाविक शत्रु-देश के निवासियों के लिए जो धारणाएँ प्रचलित रहती हैं उनमें से अधिकांश भ्रमपूर्ण और असत्य रहती हैं। फ्रांस के विषय में जर्मनी-निवासियों का और जर्मनी के विषय में फ्रांसनिवासियों का निर्णय कदापि प्रामाणिक नहीं हो सकता है, भले ही कुछ लेखक इसके अपवादस्वरूप हों। युद्ध के समय में तो राजनीतिक दृष्टि से, अत्यन्त घृणास्पद बातों का प्रचार, शत्रुगण किया करता है : अतः बड़े संयम और विवेकबुद्धि के आधार पर ही राष्ट्रिय चरित्र के विषय में निर्णय बनाना शास्त्रीय पद्धति होगी।[१] अशास्त्रीय आधार पर निर्णय बनाने के दुष्परिणाम में हेगेल के ग्रंथ--'फिलासफी ऑफ हिष्ट्री' के उन हिस्सों में मिलता है जहाँ उसने एशियावासियों के चरित्र के सम्बन्ध में अत्यन्त गलत और घृणित आरोप किये हैं।

जिस प्रकार राष्ट्रीय चरित्र के सम्बन्ध में निर्णय बनाने में सावधान रहना है, उसी प्रकार राष्ट्रवादी युग में इतिहास के अध्ययन में। राष्ट्रवाद की भावना मनुष्य को कभी-कभी अशास्त्रीय कार्यों को करने के लिए प्रेरित करती है। जो शास्त्रीय निरपेक्षता तथा संतुलन बुद्धि थुसीडिडिस के प्रसिद्ध यूनान के इतिहास में मिलती है, शनः-शनः वह आधुनिक इतिहास-ग्रंथों में लुप्त होती जा रही है। प्रथम विश्वमहासमर के विषय में यदि एक ओर हम अँगरेज इतिहासकारों के ग्रन्थों का अध्ययन करें और दूसरी ओर जर्मन इतिहासकारों का, तब हमें महान् अन्तर दीख पड़ता है। चर्चिल और हिटलर तथा स्टालिन के व्याख्यानों का तुलनात्मक अध्ययन हमें बताता है कि एक ही घटना की व्याख्या में कितना जबर्दस्त अन्तर हो सकता है। असत्य के साथ समझौता करना, राष्ट्रवाद के आध्यात्मिक रूप का उग्र तिरस्कार होते हुए भी आज जगत् में वह जोरों से फैला हुआ है। इतिहास में सचमुच क्या घटनाएँ घटीं, इनका पता लगाना अत्यन्त कठिन होता जा रहा है। इस घोर बर्बरता की अवस्था में इतना ही कहा जा सकता है कि संस्कृति तथा मानवहितवाद की रक्षा के लिए मानव को राष्ट्रवाद का विशाल नैतिक स्वरूप समझना ही होगा। असत्य एक ऐसा खेल है, जिसे एक से अधिक आदमी खेल सकते हैं। अन्धभावावेश से ग्रस्त होकर

१. स्प्रिंगर और बावर राष्ट्रीय चरित्र को राष्ट्र का एकमात्र विशिष्ट आवश्यक तत्त्व मानते हैं। द्रष्टव्य, R. Springer, The National Problems तथा O. Bauer, The National Question and Social Democracy. इनके विचारों की आलोचना के लिए Joseph Stalin, Marxism and the National and Colonial Question-पृष्ठ ६-१३।

इतिहास की उलटी-सीधी व्याख्या करने से राष्ट्र को अपने वास्तविक गुण-दोष का पता नहीं चलता है और इस प्रकार अन्ततः हानि ही उठानी पड़ती है। इतिहास को सत्य प्रकाशित करना चाहिए। इसका यह मतलब नहीं है कि किसी प्रकार देशविशेष को दैवी चैतन्य का सर्वश्रेष्ठ वाहक और अप्रतिम चेतनासम्पन्न तत्त्व सिद्ध किया जाय।

राष्ट्रवाद एक आधुनिक विचारधारा है। हमने मानव-हृदय में वर्तमान आत्मातिक्रमणात्मक वृत्ति में इसका जन्म माना है। यद्यपि इस प्रकार इसका उद्गमस्रोत सर्वदा वर्तमान था, तथापि जिस रूप में हम आज राष्ट्रवाद को देख रहे हैं उसका यह स्वरूप नूतन है। प्राचीन मानवों के कबीलों में रक्ताधार सम्बन्ध स्थापित थे। प्राचीन जातियों म जन्म के आधार पर प्रसूत एकता की भावना बड़ी महत्त्वपूर्ण थी। प्राचीन-काल में जब सुरक्षा के साधन विकसित नहीं थे, उस समय जातियों और कबीलों को जीवन-संघर्ष में विजय प्राप्त करने में इस प्रकार की रक्ताश्रित एकता की भावना से बड़ी सहायता मिलती थी। जिन जातियों को यह विश्वास था कि उनका मूल रक्त एक है वे एक साथ मिलकर युद्ध करती थीं। ऋग्वेद में अनेक 'जनों' के युद्धों का वर्णन आता है।[१] उत्तरवेदकाल में रक्ताश्रित जनवाद की कल्पना शिथिल होने लगी। साम्राज्यवाद के विकास से छोटे-छोटे जनपदों का अन्त हो गया। और छठी और पाँचवीं शताब्दी ईस्वी पूर्व में फिलीस्तीन, फारस और भारत में ऐसे

१. ऋग्वेदकालीन 'राष्ट्र'-सम्बन्धी विचारधारा के लिए निम्नलिखित मंत्र विचारणीय हैं:---

आ त्वाहार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वावाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्॥
इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलिः।
इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय॥
इमामिन्द्रो अदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा।
तस्मै सोमो अधि ब्रवत्तस्मा उ ब्रह्मणस्पतिः।
ध्रुवाद्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे।
ध्रुवं विश्वमिदं जगद् ध्रुवो राजा विशामयम्॥
ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम्।
ध्रुवं ध्रुवेण हविषाभि सोमं मृशामसि।
अथो त इन्द्रः केवलीर्विशो बलिहृतस्करत्॥ (ऋग्वेद, १०।१७३)

धार्मिक सुधार उत्पन्न हुए जिन्होंने छोटे-छोटे क्षेत्र की सीमा का अतिक्रमण करनेवाले और मानववाद को ध्यान में रखनेवाले संदेशों का प्रचार किया। इस प्रकार राजनीतिक साम्राज्यवाद के विस्तार (विशेषतया मिस्र, बाबुल, असीरिया, भारत आदि में) तथा व्यापक मानववादी और मानव-कल्याणवादी धार्मिक और नैतिक आन्दोलनों के फलस्वरूप जनपदवाद का प्रभाव प्रायः समाप्त हो गया। फारस में स्थापित साम्राज्यवाद तथा मसीडोनिया और रोम के साम्राज्यवाद ने प्राचीन साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति को और वर्धित किया, दूसरी ओर ईसाइयत की शिक्षाओं से भी व्यापक मानवतावाद का पोषण हुआ।

यूनान और रोम में राष्ट्रवादी भावना का अभाव था। यूनान में तो अत्यन्त छोटे-छोटे नगर-राज्य थे। सारे यूनान में व्याप्त देश-राज्य वहाँ कदापि नहीं बन सका। दूसरी ओर दास-प्रथा के उग्ररूप में वर्तमान रहने के कारण समस्त निवासियों में एक व्यापक 'वयम् भावना' का यूनान में विकास नहीं हो सका। किन्तु, राष्ट्रवाद के अभाव में भी यूनानी नगरों में एक सामष्टिक चैतन्य की भावना मिलती है। मध्ययुग विश्व-नगरवाद का युग था।[१] एक ओर जर्मनी का सम्राट् रोम के साम्राज्य में वर्तमान शांति की पुनरपि व्यवस्था कर यदि मानव जाति पर नहीं तो कम-से-कम यूरोप भर में अपना एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित करना चाहता था। दूसरी ओर इटली का पोप लोकोत्तरवाद का आधार लेकर अपना धार्मिक साम्राज्य मजबूत करना चाहता था। इन दो साम्राज्यवादी शक्तियों के संघर्ष से यूरोप का मध्ययुग भरा हुआ है। उस समय सामन्तवाद का उग्र प्रचलन था। राजकीय और आर्थिक क्षेत्र में तो सामन्तवाद वर्तमान था ही, चर्च का संगठन भी न केवल रोम के साम्राज्यवाद की पद्धति से प्रभावित था, अपितु सामन्तवादी प्रथा की पद्धतियों का आश्रय ले रहा था। सामन्तवाद नागरिकों के सामाजिक स्तर में जबर्दस्त प्रभेद पर आधारित है[२]। राष्ट्रवाद एक व्यापक भावना है। व्यापक सांस्कृतिक और आध्यात्मिक चैतन्य से आपन्न जनसमूह में सामाजिक स्तरों को यथासाध्य कम करना ही राष्ट्रवाद का महान् ध्येय है। अतः फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के पैगम्बरों ने राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ समानता और भ्रातृत्व का भी नारा लगाया था। सामन्तवाद तथा राजनीतिक धार्मिक साम्राज्यवाद की

१. विश्वनगरवाद=Cosmopolitanism. L. T. Hobbouse तथा Ludwig Stein ने Cosmopolitanism और Internationalism में अन्तर बताया है; द्रष्टव्य Barnes (सम्पादित) Introduction to the History of Sociology पृष्ठ ४१४-६४८।

२. Edward Jenks, The State and the Nation.

वर्तमानता ने यूरोपीय मध्ययुग में राष्ट्रवाद का विकास नहीं होने दिया। भारतीय मध्ययुग में मुसलमानों के आगमन से यहाँ के निवासियों में इस बात का व्यापक चैतन्य तो अवश्य जाग्रत हो गया कि वे एक धार्मिक वर्ग हैं तथा अन्य धार्मिक वर्गों से भिन्न हैं। धार्मिक सामूहिकता, जहाँ तक स्वधर्मावलम्बियों का प्रश्न था और धार्मिक पार्थक्य, जहाँ तक अन्य-धर्मावलम्बियों का प्रश्न था, इन दो व्यापक भावनाओं का प्रकृष्ट प्रकाशन तो अवश्य मध्यकालीन भारत में था, किन्तु इनके आधार पर तथा अन्य दृष्टियों से भी एकता का आश्रय लेकर व्यापक राष्ट्रीय चैतन्य का ज्ञापन और स्वतंत्र राज्य तथा सरकार की माँग करना, ये बात उस समय नहीं थीं। वर्णग्रस्त समाज में सामूहिक राष्ट्रवाद का प्रकाशन संभव नहीं था क्योंकि राष्ट्रवाद के द्वारा व्यक्ति केन्द्रीय एकता, अन्य आंशिक एकता के पोषक सिद्धान्तों से सामंजस्य नहीं स्थापित करने देती है। जब इसलाम और ईसाइयत में मध्ययुग में युद्ध हो रहा था उस समय भी धार्मिक सामष्टिकता की भावना प्रत्येक पक्ष में वर्तमान थी, तथापि ईसाइयत की शिक्षा को माननेवाले लोगों में उस समय राष्ट्रवाद की भावना नहीं व्याप्त हुई थी।

आधुनिक राष्ट्रवाद का विकास चौदहवीं, पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में हुआ। स्पेंगलर होली रोमन साम्राज्य के संस्थापक ओटो महान् को जर्मनी में राष्ट्रवाद का जन्मदाता मानता है[१]। किन्तु यूरोपीय मध्ययुग में राष्ट्रवाद अभी विकसित नहीं हो

Spengler: Decline of the West II पृष्ठ १७८-१८५; "In the West, nations of the Faustian type emerge, more and more distinctly, from the time of Otto the Great (936-973), and in them the primitive peoples of the Carolingian period are quickly dissolved. Already by A. D. 1000 the man who mattered most were every where beginning to sense themselves as Germans, Italians, Spaniards, Frenchmen; .... The people-form of this culture is founded, like its Gothic architecture and its Infinitesional calculus upon a tendency to the Infinite, in the spatial as well as the temporal sense.... Classical history was for classical eyes only a chain of incidents leading from moment to moment; Magian history was for its members the progressive actualization in and through mankind of a world-plan laid down by God, and

रहा था। मैं राष्ट्रवाद उस आध्यात्मिक वृत्ति को कहता हूँ जो मनुष्यों में एकता का संचार कर उन्हें अपना निजी राष्ट्र बनाने की प्रेरणा करती है। होली रोमन साम्राज्य में अनेक राष्ट्रों का निवास था। अतः स्पेंगलर की कल्पना हमें ऐतिहासिक दृष्टि से असंगत मालूम पड़ती है। आधुनिक राष्ट्रवाद को अनुप्राणित करनेवाली वृत्ति अपने मौलिक और आधारभूत स्वरूप में वही है जो कभी यूनानी राज्य में 'भातृत्व' या सामष्टिक चैतन्य के रूप में, कभी मनु के 'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः' के रूप में तथा कभी धार्मिक संगठनों के 'वयम् स्याम पतयो रयीणाम्' में उद्घोषित 'वयम् भावना' आदि के द्वारा युग-युग में व्यक्त होती रही है। संक्षेप में यह आत्मातिक्रमणात्मिका वृत्ति है। तथापि आधारभूत वृत्तिगत साम्य के बावजूद भी आधुनिक राष्ट्रवाद, प्राचीन संघभावना और सजातभावना की अपेक्षा अधिक व्यापक है। प्राचीन काल की अपेक्षा आज सामाजिक नानामुखता और आर्थिक स्वार्थों का वैविध्य बहुत अधिक बढ़ा हुआ है और इस कारण एक राष्ट्र-राज्य की सीमा में उनका सामंजस्य प्राप्त करना कठिन हो रहा है। प्राचीनकाल की सजातभावना का प्राणात्मक और जैविकीय आधार था।[१] राष्ट्रवाद का मूल आधार ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक चैतन्य है जो संस्कृतिनिष्ठता और सामष्टिकता के सहारे अपना अभिप्रकाशन करता है। प्राचीनकालीन सजातभावना अथवा मध्ययुगीन धर्मभावना का राजनीतिक अभिव्यक्तिकरण जनपदों, नगरराज्यों और साम्राज्यों के द्वारा होता था। आधुनिक राष्ट्रवाद तत्तक

---

accomplished between a creation and a eataclysm; but Faustian history is in our eyes a single grand willing of conscious logic, in the accomplishment of which nations are led and represented by their rulers. It is a trait o race.... But the races of the West are not the creators of the great nations, but their result.... The Renaissance, whose historical horizon was that of the urban patriciate, led the nation as far out of the path of self-fulfilment as it is possible to imagine.... The 'nation', like every other grand symbol of the culture, is intimately the cherished possession of a few.... A nation is humanity brought into living form."

१. प्राणात्मक=Vital
जैविकीय=Biological

अपनी तर्कणात्मिका परिणति संप्राप्त नहीं समझता, जबतक वह संप्रभुतासम्पन्न राज्य के द्वारा अपना प्रकाशन न करे। राजनीतिक संप्रभुत्व ही राष्ट्रवाद की पूरी अभिव्यक्ति कर सकता है, यही आज प्राय: तीन सौ वर्षों के यूरोपीय इतिहास का मूलमंत्र है। दूसरी ओर आज राष्ट्रवाद के कारण जो व्यापक जन-जागरण हुआ है, वैसा राजनीतिक दृश्य मानव-इतिहास में अभूतपूर्व है। एशिया के विशाल देश आज राष्ट्रवाद के आधार पर अपना संगठन कर रहे हैं और लगातार चार सौ वर्षों से जो राजनीतिक नेतृत्व पश्चिमी देशों का पूर्णाधिपत्यस्थ रहा है उसमें हिस्सा बँटाना चाहते हैं। अतः सामष्टिक चैतन्य की जिस कल्पना का वेदकालीन भारत तथा पाँचवी और चौथी शताब्दी ईसवी पूर्व के यूनान में विकास हुआ था उसकी परिणति की प्राप्ति में संप्रभुतासम्पन्न जनतासंकल्पनिष्ठ राज्य एक प्रशस्त ऐतिहासिक अवस्था है।

राष्ट्रवाद की विकासधारा में हम तीन युगों का निर्देशन कर सकते हैं:—

(क) १७८९ के पूर्व का राजवंशाश्रित राष्ट्रवाद।

(ख) १७८९ के बाद का यूरोपीय राष्ट्रवाद।

(ग) एशिया और अफ्रिका का राष्ट्रवाद।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति के पूर्व राष्ट्रवाद मुख्यतः राजवंशों के प्रति भक्ति में व्यक्त हो रहा था। सोलहवीं शताब्दी से यूरोप में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का जन्म हुआ। व्यापक विनिमय और विशालोत्पादनजनित परिग्रह का पोषक पूँजीवाद आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा के लिए राजवंशों पर आश्रित था। अन्य देश के मध्यवर्गीय पूँजीपतियों की प्रतियोगिता से अपनी रक्षा करने के लिए देशस्थ पूँजीपतियों ने राष्ट्रवाद को पुष्ट करने में अपनी शक्ति अर्पित की है। तथापि राष्ट्रवाद को पूँजीवाद का प्रतिफल या आंशिक परिणामभूत मानना अपूर्ण कल्पना है। राष्ट्रवाद का जन्म हृदय में स्वभावजात आत्मातिक्रमण की मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक वृत्ति में होता है। सांस्कृतिक और ऐतिहासिक चैतन्य का आधार पाकर यह वृत्ति मूर्तिमती होती है। अनेक उदाहरण ऐसे देखे गए हैं जब राष्ट्रवादिनी वृत्ति का, अपने स्वार्थ में, आर्थिक और राजनीतिक वर्ग ने फायदा उठाया है। अनेक देश के पूँजीपतियों ने अपने आर्थिक स्वार्थ को पुष्ट करने के लिए देश की सुरक्षा के खतरे का नारा लगाकर जनता की वृत्ति को उत्तेजित करने का यत्न किया है। संयुक्त राज्य अमरीका के पूँजीपतियों ने दक्षिणी अमरीका के देशों में अपना स्वार्थ पुष्ट करने के लिए इस नीति का प्रयोग किया है।[१] किन्तु

१. Charles A. Beard, The Idea of National Interest; S. F. Bemis, The Latin American Policy of the United States.

केवल अर्थपति ही इस प्रकार का स्वार्थ साधन नहीं करते हैं। अनेक राजनीतिक दलों ने इस नीति का आश्रय लिया है। जर्मनी, इटली और रूस के अधिनायकवादी दलों ने इस नीति को अपनाया है। किन्तु, मानव-हृदय की किसी भी सहज वृत्ति के इस प्रकार के दुरुपयोग के अनेक उदाहरण मिलते हैं। मानव-हृदय में प्रेम की वृत्ति स्वाभाविक है, उसका भी दुरुपयोग या स्वार्थपूर्ण प्रयोग होता है। किन्तु, स्वार्थपूर्ण प्रयोग, स्वार्थियों द्वारा तद्वृत्ति को प्रजनित नहीं सिद्ध करता है। उसी प्रकार पूँजीवादियों द्वारा राष्ट्रवाद के मन्त्र का आह्वान यह नहीं सिद्ध करता है कि पूँजीवाद के परिणामस्वरूप राष्ट्रवाद उत्पन्न हुआ है। राष्ट्रवाद का मूल आधार प्राचीन और हृदयसंस्थित है। इस हार्दिक वृत्ति का सम्प्रसारण भी पूर्णतः संभव है। कह सकते हैं कि मानव-हृदय में स्वभावनियत जिस सामष्टिकता की, प्राचीन और मध्यकालीन नगर-राज्यों, संघों और साम्राज्यों के द्वारा अभिव्यक्ति होती थी, आज उसी का मूर्तरूप राष्ट्रभावापन्न राज्य है और भविष्य में उसकी प्रकाशन अन्तरराष्ट्रीयवाद और मानववाद के द्वारा होगा।

राजवंशाश्रित राष्ट्रवाद के रूप यूरोप में दीख पड़ते हैं। इंगलण्ड के लोगों की जैसे—ट्यूडर, कुछ अंशों तक स्टुअर्ट तथा हनोवेरियन सम्राटों के प्रति जो अनुरक्ति थी, प्रशिया के लोगों की जो भक्ति होहेनजौर्लेन राजाओं के प्रति थी, तथा रूस के रोमानोफ सम्राटों का जो आदर होता था वह राष्ट्रवाद के राजवंशाश्रित स्वरूप का प्रकाशक है। आधुनिक जापान में जो राजभक्ति व्यक्त हुई थी उसका मूल आधार यही था कि जनता राजा को अपनी राष्ट्रभावना का केन्द्रित दिव्यरूप मानती रही है। किन्तु फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समय से राष्ट्रवाद राजवंश का पल्ला छोड़कर क्रमशः जनवादात्मक होने लगा, यद्यपि इटली के राष्ट्रीय उन्नयन में सावोया का राजवंश और जर्मनी के राष्ट्रीय उत्थान में होहेनजार्लेन राजवंश का महत्त्वपूर्ण प्रभाव था। फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने राष्ट्रवाद का रूप बहुत अंश तक राजनीतिक बना दिया था। अठारहवीं शताब्दी में राष्ट्रवाद मानवतावाद से प्रभावित था। इसका लक्ष्य था शांति की प्राप्ति।[१] किन्तु, फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बाद यह विचार दृढ़ता से प्रचारित हुआ कि युद्ध का सहारा लेकर भी राष्ट्रवाद का पोषण करना चाहिए। अब तक राष्ट्रवाद भावना को प्रभावित करनेवाला एक सन्देश था। अब वह युद्ध में जाने के लिए उत्साहित करनेवाला एक नारा बन गया। इस महान् परिवर्तन के अनेक कारण थे।[२]

१. Hayes, Evolution of Modern Nationalism, पृष्ठ १०४।

२. Boehm, 'Nationalism', Encyclopaedia of the Social Sciences.

वोल्टेयर और रूसो की सामाजिक और राजनीतिक विचारधारा ने संशयवाद, तर्कवाद और भावनावाद को प्रश्रय दिया था। उसके फलस्वरूप परम्पराप्राप्त राजवंशानुरक्ति के स्थान पर तर्कसंसिद्ध जन-संप्रभुतावाद को मानव-भावना में प्रतिष्ठित करने में बहुत सुविधा रही। अब जनवादाश्रित उस राष्ट्रवाद का विकास हुआ जो समान राष्ट्रधर्म समस्त मनष्यों को एक ही छत्र के अन्दर ले जाने का अभिलाषी था। और इस प्रकार राजवंश की संप्रभुता के बदले जन-स्वातंत्र्य की नींव दृढ़ हुई। फ्रांस की राज्यक्रांति ने यद्यपि मानव-भ्रातृत्व का संदेश घोषित किया, तथापि इससे देशस्थ मानवों के प्रति भ्रातृत्व ही संवर्धित हुआ। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति ने वर्गवाद के विरोध में जबर्दस्त बगावत की। वर्गविशेष और स्थानविशेष का राजनीतिक और आर्थिक प्रभुत्व अब समाप्त होने लगा। राष्ट्रीय झंडा, राष्ट्रीय नारा, जन शिक्षा-प्रसार आदि के सहारे इसने राष्ट्रवादी भावना को प्रशस्त किया और राष्ट्रीय आत्मविनिर्णय के सिद्धान्त के आधार पर क्रान्तिवादियों ने आविगनन, सावोया, नीस, वेलजियम आदि को स्वायत्त कर लिया।

१८१५ ई० में वीयना के कांगरेस ने राष्ट्रवाद की उपेक्षा करने का यत्न किया। किन्तु, मेटरनिक तथा रूसी जार आदि के नेतृत्व में संस्थापित 'होली एलायंस' तथा 'क्वाडरुपल एलायंस' के बावजूद भी राष्ट्रवाद विकसित होता रहा। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में राष्ट्रवाद का सम्बन्ध उदारवाद से था।[१] उदारवाद का तात्पर्य था शनैः-शनैः राजशक्ति पर नियंत्रण। उदारवाद आर्थिक दृष्टि से पूँजीवाद का समर्थन करता था। किन्तु, १८४० के बाद से समाजवाद का विकास होने लगा। यद्यपि १८४८ की यूरोपीय क्रान्ति असफल रही, तथापि इसने व्यक्त कर दिया कि आर्थिक प्रश्न अब पूर्ण महत्त्व धारण कर रहे थे। समाजवाद के विकास के साथ-साथ आर्थिक, वैज्ञानिक और दार्शनिक क्षेत्र में यथार्थवाद को प्रश्रय प्राप्त हुआ। समाजवाद ने, मार्क्स और एंगल्स के नेतृत्व में भावनावाद, कल्पनावाद और धर्मवाद के विपरीत इतिहास की वर्गसंघर्षमूलिका व्याख्या उद्घोषित की। डार्विन के विचारों और उन विचारों से निकाले गये सामाजिक निष्कर्षों ने भी इस यथार्थवादिनी दृष्टि को मजबूत किया। इस यथार्थवाद का उग्रतम राजनीतिक रूप बिस्मार्क की नीति में प्रकट हुआ। १८४८ ई० की क्रान्ति के फलस्वरूप, जर्मनी की समस्याओं का समाधान निकलने के लिए फ्रांकफोर्ट परिषद् बुलाई गई थी। उसकी असफलता ने बिस्मार्क को, जर्मनी के राजनीतिक उत्थान के लिए प्रशिया के शस्त्रबल को ही प्रधानता देनी पड़ेगी, इस विचार का पूर्ण समर्थक बना दिया। बिस्मार्क के नेतृत्व में जर्मनी को एक सशस्त्र राष्ट्र बनाने के लिए तीन युद्ध

१. Hayes, Evolution of Modern Nationalism.

किये गये। जर्मनी इनके फलस्वरूप एक शक्तिशाली राष्ट्र तो अवश्य हो गया, किन्तु इस उग्र यथार्थवाद का परिणाम यूरोपीय सभ्यता के लिए अत्यन्त भयंकर हुआ। राष्ट्रवाद के पीछे जो अध्यात्मवाद था अब वह घोर स्वार्थवाद से पूर्णतः आच्छादित हो गया। इटली भी इसी काल में एक राष्ट्र बना। इसके राष्ट्रीय निर्माण में, काबूर, विक्टर इमैनुवेल आदि ने धार्मिक पैगम्बर मेजिनी की शिक्षाओं को तिरस्कृत कर मैकियावेली की कूटनीति का आश्रय लेकर राष्ट्रवाद को एक राजनीतिक दाव-पेंच का सूत्रमात्र बना डाला। जनता के संकल्प और चैतन्य का निर्मल सन्देशवाहक बनने के बदले, अहम्मन्य राजनीतिज्ञों के उग्रवादी मन्तव्य का पोषकमात्र राष्ट्रवाद रह गया।[१] अमरीका के भयंकर गृहयुद्ध ने भी राष्ट्रवाद के ऊपर खून की मुहर लगा दी। १८७० ई० से यूरोप में एक नूतन साम्राज्यवाद का जन्म हुआ जो आर्थिक राष्ट्रवाद का विस्तारमात्र था। राष्ट्रवाद का नैतिक और आध्यात्मिक रूप और भी इससे तिरोहित हो गया। अब राष्ट्रीय सम्पत्ति तथा राष्ट्रीय उत्पादनशक्ति को, राष्ट्रवाद का नारा बुलंद कर, बढ़ाना ही आर्थिक नीति का उद्देश्य हो गया। देश की सुरक्षा के

१. Our modern western nationalism has an ecclesiastical tinge; for while in one aspect it is a reversion to the idolavtrous self-worship the tribe which was the only religion known to Man before the first of the "higher religions" was discovered by an oppressed internal proletariat, this western neo-tribalism is a tribalism with a difference. The primitive religion has been deformed into an enormity through being power-driven with a misapplied Christian driving-force. The Golden Calf--or Lion or Bear or Eagle, or whatever the tribal totme may happen to be--is being worshipped in our world today with an intensity of feeling and a singleness of mind which ought not to be directed by human souls towards any god but God Himself. And it is not surprising to find that we have been propitiating these blasphemously idolized tribal deities with the human sacrifices which they relish and exact--Arnold J. Toynbee, A Study of History.

लिए आर्थिक दृष्टि से पूर्णतः आत्मनिर्भर तथा अपराश्रित रहना आवश्यक माना जाने लगा। किन्तु, यद्यपि जर्मनी, इटली तथा अमरीका में रक्ताश्रित उग्रराष्ट्रवाद का उदय हुआ और यद्यपि आर्थिक स्वार्थों के पोषण के फलस्वरूप आर्थिक साम्राज्यवाद को प्रश्रय मिला तथापि राष्ट्रवाद के कुछ अच्छे परिणाम भी इस काल में व्यक्त हुए। ब्रिटेन और अमरीका में प्रजातंत्र के पोषक के रूप में राष्ट्रवाद व्यक्त हुआ। राष्ट्रवाद का यह तार्किक निष्कर्ष माना गया कि राष्ट्रभावापन्न समस्त नागरिकों को आत्मशासन का अधिकार मिलना चाहिए। अतः इस विचार ने अमरीका और ब्रिटेन के अभिजात-वर्ग द्वारा स्वायत्त शासनतंत्र को जनता के अधिकार में ले आने का दार्शनिक आधार प्रस्तुत किया। जब कुछ स्थानों में राष्ट्रवाद की भावना राष्ट्र को अभिव्यक्त करने-वाली शक्तियों के हाथ में नई ताकत प्रदान कर रही थी, उस समय राष्ट्रवादाश्रित जन-जागरण का मन्त्र बड़ा कल्याणकारी सिद्ध हुआ।

एशिया और अफ्रिका में राष्ट्रवाद के उत्थान से राष्ट्रवाद एक विश्वशक्ति बन गया। उन्नीसवीं शताब्दी के पहले एशियाई देशों में सांस्कृतिक एकता का चैतन्य तो अवश्य वर्तमान था, किन्तु उसका कोई राजनीतिक रूप नहीं था। भारत में भी हिन्दू जनता को यवनों तथा मुसलमानों के समक्ष, अपनी धर्माश्रित एकता का परिज्ञान अवश्य था, किन्तु उसको राजनीतिक रूप नहीं प्राप्त था, अर्थात् हम हिन्दू हैं अतः इस धार्मिक एकता के कारण हमारा एक स्वतंत्र राज्य होना चाहिए, इस प्रकार का चैतन्य नहीं था। चीन में, सारा चीन चीननिवासियों का है और वे एक राष्ट्र हैं, इस प्रकार की भावना नहीं पाई जाती थी। पश्चिमी देशों के साथ जब एशिया का सामना हुआ तब इसी क्रिया-प्रतिक्रिया में राष्ट्रवाद का उदय एशिया में हुआ। इसमें जापान का अग्रस्थान और नतृत्व स्वीकार करना होगा। १९०४–१९०५ के युद्ध में रूस को हराकर जापान ने न केवल एक पश्चिमी देश का मद चूर्ण किया, अपितु बंगाल के स्वदेशी आन्दोलन के जन्म को भी भावनात्मक बल प्रदान किया। फारस के तथा तुर्की के राष्ट्रीय आन्दोलन पर भी जापान के विजय का प्रभाव पड़ा। इस समय के एशियाई देशों के राष्ट्रवाद पर धार्मिक पुनरुद्धार का प्रभाव भी स्पष्ट है। भारत और मिस्र में धार्मिक पुनरुद्धार बड़ा शक्तिशाली था, यद्यपि चीन और जापान का राष्ट्रवाद किसी धार्मिक प्रेरणा से अनुप्राणित नहीं था। बीसवीं शताब्दी में एशिया में भी प्रचण्ड राष्ट्रवाद फैल गया है। इसी राष्ट्रवाद के आन्दोलन के फलस्वरूप भारत को सैकड़ों वर्षों के व्यवधान के बाद फिर स्वतंत्रता मिली है। चीन की राज्यक्रान्ति जो सन् १९११ में हुई और जिसकी पूर्णता १९२७ में हुई वह भी राष्ट्रीय भावना के परिणामस्वरूप ही थी। चीन की

साम्यवादी क्रान्ति में, आर्थिक प्रश्नों का विशेष हाथ रहते हुए भी, राष्ट्रवाद उग्रता के साथ पुष्ट हुआ है। यद्यपि मिस्र देश म राष्ट्रवादी आन्दोलन उन्नीसवीं शताब्दी में ही प्रारम्भ हो गया था, तथापि अफ्रिका के अन्य देशों में राष्ट्रीय भावना का विकास बीसवीं शताब्दी में ही मुख्यतः हुआ है। अभी अफ्रिका का राष्ट्रीय आन्दोलन कमजोर है, किन्तु आशा की जा सकती है कि अगले कुछ वर्षों में वहाँ भी राष्ट्रवाद मजबूत होगा और यूरोपीय साम्राज्यवाद का वहाँ शीघ्र पतन होगा। एशियाई देशों की स्वतंत्रता से अफ्रिका के देशों को नूतन अभिचेतना और नवीन आत्मविश्वास प्राप्त हुए हैं।

आज उग्र राष्ट्रवाद का जमाना ह।[१] आज जनता और उसके स्वयं विघोषित नेताओं का ऐसा विश्वास है कि शायद स्वर्ग को पार्थिव स्तर पर लाने में इसी का मुख्य हाथ रहेगा। इस राष्ट्रवाद की उग्र परिणति जर्मनी और इटली के तानाशाही अधिनायकवाद में हुई है। वर्णश्रेष्ठता पर आधारित प्रचण्ड साम्राज्य-स्थापिनी शक्ति का संग्रह कर हिटलर ने उन कुकृत्यों को किया जिनके कारण आज अपने को राष्ट्रवादी कहना अपमानसूचक माना जा सकता है। राष्ट्रवाद का इस प्रकार का युद्ध के लिए उत्तेजना प्रदान करनेवाला रूप इसी कारण विकसित हो सका, क्योंकि १८७० ई० के बाद से यूरोपीय श्वेतांग जातियाँ अपने को एशिया और अफ्रिका के निवासियों का ईश्वर द्वारा स्थापित संरक्षक मान बैठीं। साम्राज्यवाद विश्व-इतिहास में एक प्राचीन आन्दोलन है। प्रायः ३००० ई० पूर्व में सेमिटिक संस्कृति को माननवाली जातियों का परिभ्रमण आरम्भ हुआ और प्रायः २१०० में इन जातियों ने बाबुल में अपना साम्राज्य स्थापित किया। प्रायः २००० ई० पूर्व में आर्यभाषाभाषी जातियों का परिभ्रमण आरम्भ हुआ और मिस्र, बाबुल तथा एशिया के अन्य देशों में इन लोगों ने अपना साम्राज्य कायम किया। मगध ने उत्तरी भारत में और अशोक के समय में दक्षिणी भारत में भी अपना साम्राज्य कायम किया। एशिया के एक बड़े भूभाग पर इसलाम का साम्राज्य सातवीं और आठवीं शताब्दी में कायम हुआ। मंगोल जातियों ने चीन और रूस के बड़े भूखण्ड पर अपना आधिपत्य जमाया। तुर्की का साम्राज्य भी बहुत वर्षों तक एशिया और यूरोप के कुछ हिस्सोंको अपने वश में रख सका। किन्तु, सोलहवीं शताब्दी से यूरोपनिवासियों ने जिस उपनिवेशवाद को जन्म दिया है उसमें व्यावसायिक प्रवृत्तियों की बड़ी प्रधानता रही है[२]। प्रायः १८७० ई०

१. Fichte, "A nation cannot disperse with arrogance", उद्धृत Treitsehe, Politics I पृष्ठ २८४ में।

२. Lenin, Imperialism, Hobson, Imperialism ; N. Bukharin, Imperialism and World Economy ; Moon, Imperialism

में यूरोप में वित्तीय पूँजीवाद का विकास हुआ और इस कारण यूरोप में एक नया साम्राज्यवाद का जन्म हुआ। विज्ञान, यांत्रिकता और पूँजी के आधार पर निर्मित यह साम्राज्यवाद, प्राचीन और मध्यकालीन राजनीतिक साम्राज्यवाद से भिन्न था। १८७० ई० के बाद के पूँजीवाद-संश्लिष्ट साम्राज्यवाद में आर्थिक प्रवृत्तियों का आधिपत्य था। इस साम्राज्यवाद के मूल में, देशस्थ पूँजीपतियों की, अपने व्यापार को बढ़ाने की, जबर्दस्त अभिलाषा वर्तमान थी। प्रथम और द्वितीय विश्व-महासमर में राष्ट्रवाद के अहंकारदूषित होकर साम्राज्यवाद को समर्थित करने का उदाहरण मिलता है। किन्तु, तथापि प्रथम विश्वमहासमर को वित्तीय पूंजीवादजनित साम्राज्यवाद का प्रतिफल मानना लेनिन का भ्रम है। आर्थिक आधारों पर स्थापित साम्राज्यवाद विश्वमहासमर का एक महान् कारण अवश्य था, किन्तु एकमात्र कारण नहीं। फिर भी, हम इतना मानते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में राष्ट्रवाद ने अपना विनाशकारी रूप ही यूरोप के इतिहास में विशषतया प्रदर्शित किया है।

किन्तु, विनाश के इस इतिहास ने हमें एक नूतन चैतन्य भी प्रदान किया है। राष्ट्रवाद के आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थों से दूषित हो जाने के कारण, अनेक विचारक और राजनीतिज्ञ बड़ी गम्भीरता से अन्तरराष्ट्रीयता का सन्देश प्रचारित कर रहे हैं। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र तो मानव के नैतिक और आध्यात्मिक चैतन्य का पोषक होने के कारण यदि एक ओर सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का समर्थक है तो दूसरी ओर व्यापक अन्तरराष्ट्रीयवाद का। आज ब्रिटन, फ्रान्स तथा हालैण्ड का साम्राज्यवाद राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त पस्त और कमजोर है। इस साम्राज्यवाद के पंजों से जो देश मुक्त हुए हैं वे अन्तरराष्ट्रीयवाद के समर्थक हैं। किन्तु, आर्थिक कमजोरी के कारण वे अपना पूर्ण प्रभाव विश्व-राजनीति के रंगमंच पर व्यक्त नहीं कर पाते हैं।

अन्तरराष्ट्रियवाद एक मनोवैज्ञानिक आर्थिक और राजनीतिक आन्दोलन का रूप धारण कर लेता है। जहाँ तक इसके मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक आधार का सम्बन्ध है, यह एक प्राचीन विचार है। जगत् के प्रायः समस्त धर्मग्रन्थों में मानव-मात्र की समानता का विचार दीख पड़ता है और ऐसा विचार पाया जाता है कि समस्त मानव जाति का कल्याण होना चाहिए[1]। ऋग्वेद, भगवद्गीता, बायबिल, तथा

and World Politics; Schuman, International Politics. Morgenthau, Politics among Nations; J. A. Schumpeter, Imperialism and Social classes (न्यूयार्क १९५१).

१. वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदं स च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥

सिसेरो के ग्रंथों में, इस आशय के विचार पाये जाते हैं[१]। आधुनिक युग में काण्ट ने भी इस आध्यात्मिक आधार का समर्थन किया है[२]। जब नैतिक चेतना और बौद्धिक तर्कणा का परिवहन मानव कर सकता है तब कोई कारण नहीं है कि मानव मात्र को समानरूप से कल्याणभागी क्यों न बनाया जाय। कुछ राष्ट्रवाद के आध्यात्मिक समर्थकों का ऐसा प्रस्ताव था कि यद्यपि मानवतनधारी अनेक जन वर्तमान हैं तथापि समस्त मानवता को एक ही सूत्र में बाँधने के लिए जिस व्यापक चैतन्य की आवश्यकता है उसका अनेक लोगों में अभाव है[३]। किन्तु, मैं ऐसा मानता हूँ कि शनैः शनैः मानवता का चैतन्य अब जगत् में परिव्याप्त हो रहा है। मानव-चैतन्य की प्राप्ति के निमित्त यह अपेक्षित नहीं है कि यांत्रिक सभ्यता का प्रभूत विकास हो। यदा-कदा

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। (यजुर्वेद, ३२,८,१०
स वेदे तत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्। (मुण्डकोपनिषद्)
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥ (यजुर्वेद ११।५)

१. "Nationalism, taking the place of religion, is as diversified in its manifestations and aspirations, in its form and even its substance as religion itself....yet in all its diversities it fulfils great task--giving meaning to man's life and justifying him noble and ignoble passions before himself and history, lifting him above the loneliness and futilities of his days, and endowing the order and power of Government, without which no society can exist, with the majesty of true authority....(But) nationalism is only a passing form of integration, beneficial and vitalizing, yet by its own exaggeration and dynamism easily destructive of human liberty....From Jerusalem to Athens shine also the eternal guiding stars which lift the age of nationalism above itself, pointing forward on the road to deeper liberty and to higher forms of integration....Hans Kohn, The Idea of Nationalism.

२. Kant, Perpetual Peace.

३. Bosanquet, Philosophical Theory the State (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ ३२८-३२९।

साम्राज्यवादी देशों के दार्शनिकगण एशिया और अफ्रिका के निवासियों से अपना वैलक्षण्य स्थापित करने के लिए ऐसा मानते हैं कि प्राच्य देशों में मानवता और स्वतंत्रता का पूर्ण विकास नहीं हुआ है। किन्तु, एशिया की विशाल धर्मभावापेत संस्कृति हमें बताती है कि मानवमात्र के अन्दर नैतिक चैतन्य वर्तमान है। उसका विकास किया जा सकता है और उसके आधार पर मानव के व्यवस्थित अन्तरराष्ट्रीय संगठन का निर्माण हो सकता है। आज यांत्रिकता के विकास ने देश और काल के व्यवधान को कम कर यह संभव बनाया है कि एक विश्वव्यापक राजनीतिक संगठन बन सके। यूनान के अम्फिक्टियोनिक लीग आदि संगठनों की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि यांत्रिक उन्नति के अभाव में उस समय किसी विशाल संगठन को चलाना असंभव था। किन्तु, विज्ञान और यांत्रिकता की अभूतपूर्व उन्नति ने कम-से-कम अन्तरराष्ट्रीय संगठन के बाह्य आकार-प्रकार को स्थापित करना सरल बना दिया है। आर्थिक प्रश्नों ने भी जगत् को एक बनाने में योगदान किया है। आर्थिक व्यवस्था, मुद्रानीति, साख, बंक-प्रथा आदि की पेचीदगी ने विश्व को प्रायः एक सूत्र में बाँध दिया है। १९२९–१९३२ के आर्थिक संकट ने बता दिया था कि आर्थिक संजटिलता जगत् में इतनी परिव्याप्त है कि आष्ट्रिया के एक गैरसरकारी बंक के दिवालियेपन ने सारे यूरोप और अमरीका में खलबली मचा दी। विश्व के राष्ट्रवादी अर्थशास्त्री अब शनैः-शनैः अन्तरराष्ट्रीयवाद महत्त्व समझ रहे हैं। दो विश्वमहासमरों ने राष्ट्रीय संप्रभुतावाद की उग्रता के दारुण दुष्परिणामों को जगत् में व्यक्त कर दिया है। अणुबम के आविष्कार से आज मानव-सभ्यता और संस्कृति अत्यन्त भीषण खतरे में हैं। ऐसी भीषण अवस्था में मानवता के त्राण का एक ही उपाय है। जिस विश्वमानवता का संदेश दान्ते, रूसो, काण्ट, मेजिनी, रवीन्द्रनाथ, गाँधी, अरविन्द ने दिया है उसे तो क्रियान्वित करना होगा, नहीं तो एक की ही विनिश्चित परिणाम होगा——महानाश ! आज आध्यात्मिक मानववाद की माँग है कि समस्त विश्व के छोटे-बड़े राष्ट्रों का एक संगठन हो[१]। यह संगठन नियन्त्रण के बल पर नहीं बनाया जा सकता[२]। यादृच्छिकता

१. अन्तरराष्ट्रीयवाद के भ्रमपूर्ण खंडन के लिए द्रष्टव्य, E. H. Carr, Twenty Years, Crisis पृष्ठ १०९ ; मंडन के लिए H. J. Lasky, A Grammar of Politics ; Maciver, The Web of Government, Sri Aurobindo, The Ideal of Human Unity.

२. Quincy Wright, The World Community ; M. Adler, How to Think about War and Peace ; Linden Mander, Foundations of Modern World Society.

ही इसका मूल आधार हो सकती है। यादृच्छिकता का तात्पर्य यह होगा कि सामाजिक और आर्थिक नीति में विभिन्नता को स्वीकार करना पड़ेगा। समाजवाद और पूँजीवाद दोनों साथ-साथ विश्व-राज्य में चल सकते हैं। विभिन्न देशों की गृह-अर्थ-नीति के प्रश्न पर युद्ध करना मूर्खतापूर्ण है। जगत् के विभिन्न धर्मों के सम्बन्ध में यह विश्व-राज्य उदासीन रहेगा अथवा सब के साथ समान नीति का व्यवहार किया जायगा।

राष्ट्रवाद के पीछे जिस मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक वृत्ति का उल्लेख किया गया है, अन्तरराष्ट्रीय वृत्ति उसका तिरस्कार नहीं, अपितु विस्तारमात्र है। आत्मोत्क्रमण की जिस वृत्ति ने कभी परिवार, कभी वर्ग, कभी राष्ट्र आदि के निमित्त स्वार्थत्याग का मंत्र प्रदान किया आज उसकी माँग है कि अन्तरराष्ट्रीय संगठन की स्थापना हो। अन्तरराष्ट्रीयवाद बुद्धिजीवियों, समाजवादियों अथवा धर्मप्रवर्तकों का केवल भावनात्मक संदेश न रहकर व्यावहारिक जगत् में चरितार्थ हो, यही आज आवश्यक है। लीग ऑफ नेशन्स की स्थापना बड़ी आदर्शवादिता के साथ की गई थी किन्तु, लीग को मानव-एकता और शान्ति की व्यवस्था में कृतकार्यता नहीं प्राप्त हो सकी[१]। द्वितीय विश्वमहासमर ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया है। संयुक्तराष्ट्रसंघ को भी अपेक्षित सफलता नहीं प्राप्त हो सकी है क्योंकि, संगठनात्मक कमियों के साथ इसमें राजनीतिक गुटबन्दी पराकाष्ठा को पहुँच गई है[२]। एशिया और अफ्रिका में राष्ट्रवाद का यदि सफल और उचित विकास हुआ, तो इस महान् भूखण्ड को जातिवाद, वर्णवाद, सामन्तवाद आदि की दानवता से त्राण मिलेगा और यहाँ के निवासी राष्ट्र के आध्यात्मिक चैतन्य का अनुभव करेंगे। यदि मानव के नीतिमान् चेतनस्वरूप का ध्यान रखा गया तब एशिया और अफ्रिका को उस दारुण पाशविकतापूर्ण उग्र और घोर राष्ट्रान्धभक्ति से मुक्ति मिल सकती है, जिसने पश्चिमी जातियों के आधुनिक इतिहास को कलुषित किया है। राष्ट्र के चैतन्य का परिज्ञान, अन्तरराष्ट्रीयवाद के विकास और विस्तार में परिवर्धित हो, यही आज की समस्याओं के समाधान के लिए आवश्यक है। मानव अधिकार, स्वतंत्रता, समानता आदि की चरम परिणति स्वातंत्र्याश्रित विभिन्नतानुसेवी विश्वमानव-एकतावाद में होनी चाहिए। इतिहास वेगवान् होकर उसी आदर्श की अभिप्राप्ति के लिए अग्रसर हो रहा है।

१. F. P. Walters, A History of the League of Nations (दो खण्ड) New York १९५२।

२. Hans Kelsen, The Law of the United Nations, L. M. Goodrich and E. Hambro, Charter of the United Nations.

अष्टम अध्याय

अधिकार

अधिकार उन अवस्थाओं या अभ्यर्थनों या स्वतंत्रताओं को कहते हैं जो जनहित के निमित्त कार्यविशेष को निष्पन्न करने के लिए अपेक्षित हैं। अधिकार का वाहक व्यक्ति होता है और किसी मूलभूत विराट् लक्ष्य की परिसिद्धि करने के लिए आवश्यक है कि तन्निम्मित्तक समस्त अभ्यर्थन व्यक्ति के लिए स्वीकृत किये जांय। अधिकारों की मांग चेतन नीतिमान् मानव करता है, समाज उसके अधिकारों का प्रस्वीकरण करता है और राज्य अन्तिम रूप में उन्हें विधिसम्मत बनाता है। राज्य के द्वारा वयक्तिक अधिकारों की प्रस्वीकृति अन्तिम काष्ठा है। यदि व्यक्ति के अधिकार अन्य मनुष्यों अथवा संस्थाओं के द्वारा दबाये गये तब राज्य अपनी शक्ति का प्रयोग कर, हिंसा का माध्यम लेकर भी उनकी रक्षा करेगा। अतः सिद्ध है कि समाज और राज्य के लिए अपेक्षित कर्तव्य व्यक्ति सम्पन्न कर सके, इसके निमित्त, उस कर्तव्य की पूर्ति के मार्ग की अवरोधक अवस्थाएँ नष्ट की जायँ और अनुकूल अवस्थाएँ उत्पन्न की जायँ।

समाज और राज्य के द्वारा अधिकारों का प्रस्वीकरण ही होता है किन्तु, अधिकारों का वाहक कोई व्यक्ति ही हो सकता है। व्यक्ति शब्द का अभी व्यापक प्रयोग हो रहा है। व्यक्ति से तात्पर्य अभी आध्यात्मिक तात्त्विक चेतनासम्पन्न मानव से नहीं है, अपितु इसके कानूनी अर्थ से ह। कानूनी अर्थ में व्यक्ति उसे कहते हैं जो स्वयं अभियोग कर सके या जिस पर अभियोग चलाया जा सके। यदि चलते-चलते मार्ग में किसी व्यक्ति के ऊपर वृक्ष गिर पड़े तब उस वृक्ष पर मुकद्दमा नहीं हो सकता। इस दृष्टि से स्पष्ट है कि चैतन्यहीन वस्तु नहीं, किन्तु मनुष्य ही अधिकार का वाहक हो सकता ह।[१] संस्थाएँ, परिषदें और कम्पनियाँ भी अधिकारवाहिकाएँ हो सकती

---

१. T. H. Green, Lectures on the Principles of Political obligation § 44, "The sense in which 'persons' is used by the Roman lawyers, as--either a complex of rights, or the subject (or possessor) of those rights, whether a single individual or a corporate body. In this sense of the

हैं। कोई वर्गविशेष अधिकारवाहक हो सकता है, जैसे सि को कृपाण धारण करने की सहूलियत प्राप्त है। किसी राष्ट्र को, अन्य राष्ट्रों के मध्य या अन्तरराष्ट्रीय विधि की दृष्टि से अधिकार दिये जा सकते हैं। अतः यदि समाज और राष्ट्र का विश्वास प्राप्त किये विना वयक्ति-अधिकारों की घोषणा स्वेच्छापूर्ण है तो दूसरी ओर पृथक् व्यक्तियों के अतिरिक्त अन्यों को अधिकार देना भ्रामक है।

सामाजिक जगत् पृथक्-पृथक् मनुष्यों की समष्टि है। यह अध्यर्थन और प्रत्यध्यर्थन का जगत् है। यदि जगत् में एक महान् अद्वैत आत्मा ही रहता तो अधिकारों की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु पार्थक्याश्रयी संघर्षों और प्रतिस्पर्धाओं को केन्द्रित, नियमित तथा कल्याणाभिव्यंजक बनाने के लिए राज्य के द्वारा भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के अधिकारों का सामंजस्य करना पड़ता है। राज्य उस प्रकार की संस्था है, जिसमें व्यक्तियों के अधिकारों का अभिज्ञान होता है और ऐसी अवस्था, उत्पन्न करने का प्रयास किया जाता है जिसमें जनसमाज के कल्याण के निमित्त उचित अधिकारों को क्रियान्वित किया जाय। अधिकारच्युत व्यक्ति सम्यक् रूप से अपने व्यक्तित्व का विकास और प्रसारण नहीं कर सकता और इसलिए मानव-कल्याण की विराट् धारा में अपने विलक्षण व्यक्तित्व का योगदान नहीं कर सकता। अपनी अनुभवराशि की समुचित व्याख्या और आलोचना द्वारा, किस प्रकार अन्य अनुभवराशियों से उनका सामंजस्य कर व्यापक कल्याण सिद्ध हो, इसके निमित्त अधिकार अभिवांछित है। अपने व्यक्तित्व के विकास के निमित्त भावना और बुद्धि को युक्त बनाना अभिप्रेत है और इस प्रक्रिया के सहारे ही मानव पूर्ण कल्याण की ओर अपना वैयक्तिक अंशदान कर सकता है। इस प्रकार व्यक्ति के अपेक्षित अंशदान को क्रियात्मक बनाने के लिए अधिकारों की अनिवार्यता है। मानव नीतिमान् चेतन और सामाजिक भावापन्न प्राणी है। अपने उचित आश्रमों और पदों की अपेक्षित मर्यादा का सम्यक् परिपालन कर ही वह अपना विकास और जनसमूह की 'भद्रता' की प्राप्ति कर सकता है[1]। अतः अधिकारों की मांग कृत्रिम, स्वेच्छाचारपूर्ण और अवसरवादात्मक न होकर,

---

word, a man's person is separatable from his individual existence as a man. "Unus homo sustinet plures person as."

१. भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। (यजुर्वेद २५।२१)
नेह भद्रं रक्षस्विने नावयै नोपया उत गवे च भद्रं धेनवे वीराय च श्रवस्यतेऽनहसो व ऊतयः सु ऊतयो व ऊतयः॥ (ऋग्वेद ६।४।६।१२)

अत्यन्त आवश्यक और नैतिक दृष्टि से उपादेय है।[1] केवल शारीरिक बल या सैन्यबल से अधिकार की सृष्टि नहीं हो सकती है। जिसकी लाठी उसकी भैंस, यह कहावत समाज को उन्मूलित कर दे, यदि पूर्ण चरितार्थता इसकी की जाय। पुनश्च, शक्ति-धारक सर्वदा शक्तिधारक नहीं बना रह सकता। कालचक्र में उसको भी परिवर्तन, विनाश आदि से ग्रस्त होना ही पड़ेगा। सीजर की हत्या, नेपोलियन का पराभव और हिटलर की दारुण आत्महत्या इत्यादि से मालूम पड़ता है कि बल से अधिकार नहीं उत्पन्न हो सकता है। विधि, एकता, सामंजस्य, प्रथाएँ, इतिहास की परम्परा, इनके आधार पर ही अधिकारों की उद्घोषणा और उनका निर्वाह हो सकते हैं। संस्कृति की चेतना का यह मतलब नहीं है कि येनकेनप्रकारेण अपनी अपरिमार्जित एषणाओं की उपासना की जाय। बाह्य आवरणों के पीछे वर्तमान विराट् मानव चैतन्य को समझना ही परम पुरुषार्थ है। मानव आत्मा के अधिकारों का परिद्रष्टा स्वार्थ, लोभ और मोह से परे होकर मानवता की पूजा करता है और ऐसी अवस्था में ऊँच और नीच के कृत्रिम विभाजन उसकी आँखों से ओझल हो जाते हैं। औदार्य और सौन्दर्यप्रत्यय के अभिज्ञान का प्रशस्त पथ यही है कि मानवमात्र के अधिकारों का पालन और प्रस्वीकरण हो। मानव की गरिमा का ज्ञान ही विशेष शिक्षा का पर्यवसाय है[2]। स्मरत

---

१ Krause ने अधिकार की यों परिभाषा की है; "Right is the organic whole of the outward conditions necessary to the rational life; Henrical के अनुसार "Right is that which is really necessary to the maintenance of the material conditions essential to the existence and perfection of human personality."

२. Rabindranath Tagore, Sadhna, पृष्ठ ६९-७०: "I am absolutely unique, I am I, I am incomparable. The whole weight of the universe cannot crush out this individuality of mine. I maintain it in spite of the tremendous gravitation of all things. It is small in appearance but great in reality. This is the superstructure of the self which rises from the indeterminate depth and darkness of its foundation into the open, proud of its isolation, proud of having given shape to a single individual idea of the architect's which has no duplicate in the whole universe.

मानव जन्म से ही समान और स्वतंत्र हैं, यदि यह महान् मन्त्र क्रियान्वित हो जाय तो उस दिन संसार की महिमा देखकर देवगण और फरिश्ते भी विजय-दुन्दुभि बजावेंगे। मानव का आत्मा ही, सामाजिक नैतिक और कल्याणकारी प्रवृत्तियों का विलक्षण केन्द्रीकृत रूप प्रस्तुत करता है। प्रबुद्ध मानव के विराट् चैतन्य-प्रसारण से उस ज्योति का विस्तार होता है जो अत्याचार और अनाचार को दग्ध कर, संस्कृति के नैतिक पथ को आलोकित करती है। अतएव, मानव-गरिमा को स्वीकार कर ही अधिकारवाद प्रस्फुटित हो सकता है। मानवमात्र को जीवन, स्वातंत्र्य और सुरक्षा का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। अनेक शताब्दियों तक दास-प्रथा के कृत्यों और काले कारनामों से इतिहास कलंकित रही है। आज हमने इस सत्य को स्वीकार कर लिया है कि मानवमात्र समान हैं। किसी भी व्यवहार और आचरण से मानवता को कलंकित करना भयंकर अपराध है। मानव-गरिमा के माहात्म्यपूर्ण प्रस्फुटन के लिए अपेक्षित है कि मानव के शरीर, सम्मान, एकान्तवास, परिवार और गृह के पावित्र्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया जाय। इसी अवस्था में मानव का आध्यात्मिक विकास हो सकता है और उसकी अन्तश्चेतना का उत्कर्ष विदित हो सकता है। किन्तु, इस महान् उद्देश्य की सिद्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि नीतिमान् चेतन मानव पारस्परिक भ्रातृत्व और समानता का व्यवहार करें।

मानव-अधिकारों की अभिव्यंजना करने में हमें उन समस्त धार्मिक और ऐतिहासिक विचारकों और आन्दोलन-कर्ताओं का ऋण स्वीकार करना है जिन्होंने मानव-स्वातंत्र्य और मानव-गरिमा का संदेश दिया है। भगवद्गीता में कहा है कि समस्त प्राणियों में परमचैतन्य का निवास है। धम्मपद में तपस्या, अप्रमाद और अनभीप्सा का संदेश देकर मानव की क्रूर वृत्तियों के उपशमन का संदेश मिलता है। बायबिल में मनुष्य के देवपुत्र होने का प्रकथन मिलता है। चीन देश के महात्माओं ने भी सामाजिक प्रेम का उपदेश दिया। पेरिक्लिज का एतिहासिक व्याख्यान मानव सामाजिक और राजनीतिक स्वातंत्र्य के उद्घोषण में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मध्यकाल में, यूरोप में, प्राकृतिक कानून या नैसर्गिक विधि का विचार व्यक्त हुआ जो राजकीय व्यवस्था को एक अतिमानव नियंत्रण में रखने का संदेश देकर इस विचारधारा का जन्मदाता हुआ कि साम्प्रतिक सरकार पर कुछ विशिष्ट नियंत्रण अवश्य हैं। अमरीका में इस नैसर्गिक विधि के विचार ने संविधान के अतिशय महत्त्व को प्रश्रय दिया, क्योंकि संविधान, सामयिक सरकार की इच्छा से महत्तर स्थान ग्रहण करता है। मानव-अधिकारों

The universal is ever seeking its consummation in the unique."

के निमित्त युद्ध करने में मार्ग्नाकार्टो, पेटिशन ऑफ राइट, रक्तहीन क्रान्ति, अमरीका और फ्रांस की राज्यक्रान्ति, अमरीका का गृहयुद्ध, महात्मा गांधी का सत्याग्रह आन्दोलन आदि का प्रशस्त हिस्सा रहा है। संयुक्त राष्ट्र की साधारण सभा ने १० दिसम्बर १९४८ को मानव-अधिकारों का घोषणापत्र स्वीकृत कर मानव-इतिहास में एक बड़ा कल्याणकारी प्रयास किया है।

अधिकार कोई बाह्य पदार्थ या वस्तु नहीं है, मानव-मन म वर्तमान यह एक भाव या सम्बन्धज्ञान है। यह एक भावात्मक विचार है तथापि, स्पष्ट वस्तुनिष्ठ क्रियाओं के द्वारा इसका प्रकाशन होता है। इसको भावात्मक कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि इसके महत्त्व का अल्पीकरण किया जा रहा है। भावात्मक कहने का तात्पर्य यही अ कि इसकी पदार्थमूलक तात्त्विक सत्ता नहीं है। मानव-मन इसका संस्थान है और इस प्रकार के मनस्संस्थित अधिकार का ही मानव के सामूहिक उत्कर्ष में महान् गौरव है। अतिरंजित दण्ड या बल को भी दबाने और संयमित करने में इन्हीं अधिकारों का विशेष हाथ है। अधिकारों का जन्म मानव-आत्मा में होता है। समष्टिनिमित्तक कर्तव्यशीलता की प्रक्रिया में ही मानव अन्तरात्मा में उन साधनों तथा अवस्थाओं का उदय होता है जिनको लक्ष्य-सिद्धि के निमित्त वह आवश्यक मानता है। जब समूह भी उन साधनों और अभ्यर्थनों की वांछनीयता का प्रस्वीकरण कर लता है तब उन्हें विधिसम्मत रूप प्राप्त होता है। अतः स्पष्ट है कि अधिकारों के नैतिक और विधिसम्मत दो रूप हैं। मानव जब अधिकारों की माँग प्रस्तुत करता है तब वह यह बताता है कि उसके आत्मिक विकास के लिए वे आवश्यक है और अत समाज से उनके स्वीकरण की वह माँग करता है। अधिकारों का जन्म इस प्रकार नैतिक वातावरण में होता है। किन्तु, इस नैतिकता को तर्क-संगत और विज्ञानसम्मत बताना होता है। अर्थात् यह सिद्ध करना होता है कि इतिहास या सामाजिक सत्ता की जो विकासधारा है, उसमें ये नैतिक अधिकार अनुसंगत और सम्बद्ध हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जब मानव अपने नैतिक अधिकारों को विधिसम्मत रूप देने की याचना करता है तब वैज्ञानिक और तार्किक दृष्टि से वह यह सिद्ध करता है कि उसके अधिकार उसके आत्मिक विकास के लिए तथा सामूहिक कल्याण के लिए अपेक्षित हैं और साम्प्रतिक परम्परा से जो भद्रता क्रियान्वित की जा रही है उसका वे भंग नहीं करते और यदि भंग करते हैं तो इन नूतन अधिकारों से जो संसंजनात्मिका शक्ति परिचालित होगी, वह भग्न भद्रता से अधिक महत्त्वपूर्ण है।[1] इस प्रकार हम

१. तुलनीय, Rabindranath Tagore, Sadhna, पृष्ट ८३: "Society is an organism, of which we as parts have our individual

देखते हैं कि अधिकारों के तार्किक, नैतिक और विधिसम्मत रूप म बहुत बड़ा सम्बन्ध है। जिस प्रकार ऋतु और प्राकृतिक शक्तियों (चन्द्र, सूर्य आदि) की गति को देखकर जागतिक ऋतु और सनातन नियम का बोध मनुष्य को हुआ था उसी प्रकार वैयक्तिक और सामूहिक अभ्युदय के निमित्त वर्तमान मानव-हृदय की कल्याणकामिता से ही अन्ततोगत्वा नैतिक अधिकारों का परिज्ञान होता है।

अधिकार साधन हैं। मानव जीवन के और राजनीति के क्या साध्य हैं, इनका निर्णय दर्शनशास्त्र और नीतिशास्त्र के द्वारा ही किया जा सकता है। यूनानियों ने शीलसाधना को परम-लक्ष्य माना था, उपयोगितावादी अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख इस मंत्र का उपदेश करते हैं, मार्क्सवादी वर्गविहीन साम्य का राग अलापते हैं, गांधीवादी राम-राज्य की दुहाई देते हैं तथा अन्य लेखक सामान्यहित, तर्कसंगत हित या सामान्य इच्छा का सन्देश देते हैं। भारतीय राजनीतिशास्त्र में धर्म-पालन ही महान् लक्ष्य माना गया है। किन्तु, लक्ष्यवैविध्य में किसी एक महान् उद्देश्य का निर्वाचन करना, हमारी ऐतिहासिक परम्परा और हमारे नैतिक आदर्शों के ऊपर निर्भर करेगा। किन्तु, जो भी लक्ष्य हम अपने सामाजिक और राजकीय जीवन के लिए स्थापित करेंगे उनकी सिद्धि के लिए व्यक्तियों का अधिकार-निर्देश करना पड़ेगा। किन्तु, स्मरण रखना है कि 'विराट् श्रेयों की प्राप्ति' के अनक साधनों में से अधिकार एक अन्यतम साधन है। उदाहरणार्थ, स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए, संविधान म मूल अधिकारों की घोषणा ही पर्याप्त नहीं है। स्वतंत्रता की प्राप्ति के निमित्त, सर्वविध नैतिक और आध्यात्मिक अभ्युदय तथा आर्थिक प्राचुर्य और राजनीतिक सुरक्षा अभिवांछित है। किन्तु, अधिकार-निर्देश लक्ष्यसिद्धि में एक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण अंग है, क्योंकि लक्ष्यनिमित्तक चैतन्य की सत्ता का वह बोध कराता है। मानव के मन में, और सामाजिक संस्थाओं तथा राजकीय अधिकारियों के द्वारा ही, अधिकार की चेतना और उसका स्वीकरण संभव है। किन्तु वस्तुतः अधिकारों का साफल्य मानव के नैतिक विकास पर ही संभव है। उदाहरणार्थ, विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से पुस्तक लेने का अधिकार विद्यार्थी

wishes. We want our own pleasure and licence. We want to pay less and gain more that anybody else. This causes scramblings and fights. But there is that other wish in us which does its work in the depths of the social being. It is the wish for the welfare of the society. It transcends the limits of the present, and the personal. It is on the side of the infinite.

को है, किन्तु इस अधिकार के द्वारा अपेक्षित मानसिक विकास और प्रसारण, विद्यार्थी के चैतन्य, सतत क्रियाशीलता और विद्या के द्वारा सामूहिक कल्याण की सिद्धि करने की क्षमता पर आश्रित है।

प्राचीन शास्त्रों में राजनीतिक और सामाजिक अधिकारों की विवेचना नहीं प्राप्त होती है। लोककल्याण के लिए अपेक्षित गुणकर्मस्वभाव नियत कर्मों को करना ही गीता के अनुसार महान् पुरुषार्थ है। यूनान में अधिकार के लिए कोई निश्चित शब्द नहीं पाया जाता है। प्राचीन यूनान में वैयक्तिक चेतना का उदय नहीं हुआ था। दास-प्रथा की वर्तमानता और उसका मनोवैज्ञानिक समर्थन इस बात का द्योतक है कि मानवात्मा के स्वातंत्र्य और अधिकार की कल्पना अभी उत्पन्न नहीं हुई थी। रोमवासियों के कानूनशास्त्र में समय अर्थात् इकरार के स्वातंत्र्य का वर्णन आता है। कानूनी दृष्टि से यह समय-स्वातंत्र्य विधिसम्मत अधिकारवाद पर आश्रित है। समय बनाने का स्वातंत्र्य, अव्यक्त रूप से अन्य अधिकारों का जन्मदाता बन जाता है। जष्टीनियन के 'इन्सटिच्यूट' के अनुसार न्याय या कानून या अधिकार के तीन आदेश हैं; (क) अपने आश्रम या पद की मर्यादा के अनुसार जीवन-यापन (ख) दूसरों के आश्रम या पद पर आघात नहीं पहुँचाना और (ग) वस्तुतः और विशेषतः दूसरों के आश्रम या पद तथा अधिकारों का सम्मान। इससे स्पष्ट है कि अल्पांश में ही सही, अधिकार-वाद का बीज रोम में पड़ गया था।

आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के उदयकाल में कुछ विचारकों और कुछ राजाओं ने यह घोषणा की कि नरपति का अधिकार ईश्वरप्रसूत या ईश्वरप्रदत्त है और किसी का भी उनकी अवमानना करना न केवल अपराध है अपितु पाप भी है[१]। इस दैवी अधि-कारवाद की प्रतिक्रिया में बड़े ही वेग से नैसर्गिक अधिकारवाद का सिद्धान्त उपस्थित किया गया। सरकार जनमत और जनसम्मति पर आश्रित है और जो राज्य और सरकार इस आधार को खो दे, उसके विपरीत जनक्रान्ति होनी चाहिए, इन विचारों को नैसर्गिक अधिकारवाद से बड़ा प्रश्रय मिला। प्रकृति या निसर्ग शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। वेदान्त के अनुसार प्रकृति ब्रह्म की क्रियात्मिका शक्ति है। गीता में ईश्वर की परा और अपरा प्रकृतियों का उल्लेख आता है। हेगेल के मत में प्रकृति परम चैतन्य का अन्यीकरण है। विज्ञान, समस्त दृश्य वस्तुओं की आधारभूत मूल प्रकृति की कल्पना उपस्थित करता है। समाजशास्त्रवेत्ता और मानवोत्पत्तिशास्त्रज्ञ कभी-कभी प्रकृति और सभ्यता में अन्तर करते हैं। मानव की बुद्धि ने जिन वस्तुओं

---

१. W. Barklay, *De regno et regali Potestate*, James I, *True Law of Free Monarchies*.

का निर्माण और विकास किया है, वे सभ्यता के अन्तर्गत हैं। इसके विपरीत स्वभावतः संस्थित वस्तुओं को प्रकृति कहते हैं। यूनान में प्रकृतिवाद और प्रथावाद के सम्बन्धों का निर्णय किया जाता था। कुछ विचारक कानून को मनुष्यनिर्मित तथा कृत्रिम मानकर प्रकृति के अनुसार चलने का आदेश देते थे। किन्तु यूनानी दर्शन में प्रकृति उस महान्प्राणात्मक तत्त्व का वाचक है जो वस्तुओं में अनुस्यूत रहे, उनका नियमन कर पूर्ण परिपाक को प्राप्त कराता है। प्रकृति का विशदीकरण यूनानियों के मतानुसार अन्तिम विकास की अवस्था में होता है। बीज की प्रकृति वृक्ष है, बच्चे की प्रकृति का पूर्णतम निदर्शन विकसित संत अथवा कुशल राजनीतिज्ञ है। प्रकृति या निसर्ग की इन विभिन्न कल्पनाओं का अधिकारवाद पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। हाब्स के अनुसार इच्छासम्पूर्त्ति की शक्तियों का नाम प्रकृति है। मुख्यतः हाब्स शक्तिवाद का घोर पुजारी कल्पित किया जाता है। किन्तु, ध्यान में रखना चाहिए कि आत्मरक्षा के नैसर्गिक अधिकार का उसने प्राक् समाजावस्था में और समाज में भी पूर्ण समर्थन किया है। लॉक का कहना है कि प्राक् समाजीय अवस्था से ही मनुष्य को जीवन, स्वातंत्र्य और सम्पत्ति का नैसर्गिक अधिकार है। राज्य की स्थापना इन अधिकारों को सुरक्षित करने के लिए की गई है। यदि कोई सरकार इन पूर्वतः प्राप्त अधिकारों की रक्षा नहीं कर सकती तो उसको हटा देने का भी अधिकार मनुष्य को है। अपने 'कला और विज्ञान' तथा 'असमानता का उद्भव' नामक ग्रंथों में प्रकृति के नाम पर रूसो ने छद्मवेषधारी सभ्यता का खंडन किया। किन्तु, 'सामाजिक अनुबंध' नामक पुस्तक में रूसो ने यह बताया कि नैसर्गिक अधिकार समाज के द्वारा नागरिक अधिकार में रूपान्तरित कर दिये जाते हैं। एक अर्थ में रूसो प्राकृतिक अधिकारवादी है, क्योंकि उसका मन्तव्य है कि मनुष्य जिस बात की स्वीकृति स्वयं देता है, उसी से वह बँध सकता है, अन्य किसी वस्तु से नहीं। यद्यपि नैसर्गिक अधिकारों का समाज या सामान्य इच्छा के द्वारा प्रस्वीकरण हो जाने पर वे अधिकार सामाजिक या नागरिक हो गये और उनका प्राकृतिक आधार समाप्त हो गया तथापि फ्रांस की राज्यक्रान्ति के नेता जो रूसो के विचारों से बहुत प्रभावित थे, उसे प्राकृतिक अधिकारवाद का समर्थक ही मानते थे।

मनुष्य को सामाजिक प्राणी मूलतः मान लेने से प्राक्समाजीय या प्राक्राजकीय अवस्था की वह कल्पना ही निराधार हो जाती है जो नैसर्गिक अधिकारवाद का मूल आधार है। मनुष्य को मूलतः सामाजिक मानकर ही डेविड ह्यूम ने इस विचारधारा का खंडन किया है। किन्तु, निसर्ग के इस प्राक्समाजीयतासूचक मन्तव्य का खंडन करते हुए भी हम दार्शनिक अर्थ में नैसर्गिक अधिकारवाद का समर्थन कर सकते हैं।

निसर्ग या प्रकृति की कल्पना ने मानव-हृदय में आदर्शवाद को जन्म दिया है। जो कुछ सामाजिक या राजकीय जगत् में वस्तुस्थिति है, वह आदर्शानुकूल बने, चाहे वह आदर्श आध्यात्मिक या वैज्ञानिक नियम पर आश्रित हो, इस प्रकार के विचार का प्रवर्तन करने में नैसर्गिक अधिकारवाद का ऋण स्वीकार करना चाहिए। प्रकृति से हम सरलता, तर्कसंगतता, आदि का अर्थ भी लेते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जहाँ भी शक्ति का प्राबल्य है, जहाँ कृत्रिमता और पेचीदगी है, वहाँ सत्य, न्याय, समानता आदि का प्रवेश कराना, अधिक तर्कसंगत है। इस अर्थ में अधिकतम मात्रा में सर्वविदित साधारण और तर्कसंगत नियमों का सामाजिक जगत् में अनुप्रवेश नैसर्गिक अधिकारवाद की माँग है। इस अर्थ में बाह्यावरणवाद या वेद की भाषा में 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्', के विपरीत ऋत या आर्जव का स्थापन प्राकृतिक अधिकारों के अनुकूल है। आजकल कानूनी पेशे के विस्तार ने मानवता के साथ जो खिलवाड़ किया है, वह सर्वविदित है। पैसे की माया में आबद्ध हो, किस प्रकार उन उपायों का, जो किसी भी सभ्य समाज में वर्जित होने चाहिए, आश्रय लेना न्यायोचित समझा जा सकता है, इसका नग्न रूप कानूनी पेशेवालों के व्यवहार में दीख पड़ता है। अतः सत्य का अनुसरण करनेवाले प्लेटो और गाँधी ने ऐसा उपदेश किया कि कानून की पेचीदगी का तिरस्कार कर प्रशस्त सरल मार्ग का अनुवर्तन होना चाहिए।[1] मूलभूत तर्कसंगत, सर्वकल्याणकारी नियमों के अनुसरण का उपदेश देकर प्राकृतिक अधिकारवाद अमरीका तथा फ्रांस की राज्यक्रान्तियों का बीजप्रद पिता सिद्ध हुआ। अतएव यद्यपि प्राचीन मानव के सम्बन्ध में, नैसर्गिक अधिकारवाद की स्थापनाएँ अत्यन्त असिद्ध हैं, तथापि इसमें कुछ विशिष्ट दार्शनिक महत्त्व की बातें भी हैं। अतएव, यदि निसर्ग या प्रकृति शब्द का अर्थ प्राक्समाजीयता न कर ऋत या सत्पथ या नैतिक नियम किया जाय तो इसे राजनीति-शास्त्र में अब भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो सकता है।

नैसर्गिक अधिकारवाद का एक दूसरे अर्थ में भी हम समर्थन कर सकते हैं। नैसर्गिक अधिकार उन अधिकारों की संज्ञा है जो मानव के उचित स्वभाव का प्रकटीकरण करने के निमित्त आवश्यक हैं। मानव-आत्मा में निहित समस्त शक्तियों का सम्यक् विकास और विशदीकरण हो सके इसके लिए जिन अधिकारों की उपादेयता है उन्हें हम नैसर्गिक अधिकार कहते हैं। मानव, प्रकृति के साथ संघर्ष में विजयी होकर एक सामंजस्यपूर्ण वातावरण उपस्थित कर सके, इसके निमित्त उसको कुछ आवश्यक अधिकार चाहिए। जब कोई जनसमूह प्रशान्त महासागर के साथ या एवरेस्ट के साथ

1. Plato, Republic महात्मा गाँधी, हिन्दी-स्वराज।

युद्ध करने को चलता है तब समाज या राज्य की ओर से उसके लिए कुछ विशेष सुविधाओं की व्यवस्था कर दी जाती हैं। इस प्रकार की अन्य विशिष्ट सहायता पाने का अधिकार समस्त तत्त्वचिंतकों को है। प्राकृतिक शक्तियों के साथ संघर्ष कर ही आज उस विभूतिपूर्ण समृद्ध सभ्यता का विकास किया गया है जो दस हजार वर्ष पूर्व के मानव के लिए पूर्णतः कल्पनातीत थी। अतएव मानव स्वभाव की चेतनात्मक और नीतिपरक समस्त अन्तर्निहित शक्तियों के पूर्णतम परिमाक की प्राप्ति के लिए आवश्यक सुविधाओं और अधिकारों को पाना मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र मानव को स्वतः ही साध्यभूत तथा अधिकारवाहक मानता है। आत्मा का विकास मानव का परम कर्तव्य है। मानव की मानवता की क्रियात्मक चरितार्थता हो सके, इसके लिए अधिकारप्राप्ति मानव को अवश्य करानी होगी। अतएव, प्राक्सामाजिक अवस्था का ऐतिहासिक दृष्टि से खंडन करते हुए भी, हम ऐसा विश्वास करते हैं कि प्राकृतिक संघर्ष में विजय और मानव-शक्ति तथा स्वभाव के उत्कर्ष के निमित्त प्रत्येक मनुष्य को कुछ नैसर्गिक अधिकार अपेक्षित हैं। इस प्रकार के नैसर्गिक अधिकारवाद का समर्थन मानव को साध्य मानने की अनिवार्य उपपत्ति है। यदि एक ओर तो हम मानव को साध्य मान और उसके आत्मिक विकास का आदेश दें, और दूसरी ओर यह भी मानें कि कोई भी पार्लियामेण्ट या कांगरेस, सही और गलत तरीकों से सदन में (अल्पसंख्या के द्वारा भी अर्थात् केवल कुछ ही अधिक मतों को प्राप्त कर) बहुमत प्राप्त कर उन अधिकारों को कुचल सकती है, तो इसे हम विरोधाभास मानते हैं। यद्यपि अमरीका में, सत्रहवीं-अट्ठारहवीं शताब्दी के समान, आज कोई नैसर्गिक अधिकारवाद का समर्थन नहीं करता है तथापि, अमरीका के संविधान में अधिकारों को, साधारण कानून-निर्माण-प्रक्रिया से हटाकर, एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया है। जब किसी संसद् की इच्छा हो, अधिकारों को कुचलने का प्रयास वह दलीय शक्ति के आधार पर नहीं कर सकती है। अधिकारों को संसद् के सदस्यों की मर्जी पर छोड़ना, बहुत भारी भ्रम है। इंगलैण्ड का उदाहरण कोई सवव्यापक नियम नहीं बना सकता। मानव के आत्मिक विकास के नैसर्गिक नियमों को मूलभूत मानने का तात्पर्य यह है कि उन्हें संसदीय भावनात्मक स्वेच्छाचारिता से हम बचाना चाहते हैं। आज शक्तिवाद के भयंकर पेचीदगीपूर्ण चक्रजाल के अवसर पर, जब किसी न किसी खतरे का नाम लेकर शक्तिधर अधिक-से-अधिक शक्ति-संचय करना चाहते हैं, आवश्यक है कि नैसर्गिक अधिकारवाद का संदेश पुनरपि प्रचारित हो। इंगलैण्ड के उदाहरण को, जिसके पीछे १२१५ ई० से लेकर आजतक के वैधानिक संघर्ष का इतिहास है, सार्वत्रिक मानना भूल है। जिसे हम नैसर्गिक अधिकार कहते हैं, भूलना न

चाहिए, उसका दार्शनिक और नैतिक रूप इंगलैण्ड के महान् राजनीतिशास्त्रवेत्ताओं ग्रीन ,वालेस, हाबहाउस ने भी प्रस्तुत किया है।[१] आज जब प्रजातंत्रीय नियोजना के नाम पर या सामाजिक कल्याण के नाम पर राज्य अधिक-से-अधिक शक्ति का केन्द्रीकरण कर रहा है तब यह और भी आवश्यक हो जाता है कि नैसर्गिक अधिकार-वाद का मूल तात्पर्य, मानव की साध्यशीलता के निमित्त उसके स्वभाव का परिपाक करानेवाले अनिवार्य अधिकार, पुनरपि उत्कृष्ट वेग से प्रकटीकृत हों। इस प्रकार के नैसर्गिक अधिकार समाज की दृष्टि से भी परम आवश्यक हैं। इस प्रकार के अधिकार सामाजिक कल्याण को सीमित नहीं करते, अपितु सामाजिक हित को वेगवान् बनाते हैं। ये अधिकार समाजपूर्ववर्ती नहीं हैं किन्तु सामाजिक भद्रता के विकास के साथ मानव-आत्मा में उद्बुद्ध होकर , संस्थाओं में प्रथम प्रकाशित होकर , फिर राज्य का अभिज्ञान प्राप्त करते हैं। नैसर्गिक आधारों का मूलतत्त्व विश्वास, वाणी, धर्म, की स्वतंत्रता तथा विना कारण कारगार या अन्य प्रकार के दण्ड का भागी न होना, राज्य का उचित विरोध करने की स्वतंत्रता--आज मानव-स्वतन्त्रता के विश्व-व्यापक उद्घोषण-पत्र में स्वीकृत हुआ है।[२] अन्तर सिर्फ शाब्दिक है, जिसे हम प्राकृतिक या नैसर्गिक कहते हैं उसे इस घोषणा-पत्र में मानव-अधिकार कहते हैं। तात्त्विक अन्तर दोनों में कुछ नहीं है। अत: यदि प्रकृति या निसर्ग का प्राक्समाजीयता का तात्पर्य छोड़कर भविष्योन्मुखी मानव-स्वभाव या लक्ष्य का परिपाक, तात्पर्य रखा जाय तो प्राय: इनकी आवश्यकता के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकता।

प्राचीनकाल की विचारधारा में कर्तव्यवाद का महान् उत्कर्ष था। नु के अनुसार व्रत का आचरण वैदिक आदर्श था। धर्म शब्द का भी मुख्यत: अनासक्त बुद्धि से अभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिकारक कर्मयोग अर्थ ही उस समय मानव का आदर्श स्वीकृत हुआ था। बायबिल में मूसा के उपदेशों और ईसा के गिरि-प्रवचन में मानव के कर्तव्य कर्मों का उल्लेख मिलता है। बौद्ध धर्म और दर्शन में आर्य आष्टांगिक मार्ग, शील तथा विनय पर बल दिया गया है। किन्तु यूरोपीय पुनरुत्थान तथा वैज्ञानिक बुद्धिवाद के कारण यूरोप में अधिकारवाद जोरों से उद्घोषित हुआ और सर्वत्र व्यक्ति के अधिकारों की चर्चा हुई। राज्यशक्ति, चर्च की शक्ति , समाज की शक्ति निहित और

---

१. T. H. Green, Lectures on the Principles of Political Obligation; William Wallace," Our Natural Rights," Lectures and Essays on Natural Theology and Ethics L. T. Hobhouse, Social Evolution and Political Theory.

२. Universal Declaration of Human Rights.

संगठित शक्ति के विपरीत सर्वत्र प्रतिक्रिया हुई और अधिकारोद्घोषक व्यक्तिवाद प्रचारित हुआ। अमरीकन विचारक टामस पेन ने 'मनुष्य का अधिकार' नामक पुस्तक की भी रचना की।[१] किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में मेजिनी ने इस अधिकारवाद की प्रतिक्रिया में मानव के कर्तव्य का पुनरपि जोरों से प्रचार किया।[२] हमारे देश में भी, जन्मसिद्ध स्वराज्याधिकारवाद के प्रवर्तक तिलक तथा महात्मा गांधी ने कर्मयोग के प्रशस्त मार्ग का ही समर्थन किया।[३] नैतिक आत्मवाद का आश्रय लेकर मानव अपने अधिकार का दावा करता है। वह यह कहता है कि उसके दावे उसके आत्मिक विकास और जनकल्याण के लिए आवश्यक हैं। जब समाज के द्वारा उस अधिकार का स्वीकरण हो जाता है तब इसका मतलब होता है कि समाज के सदस्य उस व्यक्ति के अधिकारों के प्ररक्षण के निमित्त अपने कर्तव्य को समझते हैं। यदि किसी व्यक्ति को रात्रि में रास्ते पर चलने का अधिकार है तब समाज के लोगों का कर्तव्य हो जाता है कि वे उससे छेड़छाड़ न करें और राज्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि यदि कोई व्यक्ति अनावश्यक छेड़छाड़ करता है, तो उन उधम मचानेवाले को दण्ड दे। अतः अधिकार का निश्चित पूरक कर्तव्य है।[४] मानव सामाजिक और राजनीतिक

१. Thomas Paine, The Right of Man.

२. Mazzini, The Duties of Man.

३. तिलक, गीता-रहस्य, महात्मागांधी, अनासक्तियोग और गीताबोध।

४. F. H. Bradley : Ethical Studies पृष्ठ २११–२१३ : "What I have a right to do thus depends on what my duty is ; for duty, emphasized the particular side. Now, where there are no indifferents and no choice between them rights are never wider than duties. It is where indifferents come in that possibility is wider than actuality. And because right emphasizes the side common to all the indifferents, i. e. the undetermined side, it is the therefore wider than duty, which emphasizes the particular side, and hence is narrower. Right is the assertion of the universal. will in relation to the particular will. Duty is the assertion of the particular will in the affirmation of the universal. Good is the identity, not the mere relation of both. Right may be real, may actually exist; or

चेतनासम्पन्न प्राणी है और व्यापक समष्टिकमूलक वृत्तों के प्रति अपने आवश्यक कर्म-योग का पालन करके ही वह अपेक्षित चेतना-प्रसारण प्राप्त करता है। मानव की शक्तियों का विकास समष्टि में ही सम्भव है और इसीलिए आवश्यक है कि वह अपने कर्तव्यों का भी भलीभाँति पालन करे। अधिकार का विषय निधिशास्त्र और राजनीति-शास्त्र का है, किन्तु नैतिक दृष्टि से कर्तव्यों को महत्त्व तभी प्राप्त होता है जब उनमें यादृच्छिकता और कल्याणकामिता का भाव हो। किसी बाह्य नियंत्रण अथवा दण्ड के भय से जो कार्य किया जाता है उसमें बाह्य अनुवर्तित्व तो है किन्तु, नैतिकता का मूल नहीं है। मानव का नैतिक विकास तबतक नहीं हो सकता जबतक आत्मविनिर्णय की प्रक्रिया द्वारा वह अपने कर्तव्यों का चुनाव और उनका पालन नहीं करता। अतः कर्तव्यशास्त्र या कर्मयोगशास्त्र का संबन्ध नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र से है।

अधिकार का मतलब है कि किसी विशिष्ट कर्म का सम्बन्ध मानव के विशाल आत्मा से करना। जब हम किसी कार्यविशेष के करने का अधिकार चाहते हैं तब अपने लिए जो आदर्श हमने निर्धारित किया है, उस व्यापक आदर्शराशि से उस कार्य का सम्बन्ध हम जोड़ते हैं।[१] जब हम किसी कर्तव्यविशेष का पालन करते हैं, तब

be only ideal, merely thought of. So may duty. Rights and duties are only elements in the good; they must go together. The universal cannot be affirmed except in the particular, the particular only affirms itself in the universal; but should be suppressed in the good as anything more than elements, which reciprocally supplement each other, and should not be regarded as two sides to one whole."

१. तुलनीय T. H. Green, Lectures on the Principles of Political Obligation,§ 25: "Only through the possession of rights can the power of the individual freely to make a common good his own have reality given to it. Rights are what many be called the negative realisation of this power. That is, they realise it in the sense of providing for its exercise, of securing the treatment of one man by a other as equally free with himself, but they do not realise it positively, because their possession does not

किसी व्यापक लक्ष्यसिद्धि से उसका सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। उदाहरणार्थ, हम अपने ग्राम के किसी निवासी की सेवा करने में उस सेवाकर्म को देशसेवा के महान् उद्देश्य से संश्लिष्ट कर सकते हैं। इस प्रकार अधिकार और कर्तव्य में गहरा संबंध है। दोनों से जनकल्याण की सिद्धि होती है। सामान्य और व्यापक आदर्श के विना, कर्मों को माहात्म्य नहीं प्राप्त होता ह और विना विशिष्ट कर्मों के आदर्श खोखले रहते हैं। अधिकार का सम्बन्ध मानव के विशाल व्यक्तित्व से है। कर्तव्य, पृथक् कर्मों की संज्ञा है। अधिकार-प्राप्ति से, अन्यों से हम कुछ आशा करते हैं। राम का अधिकार, लक्ष्मण, सोहन आदि का नियंत्रण करता है। कर्तव्य की परिणति आत्मसंयम और वैयक्तिक निरोध में है। अधिकार की प्राप्ति का तात्पर्य ह, कुछ कर्मों को करने की स्वतंत्रता। अतः अधिकार, सामाजिक और राजकीय प्रस्वीकरण की अपेक्षा करता है। कर्तव्य की अन्तिम प्रेरणा उद्बुद्ध आत्मा में वर्तमान कर्मयोगनिष्ठा से मिलती है। कुछ दूर तक नियंत्रण से कुछ कर्म यदि किसी व्यक्ति से करा भी लिये जायँ, तथापि वे यंत्रवत् ही रहते हैं।

अधिकारों की सिद्धि के लिए अधिकारवाहक को भी कर्तव्य करना होता है। अपने विशिष्ट कर्मों के द्वारा ही व्यक्ति को अपने नीतिपूर्ण चैतन्य का भान होता है। जब दूसरे लोगों से अपने अधिकार के नाम पर किसी कर्तव्यविशेष की आशा की जाती है, उस समय यह आवश्यक हो जाता है कि अधिकार से किस प्रकार अपना आत्मिक विकास और सामान्य कल्याण सिद्ध हो रहा है, यह बताया जाय। अधिकार तो निमित्त हैं, उनसे अभिप्रेत लक्ष्यसिद्धि का ज्ञान अवश्य अपने और दूसरों को होना चाहिए। जिस आश्रम में हम हैं, उसके निर्धारित कर्मों का पालन करने के लिए अधिकार की आवश्यकता होती है और अधिकार का पूरक है तन्निमित्त अन्यों के कर्तव्य। सारा समाज इस प्रकार के अधिकार और कर्तव्य के सूत्र से बँधा हुआ हुआ है। इस प्रकार के अधिकार और कर्तव्य उपादेय लक्ष्यों की प्राप्ति के निमित्त, निर्दिष्ट होते हैं। अधिकार का दावा कोई मनुष्य करता है और लक्ष्यसिद्धि के निमित्त उसकी आवश्यकता सिद्ध करता है। कर्तव्य किसी समाज या संस्था को दृष्टि में रखकर पालन किये जाते हैं। इस प्रकार अधिकार और कर्तव्य में गहरा संबंध है। आज की दुनिया में अधिकारवाद का प्रचण्ड प्रचार होता देखकर गांधी जी ने कर्तव्य का उपदेश किया

imply that in any active way the individual makes a common good his own. The possession of them, however, is the condition of this positive realisation of the moral capacity, and they ought to be possessed."

था। अधिकारों का अन्वेषण अनावश्यक अहंकार की सृष्टि कर शक्तियों को विच्छिन्न करता है। अतः गांधी जी ने कहा कि यदि मनुष्य अधिकारवाद का प्रलाप छोड़कर सत्य और अहिंसा का पालन करे तब वह सामाजिक सम्मान और गौरव प्राप्त कर लेता है और विना माँगे उसको अधिकार मिलेंगे। अतएव गांधी जी ने गीता के 'कर्मणि एव अधिकारस्ते' के अनुसार यह कहा कि अपने कर्तव्य के पालन का अधिकार ही एकमात्र अधिकार है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र का ऐसा मन्तव्य है कि अधिकार की पूर्ति के लिए सदाचारपूर्ण कर्तव्यों की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ, हमें सौ वर्ष जीने का अधिकार है, किन्तु इसके लिए तपस्या और संयम का जीवन अपेक्षित है जिसके सहारे अपनी पाशविक प्रवृत्तियों और प्रकृति द्वारा उत्पन्न अवरोधों से हम सफल युद्ध कर सकें। दूसरी ओर हमें, अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य और संस्थानिर्माण का स्वातंत्र्य है, किन्तु इन अधिकारों का सम्यक् उपयोग करने के लिए बड़ी साधना अपेक्षित है। संस्था बना लेना तो आसान है, परन्तु उसके उद्देश्यों का पालन महान् परिश्रम से ही हो सकता है। हमें बोलने और लिखने की स्वतंत्रता तो है, परन्तु स्वान्तःसुखाय और जनकल्याण के लिए हम कुछ गम्भीर तात्त्विक बात कह सकें, इसके लिए वर्षों की साधना की आवश्यकता है। अतः कहा जा सकता है कि अधिकार और कर्तव्य के समन्वय से ही महान् आदर्शों की प्राप्ति संभव है।

अधिकारों के नैतिक और विधिसम्मत दो रूप हैं। अधिकारों की घोषणा नैतिक आधार पर ही की जाती है। जब कोई चेतन मनुष्य या कोई संस्था अधिकारों की माँग करती है तब वह यह बताती है कि किस प्रकार उन अधिकारों से उसका आत्मविकास और जनकल्याण सिद्ध हो रहा है। जब समाज और राज्य इन अधिकारों की स्वीकृति कर लेता है तब इन्हें वैधानिक रूप प्राप्त होता है। अतः यही कहा जा सकता है कि विधिसम्मत अधिकारों का प्रदाता और रक्षक राज्य है, किन्तु नैतिक, अधिकार का स्रोत राज्य को बताना अतिव्यापक कल्पना है। आज दक्षिण अफ्रिका में भारतवासियों के विधिसम्मत अधिकार छीने जा रहे हैं, किन्तु मानव होने के कारण जो उनके अपरिहरणीय नैतिक अधिकार हैं, उन्हीं के आधार पर वे अपना संघर्ष कर रहे हैं और राज्य को, अपने नैतिक मानव-अधिकारों को विधिसम्मत रूप देने के लिए बाध्य करना चाहते हैं। अधिकारों की विकास-प्रक्रिया में तीन अवस्थाएँ हैं। (क) प्रबुद्धमानव चेतना में अधिकारों का उदय या संस्थाओं द्वारा नैतिक आधार पर अधिकारों की माँग, (ख) समाज के द्वारा उनका अभिज्ञान (ग) राज्य के द्वारा उनका वैधिकीकरण। किन्तु, किसी अधिकारविशेष के संबंध में निश्चितरूप से इन तीन अवस्थाओं की अभिप्राप्ति संभव नहीं है। उदाहरणार्थ, राज्य ने भारतवर्ष में अछूतों

के, और अमरीका के अनेक राज्यों ने हबशियों के अधिकारों को वैधिक स्वीकृति दे दी है, किन्तु रूढ़िग्रस्त समाज अभी उनका पूरा सामाजिक अभिज्ञान नहीं कर रहा है। कभी-कभी विदेशी राज्य होने पर जिस विषय के सम्बन्ध में सामाजिक अभिज्ञान हो भी, तोभी साम्राज्यवादी राज्य उनकी उपेक्षा कर सकता है।

कुछ विचारकों का ऐसा मन्तव्य है कि राज्य ही केवल अधिकारों का स्रष्टा या संगठनकर्ता है। कुछ तत्त्ववेत्ताओं का ऐसा मन्तव्य है कि मानव के सारे अधिकार राज्यनिस्सृत हैं। और, कुछ का ऐसा कहना है कि विकसित राज्य की प्रक्रिया और शासन-प्रणाली, अधिकारों के ही बाह्यीकृत क्रियान्वित रूप हैं। हेगेल, राज्य के प्रतिरोध में किसी अधिकार की कल्पना नहीं कर सकता था। किन्तु, इन विचारकों ने अतिरंजित शक्तिवाद की घोषणा की है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र का आधार है मानव के उद्बुद्ध नैतिक रूप का स्वीकरण। इसके अनुसार मानव के अधिकार, राज्य और विधि के भी आधार हैं। ग्रीन का ऐसा कहना है कि सचमुच राज्य के पूर्व जो संस्थाएँ थीं, वे अधिकारसंश्रित थीं, किन्तु राज्य के उदय के बाद वे सारी संस्थाएँ राज्य में समन्वित और अन्तर्निहित हो गईं, अतः अब उनके अधिकार राज्य से ही निकलते हैं।[१] अर्थात् मूलतः अधिकारों का स्रष्टा न होकर भी राज्य अधिकारों का स्रोत है। ग्रीन का विचार असंगत है और इस असंगति का प्रमुख कारण यह है

१. T. H. Green, Lectures on the Principles of Politi.al Obligation § 141, "The other forms of community which precede and are independent of the formation of the state, do not continue to exist outside it, nor yet are they superseded by it. They are carried on into it. They become its organic members, supporting its life and in turn maintained by it in a new harmony with each other. Thus- the citizen's right, e.g. as a husband or head of a family or a holder of property, though such rights, arising out of other social relations than that of citizens to citizen, existed when as yet there was no state, are yet to the citizen derived from the state, from that more highly developed form of society in which the association of the family and that of possessors who respect each other's possessions are included as in a fuller whole."

कि वह राज्य को समाजों का समाज मानकर उसे एक[1] विशाल वृत्त बना डालता है। राज्य और समाज का पृथक्करण अवश्य करना चाहिए। इस पृथक्करण को निश्चित मान लेने पर समस्त अधिकारों का केन्द्र राज्य को कहना गलत होगा। आखिर, समाज और राज्य को पूर्ण अधिकार का प्रदाता मान लेने पर, कैसे आत्मिक चैतन्य की पुकार पर कोई व्यक्ति मानव अधिकारों के लिए खड़ा होगा? नानक, कबीर, दयानंद, आदि जब समस्त अधिकारों का स्रष्टा और संगठनकर्ता समाज को या राज्य को मानते तब क्यों सामाजिक आन्दोलन करते। यदि मार्क्स और लेनिन पूँजीवादी समाज और राज्य को ही सर्वस्व मान लेते तो आज दुनिया में कोई श्रमिक आन्दोलन नहीं हो सकता था। श्रमिकों को जो अधिकार मिले हैं वे समाज और राज्य की वर्तमान व्यवस्था के विरोध में संघर्ष करने से ही प्राप्त हुए हैं। यदि तिलक तत्कालीन राज्य को विशिष्ट संस्कृति और कल्याण का आगार तिलक मान लेते तो कदापि इस तेजस्वी महामंत्र—'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है', को भारतीय स्वातंत्र्य का संदेशवाहक नहीं बना सकते थे। अतः राज्य द्वारा स्थापित व्यवस्था और विधि, अधिकारों को लक्ष्यभूत करके ही कार्य कर सकती है, न कि उनका पूर्वतः प्राप्त आगार होकर।

अधिकारों की पूर्ण व्यवस्था से ही आदर्श राज्य की स्थापना होती है। प्रबुद्ध मानव की चेतना राज्य से अधिक महत्त्वपूर्ण बिषय अन्तरराष्ट्रीय व्यवस्था, के प्रश्न पर आज गम्भीरता से विचार कर रही है जिसमें मनुष्य होने के कारण ही उसके अधिकारों का पालन किया जायगा। अतः यह कल्पना कि राज्य ही अधिकारों का या तो स्रष्टा, या एकमात्र व्यवस्थापक है, अब अनैतिहासिक हो गया है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र प्रत्येक मानव को साध्य या लक्ष्य मानता है और उसका विश्वास है कि राज्य की व्यवस्था पर नियंत्रण करने का तथा अपने अनुभव और ज्ञान से जन-हित को संवर्धित करने का उसे पूरा अधिकार है। आत्मिक कल्याण की सिद्धि के बिना इस प्रकार की अधिकारप्राप्ति नहीं हो सकती है। किन्तु, आत्मिक कल्याण के निमित्त अधिकारों की माँग का यह कदापि तात्पर्य नहीं है कि समाज-विरोधी कार्यों में उसका प्रयोग किया जाय। मानव-चेतना को अधिकारस्रोत मानने से समाजविच्छिन्नकारी कार्यों को करने की स्वतंत्रता नहीं प्राप्त होती है। इसका अर्थ यह है कि अधिकार

१. T. H. Green, Lectures on the Principles of Political Obligation § 141 "The State being for itsmembers a society of societies, the society in which all their claims upon each other are mutually adjusted.

संज्ञान-आश्रित है और चैतन्ययुक्त मानव की उद्बुद्ध संज्ञा से ही वह शक्ति प्राप्त होती है जो व्यक्तित्व के विकास के आधारभूत अधिकारों का आत्मोत्कर्ष और सामष्टिक कल्याण के निमित्त प्रयोग करे। सामष्टिक कल्याण कोई स्वतंत्र तात्त्विक सत्ता नहीं है, अपितु सबल संतुष्ट मानवों के कल्याण की ही सामान्यीकृत अवस्था है। व्यक्ति के कल्याण से ही समष्टि का कल्याण होता है। अतएव, प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि अपने अधिकारों का ज्ञान प्राप्त करे और उनके सहारे व्यक्तित्व का विकास कर राज्य और समाज की सेवा करे।

राज्य की शक्ति और व्यक्तित्व के विकास के निमित्त आवश्यक अधिकारों में सामंजस्य की आवश्यकता है। समाज में वर्तमान संस्थाएँ, मानव-विकास के लिए बहुत जरूरी हैं। राज्य न तो समस्त संस्थाओं का एकमात्र प्राणप्रद वृत्त है और न इसके अतिरंजित प्रभुत्व का ही समर्थन ठीक है। वर्तमान जगत् अनेक संस्थाओं की समष्टि है। किसी भी समाज में, राज्य से भी पूर्ववर्ती परिवार नामक संस्था है। पूँजीवाद के जन्म के बाद श्रमिकों का संगठन करनेवाली अनेक संस्थाएँ उत्पन्न हो रही हैं। शिक्षा के क्षेत्र में विश्वविद्यालय एक स्वतंत्र संस्था बनने की ओर प्रगति कर रहा है। दूसरी ओर धार्मिक संस्थाएँ भी हैं। किसी भी प्रकार के तर्क से इन समस्त संस्थाओं के अधिकारों का स्रष्टा राज्य को नहीं माना जा सकता है। राज्य का कार्य है कि समाज के समस्त कार्यों का नहीं, किन्तु सर्वसाधारण विधि-व्यवस्था का प्रबन्ध करे। अतएव विभिन्न अधिकारों का सामंजस्य करने में सर्वहित का ध्यान रखना आवश्यक है। राज्य संप्रभुतासम्पन्न है, इसका यह तात्पर्य नहीं होता है कि येनकेनप्रकारेण यह उद्दाम शक्तिवाद का व्यवहार करे। बिना स्पष्ट निर्णय किये यह नहीं कहा जा सकता है कि संघर्ष के अवसर उपस्थित होने पर अवश्य ही राज्य के अधिकारों को औरों के अधिकारों को कुचलने का अधिकार है। अधिकार का मूल सैन्य-शक्ति नहीं, अपितु जनहित का संवर्धन है। एकता की जिन आधारशक्तियों पर राज्य टिका है, कभी-कभी उनसे अधिक दृढ़ आधार पर धार्मिक संस्था टिकी रहती है। अतः राज्य के अधिकारवाद का कोई सामान्य सर्वकालव्यापी सिद्धान्त नहीं उद्घोषित हो सकता है। अपने व्यक्तित्व के पूर्णोदय के लिए अनेक व्यक्तियों को राज्य की अपेक्षा धार्मिक और सांस्कृतिक संस्थाओं से अधिक सहायता मिलती है और ऐसी हालत में राज्य को अधिकारस्रष्टा या अधिकारों का यथाभीप्सित नियोजक नहीं माना जा सकता है। व्यक्ति के अधिकारों की यथाशक्ति निरपेक्ष और समान भाव से व्यवस्था करना तथा उनके विकास के निमित्त उपादान उपस्थित करना ही राज्य का कार्य है। शक्तियों का केन्द्रीकरण कर, राज्य के नाम पर कार्य करनेवाले किसी सरकार को जिसका दलीय आधार है, मानव-अधिकारों का

एकमात्र प्रदाता नहीं समझा जा सकता है। अतः राज्य के शक्तिवाद और संप्रभुतावाद के विपरीत मानव-अधिकारवाद की घोषणा अत्यन्त आवश्यक है। यदि नैतिक दृष्टि से कोई अधिकार वांछनीय है, तो अवश्य ही उसको अवैधिक रूप भी देना चाहिए। राज्य का कार्य है कि वह अधिकारों के निर्वाह और पालन के लिए सर्वविध व्यवस्था करे और अवमानना होने पर दण्ड-व्यवस्था के सहारे अधिकारों का उत्कर्ष व्यक्त करे। किन्तु राज्य, अधिकारों का व्यवस्थापक ही है, स्रष्टा या एकमात्र प्रदाता नहीं। कुछ देशों में पहले दासों के अधिकारों की व्यवस्था नहीं थी। अमरीका में अब भी कानून के सहारे, मनुष्यों में असमानता की नीति व्यवहार में लाई जाती है। वहाँ के दक्षिणी रियासतों में भयंकर छुआछूत वर्तमान है, गोरे और काले आदमी एक जगह पर न खा सकते और न बैठ सकते हैं। किन्तु, यह मानवता के अपमान में राज्य की शक्ति का घोर दुरुपयोग है। कन्फ्यूसियस, बुद्ध, गाँधी, ईसामसीह को पैदा करनेवाले एशियानिवासी मानवता के उत्कर्ष के इतिहास में अपनी प्रचण्ड क्रियात्मिका शक्ति का परिचय आज हजारों वर्षों से दे रहे हैं। कोई राज्यविशेष सैन्यशक्ति के मद में उनके मानवोचित अधिकार का दमन करे, यह असहनीय स्थिति है। अतः मानव के आत्मिक चैतन्य को अधिकारवाहक घोषित करनेवाला राजनीति-विज्ञान राज्य की पूजा करने का विधान नहीं कर सकता और उसे मरणाधर्मा देवता[1] या अधिकारों का क्रियान्वित स्वरूप, कदापि नहीं मान सकता है। राज्य और व्यक्ति में विरोध होने पर सत्य के परम नियम के अनुसार उचित व्यवस्था होनी चाहिए। निरपेक्ष रूप से संप्रभुतावाद के आधार पर राज्य के अधिकार के पक्ष में मतदान नहीं किया जा सकता है। अतएव, वोसांक्वेट आदि का यह कहना कि विना राज्य की स्वीकृति के कोई अधिकार नहीं है, या हाब्स तथा बेंथम का यह कहना कि राज्य ही अधिकारों का स्रोत है, भ्रामक और असंगत है। अधिकारों का उदय व्यक्ति-चैतन्य में या संस्थाओं में होता है, राज्य से उनको वैधानिक और वैधिक रूप प्राप्त होता है, किन्तु राज्य, अधिकारों का स्रोत या स्रष्टा नहीं है, अतः इसके विपरीत या विरोध में नैतिक दृष्टि से मानव उठ खड़ा हो सकता है।

व्यक्ति के नैतिक और आध्यात्मिक स्वरूप का निदर्शन भारतीय दर्शन और संस्कृति की बड़ी विशेषता है। किसी भी अधिकारवाद की स्थापना के लिए मानव को लक्ष्य या साध्य मानना अत्यन्त आवश्यक है। इसी मानव साध्यवाद को दृष्टिगत कर,

१. Hobbes, Leviathan अध्याय १७ ; Hegel, Philosophy of Right; Wallace, Lectures and Essays on Natural Theology and Ethics.

सामाजिक और राजकीय प्रतिबन्धों का विरोध करनेवाले महामानव पैदा हुए हैं। आज बढ़ते हुए सत्तावाद के विपरीत पुनरपि मानव के आत्मवाद का संदेश स्वीकरणीय है। आज मानव के मानसिक, वाचिक और कायिक अधिकारों की रक्षा करनी चाहिए। प्राकृतिक, आर्थिक, राजनीतिक विभीषिकाओं से परित्राण के लिए 'अभयम्' की आवश्यकता है। अतः प्रथम, राजनीतिक दृष्टि से जनसम्मति पर आधारित प्रजातंत्र की आवश्यकता है। वयस्कमताधिकार पूर्णतः अपेक्षित है। राजनीतिक दृष्टि से समान और अपरिहरणीय अधिकार ही स्वतंत्रता, न्याय और शांति का दान कर सकता है। राजनीतिक अधिकारों का सार्वत्रिक और क्रियात्मक पालन न्याय के साम्राज्य पर आश्रित है। न्याय के साम्राज्य का मतलब है सामान्य हित के लिए विधियों का निर्माण, न कि निहित स्वार्थों का समर्थन करने के लिए। न्याय के साम्राज्य का यह भी मतलब है कि प्रत्येक मानव को राजनीतिक दृष्टि से पूर्ण समानाधिकारसम्पन्न माना जाय। उचित और दर्शित तथा संसिद्ध दोषों के कारण ही दण्ड का विधान होना चाहिए।[१] न्याय के साम्राज्य का यह भी मतलब है कि प्रत्येक नागरिक को मानवोचित अधिकार मिलना चाहिए। मैग्नाकार्टा से लेकर आज तक ब्रिटेन के नेतृत्व में जो अधिकारों के संबंध में युद्ध हुए हैं, उन्होंने मानव के नागरिक, राजनीतिक तथा पारिवारिक अधिकारों की सुरक्षा पर बल दिया है। उसी के फलस्वरूप वयस्कमताधिकार, वाणी और लिखने की स्वतंत्रता, तथा संस्था बनाने तथा सभा करने का अधिकार कम-से-कम कानूनी रूप से प्रत्येक मानव को अनेक देशों में मिल चुका है।

समाजवाद के प्रचार और प्रसार के कारण अनेक देशों में ऐसा आन्दोलन हुआ है कि केवल राजनीतिक अधिकार अपूर्ण है। जबतक समाज में भयंकर आर्थिक असमानता है तबतक समान अधिकार होना केवल शाब्दिक और औपचारिक है। कहा जा सकता है कि समय या ठहराव या इकरारनामा करने का पूँजीपति और कर्मकर दोनों को समान अधिकार है। वे पूर्ण स्वतंत्र हैं, वे चाहें तो इकरार करें या न करें। किन्तु, वेतनभोगी कर्मकर कदापि वस्तुतः स्वतंत्र नहीं है क्योंकि इकरार न करने का अर्थ है मृत्यु या भूख की पीड़ा। अतएव समाजवाद और साम्यवाद ने इस बात पर प्रभूत बल दिया है कि प्रत्येक मनुष्य को रोजी मिलनी चाहिए। बेरोजगारी की सतत विभीषिका से त्रस्त मानव वेदान्तदर्शनोक्त मानव-चैतन्य या हेगेलप्रोक्त प्रत्यगात्म-प्रकाशन का सिद्धान्त नहीं समझ सकता है। अतएव, वर्तमान सभ्यता को बचाने के लिए, इसकी यांत्रिक और सांस्कृतिक देनों की रक्षा के लिए आवश्यक है

१. A. V. Dicey, Law of the Constitution; J. A. R. Marriott, English Political Institutions.

कि बेरोजगारी के भयानक और दर्दनाक संकट से मानवता का त्राण हो। प्रत्येक मनुष्य को तथा यदि आवश्यकता हो तो स्त्री को भी, उचित कार्य मिलना चाहिए। उस कार्य के लिए उसे उचित वेतन मिलना चाहिए। कार्य करने का समय निश्चित होना चाहिए। कार्य करने की अवस्थाएँ स्वास्थ्यकर होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त पेंशन या सामाजिक सुरक्षा तथा बीमा की आवश्यकता है। इन प्रस्तावों के पीछे यह विचार कार्य कर रहा है कि प्रत्येक मनुष्य को एक साधारण हद तक सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करने का अधिकार है। जबतक पेंशन या सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था नहीं होगी, तबतक मनुष्य भविष्य के सम्बन्ध में निश्चित नहीं हो सकता है। प्रकृति के महान् भय–मृत्यु से तो त्राण मिल नहीं सकता। योगी और भोगी, राजा या रंक, विद्वान् और जड़ मूर्ख सब की मृत्यु अवश्य होगी। मृत्यु के भय पर किसी प्रकार अधिकार नहीं प्राप्त किया जा सकता। एक निश्चित आयु तक जीने की भी गारण्टी कोई मानव-व्यवस्था कदापि नहीं दे सकती। तथापि उचित दवा, संयम आदि की व्यवस्था कर आयु की अवधि बढ़ाई जा सकती है। अमरीका, ब्रिटेन में प्राय: ६५ वर्ष औसत आयु है। कोई कारण नहीं कि पश्चिमी आयुर्विज्ञान तथा भारतीय संयमशास्त्र का समन्वय कर, वेदोक्त 'जीवेम शरदः शतम्' या 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' को क्रियान्वित न किया जाय। इस प्रकार का ज्ञान और सुविधा प्रत्येक मानव के लिए उपलब्ध रहनी चाहिए। सामाजिक सुरक्षा का क्रियान्वयन तो आज की सभ्यता की रक्षा के लिए अनिवार्य है।

आधुनिक युग में व्यापक जन-समाज के लिए शिक्षा की भी उचित व्यवस्था होनी चाहिए।[1] वेदान्त के अनुसार नानात्व से परे जाकर निर्विशेष अद्वैत चिन्मय तत्त्व का साक्षात्कार ही विद्या का उद्देश्य है। राजनीतिक शास्त्र की दृष्टि से, परमार्थ परम सत्ता का पूर्ण अवबोध करानेवाली विद्या भले ही, एक दूर की वस्तु मालूम हो, तथापि मानव-जीवन तथा समाज और अर्थनीति-संबंधी सामान्य शिक्षा सब के लिए अभिवांछित है। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिससे मानव को अपना कार्य सम्यक्रूप से करना आ सके। दीनता के कारण शिक्षा प्राप्त न करना, आधुनिक युग के अनेक अभिशापों में एक है। अत: अनिवार्यरूप से कम-से-कम प्राथमिक शिक्षा की प्राप्ति का तो प्रत्येक नागरिक को अधिकार मिलना ही चाहिए,

१. V. P. Varma, Democracy and Education, Shiksha, January, 1954; Ibid, Reform of University Education Bihar, Searchlight, December, 1947; C. D. Burns, Democracy; Harold Laski, Liberty in the Modern State.

यद्यपि उचित तो यह है कि मैट्रिकुलेशन या माध्यमिक वर्ग तक की अनिवार्य शिक्षा मिले। शिक्षा के साथ केवल उपयोगितावाद की भावना का सन्निवेश ही नहीं होना चाहिए, अपितु मानवसंस्कृति और सभ्यता की संचित राशि को समझने का भी यथा-शक्ति अवसर समस्त मनुष्यों को मिलना चाहिए। इसके लिए अपेक्षित है कि एक सबल मनुष्य की सारी शक्तियाँ जीविकोपार्जन में ही न लग जाँ। श्रम के काल में और विश्राम के काल में अन्तर का स्थापन आधुनिक सभ्यता का एक महान् तकाजा है, क्योंकि आज कुछ लोगों को विश्राम देने के लिए सारे जनसमूह का जीवन श्रम का सतत प्रवाह हो गया है। अतएव विश्राम का अधिकार चाहिए और अवकाश के समय को निरर्थक प्रमोद या निद्रा, प्रमाद , आलस्य में न बिताकर रचनात्मक कार्यों में लगाने का शिक्षण और अवसर मिलना चाहिए। यदि इस प्रकार की व्यवस्था संभव हो तो निस्सन्देह जगत् में शांति, समानता, न्याय और स्वतंत्रता का राज्य फैल सके।

इस प्रकार अधिकारों को स्वीकार कर और उनके क्रियान्वयन के लिए उपयुक्त परिस्थिति पैदा कर ही राज्य, मानवता की या कम-से-कम अपने नागरिकों की सेवा कर सकता है। ऊपर बहुत से, प्रजातंत्रीय और सामाजिक अधिकारों का विश्लेषण किया गया है। यह मानकर कि, जीवन का अधिकार सब के लिए सुरक्षित हो, यह विवेचन हो रहा है। किन्तु, महासमर की विभीषिकाओं को देखते हुए, दार्शनिक राजनीति-शास्त्र की दृष्टि से, फिर भी इस अधिकार को दुहराना आवश्यक है। दार्शमिक राज--नीतिशास्त्र को मानव का चेतन नीतिमान् स्वरूप अभीष्ट है। मानव को साध्य मानने से यह निष्कर्ष स्वभावतः ही निकलता है कि उसको अपने जीवन पर पूरा अधिकार है। आज दुनिया में भयंकर तानाशाही का जोर है। प्रजातंत्रीय देशों के उद्धत नेता भी आवेश और झूठे सम्मान के मद में चूर हैं। न जाने कब कुछ पथ-भ्रष्टों की शक्तिपिपासा की पूर्ति के लिए, मानव युवकों को युद्धाग्नि में समिधा के रूप में झोंक दिया जायगा। अतः आज सबसे बढ़कर आवश्यक है कि मानव को अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो। वह अपने जीवनाधिकार को मूल मानकर अनुचित युद्धों में भाग लने से इनकार कर सकता है। इस प्रकार के चैतन्य से मानव संस्कृति मजबूत होगी, युद्ध और घृणा के बदले शांति और मानवता का प्रचार होगा तथा राज्य के अनर्गल समर्थन के बदले मानव-अधिकार का साम्राज्य फैलेगा। यदि मनुष्य लक्ष्य है, उपादान नहीं, तो अपनी सबसे प्रिय निधि—जीवन, को कहाँ पर वह लगाएगा या किस कार्य के लिए वह बलिदान करेगा, इसका अधिकार स्वयं व्यक्ति को ही रहना चाहिए। यदि राज्य का यह दावा ठीक है कि वह सामान्यहित का संवर्धन कर रहा है तब तो स्वयं ही नागरिक ऐसे राज्य के लिए अवसर आने

पर अपनी जान न्योछावर करेगा, किन्तु शक्तिशाहों की अस्वाभाविक युद्धप्रियता, दम्भ आदि की पूर्ति के लिए, जिसे परिवहन के समस्त साधनों का एकाधिकारप्राप्त शक्तिपति देशप्रेम या मातृभूमि की आर्त पुकार आदि पवित्र नामों से आवृत कर देते हैं, कदापि नहीं अपनी जान खोवेगा। मानव साध्य है, व्यवसायात्मिका बुद्धि से वह सदसद् का विवेचन स्वयं करेगा। गीताप्रोक्त 'यथा इच्छसि तथा कुरु' नैतिक या धार्मिक जीवन के लिए ही नहीं, अपितु राजनीतिक जगत् में व्यवहार का भी महान् मंत्र प्रस्तुत करता है। अधिकारों का मूल आधार तथा व्यवसायात्मिका बुद्धि का अन्तिम प्रयोजन यही है। इसी उपदेश का व्यावहारिक रूप गौतम बुद्ध के गृहत्याग, गाँधी के सत्याग्रह तथा मेजिनी के स्वातंत्र्यान्दोलन में पाया जाता है। जब सारे देश के नागरिक इस प्रकार के अधिकार-चैतन्य से प्रभावित होकर अपनी गृहनीति का निर्माण करेंगे तो उनके पास युद्ध में संलग्न होने का अतिरिक्त समय और साधन ही नहीं रहेगा। अतएव, मानव-सभ्यता को आदर्श रूप देने के लिए, मानव के आत्मिक विकास के लिए, तथा युद्ध के बदले शांति का सार्वत्रिक साम्राज्य फैलाने के लिए आवश्यक है कि मानव के नैतिक अधिकारों का स्वीकार हो और अधिकतम मात्रा में उन्हें वैधिक रूप दिया जाय। मानवोचित नैसर्गिक अधिकारों का अभिज्ञान ही भावी चेतन-विकास का एकमात्र साधन है।

नवम अध्याय

स्वतंत्रता

स्वतंत्रता एक अतिशय महत्त्वपूर्ण और उदात्त शब्द है। मानवता का समस्त इतिहास मानो इस एक शब्द में समाया हुआ है। मानव जाति के उज्ज्वल भविष्य का अभिव्यंजक यह शब्द है। जगत् के महान् तत्त्ववेत्ताओं ने इसका संदेश दिया है। जागतिक सर्वविध दुःखों का अतिक्रमण कर निर्वाण या कैवल्य या ब्रह्मसायुज्य या आत्यन्तिक मोक्ष पाना ही भारतीय दर्शन के अनुसार मानव का परम पुरुषार्थ है। संसार के आवर्तों से छुटकारा पाने के लिए ही मानव धर्म-मार्ग का आश्रय लेता है। किस प्रकार के कार्यकलापों से कार्यकारण-भाव के नियम के अनुसार तथा साध्यसाधन के तत्व का अवलम्बन कर जगत् की वस्तुओं का मानव-कल्याण के निमित्त उपयोग कर, जनता को सम्पूर्ण स्वतंत्रता का मार्ग बताया जा सकता है, इस प्रश्न की मीमांसा ही अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र तथा समाजशास्त्र का मूल उद्देश्य है। स्वतंत्रता का सम्बन्ध मानव के स्वभाव से है। अतः विदित है कि समस्त सामाजिक शास्त्रों में तथा धर्मशास्त्र और दर्शन में स्वतंत्रता के प्रश्न का विवेचन करना पड़ता है। जन्म से लेकर मरणपर्यन्त मनुष्य प्राकृतिक शक्तियों से युद्ध करता है और उनसे त्राण पाने का यत्न करता है। मानव सभ्यता के आदिम काल में प्राकृतिक शक्तियों का, देवताओं तथा दानवों का भीषण भय मानव को आतंकित करता था। बौद्धिक विकास तथा यान्त्रिक और तान्त्रिक उन्नति से प्राकृतिक शक्तियों का भय कम हो रहा है। मृत्यु-प्रकृति के मानव के ऊपर विजय का अब भी प्रचण्ड चिह्न है। मध्यकालीन सभ्यता से लेकर आजतक समाज, राज्य तथा धार्मिक संस्थाओं के विरोध में मानव, स्वतंत्रता के लिए संग्राम कर रहा है और सत्तावाद तथा संप्रभुतावाद के बदले अधिकारवाद और स्वातंत्र्य को स्थापित करने का प्रयास अनवरत रूप से विद्यमान है। किन्तु, ये सब बाह्य स्वतंत्रता के लक्षण हैं। आन्तरिक स्वतंत्रता अपनी वासनाओं और प्रवृत्तियों के उन्नयन, संशोधन और पवित्रीकरण से प्राप्त होती है। नैतिक चैतन्ययुक्त मानव जब निष्काम भाव से जनसेवा द्वारा या तात्त्विक चिंतन से मानव चेतना के प्रसारण का उपक्रम करता है, तब निस्सन्देह मानव-समाज एक उच्च स्तर पर आरोहण करता है। ज्ञान, साधना और चिंतन से अपनी प्रवृत्तियों का निरोध और अपने जीवन का किसी

विशिष्ट उद्देश्य की सिद्धि में यापन ही नैतिक और आध्यात्मिक स्वतंत्रता का मुख्य मार्ग है। इसकी चरम परिणति करुणा और सेवा द्वारा वेदितव्य सर्वभूतात्मभूत-भाव की प्राप्ति में होती है।

स्वतंत्रता का अर्थ है यादृच्छिकता। पाणिनि ने कहा है 'स्वतन्त्रः कर्त्ता'। कर्तृत्व शक्ति में पर्यवसित होना स्वतंत्रता का लक्षण है। यादृच्छिकता का अर्थ अहंकारनिष्ठता नहीं है। स्वेच्छाचारिता, निरंकुशता, वासनातृप्ति, इसका तात्पर्य नहीं है। जनकल्याण-परक कर्तव्यों का भय के कारण नहीं, परन्तु स्वभावनियत आत्मनियंत्रणप्रसूत पालन ही यादृच्छिकता है। जो विनिश्चयात्मक अवश्यंकर्तव्य नियम[1] हैं वे आत्मा के स्वाभाविक नीतिनियम हो जायँ और सर्वभूतात्मभूतत्व की दृष्टि से उनका पालन हो, यही मानव के परम नैतिक विकास का सूचक है। इस प्रकार की यादृच्छिकता तभी प्राप्त हो सकती है जब मानव में चैतन्य का सम्यक् उदय हो। चैतन्यप्राप्ति का तात्पर्य है भावना और बुद्धि का सामंजस्य[2]। मनुष्य अपनी संकल्पशक्ति का सर्जनात्मक प्रयोग कर सके, इसका आवश्यक आधार है कि उसकी वृत्तियाँ व्यवसायात्मिका बुद्धि से शासित हों। वासनामूलक वृत्तियों का निरोध कर विनिश्चयकारिणी बुद्धि से सत् और असत् का निर्णय करना ही नैतिक जीवन की क्रियाओं का रहस्य है। इस प्रकार का नैतिक जीवन अनासक्ति के आधार पर पालित हो सकता है[3] अनासक्ति हमें दूर-दृष्टि सिखाती है। तात्कालिक फलप्राप्ति में आसक्त होकर अन्तिम परिणाम से उदासीन होने पर ही अनेक कुकृत्यों में मानव फँस जाता है। विशालदर्शिनी बुद्धि हमें अनासक्ति सिखाती है। अनासक्त होकर ही हम तात्कालिक क्षुद्र फलप्राप्ति से विरत होकर, महान् कर्मों को करने के लिए अपनी समस्त शक्तियों का केन्द्रीकरण कर सकते हैं। फलाशा, अधिक अवसरों पर हमें किंकर्तव्यविमूढ़ बना देती है, क्योंकि फलप्राप्ति के लिए उचित अनुचित सब प्रकार के साधनों का हम प्रयोग करने लगते हैं।

१. 'काण्ट' की भाषा में इसे "Categorical Imperative" कहते हैं।'

२. प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥ (गीता, २।६५--६६)

३. नप्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्।
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्॥ (गीता, ५।२०-२१)

स्वतंत्रता एक नैतिक आध्यात्मिक ज्योतिस्स्तम्भ है[१]। मानव-हृदय और मन को यह विश्वास से आपूरित करती है और अपने उचित नैसर्गिक अधिकारों की प्राप्ति के निमित्त शक्ति प्रदा करती है[२]। कला, धर्म, दर्शन, काव्य, समाजशास्त्र, विज्ञान आदि के प्रकर्ष द्वारा मानव-जीवन को एक उच्चतर धरातल का दर्शन कराना ही इसका लक्ष्य हैं। स्वतंत्रता का केन्द्रबिन्दु है क्रियात्मकता। नूतन की सतत सृष्टि कर, मानव आत्मा के रचनावैविध्य का परिचय कराना स्वतंत्रता का लक्षण है। आत्मा कोई निर्विशेष कूटस्थ, अव्यक्त सत्ता नहीं है, रन्तु यह शक्तिसम्पन्न है। शक्ति का क्रियात्मक आयोजन ही स्वतंत्रता की अभीष्ट सिद्धि करता है। भोगवाद, सुखवाद, आशावाद (फलाशा के अर्थ में) आदि के बदले सतत, शक्ति का सर्जनात्मकरूप प्रस्तुत करना और इस प्रकार अशक्ति, निराशा, निरुत्साह, दुख, दारिद्र्य और पाप के स्थान पर, विजय, अभय, सन्तोष और परिपूर्णता को क्रियान्वित करना ही स्वतंत्रता का उद्देश्य है। जगत् और इतिहास में सर्वत्र वेगपूर्ण गति, परिवर्तनशीलता, प्रवाह, उत्पत्ति और प्रणाश का दृश्य दिखाई पड़ता है। नदी की धारा के समान या अग्निशिखा के समान इस जागतिक प्रवाह को देखते हुए पशु या पतंग के समान इसम निमग्न न होना, अपितु एक अपेक्षित स्वनिष्ठित दृष्टि रखकर व्यवहार करना ही आत्मवान् वरिष्ठ पुरुष का लक्षण है। जब प्रवाह के प्रत्येक क्षण में हम अपने व्यक्तित्व को तदनुकूल बना लेते हैं, तब हमारा व्यक्तित्व नष्ट हो जाता है। प्रवाह की आज्ञानुकारिता हमें दास बना डालती है। स्वतंत्रता तो व्यक्तित्व के सबल समर्थन को कहते हैं। जब प्रत्येक क्षण में या विशेष अवसर उपस्थित होने पर प्रवाह से अपने को तटस्थ रखकर व्यवसायात्मिका बुद्धि से निर्णय कर हम कार्य करते हैं तब हम स्वातंत्र्य का लाभ करते हैं और इस प्रकार के विवेकपूर्ण कार्यों से ही हमारे निजी व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इस प्रकार का व्यवहार और व्यापार हमारे अन्दर उस मौलिकता की सृष्टि करता है जो प्रत्येक रचनात्मक कार्य का बीज है। इस प्रकार हम सम्पूर्ण स्वतंत्रता का दर्शन करते हैं। रचनात्मक कार्यों

१. B. Croce, My Philosophy, पृष्ठ ११३-१४, ६८, १०४।

२. तुलनीय, Rousseau, Social Contract Book I, chapter 4 : "To renounce liberty is to renounce being a man, to surrender the rights of humanity and even its duties. For him who renounces everything no indemnity is possible. Such a renounciation is incompatible with man's nature; to remove all liberty from his will is to remove all morality from his acts."

से ही व्यक्तित्व का प्रसारण होता है और इसी व्यक्तित्व के आधार पर जब हम जगत् में कोई विशेष मौलिक कार्य करते हैं तब उस कार्य में अपने व्यक्तित्व का निखरा रूप हम देखते हैं। अन्य की तुलना में या विपरीत की पृष्ठभूमि में या अपने मौलिक कार्यों में ही हम अपने स्वातंत्र्य को अच्छी तरह समझ सकते ह। स्वतंत्रता का व्यापक अर्थ हमने दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से किया है। यह अर्थ हाब्स की स्वतंत्रता की परिभाषा-विरोधी शक्तियों के अभाव से बहुत अधिक व्यापक है। कैवल्य या प्रत्यगात्म-दर्शन अथवा विरोधी शक्तियों का अभाव, स्वतंत्रता के ये अर्थ आंशिक और सीमित हैं। परिपूर्ण स्वतंत्रता का तात्पर्य है इच्छास्वातंत्र्य, नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शों के द्वारा अपनी संकल्पशक्ति का विनिर्णय, तथा मानव-कल्याण के लिए अनासक्त धृति से अपनी शक्तियों का उपयोग। स्पष्ट है कि इस प्रकार की स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए अनवरत साधना, ज्ञान, तप, अभ्यास की पूर्ण आवश्यकता है। इस प्रकार के दृढ़ उपायों से ही मानव की चेतना का शुद्धीकरण और तज्जनित उसका पूर्ण उदय संभव है। आत्मकल्याण तथा सामग्रिक जन-चेतना के साथ सहानभूति का यही एकान्त मार्ग है। इस प्रकार की कल्याणकारिणी स्वतंत्रता का कई स्तरों पर विवेचन किया जा सकता है।

(क) स्वतंत्रता का दार्शनिक विवेचन

संसार में नियति का प्राबल्य दिखाई पड़ता है। मनुष्य जन्म के समय अत्यन्त कमजोर रहता है और उसका जीवन-धारण पूर्णतः दूसरों पर निर्भर ह। जरा भी असावधानी हो और उसका जीवन ही समाप्त हो जाय। जिस कुल में मनुष्य का जन्म हुआ, इसी से बहुत दूर तक उसका जीवनक्रम नियंत्रित हो गया। कुछ तेजस्वी पुरुषों ने कुल आदि के संस्कारों और आर्थिक दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त कर लिया है, परन्तु ऐसे पुरुष विरले हैं। जगत् में नियतिवाद का प्राबल्य बताते हुए प्लेटो ने कहा कि सारा ब्रह्माण्ड मानो नियति के डंडे से बँधा हुआ है। नियति की तीन पुत्रियाँ हैं। लकेसिस के नियंत्रण में भूतकाल है, क्लोदो वर्तमान की अधिष्ठात्री देवी है और ऐट्रोपोस भविष्य की नियामिका है।[१] सर्वतोभावेन जगत् में नियति का साम्राज्य है, तथापि प्रारम्भ में एक जीवन चुनने की स्वतंत्रता मनुष्य को है, जब एक बार वह चुन लेगा उसके बाद उसे कोई स्वतंत्रता नहीं है[२]। यद्यपि प्लेटो ने आलंकारिक

१. Republic, Book X—Lachesis, Clotho and Atropos.
२. Republic, Book X, "Hear the words of Lachesis, the daughter of Necessity. Mortal souls, behold a new cycle of life and mortality. Your genius will not be allotted

शैली का सहारा लिया है तथापि इतना स्पष्ट है कि मानव को अपने सम्बन्ध की दो अत्यन्त प्रमुख घटनाएँ--जीवनप्राप्ति या जन्म तथा मृत्यु--इन पर कुछ भी नियंत्रण नहीं है।[१] बौद्ध-दर्शन और अन्य भारतीय पुनर्जन्मवादी दर्शनसम्प्रदायों में ऐसा विचार स्थापित किया गया है कि अपने पूर्वकर्म के अनुसार ही मानव को जन्म मिलता है और कर्मानुकूल ही माता-पिता उसे प्राप्त होते हैं। इस विचार का संबंध इतने विशाल अतीत से है कि इसके सम्बन्ध में निश्चयात्मक दृष्टि से कुछ नहीं कहा जा सकता, यद्यपि मेरे हृदय को यह विचार प्रिय प्रतीत होता है। बौद्ध जातकों तथा पातंजल योगदर्शन के अनुसार मानव को पूर्वनिवासानुस्मृति हो सकती है। ईश्वर को मान लेने पर उसे वैषम्य और नैघृंण्य के आक्षेप से रहित करने के लिए पूर्वजन्मवाद मानना आवश्यक प्रतीत होता है। यदि पूर्वजन्मवाद ठीक नहीं है तब तो मानवजीवन का आधार ही एक विराट् दैवयोग (चांस) है जिसकी किसी प्रकार की भी तार्किक उपपत्ति नहीं बताई जा सकती। जन्म और मृत्यु से बँधा हुआ मानव अपने को असहाय पाता है। कालचक्र बड़े वेग से मनुष्य को डंडे मारकर चकनाचूर कर देता है। मानव को ही क्यों--अथेन्स, कायरो, कुम्हरार, रोम के भग्नावशेष बताते हैं कि समृद्ध प्राचीन सभ्यताएँ भी आज कराल काल के गाल में घुस गई हैं। इस प्रकार सोचते-सोचते ऐसा मालूम पड़ने लगता है कि जैसे मानव का एक-एक क्षण बड़ी-बड़ी शक्तियों का उस पर नियंत्रण बताता है और मनुष्य स्वयं एक कठपुतला है[२]। उसकी निमित्तमात्रता का वर्णन करते हुए गीता में बताया है कि भयंकर सुप्रवृद्ध काल ही सब कुछ कर रहा है। अर्जुन के युद्ध में प्रवृत्त

---

to you, but you will choose your genius; and let him who draws the first lot have first choice, and the life which he chooses shall be his destiny. Virtue is free, and as a man honours or dishonours her he will have more or less of her, the responsibility is with the chooser—God is justified."

२. जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

(गीता २।२७-२८)

होने के पूर्व ही समस्त सैन्यगण मर चुके हैं। 'निमित्तमात्रम् भव सव्यसाचिन्' है[1]। इस प्रकार नियतिवाद पर विचार करते हुए मानव अपनेको सर्वथा असहाय, कमजोर और नाशवान् पाता है।

इस समय मनुष्य की आत्मिक बुद्धि अपना प्रकाश फैलाती है। वह अपने चैतन्य-स्वरूप की मीमांसा करती है। अपनी व्यक्ति-निष्ठता और भावात्मकता से वह विद्रोह करती है। मानव-विचार-शक्ति अपने चिन्तनात्मक रूप का वाह्यीकरण चाहती है। इस प्रकार ज्ञान का उत्कर्ष व्यक्त होता है। असहाय, क्षुद्र और मरणधर्मा मानव अक्षय-ज्ञान की संचित राशि एकत्र करता है। वेदान्त-दर्शन में बताया है कि ज्ञान विजय का चिह्न है। जिस वस्तु को मनुष्य यथातथ्य समझ लेता है, उस पर उसका यथाकामचार हो जाता है। अतएव विचारशक्ति स्वतंत्रता का स्रोत है। प्रतिबन्ध, शत्रुता, निषेध, संघर्ष और विनाश के स्थान में विचारशक्ति सामंजस्य, शांति और समग्रता का दर्शन कराने को प्रस्तुत होती है। विचारशक्ति का उदय ही मानव को प्रकृतिग्रस्तता से ऊपर ले आता है। विश्वब्रह्माण्ड का एक असहाय जीव, विश्व को विचार द्वारा जानने का तथा जानकर अपने वश में करने का उद्यम करता है। इस प्रकार वह देखता है कि विरोधी और विनाशकारी तत्त्वों को वह सहायक और सहयोगी में बदल सकता है। विचार के द्वारा सीमा और आंशिकता से परे असीम की ओर बढ़ना ही स्वातंत्र्य है। विचार में अतिक्रमण का सिद्धान्त स्वभावतः निहित है। भौतिक दृष्टि से, हम एक क्षण में न्यूयार्क नहीं जा सकते, किन्तु यदि न्यूयार्क हम विचार के द्वारा देखना चाहें तो एक क्षण में ब्राडवे तथा टाइम्स स्क्वायर हमारी दृष्टि में आ जाते हैं। बुद्ध को निर्वाण प्राप्त किये आज प्रायः ढाई हजार वर्ष हो चुके, परन्तु उनके विचार आज भी वेगवान् और प्रभावशाली हैं। स्वतंत्रता का अर्थ है—सीमा का, बन्धन का अतिक्रमण कर अवकाश या रिक्तस्थान प्राप्त करना, जहाँ हम स्वेच्छया विचरण कर सकें। इस प्रकार की स्वतंत्रता की प्रदात्री आत्मिक विचारशक्ति है।

---

१. कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योद्धाः।
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युद्ध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥

(गीता, ११,३२–३४)

अतः तैत्तिरीयोपनिषद् में विज्ञान को ब्रह्म कहा है[१]। अतः स्पष्ट है कि विचारशक्ति में सामंजस्य-स्थापन की तथा अतिक्रमण करने की जो ताकत है, उसी से स्वतंत्रता का दर्शन हो सकता ह। जब मानव वाह्य प्रकृति के पाश से विमुक्त हो विचिन्तन की प्रक्रिया का आश्रय लेता है, तब वह स्पष्ट रूप से आत्मलाभ कर सकता है। इस प्रकार का आत्मानुसंधान और समग्रमूलक व्यक्तित्व की अभिप्राप्ति ही स्वतंत्रता है। जगत् में नूतनता, प्राणशक्ति का अभिव्यंजन और अपरिकल्पित अवरोधों का आगमन सर्वदा हो रहा है। विचार-शक्ति के द्वारा इनका परिज्ञान और फिर तदनुकूल इसके साथ व्यापारस्थापन ही स्वतंत्रता का रहस्य ह। वायु और मेघ की शक्ति को हम रोक नहीं सकते, किन्तु उनके नियमों का पता लगाकर अपने घर को ऐसा बना सकते हैं कि वायु और मेघ के आक्रमण से बच सकें। अग्नि की प्रदाहिका शक्ति का परिवर्तन हम नहीं कर सकते, किन्तु विचारशक्ति से अग्नितत्त्व का नियंत्रण कर उससे वाष्पयान चलाकर दुनिया के एक छोर से दूसरे छोर तक भ्रमण का आनन्द ल सकते हैं। अतः विचारशक्ति स्वतंत्रता की जननी है। विचार के द्वारा ही प्राचीन और नूतन, भूत और वर्तमान, एकत्व और नानात्व तथा वेदान्त और विज्ञान में समन्वय होता है। अतः समग्र का दर्शन करानेवाला विचारतत्त्व ही स्वतंत्रता का स्वरूप है।

जब हम अपने सीमित देहेन्द्रियबद्ध व्यक्तित्व को देखते हैं, तब निराशा और मृत्युभय से आतंकित हो जाते हैं। किन्तु यदि अपनेको अपनी संस्कृति से एकाकार कर दें तो बहुत अंश तक आशा और अमरता का दर्शन कर सकते हैं। अतः व्यापकता की अभ्यर्थना से हम ससीम से असीम की ओर बढ़ते हैं। स्वतंत्रता क्षुद्राभिमानग्रस्तता म नहीं है, अपितु एकता और सामान्यता की ओर बढ़ने में है। इसी तत्त्व को व्यक्त करते हुए छान्दोग्योपनिषद् में कहा है कि जो 'भूमा' है, वही सत्य है। वही सुख है, अल्प में सुख नहीं है। अतः विचार के द्वारा सीमा और अवरोध का अतिक्रमण कर विराट् की ओर अग्रसर होना ही स्वतंत्रता का द्वार है। समग्रताप्राप्ति का अर्थ होता है--क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठना तथा समष्टि के श्रम से जो संस्कृति प्राप्त की गई है, उस विश्ववारा संस्कृति के साथ तादात्म्य प्राप्त करना। इस प्रकार शनैः-शनैः हमें कला, विज्ञान, धर्म और दर्शन के सहारे क्षुद्रता पर विजय प्राप्त करने में सहायता मिलती है। अतः यदि नियति एक ओर बलशाली है तो गीता की भाषा में कह सकते हैं कि मनुष्य अपना उद्धार अपने आप करे और अपने को अवसन्न कदापि

१. विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति॥ (तैत्तिरीयोपनिषत् ३।५)

न करे[१]। अपने उद्धार का मतलब है--विराट् सत्य से तादात्म्य प्राप्त करानेवाले कर्मयोग का अनवरत अभ्यास। इस प्रकार के अनासक्त कर्मयोग का अनुशीलन ही सत्य का दर्शन कराता है। मानव अपनेको सीमित न समझकर किसी महान् सत्य की अभिव्यक्ति का माध्यम बना डालता है। आज जब 'बुद्धं शरणं गच्छामि' की ध्वनि गूँजती है तो बुद्ध की शिक्षाओं की अमरता का सन्देश मिलता है और मालूम पड़ता की वस्तुत: बुद्ध ने अज्ञान और कादर्य के ऊपर के साधुता तथा अप्रमाद की विजय प्राप्त किया थी। विराट् श्रेयों और आदर्शों के अनुशीलन को ही पराकाष्ठा तक ले जाकर धार्मिक सम्प्रदायवादी विमोक्ष, ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मनिर्वाण आदि का वर्णन करते हैं। वेदान्त, बौद्धदर्शन आदि में तात्विक दृष्टि से कम-से-कम इतनी सचाई तो अवश्य है कि क्षुद्रता, देहाभिमान आदि से ऊपर उठने का एक निर्मल सन्देश उनसे प्राप्त होता है। तात्विक दृष्टि से एकता या अद्वैत का प्रचार कर वेदान्त मानव जाति की एकता का भी विचार हमारे सामने रखता है। विराट् सत्य के अनुकूल अपने को बनाना तथा मानव एकता की ओर बढ़ना ही हमें चेतना-विस्तार, समष्टि के साथ तादात्म्य, दर्शन और संस्कृति के द्वारा प्रतिपादित श्रेयों की सम्प्राप्ति आदि तात्विक सत्यों की ओर ले जाते हैं। इस प्रकार का अभियान ही कल्याण का मार्ग है। परम आत्मकल्याण का मतलब है--आकस्मिकता तथा नियति के स्थान पर नियमशीलता और स्वतंत्रता का दर्शन करना। जब मनुष्य अपनी पाशविक प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त कर विराट् आदर्शों की प्राप्ति में ही कल्याण का दर्शन करता है, तब उसकी बुद्धि विशालदर्शिनी हो जाती है। आदर्शों की निष्काम साधना उसके जीवन में सामंजस्य लाती है। ऐसा मनुष्य सत्य की विजय में विश्वास कर सर्वदा अशिव, पाप, पराभव के साथ युद्ध कर नियम और स्वातंत्र्य का दर्शन मानवजाति को कराना चाहता है। जब से, विकासक्रम में, मानव को अपनी विचारशक्ति का उद्बोधन हुआ तभी से मानों वह नियति की प्रचण्ड शक्ति से युद्ध कर रहा है। ज्ञान के प्रकाश के साथ अज्ञान-तमिस्रा का आवरण हट जाता है और श्रेय, प्रकृष्टता, अभ्युदय, संस्कृति, प्राणपूर्ण जीवन, चिरन्तन

१. उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥
जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥ (गीता, ६।५-७)

अभिलाषा आदि का दर्शन होता है। जिस वस्तु को मानव अप्रतिहार्य मानता है, उसके स्वरूप का विचारात्मक ज्ञान उसे निर्भीकता प्राप्त कराता है। स्वामी दयानन्द मृत्यु की भयंकरता को विजय करने के लिए संन्यास में प्रवृत्त हुए थे। किन्तु अन्त में भौतिक मृत्यु के सामने उनको भी पराजित होना पड़ा। तथापि ज्ञान के सहारे तात्त्विक दृष्टि से नियति का परिज्ञान होने के कारण वे मृत्यु से विचलित न हुए। बुद्ध की निर्वाणकालीन प्रसन्न मुखमुद्रा व्यक्त करती है कि अप्रतिहार्य घटनाओं का विचारात्मक ज्ञान मनुष्य को स्वतंत्रता प्राप्त कराता है। इस प्रकार का तत्त्वचिंतन प्रकृति की नियतिशीलता तथा आकस्मिकता को स्वातंत्र्य में परिवर्तित करता है। अतः, विज्ञान सहित ज्ञान के उत्कर्ष का ज्ञापन ही स्वतंत्रता का दार्शनिक तात्पर्य है[1]।

(ख) नैतिक स्वतंत्रता

जब हम संसार पर दृष्टि डालते हैं तब प्राकृतिक शक्तियों का सर्वत्र साम्राज्य पाते हैं। किन्तु संकल्प शक्ति का विकास कर हम उनसे युद्ध कर सकते हैं। अपनी अपरिमार्जित प्रवृत्तियों का संयमन कर संकल्प शोधन करना हमारे वश में है। भौतिकवादी सभ्यता का अभूतपूर्व और अश्रुतपूर्व उत्कर्ष इसी संकल्पमूलक विकास का फल है। अतः, संकल्प की मीमांसा में हम प्रवृत्त होंगे और स्वतंत्रता से इसका संबंध बतावेंगे। स्वतंत्रता का तात्पर्य है--अनियंत्रित होकर अपनी स्वतंत्र बुद्धि से निर्णय करना। स्वतंत्र निर्णय करनेवाला संकल्प ही स्वतंत्रता का प्रदाता है। हेगेल ने कहा है कि संकल्प, स्वतंत्रता के बिना शब्दमात्र है। चेतन मानव के संकल्प का आकार धारण कर ही स्वतंत्रता क्रियात्मिका होती है। अतः स्वतंत्रता का तात्पर्य हुआ—संकल्प का स्वातंत्र्य। इस संकल्प का स्वातंत्र्य तर्कशक्ति के नियंत्रण से प्राप्त होता है। आकस्मिक सद्यःप्रसूत प्रवृत्तियों का भोग, संकल्पात्मक स्वातंत्र्य नहीं है, अपितु जो आवश्यक या कर्तव्य है, उसी की प्राप्ति करानेवाली विचारशक्ति से आदिष्ट होना ही स्वतंत्रता की ओर प्रयास है।

मनुष्य संकल्प की स्वतंत्रता तब प्राप्त करता है, जब किसी वाह्य शक्ति से न नियंत्रित होकर आन्तरिक स्रोतों से प्रेरणा प्राप्त होती है। जगत् में क्या कर्म, अकर्म

१. इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धार्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ (गीता, ९।१-२)

या विकर्म है, इसके सम्बन्ध में अनेक मत फैले हैं। कर्मसंकट के अवसर पर, जब किंकर्तव्यविमूढ़त्व या कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव की अवस्था उत्पन्न हो जाती है, उस समय क्या विनिर्णय किया जाय, यही मानव के सामने प्रश्न रहता है। यदि इसका निर्णय करने में उसे आन्तरिक प्रेरणा प्राप्त होती है, तब कह सकते हैं कि उसका संकल्प स्वतंत्र है। जिन कर्मों के पीछे संकल्पों का धारण करनेवाला स्वयं कर्ता वर्तमान है, उन्हें स्वतंत्र कर्म कह सकते हैं। कुछ विचारकों का कहना है कि संकल्प तो सर्वदा स्वतंत्र रहता है। संकल्प की स्वतंत्रता का प्रश्न अनावश्यक है। हाँ, कर्म की स्वतंत्रता का प्रश्न अवश्य ही संगत है। किन्तु संकल्प की स्वतंत्रता का प्रश्न केवल संकल्पों के वाह्य स्वरूप पर ही ध्यान नहीं देता है अर्थात् केवलमात्र यही नहीं देखता कि संकल्प का स्वरूप ही ऐसा है कि संकल्पकारक अवश्य ही स्वतंत्र होगा। संकल्पस्वातंत्र्य का केवलमात्र यही अर्थ नहीं है कि हम वाह्य शक्तियों की प्रेरणा से अप्रभावित रहें; किन्तु संकल्प का--जैसा सुकरात, कांट आदि का विचार है--लक्ष्य भी नीतिसम्मत होना चाहिए। बौद्धदर्शन में सम्यक् संकल्प के तीन लक्षण हैं-(क) संसार के प्रति राग और मोह का परित्याग, (ख) अन्य लोगों के प्रति दुर्भावना का त्याग और (ग) अन्य लोगों की किसी प्रकार की बुराई न करना। संत पाल, रूसो, बोसांक्वेट आदि ने भी संकल्प स्वातंत्र्य का नैतिक इच्छाओं की क्रियान्वयता ही अर्थ स्थापित किया है। जब हमारे संकल्पों के बीच कोई तारतम्य रहता है, जब जीवन-दर्शन की एक निश्चित धारा का वे अनुसरण करते हैं, तभी उन्हें स्वतंत्र कहा जा सकता है। आकस्मिक प्रवृत्तियों की तुष्टि स्वतंत्रता कदापि नहीं है। इसी विचारधारा का अनुसरण करते हुए बौद्ध-दर्शन में संकल्प के सम्यकत्व के लिए सम्यक् दर्शन की आवश्यकता बताई गई है। जब हमारा जीवन एक विशिष्ट उद्देश्य का अनुसरण करता है और अपनी समस्त क्रियाओं और भावनाओं का उसी विराट् लक्ष्य से हम संगठन करते हैं तब स्वतंत्रता का उदय होता है। साधारणतः ऐसा कहा जा सकता है कि सन्मार्गानुसारी लक्ष्य से नियंत्रित होना भी तो नियंत्रण ही है, यह स्वतंत्रता कैसे है? किन्तु इस प्रकार का तर्क शाब्दिक है। जब हम कुप्रवृत्तियों और एषणाओं से ग्रस्त होकर कार्य करते हैं तब वह राजसिक या तामसिक कर्म की अवस्था है। उस समय ज्ञान-चैतन्य का उदय न होने से स्वतंत्रता का कोई प्रश्न नहीं उठता। परन्तु जब सन्मार्ग का हम अनुसरण करते हैं, उस समय विराट् आदर्शवाद से प्रभावित रहने के कारण हमारे भीतर चैतन्य का प्रकाश कार्य करता है। वाह्य दृष्टि से देखने पर, परिवार आदि की परवाह न कर मदिरा का सेवन करनेवाला विषयी और ज्ञान के लिए स्त्रीपुत्र को छोड़नेवाले बुद्ध, समानरूप से अपनी प्रवृत्तियों से प्रेरित थे, किन्तु शराबी

को हम अज्ञानपाशबद्ध और बुद्ध को परम स्वतंत्र मानते हैं। काण्ट की नियमपूर्वक कार्य करने की प्रणाली, अन्यों के लिए मुहावरे में बदल चुकी थी; किन्तु क्या काण्ट अपने लिए परतंत्र कहा जायगा? स्वतंत्रता का लक्षण है– विवेचनकारिणी बुद्धि से नियंत्रित होना। आत्मवान् पुरुष ही स्वतंत्र रह सकता है न कि इच्छाओं का दास[1]। आत्मवान् अपने कर्म में आसक्त नहीं होता है। उसे अच्छी तरह विदित है कि उसका संकल्प स्वप्रेरित और स्वतंत्र है। इस आत्मवान् पुरुष की अवस्था को ही आत्मनिष्ठ स्वतंत्रता कहते हैं। जब नानात्व और प्रवाह में तटस्थ होकर, मानव आत्मतृप्त रह कर भावनापरिमार्जन के द्वारा आत्मदर्शन करता है, तब वह अस्मत्प्रत्ययगोचर अहं को भी ज्ञान का विषय बना डालता है और इस प्रकार प्रकृष्ट विचारात्मक परम विज्ञान का जन्म होता है। उपनिषत् में वेदकालीन बहुदेवोपासना और ब्राह्मणग्रंथों के यज्ञ, कर्मकाण्ड आदि के विरोध में 'आत्मानं विद्धि' या 'तत्त्वमसि' का संदेश प्रचारित किया गया। बहुत्व या प्रकृतिपाश से मुक्त होकर आत्मज्ञान प्रचारित करना ही आत्मनिष्ठ स्वतंत्रता है। भारतवर्ष में बुद्ध और यूरोपीय जगत् में सिसेरो, लूथर, काण्ट आदि इस आत्मनिष्ठ चैतन्यपरक स्वतंत्रता का उद्घोषण करते हैं। आत्मनिष्ठ स्वतंत्रता का ज्ञान मानव के आत्मिक विकास के इतिहास में एक महान् मंगलमय संदेश है[2]।

---

१. तुलनीय—

श्रुताद्धि प्रज्ञोपजायते प्रज्ञया योगो योगादात्मवत्तेति विद्यासामर्थ्यम्।

विद्याविनीतो राजा हि प्रजानां विनये रतः।
अनन्यां पृथ्वीं भुङ्क्ते सर्व भूतहिते रतः॥

विद्याविनयहेतुरिन्द्रियजयः कामक्रोधलोभमानमदहर्षत्यागात्कार्यः। कर्णत्वगक्षिजिह्वाघ्राणेन्द्रियाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेष्वविप्रतिपत्तिरिन्द्रियजयः। शास्त्रार्थानुष्ठानं वा। कृत्स्नं हि शास्त्रमिदमिन्द्रियजयः। तद्विरुद्धवृत्तिरवश्येन्द्रियश्चातुरन्तोऽपि राजा सद्यो विनश्यति। (अर्थशास्त्र १।५-६)

× ×

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥
नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।
(कठोपनिषत् २।१।१२-१३)

२. प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः॥

आत्मा के प्रकृष्ट स्वरूप की उपलब्धि मानव का परम पुरुषार्थ है। यूनानी दार्शनिकों ने बताया है कि मानव के व्यक्तित्व-निर्माण पर उसकी यादृच्छिक कर्तृत्वशक्ति का ही नहीं, अपितु जिस वस्तु की अभीप्सा उसे है, उस वस्तु के परिपक्वस्वरूप का भी उस पर पूरा प्रभाव पड़ता है। अरस्तू के अनुसार परिपाक या पूर्णतः निष्पन्न विकसितावस्था का ही नाम स्वभाव या निसर्ग है। प्रत्येक वस्तु अपनी नैसर्गिक पूर्णता को प्राप्त कर ही अपना तात्विक स्वरूप प्राप्त कर सकती है। वेदान्त के अनुसार भी अपने स्वरूप का अनुसंधान कर तन्निष्ठ होना ही मानव का लक्ष्य है। जैसे यूनानी दर्शन में, बीज का निसर्गभूत स्वरूप वृक्षत्वप्राप्ति है, उसी प्रकार भारतीय दर्शन भी स्वरूपानुसंधान का ही आदर्श उपस्थित करता है। इस आत्मदर्शन को वेदान्त के कुछ व्याख्याकारों ने बड़ा ही रहस्यपूर्ण लोकोत्तरवादी रूप दे दिया है। इस रहस्यमयता की चरम पराकाष्ठा अरविन्द में प्राप्त होती है। हमें इस प्रकार की निगूढ़ अतिबौद्धिक रहस्यमयता अभीष्ट नहीं है। आत्मदर्शन का मतलब एकान्तवास या प्राणायाम-साधन या अपने को अवतार घोषित करना नहीं है। आत्मदर्शन का तात्पर्य है अपनी अन्तर्निहित शक्तियों का परिपाकपूर्ण विकास। स्वतंत्रता शब्द का मूलार्थ भी यही है—स्व अर्थात् अपना तंत्र। जब तक हम अपना पूर्ण विकास नहीं कर लेते जबतक विरोधी शक्तियों से हमारा पराजय हो जायगा। "नायमात्माबलहीनेन लभ्यः"[१]। आत्मप्राप्ति के निमित्त बल, अप्रमाद और तप की बड़ी आवश्यकता है। किसी विशिष्ट आदर्श को सामने रखकर किये गये अध्यवसाय का ही नाम तप है। अतः, अपनी स्वभावनियत शक्तियों का पूर्ण प्रस्फुटन ही आत्मवत्ता है। जब किसी विशिष्ट मौलिक कार्य के द्वारा विलक्षणता हम प्राप्त करते हैं तब हमें आत्म-बोध होता है। विजय के उस क्षण में जब आनन्दातिरेक से योद्धा अपने को विस्मृत कर लेता है तब उसे भी आत्मज्ञान होता है। यह आत्म-ज्ञान लँगोटी बाँधनेवाले साधुओं का परम्पराप्राप्त धन नहीं है। एक अर्थ में प्रत्येक

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति।
तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति।
क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः।
(मुण्डकोपनिषत् ३।१-२)

१. तुलनीय—

छान्दोग्योपनिषत्—"स यदा बली भवत्युत्थाता भवति, उत्तिष्ठन्परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन्द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्त्ता भवति विज्ञाता भवति बलेन वै पृथिवी तिष्ठति।" (छान्दोग्य, ७।८।१)

व्यक्ति अपने अनुभवों के सहारे आत्मवत्ता का लाभ करता रहता है। जहाँ तक उसके अनुभवों में विभूतिमत्ता, प्रकृष्टत्व तथा औदात्य रहेंगे, वहाँ तक उसे आत्मज्ञान की विशेषता प्राप्त होगी। अतः आत्मवान् वही है जिसे अपने व्यक्तित्व का सम्यक् बोध है। जिसे अपने व्यक्तित्व का बोध है, वही स्वतंत्र है, क्योंकि ऐसा मनुष्य अपनेको लक्ष्य मानकर सर्वदा आत्मवान् रहेगा, परवान् कदापि नहीं।

नैतिक स्वतंत्रता का स्वरूप है आत्मवान् की स्थिति। ऐसा आत्मवान् ही विजितात्मा, समाहितात्मा या महात्मा है। ऐसा आत्मवान् कंदरे में बैठकर, जटा बढ़ा कर केवल एकात्वानुदर्शन नहीं करता है, किन्तु आत्मौपम्य दृष्टि से जगत् के मनुष्यों के साथ कल्याणकारी व्यवहार करता है। उसके सम्बन्ध में गीता में कहा है—ऐसा पुरुष स्वभावतः ही मैत्री, करुणा आदि की भावनाओं से प्रभावित रहता है और राग-द्वेष से मुक्त होकर सब प्राणियों में एक भाव रखता है[1]। इसी विचार को ध्यान में रखकर ही आत्म निग्रह का संदेश ऋग्वेद से लेकर गांधी तक भारतीय संस्कृति में प्रचारित रहा है। ईसाई धर्म से प्रभावित दार्शनिकों ने भी इस प्रकार का विचार रखा है। रूसो ने बताया है कि प्रवृत्तियों की आज्ञानुकारिता दासता है। आत्मनिर्दिष्ट नियमों की आज्ञानुकारिता ही स्वतंत्रता है[2]। जब मनुष्य स्वार्थ, अहंकार आदि की

१. यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

(गीता, १२।१५–१६)

× × ×

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

(पातञ्जलयोगसूत्र, १।३३)

२. Rousseau, *Social Contract* Book I, chapter 8: "What man loses by the social contract is his natural liberty and an unlimited right to everything he tries to get and succeeds in getting; what he gains is civil liberty and proprietuorship of all he possesses. If we are to avoid mistake in weighing one against the other, we must clearly distinguish *natural liberty*, which is bounded only by the strength of the individual,

एषणाओं से ऊपर उठकर अपनी परार्थसाधिनीवृत्ति का अनुगमन करता है तब उसका वास्तविक संकल्प प्रकट होता है। मनुष्य न तो पूर्णतः स्वार्थपरायण है और न पूर्णतः परमार्थसाधक। संभवतः कोई भी मनुष्य मानवभावनाओं से नितान्त रिक्त नहीं है। अतः, परमार्थसाधक वास्तविक संकल्प का प्रकटीकरण अवश्य ही एक महान् आदर्श है और इसी प्रकार की उदात्त भावनाओं पर मानव-समाज और संस्कृति टिकी हुई है। इस प्रकार का परमार्थ-साधन मनुष्य को आसुरी और संस्कृति, सम्पत्ति और राक्षसी वृत्ति से त्राण प्राप्त कराता है और इस प्रकार नैतिक स्वतंत्रता का उदय होता है। आसुरी सम्पत् के नाश से निबन्ध का अन्त होता है और विमोक्षकारी दैवी सम्पत् का प्रकर्ष। इस प्रकार समता की स्थिति प्राप्त होती है। भगवद्गीता में तथा स्ताइक मत में इस समता का आदर्श व्यक्त किया गया है। अनासक्त भाव से, कर्तव्य बुद्धि से प्रेरित होकर, जय और पराजय, लाभ और अलाभ से प्रभावित होने की भावना को छोड़कर सत्य के लिए संघर्ष करते जाना ही मानव का आदर्श होना चाहिए।

अतः, स्पष्ट है कि समता तथा स्थितप्रज्ञता का आदर्श स्थापित करनेवाला नैतिक स्वातंत्र्य स्वेच्छाचार वृत्ति कदापि नहीं है। कभी-कभी जब यह कहा जाता है कि समतावान् निस्त्रैगुण्य होकर पाप और पुण्य से परे हो जाता है तब यह केवल आलंकारिक प्रयोग है। वस्तुतः जिस समतावान् में प्रकृष्ट बौद्धिक विचारणा का उदय हुआ है, वह मानव के लिए अशोभनीय किसी कर्म में कदापि प्रवृत्त नहीं हो सकता। आत्मिक विकास तथा जनकल्याण, इसके अतिरिक्त उसके लिए कुछ कर्तव्य नहीं रहता है[1]।

---

from *civil liberty* which is limited by the general will ...... we might, over and above all this, add, to what man acquires in the civil state, *moral liberty*, which alone makes him truly master of himself; for the mere impulse of appetite is slavery, while obedience to a law which we prescribe to ourselves is liberty."

१. न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानावाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोकाः न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

व्यवसायात्मिका बुद्धि के अनुसार साध्यसाधन का विचार कर, अपनी शुद्ध भावनाओं का प्रसारण और कुप्रवृत्तियों का दमन करते हुए ही, ऐसा पुरुष आचरण करता है। भाव-प्रवणता के आधार पर कार्य न कर, बौद्धिक तर्कसंगत आचरण का संदेश, स्पीनोजा और कांट में भी प्राप्त होता है। वास्तविक आत्मज्ञान मानव में अभिमान को कम करता है। ऐसा ज्ञानी संपूर्ण ज्ञान का कभी दावा नहीं करता है। वह गंभीर विशाल दृष्टि से मूल्यवान् श्रेयों को क्रियान्वित करता है। उसकी दृष्टि में स्वाभाविक ही विशालता रहती है और व्यर्थ अभिमान के बदले वह नम्रता और निरभिमानता से व्यवहार करता है। उसके प्रत्येक कार्य और वृत्ति से उत्तरदायित्व की भावना व्यक्त होती है। वह अपने प्रति और अपने समाज के प्रति तथा मानव जाति के प्रति अपना कर्तव्य पालन करता है। उत्तरदायित्वपूर्ण कर्मयोग ही नैतिक स्वातंत्र्य का आधार है। ऐसा कर्मयोगी कदापि दूसरे की स्वतंत्रता का अपहरण करना नहीं चाहेगा। इच्छा-स्वातंत्र्य वह बुद्धि-संगत संकल्प है जो सबके प्रति न्याय करना चाहता है। न्याय के समता में रूपान्तरित होने की अन्ततः वह अवस्था भी आ जाती है जब मनुष्य अपने अधि-कार का भी बलिदान कर दूसरे का हित-साधन करता है।

सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ-साथ स्वतंत्रता का प्रश्न जुड़ा हुआ है। मानव का ज्यों ज्यों बर्बरता और जड़ता से उन्नयन हुआ है त्यों-त्यों मनुष्य जन्म से ही समान और स्वतंत्र पैदा होता है। इस प्रकार की भावना विकसित होती गई है। ज्यों-ज्यों इन अधिकारों के सबंध में चैतन्य बढ़ता गया है, त्यों त्यों इनको व्यावहारिक रूप से चरितार्थ करने का उद्योग भी जारी है। यांत्रिक सभ्यता के अपरिकल्पित विकास ने साधारण मनुष्यों के मस्तिष्क में समाज में क्रांति करनेवाले वे विचार उत्पन्न कर दिये हैं, जिन्हें अरस्तू भी कभी कल्पित नहीं कर सकता था। आकाश, काल, वायु, अग्नि पर सतत मानव का विजय प्रकृष्ट वेग से हो रहा है; किन्तु दो विश्वमहासमरों ने मनुष्य के अन्दर संशयवाद और निराशावाद को जन्म दिया है। स्पेंगलर ने बताया है कि पश्चिमी सभ्यता अपने पतन की ओर बढ़ रही है[१]। सोरोकिन छः सौ वर्ष पुरानी पश्चिमी भौतिक संस्पृष्ट वैज्ञानिक इन्द्रियज्ञानाधारित सभ्यता की सान्ध्यवेला का वर्णन करता है[२]। ट्वायनबी का कहना है कि पश्चिमी सभ्यता परीक्षाकाल से गुजर रही है और धार्मिक विश्वासों का दृढ़ीकरण ही उसे बचा सकता

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥ (गीता, ३। २२–२५)

१. Oswald Spengler, *The Decline of the West.*

२. P. A. Sorokin, *The Crisis of Over Age, Social and Cultural Dynamics.*

है[१]। अणुबम की भयंकरता को देखते हुए इस यांत्रिक भौतिकवादी सभ्यता से निराशा और निरुत्साह ही पैदा होते हैं। किन्तु राजनीतिक, आर्थिक, भौतिकवादी और यंत्रवादी सभ्यता से उच्चतर संस्कृति का स्तर है। कला, धर्म, साहित्य, दर्शन, मनोभावना आदि की उन्नति संस्कृति का आधार है। इस प्रकार की संस्कृति भावनाओं की परिशुद्धि, स्वार्थ का अतिक्रमण और मानवता का दर्शन कराती है। स्पष्ट है कि ऐसी संस्कृति सचमुच विशाल नैतिक स्वतंत्रता का चित्र उपस्थित करती है। नैतिक स्वतंत्रता वास्तविक श्रेयों का दर्शन कराती है और उनका वाह्य प्रभाव स्पष्ट करती है। इस प्रकार की स्वतत्रता, धर्म के वास्तविक रूप से एकरूप ही है। विशुद्ध धार्मिक दृष्टि क्षुद्र स्वार्थों की इयत्ता बताकर अपनी बुद्धि और जनकल्याण की आवश्यकताओं के बीच सामंजस्य स्थापन का संदेश देती है।

नैतिक दृष्टि से आत्म-विनिर्णय करना ही स्वतंत्रता का मूल है। स्वतंत्रता का तात्पर्य है कि प्रत्येक संकट और खतरे के अवसर पर मनुष्य आत्मिक दृष्टि का परिपालन करे, कभी भी न्याय के पथ से विचलित न हो। व्यापक दृष्टि से स्वतत्रता का विश्लेषण करते हुए हमने इसका अर्थ किया है—यादृच्छिकता, अनासक्त कर्मयोग, आत्मनिग्रह और आत्मज्ञान। स्वतंत्रता का मूल अर्थ है आत्मा का साम्राज्य स्थापित करना। राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक जगत में निहित स्वार्थों का विरोध करते हुए आत्मिक कल्याण और सामान्य हित की सिद्धि ही स्वतंत्रता का लक्षण है। स्व अर्थात् व्यापक विशाल आत्मा के तंत्र अर्थात् साम्राज्य के मार्ग में जितने भी अवरोध और कण्टक आवें उनका उन्मूलन करना स्वतंत्रता के पथ के पुजारी का कर्तव्य है। इस प्रकार स्वतंत्रता का व्यापक अर्थ करने से इसके सीमित अर्थ, अर्थात् 'अवरोधों का अभाव' से सन्तोष नहीं होगा[२]। मानव की समस्त शक्तियों का पूर्णतम विकास अवश्यंकरणीय है; किन्तु यह विकास किसी अन्य मनुष्य या गुट के विकास का विरोधी न हो। इस प्रकार का विकास समस्त स्तरों पर—आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, मानसिक, नैतिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक—होना चाहिए। ज्यों-ज्यों मानव चेतना का विकास होता है, त्यों-त्यों मानव आत्मविनिर्णय करना चाहता है, किन्तु यह आत्मविनिर्णय अहंकाराविष्ट विनिर्णय नहीं है। मनुष्य का वास्तविक रूप अहंकाराश्रित स्वार्थनिष्ठ व्यक्तित्व नहीं है, अपितु वह विशाल तत्व है जिसका अपने अनुभव और तपस्या से वह साक्षात्कार करना चाहता है। स्वतंत्रता, मानव के आध्यात्मिक और नैतिक कर्तृत्वशक्ति को अनावृत और विमुक्त करती है। इस प्रकार का मनुष्य समाज और राज्य में कदापि अत्याचार, अनाचार, दमन,

१. Arnold Toynbee, *Civilization on Trial*.
२. Hobbes, *Leviathan*, अध्याय २१.

उत्पीड़न, शोषण, अधर्म नहीं देख सकता। साधुत्व का परित्राण और दुष्कर्म का विनाश उसका स्वभाव है। वह प्रत्येक स्तर पर, सत्य की विजय चाहता है। अतः आवश्यक है कि दार्शनिक और नैतिक स्वतंत्रता के साथ-साथ राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता का भी विवेचन किया जाय।

(ग) राजनीतिक स्वतंत्रता

मानव सभ्यता और संस्कृति का विकास स्वतंत्रता की खोज का इतिहास है। सभ्यताओं के उत्थान और पतन का इतिहास बहुत अंशों तक इस बात से नियंत्रित रहा है कि कितनी दूर तक उनमें स्वतंत्रता का निर्वाह किया जाता था। रोम का साम्राज्यवाद अपने अधिकृत प्रदेशों की स्वतंत्रता को सहन न कर सकता था। अतः कमजोर अधिकृत प्रदेश आक्रमणकारी बर्बर जातियों ट्यूटन, स्लाव आदि का बिलकुल सामना न कर सके। स्पेंगलर का ऐसा विचार है कि स्वतंत्रता नगर की देन है[1]। ग्रामीण सभ्यता भूमिनिष्ठ रहती है। भूमि से विद्रोह कर जब मनुष्य नगर का निर्माण करता है तब वहाँ के गतिशील जीवन से स्वतंत्रता का उदय होता है। इतिहास में अनेक भीषण युद्ध स्वतंत्रता की रक्षा के लिए हुए हैं[2]। यूनान और फारसी साम्राज्य का युद्ध प्रसिद्ध है। इतिहासवेत्ताओं का कहना है कि यदि फारस, यूनान को अधिकृत कर लेता तब यूनानी विचारस्वातंत्र्य के स्थान पर एशियाई एकतंत्रवाद मजबूत बनता और संभवतः यूरोपीय स्वतंत्रतावाद का उदय ही न हो सकता था। प्रसिद्ध यूनानी राजनीतिज्ञ पेरिक्लिज के व्याख्यान से मालूम पड़ता है कि एथेन्स और स्पार्टा के बीच का पेलोपोनेशियन युद्ध स्वतंत्रता की रक्षा के लिए हुआ था। भारतीय इतिहास में चन्द्रगुप्त मौर्य, खारवेल, पुष्यमित्र शुंग, गुप्त सम्राट्, गुर्जर प्रतिहार सम्राट, तिलक, गांधी, आदि का इसीलिए विशिष्ट स्थान है कि इन लोगों ने देश के स्वातंत्र्य आन्दोलन का नेतृत्व किया था। इंगलैण्ड में मैग्नाकार्टा के नेता तथा १६१०, १६२८, १६८८ आदि के आन्दोलन के नेताओं का इसीलिए आदरणीय स्थान है कि उन लोगों ने स्वतंत्रता की रक्षा आक्रमणकारी राजशक्ति के विरोध में की। अमरीका के स्वतंत्रता-आन्दोलन के समय यह महामंत्र उच्चारित हुआ था—"मुझे स्वतंत्रता दो या मुझे मृत्यु दो।" फ्रांस की राज्यक्रान्ति का मूल उद्देश्य स्वतंत्रता और समानता की प्राप्ति था। सन् १७८९ के घोषणा-पत्र में बुलन्द शब्दों में कहा गया कि सारे मनुष्य स्वतंत्र हैं और समानाधिकार के साथ जन्म लेते हैं और इसी प्रकार रहते हैं। स्वतंत्रता, सुरक्षा आदि के नैसर्गिक और अपरिहरणीय अधिकारों की रक्षा

१. Spengler, *The Decline of the West* II. पृष्ठ ३५४
२. Engels, *Anti-Duhring*, पृष्ठ १२५–१२६

ही राज्य का उद्देश्य है। संप्रभुता राष्ट्र में निवास करती है। सामान्य संकल्प का प्रकाशन ही कानून या विधि है। इस घोषणा-पत्र में यह भी कहा गया कि जहाँ तक दूसरों के अधिकारों पर आक्रमण न हो, वहाँ तक सब कुछ करने का नैसर्गिक अधिकार मनुष्य को है। सन् १७९३ के घोषणापत्र में भी इन बातों को दुहराया गया। १७९१ के संविधान में भी ये विचार पाए जाते हैं। मानव अधिकारवाद और स्वतंत्रता के इतिहास में अमरीका और फ्रान्स की राज्य क्रान्तियों का अत्यन्त ही महत्वपूर्ण स्थान है। सन् १७७६ का अमरीकन घोषणापत्र और १७८९ का फ्रांसीसी घोषणा-पत्र, बड़े उदात्त शब्दों में स्वतंत्रता और मानव अधिकार का संदेश बुलन्द करते हैं और अन्य देशों में भी जो उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में स्वातंत्र्य आन्दोलन हुए हैं, वहाँ के नेता भी इन दो देशों के स्वतंत्रता-संग्राम से प्रभावित हुए थे। अमरीका का गृहयुद्ध हब्शी जातियों को दासता से मुक्त कर, अपना एक विशिष्ट स्थान मानव इतिहास में रखता है। पहले विश्वसमर में प्रजातंत्र को सुरक्षित करने की जिम्मेवारी विलसन के नेतृत्व में मित्र राष्ट्रों ने अपने ऊपर ली थी। दूसरे विश्व-समर में रूजवेल्ट ने 'चार स्वतंत्रताएँ' का नारा लगाया और आज भी इस नारे को फिर से दुहराया जाता है। आज जब जगत् में बड़े वेग से अशान्ति बढ़ रही है और युद्ध का खतरा नजदीक आ रहा है, तब अमरीका और रूस के नेतृत्व में दोनों वर्ग कह रहे हैं कि वे स्वतंत्रता के ही उपासक हैं। एक मानव की स्वतंत्रता की घोषणा करता है तो दूसरा दुनिया को शोषणमुक्त करने की प्रतिज्ञा करता है। यदि एक वर्ग लॉक, जेफरसन, टामस पेन की विचारधारा से प्रभावित है, तो दूसरा हेगेल के विचार-नियति का ज्ञान ही स्वतंत्रता है, इससे प्रभावित हो वर्गहीन समाज की स्थापना करना चाहता है। अतः आवश्यक है कि राजनीतिक स्वतंत्रता का रूप अच्छी तरह समझा जाय।

सतरहवीं, अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में जो आन्दोलन इगलैण्ड, फ्रान्स और अमरीका में हुए उनका आधार था व्यक्तिस्वातंत्र्य। व्यक्ति राजनीतिक और बौद्धिक स्वतंत्रता से ही अपना सफल, पूर्ण विकास कर सकता है, यही उस समय का मुख्य विचार था। राज्य का आधार जनसम्मति को, इसी वैयक्तिक अधिकारवाद की दृष्टि से तत्कालीन विचारक बनाना चाहते थे। स्वतंत्रता का अर्थ इस समय था राज्यशक्ति पर नियंत्रण। माण्टेस्क्यू ने राज्यशक्ति के विभाजन में ही वैयक्तिक स्वतंत्रता का मूल देखा था। राजनितिशास्त्र का सबसे महान् प्रश्न संभवतः यही है कि किस प्रकार सत्ता और अधिकार का सामंजस्य किया जा सके। यह ठीक प्रतीत होता है कि सत्ता पर नियंत्रण ही अधिकारप्राप्ति का

मूल है। यदि राज्य अपनी नियमानुकूल सत्ता का अतिक्रमण करता है तो उसे बदल देने का अधिकार जनता को है, ऐसा लॉक ने कहा था[१]। रूसो ने तो सरकार को जनराज्य का एक एजेन्ट या भृत्यमात्र कहा है। वैयक्तिक अधिकार से ही राज्य-सत्ता नियंत्रित की जा सकती है, यह विचार प्रजातंत्रीय शासनप्रणाली का सचमुच ही मूल है। राजकीय सत्ता के अवरोधों का अभाव या उनकी कमी ही वैयक्तिक स्वतंत्रता का मूल है, इस आशय के विचार बेंथम, मिल, स्पेन्सर आदि ने जोरों से प्रचारित किये थे। स्पेन्सर ने कहा कि प्रत्येक व्यक्ति यथासंकल्प कार्य करने के लिए पूर्ण स्वतंत्र है, यदि वह दूसरे मनुष्य की समान स्वतंत्रता पर आक्रमण नहीं करता है। ठीक इसी आशय का विचार कांट ने भी स्थापित किया था और स्पेन्सर ने अन्ततः कांट का ऋण स्वीकार किया। स्पेन्सर ने व्यक्तिवाद का चरम रूप व्यक्त किया और राज्य की उपेक्षा करने के मानव अधिकार का भी उसने समर्थन किया। इस उग्र व्यक्तिवाद की पराकाष्ठा अन्ततः अराजकतावाद में प्राप्त होती है, जब राज्य-सस्था का ही मानव अन्त कर देना चाहता है। पेन ने बताया था कि मानव की दुष्टता के कारण ही राज्य की आवश्यकता है। सीली ने कहा कि पूर्ण स्वतंत्रता और सरकार का अभाव समानार्थक है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र नैतिक स्वातंत्र्य का समर्थक होकर भी राज्य की सामाजिक आवश्यकता को स्वीकार करता है।

सभ्यता की पेचीदगी के विकास के साथ साथ घोर व्यक्तिवाद की विचारधारा की नूतन व्याख्या अपेक्षित है। आधुनिक युग में स्वतंत्रता किसी पुरानी ग्रामीण सभ्यता के उद्धार के लिए नहीं मांगी जा रही थी, जहाँ भूमि की प्रचुरता हो और प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए आवश्यक अन्न उपजाकर अपना जीवन चलावे। ऐसी अवस्था में संघर्षहीन व्यक्तिवादी स्वतंत्रता फल-फूल सकती थी। किन्तु पूँजीवादी और यांत्रिक सभ्यता की पेचीदगी के कारण अनेक ऐसी समस्याएँ उत्पन्न हो गईं जिन्होंने राजसत्ता को स्वतंत्रता-प्राप्ति का एक आंशिक साधन सिद्ध किया। यदि पूँजीवादी, कर्मकरों का शोषण करते थे तो राज्य पूंजीवाद का नियंत्रण कर कर्मकरों की स्वतंत्रता का क्षेत्र बढ़ाता था। शिक्षा, अस्पताल आदि की व्यवस्था जनसमूह को आलसी और उत्तर-दायित्वहीन नहीं बनाती है, अपितु मानव की शक्तियों के प्रचुर विकास में एक आवश्यक साधन है। व्यक्तिवादी, राज्य-कानून और स्वतंत्रता में तीन और छः का सम्बन्ध देखते थे। किन्तु उनका आधार असंगत था। आदिमनिवासियों के समूह में भी कानून या व्यवस्था का अभाव नहीं है। हाँ, ये कानून कागज पर लिखे हुए या किसी संस्था से स्वीकृत या निर्मित नहीं होते। ये प्रथा, परंपरा आदि के रूप में रहते हैं, किन्तु

१. John Locke, *Civil Government* II, Chapter-22।

इनकी शक्ति बड़ी जबर्दस्त रहती है। अतः, किसी प्राथमिक अनुसाशनहीन अवस्था की कल्पना प्रतिक्रियामात्र और निराधार है। आज इतने अधिक वर्ग और श्रेणियाँ समाज में हैं कि राजकीय कानून बनाकर ही उनके आपसी संघर्षों का समाधान किया जा सकता है। यदि कोई नई शक्ति, जैसे अणुशक्ति, आविष्कृत होती है तो उसके सम्बन्ध में कानून बनाना आवश्यक हो जाता है। यदि भारत राज्य अछूतों की तथा अमरीकन राज्य हब्शी लोगों की अधिकार-रक्षा तथा उन्हें उचित रोजी देने के लिए कानून बनाता है तो इसके द्वारा वह अपनी संप्रभुता की अभिव्यंजनामात्र नहीं कर रहा है अपितु सामाजिक क्रिया और प्रक्रिया का मार्ग साफ और प्रशस्त बनाता है। सभ्यता के विकास का अर्थ होता है—सरलता के स्थान पर प्रगुम्फितता का आगमन। जितनी अधिक दूर तक जीवन और राज्य की संजटिलता का तर्क-संगत वैधिक नियंत्रण होगा उतनी दूर तक जीवन-संघर्ष में सहायता ही मिलेगी। आज राज्य की शक्तियाँ अतिशय वेग से आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक, जनकल्याणात्मक क्षेत्रों में बढ़ रही हैं। इस कार्य-बाढ़ और तन्निमित्तक आवश्यक शक्ति-बाढ़ को नहीं रोका जा सकता है। कार्य-बाढ़ और शक्ति बाढ़ स्वतः अधिकार और स्वतंत्रता के घातक नहीं हैं। यदि वैयक्तिक नागरिक चैतन्य विकसित हो तो वह राज्य की शक्ति को तर्कानुकूल बनाने का यत्न करेगा। तर्कसंगतता और बौद्धिकता के विकास से स्वतंत्रता की प्राप्ति आसान होती है न कि पूर्ववर्ती ऐतिहासिक अवस्थाओं की कल्पना से। यदि आज उद्योग, बंक, व्यापार, रेल, यातायात के साधन आदि पर राजकीय नियंत्रण न हो तो वैयक्तिक अधिकारों का क्या होगा? अमेरिका में स्वतंत्र आर्थिक क्रिया के नाम पर केन्द्रीय सरकार की बढ़ती हुई शक्ति का विरोध किया जाता है। रिपब्लिकन दल तो हर्बर्ट हुवर के नेतृत्व में योजना सम्बन्धी समस्त कार्यों को दासता की ओर ले जानेवाला उपादान मानता है। किन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखने पर स्पष्ट होता है कि केन्द्रीय सरकार की शक्ति की कमी या उसके कार्य की कमी पर स्वतंत्रता आश्रित नहीं है। स्वतंत्रता मानव की बौद्धिक शक्ति, कर्तृत्व शक्ति और चरित्र की मौलिकता पर आधारित है। अतः, आज की दुनिया में राज्य की शक्ति की कमी और उसकी सुरक्षा तथा शांति के कार्यों को छोड़कर अन्य किसी कार्य में हस्तक्षेप न करना ही, स्वतंत्रता के आधार नहीं हैं। राजनीतिक स्वतंत्रता, राजकीय चैतन्य, आत्म-बिनिर्णय की शक्ति तथा राज्य द्वारा दी गई सुविधाओं का अधिकतम मात्रा में आत्मविकास तथा जनकल्याण के लिए प्रयोग करने से प्राप्त होती है[1]।

---

१. E. D. Marlin, *Liberty*; Francis Lieber, *Civil Liberty and*

स्वतंत्रता और जनकल्याण के संबंध में जर्मन और ब्रिटिश विज्ञानवाद की स्थापनाएं अन्ततः राजनीतिक स्वतंत्रता की विरोधिनी ही हैं। रूसो की सामान्य इच्छा की कल्पना ही इस विज्ञानवाद का आधार है[१]। उसके अनुसार सामान्य इच्छा के क्रियान्वयन को ही संप्रभुता कहते हैं। कानून केवलमात्र सामान्य इच्छा का उद्घोषण है तथा नागरिक स्वतंत्रता सामान्य इच्छा से सीमित की जाती है। रूसो के सामान्य इच्छावाद का विज्ञानवादियों ने राज्य से तादात्म्य कर दिया। कांट के अनुसार भी मानव की पूर्ण स्वतंत्रता राज्य में ही चरितार्थता को प्राप्त करती है[२]। और राज्य के द्वारा व्यवस्थित कानूनी पराधीनता से केवल जंगली विधिहीन स्वतंत्रता को ही छोड़ना पड़ता है। राज्य की शक्ति और महात्म्य का अतिशय उदात्त-वर्णन हेगेल में पाया जाता है। उसके मतानुसार सामाजिक संस्थाओं को जनस्वतंत्रता का स्तंभ मानना चाहिए। एक प्रकार से उनमें स्वतंत्रता और नियतिवाद का सम्मेलन पाया जाता है। केवल आत्मचैतन्य, ज्ञान या आत्मनिष्ठ स्वतंत्रता अपूर्ण है। केवल संस्थाएं भी अपूर्ण हैं। राज्य में ही आत्मनिष्ठ और विषयगत या वस्तुनिष्ठ स्वतंत्रता का समन्वय होता है। जब मनुष्य राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है तब उसे यथार्थ में विमोक्ष प्राप्त हो जाता है। कर्तव्यशीलता एक ओर प्राकृतिक प्रवृत्तियों से और दूसरी ओर अनिर्णीत आत्मनिष्ठता से मुक्ति प्रदान करती है। एक विनिश्चित विराट् समष्टि से एकाकारता प्राप्त करना ही हेगेल के मतानुसार स्वतंत्रता है। केवल अवरोधनों का अभाव स्वतंत्रता नहीं है। जब राज्य के विशिष्टतम आदर्श के सहारे मानव अपने जीवन का विनिर्णय करता है, तब वह स्वतंत्रता का सार और सर्वस्व प्राप्त करता है। हेगेल और रूसो के विचारों का सम्मेलन कर बोसांक्वेट ने स्वतंत्रता के संबंध में अपना विचार स्थापित किया[3]।

Self-Government ; Louis Le Fevre, *Liberty and Restraint* ; G. L. Dickinson, *Justice and Liberty* ; C. Y. C. Dawbarn, *Liberty and Progress* ; Norman wilde, "*The Problem of Liberty*", *International Journal of Ethics*, 1923; G. C. Bussy, "*Croce's Theory of Freedom*", *Philosophical Review*, 1939.

१. Hegel, *History of Phyilosophy* खण्ड ३, पृष्ठ २४१

२. Kant, *Philosophy of Right* (१६६६),, उद्धरण के लिए दृष्टव्य।
Bosanquet, *Philosophical Theory of the State*, पृष्ठ २४३–४४

३. Bosanquet, *The Principal of Individuality and Value* पृष्ठ २३, ७६–८०, ३२६.

बोसांक्वेट ने बहुत गम्भीरता से इस सत्य को पकड़ा है कि प्रत्येक मानव के हृदय में कल्याणान्वेषी एक वास्तविक इच्छा है। इस वास्तविक इच्छा का वह सामान्य इच्छा और राज्य से तादात्म्य मानता है। राज्य के अन्तर्गत ही वह पूरी राजनीतिक स्वतंत्रता मिलती है जो व्यक्ति की स्वतंत्रता को तात्विक अर्थ प्रदान करती है। राज्य द्वारा निर्धारित कानूनी व्यवस्था का अनुगमन करने में, यद्यपि सामयिक दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि वृत्तियों का दमन हो रहा है, तथापि इससे भावना-परिशुद्धि होती है और सत्य को प्राप्त करने में आसानी होती है।

विज्ञानवाद ने राज्य के सत्तावाद या संप्रभुतावाद का मानव अधिकारवाद से समन्वय का यत्न किया, किन्तु इस प्रयास में इसने राज्य की कल्याणकारिणी शक्ति का अतिशय मण्डन कर डाला। यदि एक व्यापक दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से व्यक्तिवाद अपूर्ण है तो दूसरी ओर जर्मन और ब्रिटिश विज्ञानवाद सामाजिक वृत्त की कल्पना कर मानव स्वतंत्रता का ही उसमें विलयन कर डालता है। जबतक राज्य में भयकर वर्ग संघर्ष और श्रेणी-संघर्ष वर्तमान है और जबतक आदर्श राज्य व्यवस्थित नहीं होता, तबतक किसी भी वर्तमान राज्य को स्वतंत्रता का वास्तवीकरण मानना शब्दों का खिलवाड़ करना है। जबतक राज्य में पूँजीवादी या अन्य शोषणकारी व्यवस्था का प्राधान्य है तबतक आत्म विनिर्णयकारी स्वतंत्रता से कर्मकर और कृषक वर्ग के लिए क्या लाभ है, इसका स्पष्टीकरण न हेगेल ने किया है और न बोसांक्वेट ने। प्लेटो और अरस्तू ने दार्शनिक राजनीतिवेत्ता होते हुए भी राज्य में वर्तमान आन्तरिक आर्थिक और सामाजिक संघर्ष का उल्लेख जोरदार शब्दों में किया है। व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से तत्वतः अवस्थित सामान्य संकल्प या सामान्य हित नामक कोई वस्तु नहीं है। अनेकशः वर्तमान संकल्पों के संघर्ष से उत्पन्न एकता ही राज्य का आधार है। आर्थिक स्वार्थों के घनघोर संघर्ष की उपेक्षा कर राज्य को स्वतंत्रता का वास्तवीकरण या सामान्य हित का क्रियान्वयन मानना काल्पनिक मालूम पड़ता है। सामाजिक जीवन में राज्य को वैशिष्ट्य प्राप्त है, कभी कभी राज्य को अतिशय महत्व भी मिल सकता है, किन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टि से निश्चित ही समाज, राज्य की अपेक्षा विशालतर है। अतः सामान्य संकल्प की राज्य से तदाकारता बताना असंगत है। कभी-कभी मानव की अनुभूति के सबसे अधिक महत्वपूर्ण अंश धार्मिक संस्थाओं के द्वारा, न कि राज्य के द्वारा, व्यावहारिक वास्तविकता प्राप्त करते हैं। धर्मशहीदों के जीवन चरित्र से यह बात स्पष्ट प्रमाणित होती है। हेगेल और बोसांक्वेट में वर्तमान संस्थाओं का अतिशय महत्त्व स्वीकृत किया गया है। किन्तु मानव आत्मा के विकसित होते हुए प्रबोध, और सामान्य संकल्प के

विषय में वर्धमान चैतन्य से क्या सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन वांच्छनीय हैं, इनका पूरा विवेचन नहीं प्राप्त होता ह । इतिहास और समाजशास्त्र के आधार पर निर्मित राजनीतिशास्त्र मानव आत्मा के सतत प्रवर्धनशील और विकसनशील स्वभाव को मानते हुए ऐसा विचार रखता है कि यदि वास्तविक संस्थाएँ अतर्कसंगत हो जायँ तो उनका परिवर्तन हो जाना चाहिए और यदि कोई निहित स्वार्थ, सामान्य कल्याण के नाम पर अपना स्वार्थ सिद्ध करता है तो उसके विपरीत विरोध अवश्य होना चाहिए । सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं में उनका निजी कोई अनुस्यूत लक्ष्य नहीं हैं। उनको लक्ष्यशीलता-मानव कार्यकर्ताओं के ारा प्राप्त होती है । एक समय था जब कह सकते थे कि राजगीतिक समानता की लक्ष्यसिद्धि ही राज्य का प्रयोजन है; किन्तु आज की पेचीदगीपूर्ण आर्थिक अवस्था में यही कहा जा सकता है कि सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों का समाधान कर वर्गहीन समाज की स्थापना ही हमारे सामूहिक श्रमों का प्राप्तव्य फल है ।

मानव स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति वैयक्तिक संकल्प-स्वातंत्र्य के द्वारा होती है। किन्तु किसी भी राज्य या किसी भी संस्था को स्वतंत्रता का तत्त्वत: वास्तवीकरण मानना मानव इतिहास की उस क्रान्तिकारिणी प्रवृत्ति के साथ विद्रोह है जिसके कारण ही मानव-समाज इतना विकास कर सका है। स्वतंत्रता आत्मनियंत्रण में है। राजकीय व्यवस्था में उसका पूर्ण वास्तवीकरण मानना शब्दों का भ्रामक उपयोग है। राजकीय व्यवस्था से शांति या सुरक्षा मिल सकती है; किन्तु विना संकल्प का प्रयोग किये स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हो सकती है । जब अपनी चेतन बुद्धि से, आत्मसंस्थित हो, मानव किसी जीवनशैली को चुनकर तदनुकूल अपनी प्रवृत्तियों का विनयन करता है, तब उसे स्वतंत्रता प्राप्त होती है। किन्तु हेगेल और बोसांक्वेट के विचार में यह विराट् आदर्श पूर्वत: प्राप्त है । मानव को केवल तदनुकूल व्यवहार करना है। अत: जिस महान सिद्धान्त को वे पूर्वत: प्राप्त मानते हैं, वह आत्मविनिर्णय का नियामक होकर आत्मनियंत्रण का सिद्धांत हो जाता है; क्योंकि वह पूर्वत: वर्तमान और शक्तिशाली है । अत: वह दमन तथा स्वतंत्रताहनन का ही सिद्धान्त हो सकता है।

स्वतंत्रता के सिद्धान्त का मखौल विज्ञानवादियों के उस विचार में था जब वे कहते हैं कि मानव "स्वतंत्र बनने के लिए शक्ति के द्वारा बाध्य किया जा सकता है" (फोर्स्ड टु बि फ्री)।[१] यह वाक्य कबीरदास के 'अटपटे बैन' के समान है। यह ठीक है कि

१. Rousseau, *Social Contract*, Book I, Ch. 7 : "In order that the social compact may not be an empty formula, it tacitly includes the undertaking, which

हमारी भावनाएँ, हमारी प्रवृत्तियाँ तथा हमारे कर्म, हमारे आत्मतत्त्व की पूरी अभिव्यक्ति नहीं करते तथा पूर्ण आत्मज्ञान चेतना के उस प्रसारण पर आश्रित है तब साधारण दृष्टि से जो 'अन्य' समझे जाते हैं, उनका भी समन्वय अपने व्यक्तित्व में हम कर लें, किन्तु इस प्रकार की समन्वय क्रिया स्वतःप्रेरित होनी चाहिए। दूसरी शक्ति जबतक इस प्रकार की प्रेरणा करती है तबतक नैतिक स्वतंत्रता का विकास ही नहीं हुआ है, ऐसा कहना चाहिए। जहाँ तक इस भ्रामक वाक्य का कि "स्वतंत्र बनने के लिए शक्ति के द्वारा बाध्य किया जा सकता है", यह अर्थ हो कि मानव-चेतना में शिव की भावना का उद्बोधन किया जाय, वहाँ तक तो यह ठीक है। किन्तु स्वतंत्रता और शक्ति का स्वतंत्रता के लिए प्रयोग, दोनों परस्पर विरुद्ध वस्तुएँ हैं। स्वतंत्रता के मार्ग में, अन्य शक्तियों या संस्थाओं के नियंत्रण की वहाँ तक आवश्यकता है जहाँ तक व्यक्ति को कर्मयोग के मार्ग में दीक्षित करना है; किन्तु जब इस वाह्य-प्रेरित नियंत्रण को मानव स्वप्रेरित नियंत्रण में बदल डालता है तब वह वस्तुतः स्वतंत्र बनता है। किन्तु शक्ति, स्वतः, कदापि स्वतंत्रता की प्रदात्री नहीं है। बोसांक्वेट ने रहस्यवाद की पराकाष्ठा कर दी, जब उसने कहा कि शासक और शासित में कोई अन्तर नहीं है—एक ही अनुभव-संतान है। किन्तु शासक और शासित में क्या व्यवधान है, इसका विश्लेषण सन् १९१० या १८९९ में लण्डन के किसी विशाल धनी होटल में बैठकर नहीं हो सकता था, अपितु दक्षिण अफ्रिका में गोरों के काले कारनामों को देखने से ही हो सकता था। अमेरिका की समृद्ध सभ्यताओं और उनके निवासियों को आत्मसात् या भूमिगर्भ में विलीन करनेवाले पश्चिमी साम्राज्यवाद के कारनामों में शासक और शासित का अन्तर साफ-साफ अक्षरों में लिखा हुआ है। चम्पारण के निलहों गोरों के अत्याचार में और हिटलर के पाशविक कुकृत्यों में हमें इस बात की चेतावनी मिलती है कि आभिजात्य स्वतंत्रता, 'गोरे आदमी पर बोझ' या जर्मन संस्कृति का उत्कर्ष—इनके नाम पर भीषण आफतें जनता पर लादी गई हैं। आज प्रजातंत्र का जमाना दुनिया में आ रहा है और आवश्यक है कि इस समय दार्शनिक राजनीतिशास्त्र के मूल मंत्र—'चेतन व्यक्ति का नैतिक और आध्यात्मिक स्वातंत्र्य'—को क्रियान्वित करने के लिए इसका आर्थिक और राजनीतिक आधार ठीक किया जाय। स्वतंत्रता का अर्थ है कर्तृत्वशक्ति का विशेषरूप से उपभोग। इसको राजनीतिक रूप से क्रियान्वित करने के लिए मानव अधिकारों का पालन तथा

---

alone can give force to the rest, that whoever refuses to obey the general will shall be compelled to do so by the whole body. *This meens nothing less then that he will be forced to be free.*"

कानून का उचित उपयोग होना चाहिए। बैबिट ने कहा है कि सच्ची स्वतंत्रता यह नहीं है कि मनुष्य यथेष्ट आचरण करे; किन्तु कानून के अनुसार अपनेको बना लेने का यत्न करे। मैं इस प्रकार की उक्तियों को हेगेल और बोसांक्वेट का अमरीकी रूपान्तरमात्र समझता हूँ।

राजनीतिक स्वतंत्रता का मूल आधार है—व्यक्ति के अधिकारों का पालन। एक व्यक्ति स्वतंत्र रह सके, इसके लिए उसकी स्वतंत्रता का अन्य अनगिनत लोगों के अधिकार के साथ समन्वय करना होगा। इस प्रकार का सामंजस्य जब तक नहीं बनता तबतक स्वतंत्रता की कानूनी व्यवस्था नहीं हो सकती है। प्रत्येक मनुष्य को अपने विचारों को व्यक्त करने की स्वतंत्रता रहे, इसके लिए आवश्यक है कि वह अन्य लोगों के विचारों को भी सहिष्णुतापूर्वक सुन सके। अरस्तू ने कहा है कि प्रजातंत्रीय स्वतंत्रता का मूल है कि बारी बारी से लोग शासक और शासित बनें। इसका अर्थ यह हुआ कि निश्चित समय पर निर्दिष्ट पद्धति से शासकों का स्वतंत्र चुनाव, वयस्कमताधिकार के आधार पर हो। शासकवर्ग दमनचक्र का नियमानुकूल प्रयोग करने के ही अधिकारी हैं। स्वतंत्रता का निश्चित पूरक है—दलवाद का नियंत्रण। बल को शनैः-शनैः समझौते में बदलना प्रजातंत्र का उद्देश्य है; किन्तु जबतक मानव चेतना को यह प्रबुद्धावस्था नहीं प्राप्त होती है तबतक बल का नियमानुसार ही प्रयोग होना चाहिए। कानून की व्यवस्था बलप्रयोग को सीमित, तर्कसंगत और पूर्वतः ही जनसमाज के द्वारा जानने योग्य बनाती है।[1]

राजनीतिक स्वतंत्रता की चरितार्थता इसमें होती है कि मनुष्य अपने नागरिक अधिकारों को अच्छी तरह समझे और आत्मविकास तथा जनकल्याण के लिए उनका प्रयोग करे। किन्तु नागरिक स्वतंत्रता की प्राप्ति पहली सीढ़ी है। उसकी पूर्णता तब होती है जब चेतन मानव स्वतंत्रता के साथ अपने राजनीतिक अधिकारों का उपयोग करता है। अपने निष्णात राजनीतिक चैतन्य का जनकल्याणार्थक उपयोग ही कर्मयोग का प्रशस्त पथ है और यही राजनीतिक स्वतंत्रता है। किन्तु यदि वह अपनी व्यवसायात्मिका बुद्धि से यह समझता है कि किसी विशेष आवश्यकता के कारण राज्य की कानूनी व्यवस्था का विरोध उसे करना ही है तो वह अवश्य अनाज्ञाकारिता तथा विरोध के पथ का

१. तुलनीय—Rabindranath Tagore, *Sadhana*-पृष्ठ १२१:—
"When he implants law and order in the midst of the waywardness of society, the good which he sets free from the obstruction of the bad is the goodness of his own soul; without being thus made free outside it can not find freedom within."

आश्रय लेगा। राज्य अपनी सत्ता और संस्थिति के रक्षण के लिए उसे दण्डित करेगा। किन्तु राज्यदण्ड के बावजूद भी स्वेच्छापूर्वक दण्ड सहन और आत्मबलिदान से ऐसा पुरुष अपने आत्मिक स्वातंत्र्य को व्यक्त करेगा। अतः, अनाज्ञाकारिता और विरोध भी राजनीतिक स्वातंत्र्य के अंगभूत हैं। जो मनुष्य या जो संस्था अपने अधिकारों पर आक्षेप होने पर उसका विरोध नहीं करती है, वह शीघ्र ही स्वतंत्रता के प्रति अनुराग खो बैठती है। स्वतंत्रता आत्मिक, कर्तृत्वशक्ति से सम्बन्ध रखती है और जब कोई मनुष्य या कोई संस्था अपने उचित अधिकारों के कुचले जाने पर चुप्पी साधती है, उसका स्वातंत्र्यानुराग शिथिल होकर शीघ्र उसे पतन की ओर ले जाता है। शैथिल्य, अप्रमाद, असत्य का सहन आदि तामसिक गुण हैं और स्वतंत्रता से कोसों दूर हैं। जब राज्य या सरकार को विरोध का भय होता है, तब वह सम्हलकर व्यवहार करती है। विरोध का अभाव राज्य को निरंकुशता की ओर ले जाता है। अतः, स्वातंत्र्यप्रदायक अधिकारों की रक्षा के निमित्त सतत यत्नवान होता और आवश्यकता हो तो संगठित विरोध के लिए भी प्रस्तुत होना आवश्यक है।

राजनीतिक स्वतंत्रता की रक्षा के लिए प्रजातंत्रीय शासन-प्रणाली नितान्त आवश्यक है। एकतंत्र, अभिजाततत्र और अधिनायकतंत्र की स्थिति स्वतंत्रता के अपहरण पर आश्रित है। बहुतों को, दमन और कुचलने की नीति से, परतंत्र कर ही इन तंत्रों की स्वतंत्रता टिकती है। यह स्वतंत्रता एक मनुष्य की या मुट्ठी भर लोगों की है। प्रजातंत्रीय शासन-प्रणाली का साफल्य जनव्यापक शिक्षा के प्रसारण पर आश्रित है। शिक्षित जनता ही अपने अधिकारों और अपने कर्तव्यों को समझ सकती है। संवहन के अनेक साधनों की अर्थात रेडियो, समाचारपत्र, पत्रिका, पुस्तकादि की स्वतंत्रता अभिवांछित है। संस्थ निर्माण, प्रचार, व्याख्यान आदि भी तबतक निष्प्रतिबंध हों जबतक वे दूसरों का अपमान या हिंसात्मक राजविद्रोह नहीं फैलाते। राज्य क सर्वकल्याण के लिए ही नियमों, कानूनों आदि का निर्माण करना चाहिए। जो कानून किसी वर्ग या श्रेणी-विशेष से संबंधित हों, उन्हें भी अतिरंजित स्वार्थवाद की दृष्टि से नहीं, अपितु जनकल्याण की दृष्टि से ही बनाना होगा। अर्थात् लक्ष्य यही होना चाहिए कि वे वर्ग या वे श्रेणियाँ अपनी स्वतंत्रता से अन्ततः जनकल्याण का परिवधन करें। अतर्कसंगत ओर अवैधानिक परंपराओं, जनश्रुतियों, प्रथाओं और कानूनों का शीघ्र परिवर्तन अभिवांछित है। एशिया की प्राचीन सभ्यताओं में मानव को निम्नस्तर का बनानेवाली अनेक सामाजिक प्रथाएँ प्रचलित हैं, जिन्हें हटाना होगा। कानून और प्रथाएँ स्वातत्र्य की पोषिकाएँ हों न कि दमनकारिणी[१]।

१. Bernard Bosanquet, "Liberty and legislation", *The Civilization of Christendom* पृष्ठ, ३५८-३८३ : David G.।

इस प्रकार अधिकाररक्षक, सामाजिक कल्याण-प्रसाधक, आत्मविकासकारक वातावरण का निर्माण हो सकता है, जहां पर राजनीतिक स्वतंत्रता सम्यक्रूप से क्रियान्वित हो। ऐसी अवस्था में प्रजातंत्रीय राज्य और मानव आत्मिक चैतन्य परस्पर में सहायता करते हुए परम श्रेय की अवाप्ति करते हैं।

(घ) राजनीतिक स्वतंत्रता का आर्थिक आधार

इतिहास की आर्थिक व्याख्या को असंगत मानते हुए भी हम, ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के संचालन और नियमन में आर्थिक शक्तियों का महत्व स्वीकार करते हैं। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र कृत्स्नदर्शी है और अनेक विषयों से प्राप्त निष्कर्षों का, मानव की राजनीतिक संस्थाओं और उसके राजनीतिक व्यवहार तथा व्यापार को समझने के लिए, समन्वय करना चाहता है। इतिहास के संचालन में धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, वातावरणात्मक, वीरनेतृत्वमूलक--सभी प्रकार की शक्तियाँ क्रियाशील हैं। किसी एक शक्ति को सबका मूल बताना अपने सरलतापूर्ण अन्धविश्वास का परिचय देना है। यद्यपि प्राचीन और मध्यकालीन सभ्यताएँ—विशेषत: बाबुल, कार्थेज और रोम की—आपस में व्यापार और विनिमय का संबंध रखती थीं, तथापि मुख्यतः सामयिक और स्थानीय उपभोग के लिए ही उस समय उत्पादन होता था। सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही विश्ववाणिज्य, जगत्व्यापी विनिमय, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था आदि का जन्म होता है। उस समय से आर्थिक शक्तियों का प्रभाव इतिहास में बहुत वेगवान हो गया है। किन्तु पूँजीवादी युग का जो नियम है, अर्थात् आर्थिक शक्तियों का विवर्द्धित प्रभाव, उसे समस्त मानव इतिहास की व्याख्या में प्रयुक्त करना ही मार्क्सवाद की भूल है।

यूनान और प्राचीन भारत में राजनीतिक और आर्थिक व्यक्तिवाद का उदय नहीं हुआ था यद्यपि वेदान्त ने आध्यात्मिक व्यक्तिवाद का तथा सोफिस्ट विचारकों एवं सुकरात ने मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक व्यक्तिवाद का क्रमशः संदेश दिया है। राजनीतिक स्वतंत्रता के आर्थिक आधार क्या हो सकते हैं, इसपर कोई स्मरणीय विवेचन प्राचीन साहित्य में नहीं पाया जाता है। ईशोपनिषत् में कहा है कि त्याग करते हुए भोग करो, किसी अन्य के धन की आकांक्षा मत करो। प्लेटो ने धनसग्रह का खंडन किया है; क्योंकि इससे युद्धलिप्सा बढ़ती है। अपने राज्यपालों के लिए उसने वैयक्तिक सम्पत्ति का त्याग अनिवार्य बताया। अरस्तू ने इस विचार का खंडन किया और धन की अतिरंजित लिप्सा

Ritchie, "Law and Liberty" : "The Question of State Interference", *Studies in Political and Social Ethics*, पृष्ठ ४३-६५।

वा तिरस्कार करते हुए भी उसने सुख और नैतिक विकास तथा राजनीतिक कार्य के निमित्त आवश्यक अवकाश के लिए, कुछ वैयक्तिक सम्पत्ति को आवश्यक बताया।

वर्तमान जगत् में मानव के विकास के लिए राजनीतिक स्वतंत्रता अनिवार्य मानी गई है। जबतक राजनीतिक आत्म-विनिर्णय का अधिकार मानव को नहीं प्राप्त होता है, तबतक उसकी नैसर्गिक शक्तियों का समुचित विकास नहीं हो सकता, इस प्रकार का विचार प्रायः सर्वस्वीकृत है। तथाति व्यावहारिक राजनीति की गूढ़ प्रक्रियाओं के अध्ययन से पता चलता है कि आर्थिक आधार कमजोर होने से मनुष्य राजनीतिक स्वतंत्रता का पूरा उपभोग नहीं कर पाता है। अतः, कुछ केन्द्रों से आर्थिक स्वतंत्रता की आवाज उठी है[1]। साधारणतः उदारवादी दल आर्थिक स्वतंत्रता का यह अर्थ करता था कि मनुष्य को वैयक्तिक आधार पर अनियंत्रित रूप से आर्थिक कर्मों को करने की स्वतंत्रता हो। अतः, आर्थिक स्वतंत्रता का तात्पर्य हुआ आर्थिक कर्म का अनियंत्रण। दूसरी ओर मार्क्सवादी तथा समूहवादी विचारधारा में आर्थिक स्वतंत्रता के दो अर्थ किये गये हैं--(क) आर्थिक सुरक्षा—अर्थात् बेरोजगारी और कर्ममोक्ष (अर्थात् नौकरी से निकाल देना) के खतरे से सुरक्षा ; तथा (ख) श्रमिक संघों तथा अन्य आर्थिक संघों में प्रजातंत्रीय पद्धति का पालन अर्थात् बहुत वादविवाद के बाद नीति-निर्णय तथा प्रजातंत्रीय तरीके से नेता-निर्वाचन। स्पष्ट है कि यदि उदारवादी परम्परा अर्थाधीशों को राज्य के हस्तक्षेप और आक्रमण से सुरक्षित करना चाहती है तो दूसरी ओर मार्क्सवादी परम्परा श्रमिकाधिकारवाद की पोषिका है। साधारणतः जब ब्रिटेन या अमरीका में 'आर्थिक स्वतंत्रता' इन शब्दों का व्यवहार करते हैं तब इसका तात्पर्य होता है— आर्थिक सुरक्षा या सामूहिक वेतननिर्णय (कलेक्टिव बार्गेनिंग)। निःसन्देह यह आवश्यक प्रतीत होता है कि शरीर, जीवन, भ्रमण आदि की व्यवस्था सम्यक् हो सके, इसलिए मनुष्य को कुछ सम्पत्ति अवश्य प्राप्त हो। यदि अभियोग करने के लिए बहुत अधिक रुपयों की आवश्यकता हो तो यह आशा करना कि, एक भूख से लड़नेवाला कृषक न्यायालय के सहारे अपनी राजनीतिक या न्यायसंबंधी स्वतंत्रता का प्रकाशन करेगा, कल्पनामात्र है।

पश्चिमी सभ्यता के पूँजीवादी देशों—ब्रिटेन, फ्रांस, हालैण्ड अमरीका आदि में राजनीतिक स्वतंत्रता की परम्परा का विकास हुआ है। समाजशास्त्रियों के अनुसार पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का मूल न तो विनिमयात्मिका उत्पत्ति है और न तो अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन है—क्योंकि ये बातें प्राक्पूँजीवादी व्यवस्था में भी पाई जाती हैं, अपितु कर्मकर

---

[1] E Barker, *Principles of Social and Political Theory*. पृष्ठ २४३-४४।

का कानूनी स्वातंत्र्य है। कर्मकर के शरीर और गति पर किसी प्रकार का प्रतिबंध जो दास या सर्फ पर था, नहीं है। उसे पूरी स्वतंत्रता है कि वह यथेष्ट अपनी श्रमशक्ति का जिससे चाहे विक्रय करे। कोई भी पूँजीपति वा क्षेत्राधीश किसी व्यक्ति को अपने यहाँ कार्य करने पर वाध्य नहीं कर सकता। अतः, मानव-स्वतंत्रता के इतिहास में पूँजीवाद की यह सबसे बड़ी देन है कि यह कर्मकर को शारीरिक दृष्टि से पूर्णतः निष्प्रतिबंध करता है। यह दूसरी बात है कि आर्थिक संजटिलताओं के कारण इस कानूनी अधिकार का कर्मकर पूरा उपभोग न कर सके। परन्तु इतना निर्विवाद है कि कर्मकर की श्रमशक्ति के क्रय-विक्रय पर उन समस्त प्रतिबंधों को, जो दासयुग और सामन्तवादी युग में प्रचलित थे, कानूनी दृष्टि से हटाकर पूँजीवादी अर्थव्यवस्था स्वतंत्रता के इतिहास में अपना गौरवशाली स्थान रखती है। जहाँ जहाँ सामन्त प्रथा का अन्त हुआ और पूँजीवाद का प्रवेश, वहाँ वहाँ विष्टि (जबरदस्ती काम कराना) आदि का भी अन्त हुआ। अतः, समाजशास्त्रीय दृष्टि से इस श्रम शक्ति विक्रय-स्वतंत्रता का बड़ा मूल्य है। इसको प्राप्त करने पर कर्मकर ने अपने को संकल्पवान् चेतन व्यक्ति अनुभव किया। वह समाज का एक तिरस्करणीय इकाई न होकर एक अधिकारवाहक मानव हो गया। इंगलैण्ड में प्रायः सत्रहवीं शताब्दी तक सामन्तशाही प्रथा का अन्त हो चुका था। फ्रांस में १७८९ की राज्यक्रांति ने सामन्तवाद के रूप को खतम किया तथा रूस में १८६३ में "सर्फवाद" का अन्त कर सामन्तवाद के उन्मूलन में एक लम्बा कदम आगे बढ़ाया गया। सामन्तवाद अनेक काष्ठाओं में समाज को विभक्त करता था। विभाग का नियामक सूत्र था जमीन की मात्रा का स्वामित्व। किन्तु पूँजीवाद कर्मकर को निज श्रमशक्ति का एकमात्र पूर्ण अधिकारी घोषित कर प्राचीन सामाजिक काष्ठाओं को तोड़ने में सहायक हुआ। दूसरी ओर, अब तक शक्ति प्राप्त करने के साधन थे—या तो चर्चशाही या सामन्तों के समान क्षेत्राधिपति बनना। धार्मिक अन्धविश्वास और जमीन के स्वामित्व के बदले पूँजीवाद ने उत्पादन और विनिमय के द्वारा प्राप्त धन को शक्ति का प्रदाता बनाया। अतः, निज श्रमशक्ति पर कर्मकर के पूर्ण एकाधिपत्य और सामाजिक तथा राजकीय शक्ति के एक नूतन प्रसाधन—अर्थात् पूँजी को स्थापित कर निस्सन्देह पूँजीवाद ने प्रजातन्त्रवाद और नैसर्गिक अधिकारवाद के द्वारा उद्घोषित राजनीतिक स्वतंत्रता के सिद्धान्त को पुष्ट किया है।

पूँजीवाद ने तर्कसंगतता और बौद्धिकता को भी पुष्ट कर स्वतंत्रता को प्रशस्त किया है। तर्कसंगतता का अर्थ है, प्राकृतिक और आर्थिक शक्तियों का जनसमाज के कल्याण के लिए तर्कयुक्त प्रयोग। प्राचीन और मध्यकालीन सभ्यताओं में मानव प्राकृतिक शक्तियों का बहुत दूर तक कठपुतला था। वैज्ञानिक और यांत्रिक बौद्धिकता का

अर्थ बहुत दूर तक होता है, मानव की ज्ञानात्मक शक्ति का प्राकृतिक शक्तियों के साथ संघर्ष में कौशलपूर्ण प्रयोग। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था परिग्रह पर आश्रित है। विज्ञान और यंत्र का श्रम की उत्पादनशक्ति के सतत वेगवान संवर्द्धन में प्रयोग करना इसका लक्ष्य है। पूँजीवादी वैयक्तिक परिग्रह में लगे रहते हैं। प्रतियोगिता पूँजीवाद की नियामिका है। इस प्रतियोगिता में साफल्य प्राप्ति के निमित्त विकसनशील यांत्रिक शक्तियों से सहायता मिलती है। मशीन जितनी अच्छी होगी, उतनी ही अधिकता से उत्पादन होगा। अतः, यांत्रिक और वैज्ञानिक तर्कसंगतता और बुद्धिशीलता पूँजीवाद की अनिवार्य सहायिका है। प्राचीन और मध्यकालीन अर्थ-व्यवस्था स्थिर थी। सतत परिवर्द्धनशील माँग की पूर्त्ति उसका लक्ष्य नहीं था। किन्तु मनुष्य के मन और हृदय में नूतन वस्तुओं की चाह और माँग उत्पन्न करना पूँजीवाद का उद्योग रहा है। पूँजीवादी व्यवस्था के आरम्भिक दिनों में उत्पादन की भौतिक और यांत्रिक प्रक्रिया में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ। स्वतंत्र कर्मकरों के आधार पर उत्पादन करना ही एकमात्र विशाल सामाजिक परिवर्तन था। किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप परिपक्व पूँजीवाद का जन्म हुआ और तबसे सतत् परिवर्द्धनशील मात्रा में यांत्रिक रूपान्तर हुए हैं। पूँजीवाद ने प्राकृतिक शक्तियों के साथ संघर्ष में जो करामात किये हैं, उनकी तुलना में चीन की दीवार, अशोक के धर्मस्तम्भ और ताजमहल भी साधारण मालूम पड़ते हैं। भयंकर नदियों, समुद्रों, पर्वतों को नियंत्रण में लाना ; वायु, अग्नि, विद्युत्, लोहा आदि से पूरा भृत्यवत् काम लेना; तथा आयुविज्ञान पदार्थविज्ञान आदि में अपरिकल्पित उन्नति--ये सब बातें पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में ही संभव हुई हैं। आज आकाश और काल का वेगवान प्रकर्ष भी मानव के यांत्रिक और वैज्ञानिक प्रभाव को महसूस कर रहा है। प्राचीन काल में मानव-प्रकृति की अभ्यर्थना करता था। ऋग्वेद में अग्नि, वरुण, इन्द्र आदि प्राकृतिक शक्तियों की उपासना का वर्णन आता है। उस समय मानव प्रकृति से डरता था। सांख्य-दर्शन में प्रकृति के नाट्य से परे कैवल्यप्राप्ति या असंगत्वाभिचैतन्य का संदेश पाया जाता है। किन्तु पश्चिमी सभ्यता में प्रकृति पर विजय प्राप्त करने का उदात्त सन्देश है। पश्चिमी विज्ञान, ज्ञान को मोक्षदायक या विमुक्तिसंसाधक नहीं मानता। बेकन, डेकार्ट, स्पेंगलर आदि ने ज्ञान को शक्तिदाता माना है। ज्ञान इसलिए अपेक्षित है कि प्राकृतिक नियमों का सम्यक् बोध प्राप्त हो और फिर तदनुकूल आचरण। ज्ञान भविष्य को समझने और स्वायत्त करने में सहायता देता है। ज्ञान की शक्तिदायिका एकान्त साधना करने का संदेश महाकवि गेटे के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'फाउस्ट' में व्यक्त हुआ है। यूरोप में इधर चार-पाँच सौ वर्षों में जो वैज्ञानिक और यांत्रिक उन्नति हुई है, उसमें पूँजीवाद को मैं कारणभूत कदापि नहीं मानता। एंगल्स आदि का विचार है कि सोलहवीं, सत्रहवीं शताब्दी

में जो व्यावहारिक विज्ञान की उन्नति हुई है, उसमें पूँजीवाद कारणभूत है। मैं सिर्फ इतना मानता हूँ कि वैज्ञानिक उन्नति और पूँजीवाद समसामयिक हैं। निस्सन्देह वैज्ञानिक उन्नतियों का व्यावहारिक जबर्दस्त उपयोग पूँजीवाद ने किया है। कुछ अंश तक पूँजीवादी व्यवस्था की यांत्रिक समस्याओं के समाधान के लिए भी सैद्धान्तिक विज्ञान की उन्नति हुई है। किन्तु विज्ञान की उन्नति, बहुत अंश तक, ज्ञानसम्बन्धी स्वत:प्रसूत जिज्ञासा के उपशमद के लिए भी होती है। अर्थात् यदि एक प्रकृष्ट सिद्धांत विज्ञान में उपस्थित किया गया तो फिर उसकी तार्किक उपपत्तियों, और असंगतियों के निराकरण के आधार पर उन्नति होती है। संक्षेप में कह सकते हैं कि वैज्ञानिक उन्नति अंशत: सैद्धान्तिक प्रेरणा का और अंशत: यांत्रिक सभ्यता के व्यावहारिक प्रश्नों के समाधान का फल है। इस तर्कसंगतता और बुद्धिशीलता की उत्पत्ति में पूँजीवाद का इतना योगदान अवश्य है कि यंत्रवाद पर आधारित यह व्यवस्था प्रतियोगिता में विजय के लिए सर्वदा वैज्ञानिक साधनों का उपयोग करती है। अनुपयोगी यंत्रों का तिरस्कार और नूतन समयसानुकूल यंत्रों का उपयोग, यह इस व्यवस्था का लक्ष्य सर्वदा रहा है। इस प्रकार, स्वतंत्रता बुद्धिशीलता है, इस विचार के व्यावहारिक क्रियान्वयन पर पूँजीवाद का साफल्य निर्भर है। मार्क्सवादी भी पूँजीवाद की बुद्धिशीलता का खंडन नहीं करते, वे इसका अधिक व्यापक प्रयोग करना चाहते हैं। पूंजीवाद जगत् में कदापि सफलता नहीं प्राप्त कर सकता, यदि यांत्रिक और वैज्ञानिक साधनों का वह इतना प्रकृष्ट उपयोग नहीं करता। प्राकृतिक और आर्थिक तत्व के स्वरूप का अनुसंधान और उनका जगत के व्यवहार में उपयोग, यही पूँजीवाद का लक्ष्य रहा है। इस प्रकार की व्यावहारिक प्रक्रिया की सफलता से ही उस प्रसिद्ध हेगेल-मार्क्स प्रतिपादित स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार का जन्म हुआ जो स्वतंत्रता को नियति का ज्ञान समझता है[1]। यदि प्राकृतिक और आर्थिक जगत् में वर्तमान नियम-राशि और व्यवहार-प्रक्रिया का ज्ञान हो जाय तो, उनका मानवोपयोगी प्रयोग संभव हो सकता है। ज्ञान ही स्वतंत्रता का जनक है। नियति का ज्ञान ही हमें व्यावहारिक क्षेत्र में आवश्यक स्वतंत्रता प्रदान करता है। अत:, हेगेल के इस विचार का कि स्वतंत्रता 'नियति का ज्ञान' है, आज जोरों से रूस में प्रचार हो रहा है। रूसी विचारकों

१. Karl Marx : *Capital III* पृ० ९५४-५५–"But it always remains as realm of necessity. Beyond it begins that development of human power, which is its own end, the true realm of freedom, which, however, can flourish only upon that realm of necessity as its basis."

के मत में स्वतंत्रता, यादृच्छिकता वा यथेष्टकारिता नहीं है ; किन्तु प्राकृतिक और सामाजिक आर्थिक जगत् का परिज्ञान प्राप्त कर तथा मानव की सामूहिक शक्तियों का तदनुकूल प्रयोग कर एक स्वस्थ सुखी समाज का निर्माण ही स्वतंत्रता है। अर्थात् व्यक्ति की यादृच्छिक स्वतंत्रता के स्थान पर रूसी साम्यवाद सामूहिक शक्तियों के नियोजित उपयोग को ही स्वतंत्रता मानता है। अत्यन्त स्पष्ट है कि स्वतंत्रता, नियति का ज्ञान है, इस प्रकार की विचारधारा दासप्रथा के और सामन्तवादी युग में नहीं उत्पन्न हो सकती थी। जब भौतिक विज्ञान और पूँजीवाद ने मानव की क्रियात्मिका शक्तियों को उन्मुक्त किया, तब उसी वातावरण में इस विचार का उदय हुआ। संक्षेप में, इतना कहना संगत होगा कि पूँजीवाद सतत वर्द्धनशील बुद्धिशीलता का युग है और इस दृष्टि से इस अर्थव्यवस्था ने स्वतंत्रता के उत्कर्ष में योगदान किया है।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था दो प्रकार से स्वतंत्रता का पोषण करती है—(क) कर्मकरों की वैधिक स्वतंत्रता का समर्थन कर यह व्यक्ति-स्वातंत्र्य का अनुमोदन करती है। पूँजीवाद के पहले व्यक्ति स्वतंत्रता पर अनेक प्रतिबन्ध थे। दास और सर्फ को वैधिक व्यक्तित्व की दृष्टि से स्वतंत्रता नहीं प्राप्त थी। रोम के कानून के अनुसार पिता को परिवार के ऊपर अत्यधिक अधिकार थे। परिवार के बच्चों के ऊपर जीवन और मृत्यु का अधिकार प्राप्त रहने से, यह मालूम होता है कि जीवन धारण करने मात्र से जो कानूनी अधिकार मानव को प्राप्त होना चाहिए, वह अभी रोम में स्वीकृत नहीं हुआ था। पूँजीवाद कर्मकर के श्रम के क्रय-विक्रय संबंधी तथा गतिशीलता संबंधी स्वतंत्रता को स्वीकार कर मानव के नैतिक स्वातंत्र्य को स्वभावतः बड़ा प्रश्रय देता है। जब एक मनुष्य की स्वतंत्रता को कानूनी रूप दिया जाता है, तब उसको अन्य मनुष्यों के लिए सामान्यीकृत करना सहल हो जाता है। (ख) पूँजीवाद तर्कशीलता और बुद्धिशीलता का पोषक है; क्योंकि यांत्रिक अभ्युदय इसी पर आश्रित है। (ग) एक तीसरा अर्थ भी है जिसमें पूँजीवाद स्वतंत्रता का पोषण करता है। पूँजीवाद एक नूतन आर्थिक वर्ग का समर्थक है जो सामन्तवाद के विरोध में खड़ा होता है। व्यापार और उद्योग के द्वारा धनी बने हुए इस वर्ग के राजनीतिक अधिकारों के समर्थन में ही इंगलैण्ड की रक्तहीन क्रांति तथा फ्रांस की राज्यक्रांति का जन्म हुआ। पीम, हैम्पडेन, क्रामवेल, जेफर्सन, हैमिल्टन, मैडिसन, मिराबो आदि इसी वर्ग के आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों के समर्थक थे। इसी वर्ग के राजनीतिक अधिकारों के पोषण में नैसर्गिक अधिकारवाद तथा अनुसंधानवाद के सिद्धान्त उपस्थित किये गये। इस वर्ग के स्वार्थों का समर्थन तभी हो सकता था, जब एक व्यापक आदर्शवाद के आधार पर ही इसके अधिकारों का समर्थन किया जाय। अतः, सत्रहवीं, अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के विचारकों में सहिष्णुता, जनसम्मति और

मानव अधिकारवाद का बड़ा ही आकर्षक और उदात्त वर्णन पाया जाता है। अमरीका का स्वतंत्रता-घोषणा-पत्र और फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समय का घोषणा-पत्र स्वतंत्रता के इतिहास में बड़े ही महान् संदेश-प्रदाता रहे हैं। स्मरण रखना चाहिए कि फ्रांस की राजक्रांति स्पष्टतया तृतीय वर्ग (अर्थात् नूतन पूँजीवादी वर्ग) के अधिकार-समर्थन के लिए हुई थी। व्यक्त और अव्यक्त पद्धतियों से पूँजीवाद ने प्रजातंत्रीय पद्धति का समर्थन किया है। पूँजीवाद का मुख्य लक्ष्य आर्थिक लाभ और उन्नति है। हिंसा में शोर और यश के निमित्त, इसकी दिलचस्पी नहीं है। शान्ति और समझौते से अपना कार्य निकालना इसका मुख्य सूत्र है। हिंसा को यह तिरस्कृत नहीं करता; किन्तु हिंसा इसका प्रथम नहीं, अपितु अन्तिम अस्त्र है। असीरिया और मंगोल साम्राज्यवाद के इतिहास में यशोलिप्सा और राजनीतिक शक्ति के लिए अतिरंजित बल का प्रयोग किया जाता था। पूँजीवाद समझौता, सुझाव, अनुबन्ध, प्रचार आदि के सहारे अपना मुख्य लक्ष्य सिद्ध करना चाहता है। सतत् आर्थिक उन्नति करना इसका मुख्य लक्ष्य है। हिंसा के बदले प्रतियोगता को स्थापित कर पूँजीवाद ने प्रजातंत्रीय पद्धति का समर्थन किया है। इंगलैण्ड, फ्रांस, अमरीका तथा हालैंड में पूँजीवाद का विकास प्रजातंत्र का स्पष्ट समर्थक रहा है। सामन्तवादी व्यवस्था का संबंध एकतंत्र से था। उसकी प्रतिक्रिया में नैसर्गिक अधिकारवाद, जनसहमतिवाद आदि का सन्देश पूँजीवाद ने उपस्थित किया। अतः, एकतंत्र और अल्पतंत्र के स्थान पर लोकतंत्र या जनतंत्र को प्रतिष्ठित करने में पूँजीवाद का भी हाथ है। इस प्रकार लोकतंत्रीय परम्परा का समर्थन कर और आन्तरिक आर्थिक प्रश्नों के समाधान में हिंसा के बदले प्रचार आदि का समर्थन कर, राजनीतिक दृष्टि से पूँजीवाद स्वतंत्रता का एक तीसरे अर्थ में भी समथक रहा है। यही कारण है कि प्रजा-तंत्र के अमरीकन समर्थकों के मत में पूँजीवाद और प्रजातंत्र सहव्यापी हैं, पूँजीवाद पर आक्रमण को वे अधिनायकतंत्र की ओर अग्रसर होना समझते हैं।

यद्यपि इन तीन विशाल अर्थों में—श्रमशक्ति का विक्रय-स्वातंत्र्य, औद्योगिक और वैज्ञानिक तर्कशीलता तथा प्रजातंत्रीय परम्परा का समर्थन—पूँजीवाद ने स्वतंत्रता का बलशाली समर्थन किया है, तथापि इसकी कुछ भयंकर कमजोरियाँ भी हैं[१]। इन कम-

१. Marx and Engels: *The Communist Manifesto* : 'In bourgeois Society capital is independent and has individuality, while the living person is dependent and has no individuality. And the abolition of this state of things is called by the bourgeois, abolition of individuality and freedom! And rightly so. The

जोरियों के कारण पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में स्वतंत्रता का नाममात्र ही रह जाता है[१]। यद्यपि मजदूरों की श्रमशक्ति के विक्रय का वैधिक स्वातंत्र्य प्राप्त है, तथापि पूँजीपतियों और श्रमिकों के बीच जो शक्ति के अनुपात में महान् अन्तर है, उसे देखते हुए यही कहना पड़ता है कि इस विधि-सम्मत समानता का वास्तवीकरण पूरा नहीं पाता है।[२] मजदूरसंघों को कानूनी अभिज्ञान मिलने से जो पूँजीवाद के प्रारम्भिक दिनों में असहाय

abolition of bourgeois individuality, bourgeois independence, and bourgeois freedom is undoubtedly aimed at. *By freedom is meant under the present bourgeois conditions of production, free trade, free selling and buying.* But if selling and buying disappears, free selling and buying disappears also. This talk about free selling and buying, and all the other brave words of our bourgeoisie about freedom in general, have a meaning, if any, only in contrast with restricted selling and buying, with the fettered traders of the Middle Ages, but have no meaning when opposed to the communist abolition of buying and selling, of the bourgeois conditions of production, and of the bourgeoisie itself."

१. Karl Marx : *Capital I* पृ० ५६१-६२.

२. Harold Laskit, *Reflections on the Revolution of Our time* पृ० १३५ : "Violent behavior is more characteristic of American social relationships than it has been of those of Britain or of France. Yet I doubt, even when allowance is made for this difference, whether public opinion in France or Britain would have suffered the extra-legal interferences with civil freedom that were deliberately organised by businessman in the United States. It is necessary to read in details a document like the report of the La Follette Committee of the Senate on civil liberties to attain a just

अवस्था श्रमिकों की थी, वह आज नहीं है। तथापि यह भी एक कटु सत्य है कि पूँजीपतिवर्ग और श्रमिकसंघ दो समानशक्ति सम्पन्न अनुबंधकारक नहीं हैं। वास्तविक समानता वहीं सम्भव है, जहाँ अनुबन्धकारकों में लगभग समान शक्ति हो। शक्ति-आन्तर्य के कारण उनके लेनदेन करने की शक्ति में भी भिन्नता अवश्यमेव आ ही जाती है। मैं फासिस्टवाद को पतनोन्मुख पूँजीवाद का एक रूपमात्र नहीं मानता; तथापि इतना स्पष्ट है कि फासीस्टवादी शासकों पर औद्योगिक पूँजीवाद का जबर्दस्त प्रभाव था। पूँजीवादियों को प्रसन्न करने के लिए फासिस्टवादी तानाशाहों ने श्रमिकसंघों का खात्मा कर डाला। श्रमिकसंघों का राज्य में विलय द्वारा सत्यानाश, श्रमिक आन्दोलन पर भयंकर आक्रमण था। इस आक्रमण की सफलता से, मालूम पड़ता है कि अभी श्रमिक आन्दोलन बलशाली नहीं हो पाया है। ब्रिटेन और अमरीका में प्रायः अब तक पूँजीवाद विकसनशील रहा है।

view of the proportions of that interference. Corruption, espionage, blackmail, hooliganism, the deliberate misuse of even the highest state courts, and the lower Federal Tribunals, these are only the bare categories into which the habits of the business leaders of America fall. There were few great industrial corporations which did not have their private armies, with machine-guns and tear-gas, to prevent the invasion of their plant by Trade-Unionism. There were, moreover, areas in the United States, Louisiana under Senator Long, Jeresy City under Mayor Hagvee, the Imperial Valley in California, to take instances only, in which the American Bill of Rights had no authority against the determination of businessmen to eke out the last ounce of privilege from their undisputed possession of economic power. It is not, I think, an excessive judgement to say that, by 1940, beneath the formal acceptance of democratic principles, the Fascist idea had penetrated deeply into the minds of American businessmen."

ब्रिटेन में साम्राज्यवाद के द्वारा अर्जित मुनाफों को, तथा अमेरिका में आन्तरिक पूँजीवाद के अपरिकल्पित विकास के कारण प्राप्त सम्पत्ति को श्रमिकों में भी कुछ अंश तक बाँटा गया। इस पद्धति से कुछ दूर तक श्रमिकों का जीवन-स्तर ऊँचा हो गया। कुछ श्रमिक, मुख्यतया अमरीका में स्वयं, पूँजीपति तक बन गये। सम्पत्ति के इस आंशिक पुर्नवितरण से उस दर्दनाक अवस्था का, जिसका वर्णन मार्क्स ने कैपिटल के प्रथम भाग में किया है, आंशिक परिहार हो गया। तथापि अमरीका में हब्शी कर्मकरों की अवस्था, विशेषत: अमरीका के दक्षिणी रियासतों में अभी भी सन्तोषजनक नहीं है। अनेक सुधारों के बाद भी अभी लंदन के पूर्वी हिस्सों के लोगों का जीवन पश्चिमी हिस्से के लोगों की अपेक्षा अत्यन्त निम्न स्तर का है। बोसांक्वेट ने कहा है कि सुधारवादी मजदूर निवास-स्थानों को 'स्लम', 'डेन' आदि नाम देकर उसमें रहनेवाले अनेक नीतिमान् चरित्रवान् नरनारियों का अपमान करते हैं। स्वतंत्रता एक समग्रात्मक वृत्त है जिसमें मानव की समस्त शक्तियों के विकास का समुचित सुअवसर हो। निश्चित ही गरीब, भूख और बीमारी से पीड़ित, कृषकों और कर्मकरों में उच्च चरित्रवान्, कर्त्तव्यपरायण, और सत्यवादी नर-नारी हैं। किन्तु उनकी नैतिक उत्कृष्टता के सहारे जनकल्याण सिद्ध हो सके, इसके निमित्त आवश्यक है कि उनके जीवन का आर्थिक आधार दृढ और बलशाली बनाया जाय। सांसारिक सुविधाओं के अभाव में कभी-कभी बहुत नैतिक जीवन भी मूर्छितप्राय हो जाता है। इसीलिए आवश्यक है मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश के विकास के लिए पहले अन्नमय और प्राणमय कोश को सबल और स्वस्थ बनाया जाय। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की ऐसी कल्पना कदापि नहीं है कि जीवन को विलासितापूर्ण बनाया जाय; किन्तु साधारण दृष्टि से भोजन, स्वास्थ्य, औषध, शिक्षा आदि का समुचित प्रबन्ध हुए विना मानव की क्रियात्मिका शक्तियों का विकास नहीं हो पाता है। विलासिता और भोग राष्ट्रों का नाश कर डालते हैं, किन्तु साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति नितान्त अभिवांछित है। अत:, आवश्यक है कि राजनीतिक स्वतंत्रता को वास्तविक बनाने के लिए तथा जीवन की शक्तियों को उन्मुक्त करने के लिए आर्थिक दृष्टि से जो भयंकर असमानता आज समाज में वर्तमान है, उसे कम किया जाय। अर्थ एक बहुत बड़ी शक्ति है। अर्थ के सहारे मनुष्य अपनी वृत्तियों को फलवती बना सकता है। अर्थाभाव से अन्तर्निहित, ज्ञानसम्बन्धी और चरित्रोत्कर्ष-प्रदायिका शक्तियों का विकास ही नहीं हो पाता है। आर्थिक स्वतंत्रता के निमित्त आवश्यक है कि अधिकाधिक अवसर निम्नवर्ग के लिए बनाये जायँ। जबतक नूतन क्षेत्रों का आविष्कार नहीं होता और वर्तमान स्थानों को धनाधीशों के एकाधिपत्य से निकाला नहीं जाता तबतक आर्थिक स्वतंत्रता नहीं प्राप्त होती है और इसके अभाव में राजनीतिक स्वतंत्रता बहुलांश के लिए नाममात्र

का और औपचारिक ही सिद्ध होती है। पश्चिमी पूँजीवाद ने एशिया और अफ्रिका के कातर और गरीब लोगों पर जो अत्यचार और अनाचार किये हैं, वे इतिहास के काले कारनामे गिने जाते हैं।[१] निर्मम शोषण और भयंकर दमन ही पूँजीवादियों और उनके समर्थक विदेशी सरकारों के नीतिनिर्धारण सूत्र रहे हैं। एशिया में अब पश्चिमी पूँजीवाद और साम्राज्यवाद का प्राय: खात्मा हो चला है। अब जो पश्चिमी पूँजी अभी भी एशिया में लगी है और लग रही है, उसमें पश्चिमी-गृह-राज्य की शक्ति का पूर्णाधार न होने के कारण वह पुराना आक्रमणकारी तीखापन नहीं है। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि भविष्य में यह खतरा नहीं उत्पन्न कर सकती है। अफ्रीका में अभी पूँजीवादी साम्राज्यवाद का नंगा नाच हो रहा है। जबतक ये बुराइयाँ नष्ट नहीं की जाती हैं, तबतक कागज में स्वतंत्रता का नामोच्चारण करने से कुछ खास महत्त्व नहीं सिद्ध हो सकता है।

पूँजीवाद ने यन्त्रवाद को प्रश्रय देकर कार्यालय में बुद्धिशीलता और वैज्ञानिक कारण को समर्थित किया है। किन्तु यन्त्रवाद से बहुत खराबियाँ भी उत्पन्न हुई हैं[२]। अतिरंजित

१. Karl Marx: *Capital* पृ० ८२३: "The discovery of gold and silver in America, The extirpation, enslavement and entombment in mines of the aboriginal population, the beginning of the conquest and looting of the East Indias, the turning of Africa into a warren for the commercial hunting of black-skins, signalisted the rosy dawn of the era of capitalist production. These idyllic proceedings are the chief momenta of primitive accumulation. On their heels treads the commercial war of the European nations, with the globe for a theatre. It begins with the revolt of the Netherlands from Spain, assumes giant dimensions in England's anti-jacobin war, and is still going on in the opium wars against China, etc.,"

२. Karl Marx: *Capital I* पृ० ४६२, पृ० ५५५:—"In agriculture as in manufacture, the transformation of production under the sway of capital, means at the same time the martyrdom of the producer; the

यन्त्रवाद के विकास से कार्यालय में कर्मकरों को यावज्जीवन एक कल या पुर्जे को घुमाना पड़ता है। इतनी दक्षता के कारण, एक प्रकार का कार्य करना यद्यपि बहुत आसान हो जाता है तथापि अतिरंजित दक्षता से मानव के व्यक्तित्व का समग्रात्मक विकास नहीं हो पाता है। एकांश दक्ष लोगों को अपने कार्य का कलात्मक आनन्द नहीं प्राप्त होता है और कभी कभी इससे बर्बरता का भी आगमन हो जाता है।[१] मौरिस और कोल ने इस पूंजीवादी यन्त्रवादी कलात्मिकता का उल्लेख किया है। दार्शनिक राज-नीतिशास्त्र का आदर्श तभी पूरा हो सकता है, जब प्रत्येक व्यक्ति को अपने समुचित विकास का अवसर मिलेगा। इसके लिए अपेक्षित है कि जीवनस्तर के उन्नयनकारी पदार्थों का उपयोग करने का अवसर कर्मकरों को भी प्राप्त हो। यंत्र की भाँति केवल वे कार्यसाधक न समझें जाएँ। अपने महान लक्ष्य की सिद्धि का अवसर उन्हें मिल सके इसके लिए उनकी क्रियात्मिका शक्ति का विकास करना होगा। आजकल कर्मकरों को केवल मात्र यंत्र संचालन का कार्य करना होता है। यंत्र के सम्बन्ध में उनमें सैद्धान्तिक ज्ञान नहीं होता है। सैद्धान्तिक-ज्ञान-सम्पन्न तथा-अनुशीलन सम्बन्धी समस्त प्रश्नों का समा-धान करनेवाले वैज्ञानिकों, उद्यमकारियों और इंजिनियरों का एक अलग दल रहता है। अतः पूँजीवादी व्यवस्था श्रम-प्रक्रिया को दो विभिन्न वर्गों में बांट डालती है। ज्ञानात्मिक प्रक्रिया का एकाधिपत्य बुद्धिजीवी वैज्ञानिकों तथा इंजिनियरों के हाथ में रहता है। पुराने अनुसधानों का प्रयोग और नूतन अनुसंधानों का विकास करना इनका कार्य है। दूसरी ओर यांत्रिक प्रक्रिया का संचालन मजदूर करते हैं। इस प्रकार बुद्धिजीवी और हस्तश्रमजीवियों के बीच समाज विभक्त हो जाता है। अल्पवेतनभोगी हस्तश्रमजीवियों की राजनीतिक स्वतंत्रता नाममात्र ही रहेगी जबतक समुचित रूप से उन्हें विशेष शिक्षा न मिलेगी तथा अपनी शक्तियों का समुचित विकास वे न करेंगे। अबतक उनके श्रम का फायदा उठाकर शोषणपति समाजसुधारक, राष्ट्रनेता और महान उत्पादन-वीर बनने का दावा करते हैं। युद्ध में विजयी होने पर अपनी उत्पादन-शक्ति के प्रकर्ष का घोर प्रचार अमरीका के पूँजीपति करते थे। किन्तु इस उत्पादनशक्ति की आधारभूता जो मानव-

instrument of labour becomes the means of enslaving, exploiting and impoverishing the labourer ; the social combination and organization of labour-process is turned into an organized mode of crushing out the workman's individual vitality, freedom and independence."

१. Karl Marx: *Capital I* पृ० ३६९

राशि है उसकी उपेक्षा कर एक स्वस्थ कल्याणाभिमुखी समाज की रचना नहीं हो सकती है। आज समय आता जा रहा है, जब श्रम और बौद्धिक कर्म में व्यवधान कम होना चाहिए। टाल्सटाय ने बताया था कि अपनी खेती का उत्पादन अपने श्रम से करने में आत्मिक अभ्युदय होता है। यदि आज की संजटिल सामाजिक व्यवस्था में प्रत्येक मानव के लिए निज की रोटी स्वयं उत्पन्न करना संभव नहीं है तो, कम से कम, श्रमजीवियों के मानसिक विकास का प्रबन्ध तो किया जा सकता है। श्रमजीवियों का अबौद्धिकीकरण समाज के लिए बड़ा घातक है क्योंकि एक बड़े समुदाय की मौलिकता, कार्यकुशलता, मानसिक चातुरी आदि के द्वारा प्राप्त लाभ से समाज वंचित रह जाता है।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की कुछ असंगतियाँ भी हैं। यों तो प्रत्येक व्यवस्था में कुछ कमजोरियाँ और असंगतियाँ होती हैं जिनके कारण उसका विनाश होता है। पूँजीवाद की सबसे बड़ी असंगति यह है कि यह जनकल्याण के बदले वैयक्तिक लाभ को अपना प्रमुख उद्देश्य मानता है। जॉन डिवी का कहना है कि आज की अमरीकन सभ्यता 'धनाश्रित' है।[१] वेब्लेन का कहना है कि मौद्रिक प्रवृत्तियों का अतिशय प्राबल्य आधुनिक सभ्यता में हो गया है।[२] पूँजीवाद का मुख्य संचालन-सूत्र है अधिकतम मात्रा में लाभ की प्राप्ति। प्रारम्भिक पूँजीवाद पर प्यूरिटन विचारधारा का प्रभाव था।[३] स्पीनोजा और लाइब्नीज की आध्यात्मिक विचारधारा का उसपर भी आंशिक प्रभाव था।[४] किन्तु शनैः शनैः यह धार्मिक और नैतिक आधार दूर हटता गया। आदम स्मिथ के अर्थशास्त्र संबंधी विचारों में नैतिक भावनाओं का स्पष्ट प्रभाव है।[५] डेविड रिकार्डो[६] के समय से ही अर्थशास्त्र को एक नीतिनिरपेक्ष क्रियात्मक शास्त्र समझने की धारा का प्रणयन हुआ और साम्प्रतिक अर्थशास्त्र तो अपने को वैज्ञानिक या

---

१. John Dewy's Philosophy (edited by Ratner).

२. Thorstein Veblen: इसने "pecuniary motivation" की उग्रता का वर्णन किया है।

३. Max Weber, *The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism*; R. H. Tawney, *Religion and the Rise of Capitalism*; R. B. Perry, *Puritanism and Democracy*.

४. स्पीनोजा और लीब्नीज के नियतिवाद (Determinism) और पूर्वस्थापित संवादिवाद (Pre-established Harmony) का प्रभाव पश्चात्वर्ती अर्थशास्त्र-वेत्ताओं पर पड़ा।

५. Adam Smith, *The Theory of Moral Sentiments*.

६. David Richardo, *Principles of Political Economy and Taxation*.

विज्ञानसम्मत पद्धति का समर्थक बताने में इतना व्यस्त है कि आचार-शास्त्र संबंधी विचारों का निष्कासन करना चाहता है।[1] लाभ को लक्ष्यभूत कर कम से कम खर्च द्वारा अधिकतम मात्रा में मुनाफा प्राप्त करने की विधि बताना ही आधुनिक अर्थशास्त्र अपना परम लक्ष्य मानता है। तांत्रिक दृष्टि[2] से उत्कृष्ट आर्थिक कर्म का यही लक्षण है कि वह बता सके कि प्राप्त साधनों का सफलतम प्रयोग कैसे किया जा सकता है। मानव समष्टि को एक मानकर कोई व्यवस्था आर्थिक दृष्टि से संभव है या नहीं, यह बात पूँजीवाद के समर्थक अर्थशास्त्रियों का विवेचनीय प्रश्न नहीं मानी जाती है। मानव समष्टि तो आदर्श की बात है। एक देश के समस्त लोगों का सुख-साधन कैसे किया जा सकता है, इसपर भी अर्थशास्त्र विचार नहीं करता। किन्तु अब, वैसी व्यवस्था अपेक्षित है जब जनकल्याण, न कि वैयक्तिक लाभ, आर्थिक कर्मों का नियामक बनेगा।

साम्प्रतिक पूँजीवाद की दूसरी बड़ी असंगति यह है कि समाज के लोगों को बेरोजगारी, मन्दी, मुद्रास्फीति और दशवर्षीय वृत्त से यह त्राण नहीं दे सका है। प्रायः प्रत्येक दस या बारह वर्ष पर पूँजीवाद संकट से ग्रस्त हो जाता है। कभी-कभी उत्पादन की प्रचुरता रहती है तो कभी-कभी उत्पादन की अल्पता।[3] कभी-कभी उत्पादन की राशियों और कारकों का परस्पर संतुलन नष्ट हो जाता है और इस कारण भी आर्थिक संकट उपस्थित हो जाते हैं। जबतक समाज का अधिकांश भाग, कल क्या होगा, इसके विषय में निश्चिन्त नहीं है, तबतक वह स्वतंत्रता का कदापि उपयोग नहीं कर सकता।

---

१. Marx Weber, *Wirtschaft and Gesellschaft*. अर्थशास्त्र और आचारशास्त्र की संबद्ध मीमांसा के लिए द्रष्टव्य. J. A. R. Marriott, *Economics and Ethics* ; C. F. Ayres, *The Nature of the Relationship between Ethics and Economics* ; Warner Fite, "Moral Valuations and Economic Laws', *Journal of Philosophy, Prychology and Scientific method*, XIV ; R. B. Perry, "Economic Values and Moral Values," "*Quarterly Journal of Economics XXX*; F. H. Knight, *Ethics and the Econimic Interpretation*" "Economic Psychology and the Value Problem", *Quarterly Journal of Economics* vols. 36 and 39 ; Talcott Parsons: *The Structure of Social Action*.

२. तांत्रिक दृष्टि=Technical stand-point.

३. F. Engels, Anti-Dutiring पृ० ३०१-३०३.

स्वतंत्रता का सम्बन्ध मानसिक स्वास्थ्य, शांति और संतुलन से है। निराशा और बेरोजगारी की संक्रामक विभीषिका से संतप्त मानव के लिए स्वतंत्रता एक काल्पनिक आदर्श मात्र है। जर्मनी में १९२३ तथा १९३०–३२ को भयंकर बेरोजगारी और मुद्रास्फीति का यह परिणाम हुआ कि वहाँ का मध्यवर्ग अत्यन्त आतंकित हो गया। उसे भय था कि आर्थिक अशान्ति की अवस्था उसे सर्वहारा वर्ग में परिणत कर देगी। अपने आर्थिक भाग्य की उसे भयकर चिन्ता थी। हिटलर के नात्सी दल ने उसे इस आर्थिक संकट से त्राण का आश्वासन दिया। अतः, आतंकित, भयार्त्त जर्मनी के मध्यवर्ग ने अपना आर्थिक स्थान सुरक्षित रखने के लिए अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता का जर्मन नात्सीदल द्वारा अपहरण स्वीकृत किया। महाभारत में वर्णन आता है कि भीष्म और द्रोण भी कौरवों के द्रव्य के द्वारा अपने नैतिक स्वातंत्र्य को छोड़ने के लिये बाध्य हुए थे। अतः, आवश्यक है कि जीवन को अशान्त तथा संकटपूर्ण बनने से रोका जाय। भारतवर्ष के नवजात प्रजातंत्र को अपना आर्थिक आधार सुदृढ़ बनाना ही होगा। गांधीजी ने कहा था कि जबतक यहाँ के ग्रामों की आर्थिक अवस्था नहीं सुधरती है, तबतक यहाँ के स्वराज्य को बड़ा भारी खतरा है।

आर्थिक मुनाफे का प्राबल्य, शोषण प्रक्रिया का अतिरंजित वेग तथा दरिद्रता, पीड़ा, अशिक्षा की अबाध उपस्थिति, समाज की एकता को नष्ट कर देती हैं। समाज की भित्ति है सामूहिक कल्याण की भावना। जब समष्टि का तिरस्कार कर वर्ग-स्वार्थों की सिद्धि होगी तब समष्टि की भावना का प्रणाश हो जायगा। समष्टि की भावना का प्रणाश प्रजातंत्र के लिए भारी खतरा है। मध्ययुगीन यूरोप और प्राचीन भारत में समग्र-व्यापिनी समष्टि-भावना का प्राधान्य था। अपने व्यक्तित्व और स्वार्थ से महत्तर एक समष्टि की भावना व्याप्त थी। उस समष्टि से तदाकारता प्राप्त कर मानो समग्र-ग्राहिता का एक विलक्षण अनुभव मानव को होता था। प्रतियोगिता, भयंकर शोषण और वर्गसंघर्ष ने इस समष्टि की भावना को बहुत कमजोर कर दिया है। समाज-शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस समष्टि की भावना का नाश एक घातक वृत्ति है। इस प्रकार मानव संश्रय-रहित हो जाता है और अपनी नैतिक और सामाजिक जड़ों को खो बैठता है। फ्रांसीसी समाजशास्त्रवेत्ता एमिल डुर्खायम ने समाज-विहीनता के कारण प्रजनित भयंकर एकाकीपन के दुष्परिणामों की ओर हमलोगों का ध्यान आकृष्ट किया है।[1] अभी पश्चिमी सभ्यता की अपेक्षा, भारत में धर्मानुमोदित एकता तथा लोकोत्तर भावनाओं का प्राबल्य है और अज्ञानता तथा समाजविहीनता के दुष्परिणाम यहाँ अभी व्यक्त नहीं हुए

१. E. Durkheim ने अपने प्रख्यात ग्रंथ *Suicide* में "Anemic" का विश्लेषण किया है।

हैं। किन्तु यहाँ के कर्मकरों और कृषकों की अवस्था अत्यन्त ही शोचनीय है और बहुत संभव है कि समाज के द्विधाकरण के कारण सामाजिक एकता और कल्याणवाद का भाव पूर्णतः प्रणष्ट हो जाय। जबतक मानव अपने क्षुद्र स्वार्थों का, आंशिक ही सही, अतिक्रमण नहीं करेगा तबतक सामाजिक और राजकीय संस्थाओं को कल्याण और स्वतंत्रता का वाहक नहीं बनाया जा सकता। स्वतंत्रता, स्वेच्छाचारिता और एकान्त का अनुशीलन नहीं है। जब सामाजिक, वैधिक और राजनीतिक संस्थाएं वर्गस्वार्थ के प्रभाव से निकलकर प्रजातंत्रीय पद्धति से चलाई जाती हैं और निम्नवर्गीय लोगों को स्वतंत्र करने में प्रयत्न करती हैं तब स्वतंत्रता की नींव दृढ़ होती है। स्वतंत्रता एक अविभाज्य वृत्त है। अमरीकन गृहयुद्ध के समय, कहा जाता था कि, यह देश आधा स्वतंत्र और आधा दास नहीं रह सकता। आर्थिक शोषण और स्वार्थ समाज को विभक्त कर देते हैं। सामाजिक द्विधा-ध्रुवीकरण[1] राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए घातक है। ऐसी अवस्था में स्वतंत्रता आर्थिक दृष्टि से मजबूत वर्ग की ही सम्पत्ति हो जाती है। निम्नस्तरीय वर्गों को ऐसी अवस्था में स्वतंत्रता का न तो महत्त्व मालूम पड़ता है और न वे इसे आत्मबलिदान के द्वारा भी प्राप्तव्य आदर्श समझते हैं। इसलिए आवश्यक है कि धनग्राहिता, अर्थशाहाधिपत्य, वर्गशोषण और वित्तैषणा के कुप्रभावों को हटाकर आर्थिक शान्ति तथा समानता का वातावरण पैदा किया जा सके जो राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से सुखी, सन्तुष्ट और समष्टिभावनाव्याप्त समाज का निर्माता हो सके।[2]

स्वतंत्रता एक वृत्त है। इसका मुख्यार्थ है नैतिक संयम के द्वारा कर्मयोगपरक शक्ति का विमुक्तीकरण। किन्तु शक्तियों के क्रियात्मक विकास के लिए आवश्यक है अधिक से अधिक समानता की उपस्थिति। कानून की दृष्टि में स्वतंत्रता, प्रजातंत्रवादी परम्परा की एक महती देन है। इस आदर्श के विकास में इंगलैण्ड का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्पष्ट है कि कानून के सामने समान भाव से अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए मनुष्य उपस्थित हो सके, इसके लिए भी आर्थिक मजबूती आवश्यक है। आज की संजटिल विलम्बकारी और खर्चीली न्यायव्यवस्था का फायदा उठाना पीड़ित और गरीब जनता के लिए संभव नहीं है। ऐसा भी देखा गया है कि जिस सामाजिक आर्थिक वर्ग से न्यायाधीश प्रादुर्भूत होते हैं, ज्ञाततः वा अज्ञाततः, वे उस वर्ग के स्वार्थों का समर्थन

१. द्विधाध्रुवीकरण = Bipolarisation.

२. Carl Becker, *Freedom and Responsibility in the American Way of Life*; J. B. Bury, *A History of Freedom of Thought*; Zecharia Chafe, *Free Speech in United States*, F. D. Roosevelt, *Nothing to Fear*.

करते हैं। जर्मनी के समाजवादी प्रजातंत्र का विनाश करने में वहाँ के न्यायाधीशों का भी हाथ था। वहाँ पर प्राक्समाजवादी व्यवस्था में जो वर्ग धन और शक्ति की दृष्टि से बलशाली थे उनमें से ही न्यायाधीश, समाजवादी व्यवस्था में भी, लिये जाते थे और जब-जब मजदूरों का प्रश्न न्यायालय में उपस्थित होता था तब-तब ये न्यायाधीश कानून के शब्दों का तोड़ मरोड़ कर उनके अधिकारों का कानूनी दमन करते थे[१]। अमरीका का प्रधान न्यायालय प्रायः प्रारम्भ से लेकर अबतक अमरीकी पूँजीवाद का प्रबल समर्थक रहा है। संविधान के निर्माताओं के द्वारा नितान्त अपरिकल्पित आशय को संविधान के अक्षरों से गृहीत कर पूँजीवाद का पोषण इसने किया है। जो स्वतंत्रता और छूट व्यक्तियों के लिए की गई थी उसे वाक्-चातुरी का आश्रय लेकर आर्थिक संस्थाओं के लिए भी उपयुक्त करना कोरी कल्पना करना है। यह ठीक है कि अब इस स्थिति में सुधार हो रहा है तथापि प्रायः डेढ़ सौ वर्षों से भी अधिक समय तक इस न्यायालय ने स्वतंत्रता, समानता, निष्पक्षपातता आदि बड़े शब्दों की दुहाई देकर भी पूँजीवाद और वर्णभेद का समर्थन किया है। स्पष्ट है कि धन की शक्ति अत्यन्त प्रकृष्ट है। अतः, यदि राजनीतिक और कानूनी स्वतंत्रता को दृढ़ और क्रियान्वित करना है तो निश्चित ही समाज के पीड़ितों का उत्थान होना चाहिए अन्यथा सत्य केवल 'कोरे कागद' पर ही लिखा रह जायगा।

स्वतंत्रता एक अत्यन्त महान सन्देश है। आवश्यकता पड़ने पर प्राणों का अर्पण कर भी इसकी पूजा होती है। समग्ररूप से इसकी प्राप्ति अवश्य ही श्रमसाध्य है। दार्शनिक और नैतिक दृष्टि से मानव को स्वस्थ चेतन बनाने के निमित्त अपेक्षित है कि जीवन के जो कम से कम आवश्यक पदार्थ हैं उन्हें सर्वसुलभ बनाया जाय। स्वतंत्रता भावुकता या प्रवृत्तिसम्भोग नहीं है। समाज के प्रति उचित कर्त्तव्यों को सम्पन्न करने से ही मानव व्यक्तित्व का सामंजस्यपूर्ण विकास होता है और मनुष्य की प्रवृत्तियों, भावनाओं, इच्छाओं का स्वस्थ कर्म में प्रकाशन होता है। किन्तु मानव व्यक्तित्व कुछ दूर तक विलक्षण भी है। मानव व्यक्तित्व के सम्पूर्ण निर्माणकारी तत्त्वों का प्रतिफलनमात्र मानना असंगत है। वीरों, महान् साहित्यकारों तथ युगउन्नायकों का व्यक्तित्व इस विचार का पूरा विरोधी है। वैयक्तिक वैलक्षण्य को ध्यान में रख कर ही नैतिक और दार्शनिक स्वतंत्रता की आवश्यकता दार्शनिक राजनीतिशास्त्र में स्वीकृत है। यदि प्रत्येक मानव केवलमात्र अणुओं और परमाणुओं का संगठनमात्र है, तो यदि समाज के नाम पर कुछ व्यक्तियों का हनन होता है तो यह कोई बहुत

१. F. L. Neumann; *Behemoth*; R. T. Clerk, *The Fall of the German Republic*.

सनसनी पैदा करनेवाली बात नहीं है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र प्रत्येक मानव को आत्मिक चैतन्यसम्पन्न मानता है। अतः, मानव का निरे साधन के रूप में प्रयोग कदापि इसे स्वीकृत नहीं है। केवलमात्र सामाजिक कल्याण, वैयक्तिक विकास का परमतम लक्ष्य कदापि नहीं माना जा सकता। निश्चित ही अपने आश्रयोचित कर्मों को, मानव को अवश्य ही करना है। किन्तु सामाजिक कर्मयोग मानव पुरुषार्थ की इयत्ता नहीं व्यक्त करता। संयम, तपस्या, साधना आदि से क्षुद्रता का निर्वाण करते हुए मानव अन्तस्सम्वेद्य आत्मिक आनन्द की अनुभूति कर सकता है।[1] इसीलिए दार्शनिक राजनीतिशास्त्र कृत्स्नपद्धति का आश्रयण कर मानव के लिए आध्यात्मिक, नैतिक, राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता का आदर्श उपस्थित करता है। एक ओर, नैतिक भावनाओं के परिष्कृत न होने पर लिप्सा और बलवाद का जन्म होता है। दूसरी ओर, जीवन की कोरी आवश्यकताओं के अभाव में, आध्यात्मिक विकास करनेवाले को भिक्षावृत्ति और दारिद्र्य का सहारा लेना होता है। यदि किसी विद्वान्, वेद-वेत्ता, साधनशील पुरुष को अपने भोजन, वस्त्र आदि की व्यवस्था के लिए चोरबाजारी करनेवाले किसी बनिया के सामने गिड़गिड़ाना पड़ता है तो मैं इस स्थिति को सर्वथा स्वतंत्रता का अपहरण करनेवाला मानता हूँ। प्राचीन और मध्यकालीन सभ्यता में भी ऐसे उदाहरण पाए जाते हैं कि साहित्यकारों को धनवानों की चाटुकारिता में अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग करना पड़ता था। प्रजातंत्रीय व्यवस्था इसको कदापि नहीं सह सकती है। स्वतंत्रता क्रियात्मिका शक्ति है किन्तु नैतिक और आध्यात्मिक पुरुष को भी आर्थिक उपादानों की आवश्यकता है। सुदामावृत्ति और जड़भरत वृत्ति से आधुनिक जगत् में कार्य नहीं चल सकता। स्वतंत्रता हिमालय की चोटी पर अथवा आल्पस पर्वत पर रहनेवाली एक वृत्ति नहीं है। मानव जीवन को शाश्वत अमर प्रेरणा और नवजीवन का दान इससे मिलते हैं। जीवन की प्राण-प्रेरणा आज के संघर्षमय वातावरण में कुम्हला न जाय या कोई तानाशाह अपनी उद्दाम लिप्सा की प्राप्ति के लिए युद्ध-भूमि में मानव के प्राणों का बलिदान न करा दे, इसके लिए आवश्यक है कि मानव-आत्मवाद का विराट् सन्देश प्रचारित हो। राजनीतिक और आर्थिक भाग्य को मुट्ठी-भर लोगों की देखरेख में न्यस्त करने का भयंकर दुष्परिणाम दो विश्वमहासमरों में देख लिया गया है। मानव सभ्यता के आशा केन्द्र नवयुवकों की जान से खेलना और लाखों की संख्या में उनका हनन, और वह भी इसीलिए कि कुछ पूँजीपति, कुछ आयुधनिर्माता, कुछ तानाशाह और कुछ अहंभावावेष्टित नेता अपने अरमानों को पूरा

१. "ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो यमस्तपः शमस्तपोदानं तपो यज्ञस्तपो"
(तैत्तिरीय आरण्यक, १०।८)

करें ?—कल्पना करके ही रोमांच हो जाता है। क्या संस्कृति, नैतिकता और चैतन्य का वाहक मानव इस प्रकार स्वार्थियों की पाशविक वृत्ति का शिकार बनेगा ? निस्सन्देह आज मानव सभ्यता में पैशाची वृत्ति का साम्राज्य है। आज वेदान्त और सुकरात तथा काण्ट का सन्देश, फिर भी आवश्यक है—'अपने को पहचानो।'[1]

आज बुद्धिजीवी वर्ग अपनी स्वतंत्रता खो बैठा है। कितने महत्त्वपूर्ण शब्दों में बौद्धिक एकाधिकारवाद का खंडन बुद्ध ने किया था। उन्होंने सर्वदा अपने अनुयायियों और सम्पर्क में आए हुए अन्य व्यक्तियों को यही कहा 'आओ और देखो।' विश्वास वाद और अन्धश्रद्धावाद का वेगवान खंडन करने के कारण भारतीय इतिहास में बुद्ध का गौरवशाली पद है। जान मिल्टन और जान मिल ने बौद्धिक स्वतंत्रता को उन्नति का बीज माना है। स्वतंत्र अनुसंधानवृत्ति ही यूनानी सभ्यता का आधार थी। किन्तु तानाशाही देशों में आज धार्मिक और बौद्धिक स्वतंत्रता का पूरा अपहरण हो गया है। पूँजीवादी देशों में भी आज देशरक्षा के नाम पर सोचने की स्वतंत्रता जोरों से कुचली जा रही है। अमरीका में यह रोग संक्रामक होता जा रहा है। स्वतंत्रता तो संसर्जन की शक्ति है। पराधीनता में उसे जकड़ कर कैद रखना मानवता के साथ विद्रोह है। गेलिलियो, ब्रुनो आदि पर जो विचार-स्वतंत्रता के लिए अत्याचार हुए, मालूम पड़ रहा है, शायद उनकी पुनरावृत्ति होगी। विभिन्न प्रकार के संकटों का आश्रय लेकर आज प्रजातंत्रीय देशों में भी स्वतंत्रता को कुचला जा रहा है। शासक दल की आलोचना करने का जो अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य है, वह छीना जा रहा है। कभी-कभी मालूम पड़ता है कि अन्धकार युग फिर आ रहा है। जो बर्बरता, नग्नता कभी मुगलों ने, कभी इसलाम ने, कभी रोमन कैथोलिक चर्च ने प्रदर्शित की है उसका विकसित रूप हाल ही में हम अपने देश में तथा विदेश में देख चुके हैं। स्पीनोजा ने चर्चशाही के खिलाफ राज्य को विचार-स्वतंत्रता की रक्षा करने का निमंत्रण दिया था।[2] कैस्टेलियन और लाक धार्मिक सहिष्णुता के प्रबल पोषक थे।[3] इस सन्देश को बृहत् रूप से क्रियान्वित करना आवश्यक है।

१. एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।
उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।
(कठोपनिषत् १।३।१२,१४)

२. Spinoza, *Tractatus Theologico-Politicus.*

३. Harold Laski, *The State in Theory and Practice.* पृ० ४६

स्वतंत्रता की रक्षा आज युग का सबसे बड़ा प्रश्न है। उत्पीड़न, सामाजिक शोषण, राजकीय अति-नियंत्रण, तानाशाही—इन सब का मूलतः विनाश करके सर्वविध क्रियात्मिका स्वतंत्रता की व्यवस्था और रक्षा करनी होगी। स्वतंत्रता का अर्थ है व्यवसायात्मिका बुद्धि की कर्तृत्व शक्ति का प्रयोग। सामाजिक शक्तियों को मानव-कल्याण में नियोजित करना ही आज का परम पुरुषार्थ है। भूख, दमन और अनिश्चितता से पीड़ित मानव अपनी अन्तश्चेतना का क्या विकास करेगा? अतः, आज एक ऐसे समाज की आवश्यकता है जहाँ व्यापक रूप से आध्यात्मिक, नैतिक, मानसिक, वैयक्तिक, राजनीतिक तथा आर्थिक स्वतंत्रता का क्रियान्वयन हो सके।

दशम अध्याय

न्याय और समानता

(१) न्याय

न्याय राजनीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र का एक महत्वपूर्ण शब्द है। समाज में वर्तमान प्रत्येक व्यक्ति के साथ न्याय हो, उसकी योग्यता और गुण के अनुसार उसको पद प्राप्त हो, इस प्रकार का विचार सभी को आकृष्ट करता है। मानव के सर्वसामान्य कल्याण सिद्ध करनेवाले नियमों का निष्पक्ष पालन न्याय का तात्पर्य है। न्याय का अर्थ होता है—योग्यता और गुण के अनुसार सामाजिक वस्तुओं का वितरण।[१] स्वस्थ, सबल, सशक्त समाज तभी बन सकता है जब निवासियों का यह आत्मिक विश्वास हो कि उनकी अन्तर्निहित शक्तियों के पूर्णतम विकास के अवसर उन्हें प्राप्त हैं। न्याय के परित्याग से राज्य और समाज का पतन आरम्भ हो जाता है क्योंकि जिस वर्ग के साथ न्याय की नीति का उल्लंघन होता है उसकी सच्ची सेवा समाज कदापि नहीं प्राप्त कर सकता।

न्याय का सिद्धान्त भारतीय सभ्यता की एक बड़ी देन है। न्याय की कल्पना का विकास ऋग्वेद के समय में ही हो चुका था जब वरुण देवता को सदसद् कर्मों का फलप्रदाता समझा गया।[२] जो अधर्म और अनृत का अनुसरण करता है वह वरुण के पाश में बद्ध हो जाता है, ऐसी कल्पना वैदिक काल में पाई जाती है। ईश्वर को

१. Dorothy M. Emmet, "Justice and Equality", *Philosophy* खण्ड १४, १९३९, पृ० ४६-५८। Benedetto Croce, *My Philosophy.*

२. उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।
दिव स्पशः प्रचरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम्॥
सर्वं तद् राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत् परस्तात्।
संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी निमिनोति तानि॥
ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु।

(अथर्ववेद, ४।१६।३-५)

'यथाकर्म यथाश्रुत' न्याय का प्रदाता वेदान्त में समझा गया है। पुनर्जन्मवाद का सिद्धान्त न्याय के सिद्धान्त को ही पुष्ट करता है। न्याय यही है कि अपने समस्त कर्मों का फल मनुष्य अवश्य भोगे और इसी विचार के अनुसार यदि अनेक जन्म के चक्र में कर्मों का फल भोगना पड़े तो भी बिना उसे भोगे विमोक्ष नहीं मिल सकता। कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद, अधिकारवाद आदि सिद्धान्तों का प्रणयन इसी न्याय की विचारधारा को सामने रखकर हुआ था। न्याय की विचारणा इतनी प्रबल थी कि निर्वाण, अनात्मन् आदि के समर्थक बुद्ध को भी कर्मवाद के व्यापक नियम को मानना ही पड़ा।[1]

जिस प्रकार प्राचीन भारतीय विचारधारा में न्याय का महत्व है उसी प्रकार यहूदी धर्म और दर्शन में भी। यहूदी लोग एक सताई हुई जाती हैं। मिश्र देशवासियों का आक्रमण, फिलिस्तीन के पार्श्ववर्त्ती जातियों से संघर्ष और फिर बाबुल तथा रोम का भयंकर अत्याचार—यहूदियों का इतिहास इस प्रकार अत्याचार, दमन और जातीय दुख का इतिहास है। किन्तु इस दुखराशि ने यहूदियों को ईश्वरविश्वासी बनाया। ईश्वर के न्याय में उनका अत्यन्त दृढ़ विश्वास था। भावी इतिहास में, आगे चलकर, अत्याचारों का बदला ईश्वर लेगा, इस प्रकार की भविष्योन्मुखी आशावादिता से यहूदियों का धर्मग्रंथ भरा हुआ है। कोई भी ईश्वर के नियम का भंग नहीं कर सकता। यदि पार्थिव लोक में अभी ही न्याय नहीं मिल जाता तो इससे घबड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि लोकान्तर और कालान्तर में ईश्वरीय न्याय-

---

१. गब्भमेके उपज्जन्ति निरयं पापकम्मिनो।
सग्गं सुगतितो यन्ति परिनिब्बन्ति अनासवा॥

(धम्मपद ९।११)

बौद्धधर्म और दर्शन में कमवाद के लिए द्रष्टव्य, मज्झिम निकाय (हिन्दी अनुवाद) पृ० ४१३, Charles Eliot, *Hinduism and Budhism* खण्ड १ पृष्ठ १३९; C. A. F. Rhys Davids, "Man as Willer", *Buddhistic Studies* पृष्ठ ५८७; Oldenberg, *Budha* पृष्ठ २४५; Monier Williams, *Buddhism* पृष्ठ ११४; Stcherbatsky, *Central Conception of Buddhism* पृष्ठ ११९; C. A. F. Rhys Davids, *Buddhist Psychology* पृष्ठ ६३; Pnysussin, "Karma", *Encyclopeadea of Religions and Ethics* खण्ड ७, पृष्ठ ६७३–६७५; Suzuki, *Outlines of Buddhism* पृष्ठ २००; Warren, *Buddhism in Translations* पृष्ठ २१४; Hopkins, "Modification of the Karma Doctrine", *Journal of the Royal Asiatic Society* १९०६ पृष्ठ ५८१.

व्यवस्था की विजय अवश्यंभावी है। इतिहास की गति को इस प्रकार अवश्यंभवनीयता, आशावादिता तथा ईश्वरीय प्रेरणा से अनु-संचालित मानकर समाजशास्त्रीय दृष्टि से न्याय की कल्पना का विराट् समर्थन यहूदियों ने किया है। अभी हमें इस प्रश्न की कि वरुणपाश या मरणोत्तर पारलौकिक न्याय तर्कसंगत है या नहीं, मीमांसा नहीं करनी है। हमें तो यह बताना था कि किस प्रकार उस विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ है जो न्याय-व्यवस्था को राजनीति का मुख्य विषय मानती है।

यूनानी सामाजिक दर्शन में भी न्याय की कल्पना बड़ी वेगवती रही है। प्लेटो के मुख्य ग्रंथ 'रिपब्लिक' का प्रतिपाद्य विषय न्याय-व्यवस्था ही है। प्लेटो ने न्याय की असंगत और अपूर्ण उपपत्तियों का खंडन किया है। थ्रासिमाक्स ने यह प्रतिपादित किया था कि न्याय बलशालियों के द्वारा नियोजित उनकी स्वार्थसाधिका व्यवस्था है।[१] ग्लाउकन और अडाइमान्टस ऐसा मानने थे कि न्याय वस्तुतः कमजोरों की व्यवस्था की उपज है; क्योंकि कमजोरों को ही इसकी आवश्यकता होती है। ग्लाउकन के मत में अन्याय करना सर्वोत्तम है, अन्याय सहना निकृष्टतम है और मध्यम वृत्ति है न्याय का अनुसरण। न्याय कमजोरों के अनुबन्ध का परिणाम है।[२] प्लेटो ने, थ्रासिमाक्स ने उग्र और घोर बलवाद का खंडन किया तथा दूसरी ओर ग्लाउकन की विचारधारा को भी असंगत सिद्ध किया। शक्तिवाद, न्यायसाधनवाद, इतिहासवाद आदि का खंडन कर प्लेटो ने मानव आत्मा की स्वाभाविक निर्माण-कारिणी शक्ति पर न्याय को स्थापित किया। मानव आत्मा में वर्तमान त्रिविध वृत्तियों का समन्वय ही न्याय है।[३] जब भोगात्मक

१. "And that is what I mean when I say that in all states there is the same principle of justice, which is the interest of the government; and as the government must be supposed to have power, *the only reasonable conclusion is that everywhere there is one principle of justice, which is in the interest of the stronger.*" *Republic*, प्रथम अधिकरण।

२. *Republic* द्वितीय अधिकरण।

३. *Republic* चतुर्थ अधिकरण "And the division of labour which required the carpenter and the shoemaker and the rest of citizens to be doing each his own business, and not another's, was *a shadow of justice*, and for that reason it was of use? ...... *But in reality justice*

तथा क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ सात्विक ज्ञानात्मक वृत्तियों का अनुसरण करती हैं तब मानव शान्त, शीलवान्, नीतिमान् बनता है। राज्य में भी उन्हीं प्रवृत्तियों का विशालतर और वाह्य रूप से प्रकाशन होता है जो मानव आत्मा में व्याप्त हैं। जब राज्यपाल, सैन्यगण और उत्पादकगण समष्टि के परम कल्याण को ध्यान में रखते हुए अपनी-अपनी विचारयुक्त प्रवृत्तियों के अनुसार कार्य करते हैं तब सामाजिक न्याय की सिद्धि होती है। इस प्रकार प्लेटो के मत में न्याय के दो धरातल हैं। एक है मनोवैज्ञानिक न्याय जिसमें मानव आत्मा की त्रिविध वृत्तियों का समीकरण और समन्वय होता है। दूसरा है सामाजिक न्याय, जिसमें प्रत्येक वर्ग अपने कर्म में दक्षता प्राप्त कर अपने कर्म में निरत हो, सामष्टिक कल्याण को सम्पन्न करता है। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक और सामाजिक, दो धारातलों पर न्याय की स्थापना करते हुए भी प्लेटो मुख्यतया यह प्रतिपादित करता है कि न्याय का स्थान अन्तस्तल है। यह एक आन्तिरक वृत्ति है। यूनानी जगत में वाह्य भौतिक वस्तुओं के अनुशीलन और विश्लेषण का प्राबल्य था। सुकरात और प्लेटो मानव अन्तरात्मा के अनुसंधान में लगे थे। प्लेटो का यह मन्तव्य है कि न्यायशील मनुष्य अन्यायशील की अपेक्षा निस्सन्देह अधिक सुखी रहेगा।[१]

न्याय की भावना को मानव आत्मा में प्रतिष्ठित कर निस्संन्देह प्लेटो ने मानव के नैतिक विकास में एक विशाल सन्देश दिया है। उसके अनुसार मनुष्य को नीतिमान् इसलिए नहीं बनाना है कि जनता उसका यशोगान करे, अपितु इसलिए कि यही सत्य है। इस प्रकार वाह्य आधारों को नीति का मुख्य लक्ष्य न मानकर, आत्मिक विकास पर ध्यान केन्द्रित करना प्लेटो का परम पुरुषार्थ है। उसके अनुसार न्याय एक ऐसी वस्तु है, जो स्वतः भी कल्याणकारी है और जिसके परिणाम भी कल्याणकारी हैं। किन्तु प्लेटो के विचार की कुछ कमजोरियाँ भी हैं। प्लेटो का न्याय, सामाजिक दृष्टि से विभिन्नीकरण और श्रमविभाजन का सिद्धान्त है। गुण और स्वभाव से जो वर्ग जिस कर्म को करने के लिए उपयुक्त हो वह वही कर्म करे। इस प्रकार

---

was such as we were describing, being concerned however, not with the outward man, but with the inward, which is the true self and government of man ; for the just man does not permit the several elements within him to interfere with one another's or any of them to do the work of the others,—he sets in order his own inner life, and his own master and his own law, and at peace with himself."

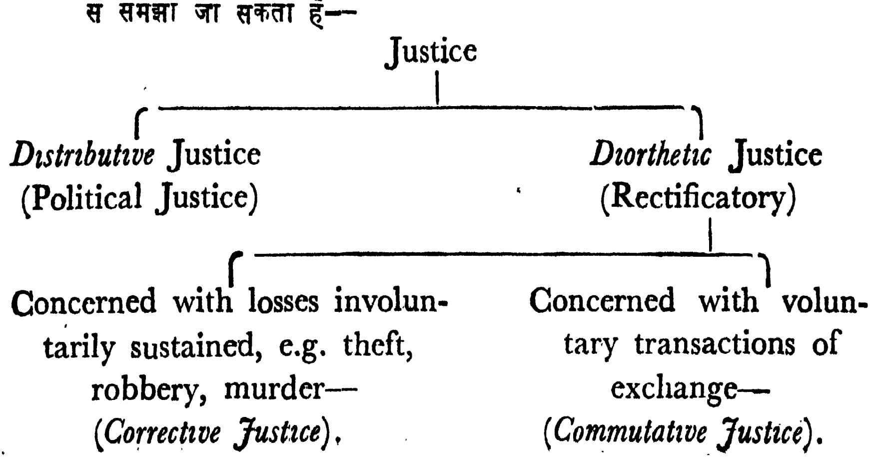
१. *Republic*, Book IX.

का विचार श्रुतिप्रिय तो मालूम पड़ता है किन्तु इसको क्रियात्मक बनाने के लिए राज्य की शक्ति का परिवर्द्धन करना पड़ेगा। पुनश्च, ऐसा भी होता है कि अतिशय श्रम-विभाजन और कर्मदाक्ष्य मनुष्य के जीवन की समग्रता का रूप ही विस्मृत करा देता है। श्रम-विभाजन साधन है, साध्य नहीं। व्यवहार में श्रम-विभाजन के सिद्धान्त को पूर्णतया क्रियान्वित करने का मतलब होगा राज्य की शक्ति का समर्थन; क्योंकि राज्य ही इसका निर्णय करेगा कि कौन मनुष्य किस काम के लिए उपयुक्त है। यदि राज्य इसका निर्णय नहीं करता तो समाज परम्परा या वंशानुगतिकता के अनुसार इसका निर्णय करेगा। इससे रूढ़िवाद का विस्तार होगा। यूनानी परम्परा में समाज और राज्य के बीच विश्लेषण नहीं था। अतः, राज्य की शक्ति का संवर्द्धन अतिरंजित श्रमविभाजन में अन्तर्निहित है। एक ऐसे मध्यबिन्दु को प्राप्त करना जिसमें यादृच्छिकता के आधार पर, अपने समस्त गुणों का परिपाक करते हुए, मानव श्रम-विभाजन के नियम का भी पूरा अनुवर्तन करे, कठिन कार्य है। इन कठिनाइयों के होते हुए भी न्याय की विचारधारा को प्रस्फुटित करने में प्लेटो का बड़ा हाथ है। न्यायपूर्ण जीवन में अन्यायपूर्ण जीवन की अपेक्षा अधिक स्वतंत्रता, सुख और अभय है, ऐसा उसका विचार है। न्यायी मनुष्य के सुख को पूर्ण और निरपेक्ष प्लेटो ने माना है। 'रिपब्लिक' ग्रंथ के अन्त में उसने यह भी कहा है कि मरणोत्तरकाल में न्यायी मनुष्य प्रभूत आनन्द का भागी बनता है। प्लेटो द्वारा प्रदर्शित मानव आत्मा के त्रिभाग को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रामाणित करना कठिन है। आज की संजटिल समाजव्यवस्था में उसके द्वारा कल्पित तीन वर्गों से कहीं अधिक अनेक वर्गों का प्राधान्य है। तथापि मैं यह समझता हूँ वाह्य समाज के नियामक न्याय को मूलतः आत्मा में स्थापित कर परिवर्तनों और सुधारों को प्रभावकारी बनने के लिए मानव-आत्मा को स्पर्श करना पड़ेगा। मानव की नैतिक और मनोवैज्ञानिक वृत्तियों को प्रभावित कर ही कोई कार्य स्थायी और महत्त्वपूर्ण बन सकता है। वाह्य जगत् और आन्तरिक जगत् में अवश्यंभावी कोई अन्तर नहीं है। आन्तर का ही प्रकाशन और प्रकटीकरण वाह्य में होता है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र का यह विचार है कि कोई भी स्थायी कार्य करने के लिए मानव-आत्मा में प्रभाव उत्पन्न करना आवश्यक है। शिक्षा और उद्‌बोधन के आधार पर बनाया गया राजनीतिक सुधार ही टिकाऊ हो सकता है। आन्तरिक और वाह्य के अन्तर को कम कर प्लेटो ने यह बताया कि जो नैतिक नियम मानव के वैयक्तिक जीवन का नियमन करते हैं यदि वाह्य जगत का भी नियमन करेंगे तो राज्य आदर्श प्राप्ति की ओर अग्रसर होगा। आन्तरिक नैतिकता, और सामूहिक दृष्टि से असत्य, अन्याय आदि का पोषण, दोनों साथ-साथ सम्भव नहीं हैं।

यदि नैतिक और दार्शनिक दृष्टि से प्लेटो के न्याय-सम्बन्धी विचार महत्त्वपूर्ण हैं तो समाजशास्त्रीय दृष्टि से अरस्तू के विचार में भी औचित्य प्राप्त होता है।[1] न्याय के दो विभाग अरस्तू ने किए हैं। (क) वितरणात्मक या राजनीतिक न्याय (ख) संशोधनात्मक न्याय। वितरणात्मक न्याय का यह सिद्धान्त है कि राजनीतिक पदों की पूर्ति योग्यता के अनुसार हो। किसी भी आदर्श शासन-पद्धति में चाहे वह पूर्णतः प्रजातंत्रीय ही क्यों न हो पदवितरण योग्यता के अनुसार ही हो सकता है। प्रजातंत्र है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति राज्यपाल या राष्ट्रपति नहीं बन सकता है और न प्रत्येक व्यक्ति राजदूत बनाया जा सकता है। यह ठीक है कि अनेक अवसरों पर यह पदवितरण स्वार्थ, दलबन्दी तथा अन्य अनावश्यक और अनभिवांछित आधारों पर किया जाता है। भारत, अमरीका तथा अन्यत्र भी इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। किन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से वितरणात्मक न्याय का यही आधार है कि योग्यता के अनुसार ही विभिन्न पद नागरिकों को दिए जायँ। कोई भी मनुष्य अतिरंजित समानतावाद के नाम पर इसके विपरीत आवाज नहीं उठायेगा। संशोधनात्मक न्याय के दो प्रकार हैं। एक का सम्बन्ध कानून से है। जिन हानियों को मनुष्य अनिच्छापूर्वक सहता है जैसे चोरी, डाका, हत्या आदि, उनका विचार इसमें किया जाता है। संशोधनात्मक न्याय का दूसरा रूप विनिमयनात्मक है। विनिमय के सम्बन्ध में जो आपसी समझौते हैं उनका सम्बन्ध-विवेचन इसमें होता है। अर्थात् एक प्रकार की वस्तु या सेवा के बदले में दूसरी कौन-सी वस्तु या सेवा मिल सकती है इसका निर्धारण करना भी न्याय ही है। कभी-कभी वितरणात्मक को रेखा-गणितात्मक न्याय

---

१. *Nicomacaean Ethics*; Barker ने *Principles of Social and Political Theory* में इसका विवेचन किया है। इसको निम्नलिखित चित्र से समझा जा सकता है—



और संशोधनात्मक न्याय के पहले रूप को अंकगणितात्मक न्याय भी कहते हैं। रेखागणितात्मक न्याय असमानता पर आधारित है अर्थात् जिसकी जैसी और जितनी योग्यता हो उसको वैसी और उतनी देना। अंकगणितात्मक न्याय समानता पर आधारित है। यदि चोरी का अपराध कोई बड़े पद पर आसीन व्यक्ति करे या कोई साधारण जन, दोनों को समान दंड मिलना चाहिए। अर्थात् दण्डनिर्धारण में किसी प्रकार की अन्य योग्यता का ध्यान न रखते हुए समान दण्ड मिलना चाहिए। आनुपातिक समानता और पूर्ण कानूनी समानता में इस प्रकार का अन्तर करना अरस्तू का योगदान है। अरस्तू ने 'इक्वीटी' का भी उल्लेख किया है। यदि कोई सामान्य नियम किसी अवसर-विशेष या व्यक्तिविशेष के लिए अनावश्यक आफत ढाता हो तो ऐसी अवस्था में उसकी उग्रता उस अवसर-विशेष के लिए कम कर दी जानी चाहिए। आधुनिक कानूनशास्त्र में भी इस इक्वीटी का व्यवहार किया जाता है।

ईसाई धर्म के प्रचार के कारण न्याय की कल्पना को धार्मिक रूप प्रदान किया गया। ।यूनान में न्याय सामाजिक व्यवस्था में अनुस्यूत माना जाता था। लोकोत्तर न्याय की कल्पना प्रायः वहाँ नहीं थी। संत अगस्तीन ने बताया कि देवराज्य या ईश्वरीय नगर में ही न्याय का प्रत्यक्षीकरण हो सकता है। पार्थिव जगत् में चर्च ही ईश्वरीय नगर का प्रतीक या स्थानभूत है। इसी चर्च की तत्त्वावधानता में ही न्याय का साम्राज्य कायम रह सकता है। यदि राज्य न्याय की उपेक्षा करता है तब वह डाकुओं या लुटेरों का गिरोह मात्र रह जाता है।[१] संत टामस अक्वायनास ने भी

१. St. Augustine, *The City of God*, खण्ड ४, अध्याय ४। "Set justice aside then, and what are kingdoms but fair thievish purchases ? For what are thieve's purchases but little kingdoms, for in thefts the hands of the underlings are directed by the commander, the confederacy of them is sworn together, and the pillage is shared by the law amongst them ? And if those ragamuffins grow up to be able enough to keep forts, build habitations, possess cities, and conquer adjoining nations, then their government is no longer called thievish, but graced with the eminent name of a kingdom, given and gotten, not because they have left their practices, but because now they may use them without danger of

चर्च को शाश्वत नियम की अभिव्यक्ति माना, तथापि अरस्तू ने समाजोत्कर्ष-प्रतिपादक दर्शन का उसपर प्रभाव था। इसलिए अक्वायनास ने बताया कि चर्च के अतिरिक्त अन्य संस्थाओं से भी न्याय की सिद्धि हो सकती है। यहूदी धर्म में भविष्योन्मुखी न्याय की कल्पना है। उस धर्म में ईश्वर को मुख्यतः न्यायकारी माना गया है। ईसाई धर्म में दया और प्रेम ही ईश्वर के मुख्य गुण माने गये और न्याय इनका अनुवर्ती समझा गया। किन्तु भारतीय धर्म और दर्शन में ईश्वर के रुद्ररूप या उग्रन्यायवितरणकारी रूप के साथ-साथ शिव और विष्णु के रूप में ईश्वर की करुणा-शीलता के तत्त्व की भी अभिव्यंजना की गई है।

न्याय और नैतिकता में काण्ट ने अन्तर बताया। समाज का नियंत्रण न्याय से होता है और नैतिकता मानव के वैयक्तिक जीवन का नियंत्रण करती है। जब वाह्य सामाजिक सम्बन्धों में मनुष्य अपने लिए उतनी ही दूर तक स्वतंत्रता की अभि-लाषा करता है जहाँ तक वह दूसरों की समान स्वतंत्रता का अपहरण नहीं करता है, वहाँ तक कह सकते हैं कि वह न्याय के सिद्धान्त का पालन करता है। आन्तरिक संकल्पों का शिवात्मक और शुद्ध होना ही नैतिकता है। न्याय और नैतिकता में इस प्रकार अन्तर बताकर काण्ट ने यह प्रतिपादित किया है कि मानव का आन्तरिक जीवन सामाजिक संस्थाओं और राजनीतिक अधिकार-केन्द्रों का अविषय और अगन्तव्य है। वाह्य शासनसूत्रों के आक्रमण से आन्तरिक जीवन को सुरक्षित रखना ही चाहिए। किन्तु न्याय को केवल परस्पर संघर्षकारी मनुष्यों के ऊपर वाह्य नियंत्रण के रूप में सीमित करना भी ठीक नहीं है। आदर्श समाज की अवस्था में वाह्य नियंत्रण को भी आवश्यक समझ कर, दमन के डर से नहीं, अपितु निजी संकल्प के कारण, व्यवहार का नियामक माना जाता है। अन्तर और वाह्य में इस प्रकार का भेद बताना मार्टिन लूथर से आरम्भ होता है। ग्रीन और बोसांक्वेट भी इस अन्तर को स्वीकार करते हैं। नैतिकता का रहस्य है--स्वेच्छापूर्वक कर्मयोग का पालन।

law. Elegant and excellent was that pirate's answer to the great Macedonian Alexander, who had taken him : The king asking him how he durst molest the seas so, he replied with a free spirit : How darest thou molest the whole world ? But because I do it with a little ship only, I am called a thief: thou doing it with a great navy, art called an emperor."

सामाजिक और राजकीय व्यवस्था में दमनशक्ति का प्रयोग अवश्यंभावी है। किन्तु कभी-कभी नैतिकता और न्याय में अन्तर करने से आत्मप्रवंचना के लिए भी मार्ग खुल जाता है। सामाजिक और राजकीय दासता से आक्रान्त जनसमूह या व्यक्ति आन्तरिक नैतिक स्वातंत्र्य की प्राप्ति के नाम पर दासता को सहन कर सकता है। इस प्रकार की आत्मप्रवंचना अनेक तथाकथित नीतिमान् करते हैं। कुछ आलोचकों का तो यहाँ तक कहना है कि नैतिकता और न्याय में अन्तर बताकर जर्मनी में भावी नात्सीवाद का दार्शनिक आधार काण्ट ने मजबूत किया था। क्योंकि अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता खो कर भी जर्मनी का बुद्धिजीवी वर्ग काण्ट के द्वारा प्रदर्शित उस अन्तर में सन्तोष मान कर अपने को नैतिक जीवन का अनुवर्ती समझता था। यद्यपि काण्ट के नीतिशास्त्र और जर्मनी के नात्सीवाद में सम्बन्ध बताना कुछ खींचातानी पर आश्रित है, तथापि मैं यह समझता हूँ कि न्याय-व्यवस्था को व्यापक तथा हृदयग्राही बनाने के लिए उसमें भी नैतिक बातों का अनुप्रवेश होना चाहिए।

भारतीय कर्मवादी दर्शन, यहूदी और ईसाई विचारधारा और प्लेटो, अरस्तू तथा काण्ट ने न्याय के दार्शनिक आधार को व्यक्त करने की चेष्टा की। आज यूरोप में और भारत में सामाजिक और आर्थिक न्याय के नारे का जोरों से प्रयोग हो रहा है।[१] आज पूँजीवादी देशों में भी सामाजिक न्याय, जन-कल्याणवाद या सामाजिक पूँजीवाद की दुहाई दी जा रही है। पूँजीवादी अव्यवस्था की असमीचीनताओं और असंगतियों के कारण समाजवाद विकसित हुआ। जिस न्याय का संदेश धार्मिक धरातल पर यहूदी पैगम्बरों ने दिया था, उस न्याय को आर्थिक जगत् में क्रियान्वित करने का संकल्प यहूदी परिवार में उत्पन्न साम्यवाद के नूतन मसीहा कार्ल मार्क्स ने किया। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या कर इस नवीन पैगम्बर ने बताया कि निस्संन्देह समाजवाद की स्थापना होगी, प्रचुरता और स्वतंत्रता का आगमन होगा और पीड़न तथा शोषण का अन्त होगा। जो प्रचण्ड विश्वास, आशावादिता और संदेशवाहकता प्राचीन यहूदी पैगम्बरों में धार्मिक आधार पर अभिव्यक्त हुई थीं। वे पुनरपि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर मार्क्स के द्वारा स्थापित की गईं। मार्क्सवाद में दार्शनिक और समाजशास्त्रीय दृष्टि से अनेक असंगतियाँ हैं, तथापि इतना निर्विवाद है कि यूरोप और एशिया में जो इसने अप्रत्याशित सफलता प्राप्त की है, उसका मुख्य कारण है कि इसने सामाजिक न्याय का पक्ष-समर्थन किया है। किसी आन्दोलन का प्रभाव उसके सिद्धान्तों के दार्शनिक गाम्भीर्य और तर्कसंगतता के कारण नहीं होता है, अपितु

---

१. Westel W. Willoughby : *Social Justice* (१९००); L. T. Hobhouse, *The Elements of Social Justice.*

जनता की आकांक्षाओं के साथ तादात्म्य प्राप्त करनेवाली संदेशवाहिता से होता है। यद्यपि द्वन्द्ववाद वैज्ञानिक और दार्शनिक दृष्टि से असंगत है, तथापि पीड़ित मानवता को जो त्राण का सन्देश मार्क्सवाद से मिलता है, उसी के कारण मार्क्सवाद उन्नति कर रहा है। कम-से-कम अन्य सभी विचारधाराओं की अपेक्षा अधिक वेग और शक्ति से इसने सामाजिक अन्याय का भंडाफोड़ किया है। मार्क्सवाद की सफलता का रहस्य इसकी वैज्ञानिकता में नहीं है, अपितु एक नये जेरुजलम और एक नये मक्का को पीड़ित मानवता के लिए निर्मित करने की इसकी प्रकाण्ड आशावादिता म है। गेहरलिख, सोम्बार्ट, ट्वायनबी, बर्जाइम आदि ने इसी कारण मार्क्सवाद को नवीन युग का एक नया धर्म बतलाया है।

मार्क्सवाद का सबसे बड़ा प्रभाव यह हुआ है कि अब प्रायः समस्त देशों में सामाजिक न्याय का संदेश प्रचारित हो गया है। एक अर्थ में यह कह सकते हैं कि सामाजिक न्यायवाद, समाजवाद और साम्यवाद को दूर रखने का ही एक सुन्दर मार्ग है। सामाजिक न्याय का यदि समय रहते ही अनुवर्तन किया गया तो जनता साम्यवाद के घोर हिंसात्मक और तानाशाही मार्ग का अनुवर्तन नहीं करेगी। अन्याय और अत्याचार को यथासमय दूर कर देने से घोर मार्ग का अवलम्बन बन्द हो जाता है। फ्रांस और रूस के शक्तिधरों ने समझौते की नीति का आश्रय न लिया और इसी लिए वहां खूनी क्रांतियाँ हुईं। किन्तु इंगलैंड में रक्तहीन पद्धतियों से ही प्रजातंत्र का आगमन हुआ।

न्याय का यह तकाजा है कि समान आवश्यकताओं की समानतापूर्वक परितुष्टि हो। जितनी योग्यता है, उसी के अनुसार मनुष्यों को वेतन प्राप्त होना चाहिए। समाज की सेवा में जो जितना योगदान करता है, वह उसके अनुसार उपयोग की सामग्री प्राप्त करे, यह न्याय का तरीका है। जो कोई सेवा नहीं कर रहा है, उसे भोजन का कदापि अधिकार नहीं है। यह व्यापक नियम बच्चों, अंगहीनों और बूढ़ों के लिए लागू नहीं है। सामाजिक कल्पना का प्रत्येक मानव अपनी योग्यता के अनुसार संवर्धन करे और अपनी सेवा के अनुसार उसे समाज की धनराशि का हिस्सा मिले, यही सिद्धान्त समीचीन मालूम पड़ता है। समाज की संस्थिति की रक्षा करते हुए 'यथासेवा तथा वेतन' के नियम का पालन ही न्याय की व्यवस्था कर सकता है। जबतक समाज की धनराशि का वितरण नैतिक और तर्कसंगत आधार पर नहीं होगा, तबतक समाज का प्रत्येक मनुष्य सामाजिक कल्याण के परिपोषण में अपनी योग्यतम सेवा का प्रदान कदापि नहीं करेगा। सामाजिक न्याय का तकाजा है कि उचित रूप से सामाजिक अवसरों और सम्पत्ति का वितरण हो और

प्रत्येक व्यक्ति समाज के प्रति अपना उत्तरदायित्व समझे। उसकी प्रवृत्तियाँ इतनी संयमित हो जायँ कि वह अपनी सेवा निष्काम-भाव से समाज के सामने रखे। किन्तु इस प्रकार की निष्काम सेवा की माँग वही समाज कर सकता है जिसका आधार न्याय, समानता और स्वतंत्रता है। परीक्षा और संकट के अवसर पर नीतिनिष्ठ समाज के लिए प्रत्येक सदस्य अपना बलिदान करेगा। अतः, दोनों ओर सुधार की आवश्यकता है। शिक्षा और संयम के द्वारा व्यक्ति सदाचार और अपरिग्रह तथा अलोभ का अनुसरण करे और समाज अपनी सम्पत्ति और अपने अवसरों का यथागुण और यथावश्यकता वितरण करे। प्रथम अवस्था में तो कार्य और सेवा के अनुसार ही वितरण करना होगा। अन्तिम अवस्था सामाजिक कल्याण की वह है जब मानव भ्रातृत्व और सौहार्द्र का इतना विकास कर ले कि अपनी आवश्यकताओं के अनुसार वह सामाजिक धन का उपभोग करे। इसी आदर्श के अनुसार ही वैयक्तिक कल्याण और सामाजिक कल्याण का सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है।

सामाजिक न्याय को पूर्णतः व्यवस्थित करने के लिए कुछ शर्तें हैं। राजनीतिक अधिकारों का वितरण स्वतंत्रता की रक्षा के लिए होना चाहिए[१]। प्रजातंत्रीय प्रणाली के विकास से यह संभव हो सकता है कि सरकारी शक्ति का उपयोग उचित व्यवस्था के संरक्षण-मात्र के लिए हो, न कि वैयक्तिक और वर्गस्वार्थ के पोषण के लिए। अधिकार-संस्थापक होना ही राज्य का मुख्य उद्देश्य है। इसलिए सामाजिक न्याय का पहला अंग स्वतंत्रता है। इसका दूसरा अंग समानता है। समाज की धनराशि के उपयोग का अधिकार समस्त नागरिकों को रहना चाहिए। जबतक वर्गविशेष का ही सामाजिक सम्पत्ति पर एकाधिपत्य है तबतक समाज के आधारभूत तत्त्व—विधिविधान, शासन-सुव्यवस्था, अधिकार आदि भी—सम्यक् व्यवस्थित नहीं हो सकते। न्याय की व्यवस्था का तकाजा है कि स्वत्व और कर्तृत्वशक्ति में निश्चित अनुपात की व्यवस्था हो। अतः, स्वतंत्रता के साथ-साथ समानता भी सामाजिक न्याय का अंग है और इसलिए हम इसका भी विवेचन करेंगे। सामाजिक न्याय के नियम सामाजिक संघर्ष को शान्त करने के लिए व्यावहारिक नियममात्र नहीं है, इनका तात्त्विक उद्देश्य भी है। आज भौतिकवाद के युग में यद्यपि सामाजिक न्याय एक मूलतः व्यवहारोत्पन्न

१. Grace Laguna: Democratic Equality and Individuality, *Philosophical Review*, LV, १९४६, पृष्ठ १११–१३१; George Catlin: Equality and Status, *A study of the Principles of Politics*, पृष्ठ ३०४–३७५.

उपकरणात्मक सिद्धान्त प्रतीत होता है, तथापि इसका बीज नैतिक ही है। मानव-अन्तरात्मा में जो नैतिक चेतन-शक्ति का अधिष्ठान है, न्याय की वृत्ति उसी में वर्तमान है। ऋग्वेद और बायबिल में जो न्याय-सम्बन्धी नियम व्यक्त किये गये थे, उनका रूप धर्मशास्त्रात्मक युग में उत्पन्न होने के कारण मूलतः धार्मिक था। आज की दुनिया में आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था को सम्यक् संचालित करने के लिए न्याय का आदेश पुनरपि उद्घोषित हो रहा है। समस्त मानव समान हैं, इस प्रकार के प्राचीन वक्तव्य को आज राजनीतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक और आर्थिक दृष्टि से भी समर्थित करना आवश्यक हो गया है।

(२) समानता

संसार में जहाँ-कहीं भी हम दृष्टि डालते हैं, असमानता पाते हैं। कोई बलशाली है तो कोई अतिशय कमजोर; कोई मेधावी है तो कोई वज्रमूर्ख; कोई चरित्रवान् है तो कोई अनाचारी। प्रकृति में सर्वत्र असमानता दिखाई पड़ती है। एक ही माता-पिता की सन्तान कितनी विभिन्नता को प्रकट करती है। मनुष्य की शक्ति और गुण में विभिन्नता एक जबर्दस्त सचाई है और इसके उन्मूलन की कोई आशा नहीं मालूम पड़ती है। तथापि समानता का आदर्श आज की दुनिया में प्रचारित हो रहा है। बाह्य दृष्टि से असमान रहते हुए भी, मानवता की दृष्टि से सब समान हैं।[१] बाहरी अनेक असमानताओं के होते हुए भी मानवता-मात्र में आत्मिक दृष्टि से, या मनस्संपन्नता की दृष्टि से, कुछ मौलिक समानता अवश्य ही है। समानता का अर्थ है, मानवविकास के निमित्त आवश्यक उपकरणों का समान विभाजन। इनका अर्थ होता है—न्यस्त स्वार्थों और वर्गस्वार्थों का विनाश तथा सामाजिक जगत् में अतर्कसंगत समस्त रूढ़िवादिता का उन्मूलन। सभ्यता और संस्कृति के द्वारा उपस्थित अवसरों और सहूलियतों का समान विभाजन और सर्वसुलभीकरण इसका लक्ष्य है।[२] अबतक दुनिया में असमानता का व्यापक राज्य रहा है। किन्तु मानव-

१. Spiegelberg : *A Defense of Human Equality, Philosophical Review* Vol. LIII, (१९४४) पृष्ठ १२४.

२. J. F. Stephen : *Liberty, Equality, Fraternity*, लन्दन (१८७३) F. Fritts : *The Concept of Equality in its Relation to a Principle of Political Obligation*; T. V. Smith, *The American Philosophy of Equality* (शिकागो १९२७); R. H. Tawney : *Equality* (लन्दन १९३१); Bougle, *Les idees egalitaires*.

चिंतन के प्रारम्भ से ही समानता का आदर्श भी घोषित किया गया है।

वेदान्त के अनुसार अद्वैत चिन्मय परमतत्त्व ही सत्य है। इसलिए मानवमात्र आत्मिक दृष्टि से समान हैं। वेदान्त में सर्वदा मानवमात्र से करुणा-प्रदर्शन से भी आगे बढ़कर सर्वभूतात्मभूतात्मा होने का उपदेश आता है। समदर्शित्व गीता की एक बड़ी उत्कृष्ट शिक्षा है। गीता में कहा है कि पंडित वही है जो विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हस्ती, कुत्ता, चाण्डाल आदि में समभाव रख सकता है। ब्रह्म को गीता में 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' कहा है'[१]। जब एक अद्वैत व्यापक शुद्ध चैतन्य ही परम सत्ता है, तब समस्त जीव उसके अंशभूत हैं। अतः, मोह, शोक, वैषम्य आदि भावनाओं से ऊपर उठना चाहिए। छांदोग्य उपनिषद् के अनुसार अज्ञातपितृत्व के बावजूद परिचारिणी के पुत्र सत्यकाम जाबाल ऋषि बन सके। डाकू वाल्मीकि, धीवरपुत्र व्यास आदि तो भारतीय संस्कृति के विशिष्ट निर्माताओं में माने गये हैं। गीता में समाज-कृत विभिन्नताओं का तिरस्कार किया है और अध्यात्मज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए यह बताया है कि वैश्य और शूद्र भी परम-पद की प्राप्ति कर सकते हैं। दूसरी ओर गीता में आध्यात्मिक सत्ता का भी उल्लेख मिलता है। गुणातीत का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि वह सुख-दुःख, निन्दा-स्तुति, मानापमान, मित्रारि, लोष्टाश्मकांचन में समान भाव रखता है।[२] समस्त संगों से विवर्जित होकर वह

---

१. समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्। (गीता, १२।१८–१९)
इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ (गीता, ५।१९)
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्। (गीता, १३।२७–२८)

२. प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते ॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्य प्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।

शत्रु और मित्र तथा सुख-दुःख में तुल्य रहता है। अर्थात् गीता की शिक्षा के अनुसार समता एक विशाल वृत्ति है। इसमें मानसिक वृत्तियों का संशोधन और सामंजस्य तथा सब भूतों में समान दृष्टि, दोनों बातों का ग्रहण हो जाता है। जो आत्मज्ञानी है, जो सर्वत्र समस्त भूतों में अविभक्त ब्रह्म को देखता है, जो जीवमात्र को ब्रह्म का अंशभूत मानता है, वह समाज-विशेष के निहित स्वार्थों के कारण परिचलित बन्धनों को कैसे मान सकता है? वेदान्ततथोक्त इसी अद्वैत तत्त्व का स्वीकार करते हुए भारतवर्ष के सामाजिक सुधारकों ने मानव-समानता का उपदेश दिया है। कबीर, नानक आदि इसी शिक्षा से प्रभावित थे। विवेकानन्द, अरविन्द, तिलक आदि भी इसी विशाल आदर्शवाद का अनुकरण करते थे। भूतमात्र में वर्तमान इसी चिन्मय तत्त्व का आश्रय कर के ही विराट् मानववाद का समर्थन रवीन्द्रनाथ ने किया है। योगी अरविन्द ने बताया है कि अलीपुर जेल में अपने सहवासी चोरों, डाकुओं तथा जेल-कर्मचारियों में उन्हें श्रीकृष्ण का दर्शन हुआ। कहाँ तक इस प्रकार का दिव्यदर्शन युक्तिसंगत है, सम्प्रति हमें इसकी मीमांसा नहीं करनी है। हमें तो समाजशास्त्रीय दृष्टि से सिर्फ यह बताना है कि मानव-चेतना में समानतावाद का आध्यात्मिक अभ्युदय कैसे हुआ है?

जिस प्रकार आध्यात्मिक आधार ग्रहण कर वेदान्त में समानता का समर्थन किया गया है, उसी प्रकार धार्मिक आधार पर बायबिल में समानता स्वीकृत है। बायबिल के अनुसार सब लोग ईश्वर की सन्तान हैं[१] और ईसामसीह में उनका विश्वास सब प्रकार के सामाजिक विभागों का—यहूदी और यूनानी, दास और स्वतंत्र, पुमान् और स्त्री—अतिक्रमण करता है।[२] संत पाल के द्वारा प्रकटित मानव समानता का सिद्धान्त एक विराट् आदर्श का पश्चिमी संस्कृति में सर्वदा वाहक रहा है। टामस एक्वायनास मानव की आध्यात्मिक समानता को स्वीकार करता है; किन्तु पृथ्वी पर मनुष्य समान हैं, इस बात को मानने से इनकार करता है[३]। संत अगस्तीन

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।। (गीता, १४।२२–२५)

१. *Galatians* III, 26: "For ye are all the children of God by faith in Christ Jesus."

२. *Galatians* III, 28: "There is neither Jew nor Greek, there is neither bond nor free, there is neither male nor female; for ye are all one in Christ Jesus."

३. "Equality": ***Encyclopaedia of the Social Sciences.***

धार्मिक नियतिवाद का समर्थक था। उसके मतानुसार असमानता, मानव के पतन के कारण उत्पन्न हुई है। इस प्रकार ईसाइयत में दो धाराएं, समानता के सम्बन्ध में, हो गईं। संत पाल समानतावादी था, संत अगस्तीन असमानतावादी। जान काल्विन आंशिक रूप से असमानतावादी था, क्योंकि वह पूर्वनियतिवाद और मानवपतनवाद का पोषक था। किन्तु आंशिक रूप से काल्विन की शिक्षाओं के प्रचार से समानतावाद का पोषण हुआ। अपनी नैतिक शिक्षाओं को समानरूप से सभी के लिए उपयुक्त इसने बताया। आंशिक रूप में चर्चाधिकारी और सामान्य जनता के पार्थक्य को भी इसने असंगत बताया। काल्विन यद्यपि अधिकारवाद का पोषक था, तथापि उसने अन्तश्चेतना के आधार पर प्रतिरोधवाद का प्रचार किया और इस प्रकार उसके विचारों का प्रभाव सत्रहवीं शताब्दी के समानतावादियों--डिगर तथा लेमेलर सम्प्रदाय पर व्यक्त हुआ। यह ठीक है कि ईसाइयत के प्रसार और प्रचार के बावजूद सदियों तक रोम के साम्राज्य में दास-प्रथा का समर्थन रहा; किन्तु एंगल्स का यह कहना कि ईसाइयत में एक ही प्रकार की समानता--प्राथमिक पाप से समान-भाव प्रभावित होना स्वीकृत है, असंगत प्रतीत होता है।[१]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आध्यात्मिक और धार्मिक आधार पर मानव-समानता को पुष्ट करने का प्रयास वेदान्त तथा ईसाई धर्म में मिलता है। स्टाइक विचारधारा ने भी समानता का समर्थन किया। सिसेरो मानवमात्र की समानता का जबर्दस्त पोषक था।[२] उसने बताया कि मनुष्य और मनुष्य में कोई तात्विक अन्तर नहीं है। जिस तर्कणाशक्ति के कारण मानव पशुओं की श्रेणी से ऊपर उठता है, वह सब मनुष्यों में वर्तमान है और सिसेरो के अनुसार मानव की समानता का

१. Beber, *Karl Marx's Interpretation of History* पृ० १५१.

२. Cicero : *Republic*, "..*there is no difference in kind between man and man*; for if there were one definition could not be applicable to all men; and indeed reason, which alone raises us above the level of the beasts and enables us to draw inferences, to prove and disprove, to discuss and solve problems, and to come to conclusions, is certainly common to us all, and, though varying in what it learns, at least in the capacity to learn it is invariable.. *The similarity of the human race* is clearly marked in its evil tendencies as well as in its goodness."

निश्चयात्मक प्रमाण है। स्ताइक विचारधारा ने मानव समानतावाद और नैसर्गिक नियमवाद को उपस्थित किया। रोम की नीति पर इस विचार का प्रभाव पड़ा और यही कारण है कि रोम में, दास भी सम्राट् के पद पर प्रतिष्ठित हो सका। स्ताइक विचारधारा का प्रभाव सैद्धान्तिक और व्यावहारिक, दोनों दृष्टियों से मानव-समानतावाद को पुष्ट करने में व्यक्त हुआ।

समानतावाद को पुष्ट करने में अध्यात्म, धर्म और नीति के अतिरिक्त विज्ञान का भी हाथ है। विज्ञान वस्तुओं के एकरस मौलिक तत्व का अनुसंधान करता है। नानात्व और पार्थक्य के मूल में संस्थित एकत्व की खोज विज्ञान का उद्देश्य है। विज्ञान परिमाणात्मक पद्धति का समर्थन करता है। गुणात्मक अन्तरों को ध्यान में न रख निर्माणकारी तत्वों का अनुसंधान विज्ञान का पुरुषार्थ है। एक अणु और दूसरे अणु में कोई अन्तर नहीं है। उसी प्रकार विज्ञान समस्त मानव को, वैज्ञानिक पद्धति से अनुशीलन के लिए, समान रूप से उपयुक्त मानता है। मानव की गुण-विशिष्ट प्रवृत्तियों का ध्यान न रखकर अपनी एकरसानुसंधानकारिणी प्रक्रिया के अनुसार निरपेक्ष भाव से मानव का अध्ययन करना विज्ञान का लक्ष्य है। इस प्रकार वैज्ञानिक पद्धति मानव समानतावाद का पोषण करती है।

पूँजीवादी परम्परा ने भी कुछ अंश तक समानतावाद का पोषण किया है।[१] पूँजीवाद के विकास के कारण एक नूतन धनी वर्ग का विकास हुआ जिसने पुरानी चर्चशाही और सामन्तवादी परम्परा का विरोध किया। समानता के सिद्धान्त की घोषणा कर परम्परागत शक्ति-गढ़ों को ढाने का प्रयत्न पूँजीवाद ने किया। सामाजिक और राजनीतिक समानता प्राप्त कर ही नये पूँजीपति अपनी धन-शक्ति के द्वारा पुराने अभिजात क्षेत्राधीशों का मुकाबला कर सकते थे। अतः, फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समय स्वतंत्रता के साथ-साथ समानता का महान् मंत्र भी प्रचारित किया गया। रूसो समानता का पैगम्बर था। उसने कहा कि असमानता प्राकृतिक अवस्था में नहीं, अपितु नागरिक समाज में उत्पन्न होती है। जिस किसी असमानता का मौलिक आधार कोई निर्दिश्यमान भौतिक असमानता नहीं है, वह प्राकृतिक अधिकार की दृष्टि से असमर्थित है।[२] रूसो समानता का पोषक था। नागरिक समाज के

पृ० २२६: "....moral inequality, authorised by positive right alone, clashes with natural right, whenever it is not proportionate to physical inequlity—a distinction which

१. Karl Marx : *Capital* I पृ० ६६.

२. Rousseau: *The Origin of Inequality* (Everyman edition)

विधि-विधान को इस प्रकार बनाना चाहिए कि समानता सुरक्षित रह सके। राज्य छोटा होना चाहिए; क्योंकि तभी सामान्य संकल्प के द्वारा राज्य की नीति का निर्धारण हो सकेगा। बेबोफ भी समानता का समर्थक था[१]। उसके मत में प्राथमिक समाज में आर्थिक और सामाजिक समानता थी। शाब्दिक स्वतंत्रता के बदले सच्ची स्वतंत्रता तब प्राप्त हो सकती है जब केवल कानूनी समानता के बदले में सम्पत्ति का समवितरण और मानव के अधिकार का समान परिरक्षण हो। अट्ठारहवीं शताब्दी के ये दो महान् पैगम्बर—रूसो[२] और बेबाफ स्वतंत्रता के साथ साथ उग्र समानतावाद के भी पोषक थे। फ्रांस के बुद्धिवादी दर्शन की वह परम्परा जिसने समस्त सामाजिक असंगतियों का निर्मम भंडाफोड़ किया, अब इस उग्र समानतावाद के रूप में आधुनिक इतिहास को एक महान् संदेश दे गई।

समानता को परिपुष्ट करनेवाले आध्यात्मिक दर्शन, वैज्ञानिक परिमाणात्मकवाद, पूँजीवाद तथा अट्ठारहवीं शताब्दी के बौद्धिकवाद का ऋण आज की प्रजातंत्रवादी धारा को अवश्य स्वीकार करना होगा। आज यह सिद्धान्त प्रायः सर्वत्र स्वीकृत किया जा रहा है कि मनुष्य समान है। जाति, वर्ण, आर्थिक अवस्था आदि कारणों से उत्पन्न असमानताओं के होते हुए भी मानव मूलतः समान है। जीवन के मूल—जन्म और मरण, इनसे समानरूप से सब लोकबद्ध हैं। गीता में बताया है कि प्राणियों का आदि और निधन अव्यक्त हैं। केवल कुछ समय तक मानव इस पार्थिव धरातल पर व्यक्त होता है। इस अल्पकालिक अवसर में भिन्न-भिन्न प्रकार की असमानताओं की नीति का व्यवहार मनुष्य की मूर्खता का बड़ा प्रचण्ड चिह्न है। अमरीका में वर्णसम्बन्धी

---

sufficiently determines what we ought to think of that species of inequality which prevails in all civilised countries."

१. Francis Babeuf : *Manifesto of the Equals.*

२. Rousseau : *Social Contract* I, 9 : "..a fact on which the whole social system should rest, i. e., that, instead of destroying natural inequality, the fundamental compact substitutes, for such physical inequality as nature may have set up between men, an equality that is moral and legitimate, and that men may be unequal in strength or intelligence, become every one equal by convention and legal right."

पाशविकता इतनी दूर तक बढ़ी हुई है कि मरणान्तर जमीन में गाड़ने के विषय में भी असमानता है। एक ही भूमि में गोरे और काले नहीं गाड़े जा सकते हैं। इस प्रकार का प्रभेद कृत्रिम और अत्यन्त हास्यास्पद है। इस प्रकार की असंगतियों को हटाने के लिए दार्शनिक ज्ञान आवश्यक है[1]। विश्व-विजय का दंभ भरनेवाले मदमस्त जवानों को कभी-कभी कुत्ते की मौत मिली है। सिकन्दर के दोनों हाथ कफन से खाली दिखाई पड़ते थे। मानव क्षणिक जोश में भूल जाता है कि अन्य प्राणी भी उसके समान ही संवेदनाशील हैं। सुख दुख, जन्म-मरण, जरा-व्याधि आदि से, समान भाव से, सभी प्राणी ग्रस्त हैं। इस प्रकार का दार्शनिक, विचार मानव को सद्बुद्धि का ज्ञापन करे और समानता का सर्वविध व्यवहार हो, यही दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की स्थापना है। मृत्यु समस्त असमानताओं को भयंकर डंडे की चोट से नष्ट कर डालती है। इसका ज्ञान मानव को अहंकाररहित, नम्र और शांत बनाता है। कृत्रिम और सामयिक मोह से आविष्ट हो आज दुनिया को संघर्षस्थल और रसातल बनाया जा रहा है; किन्तु न्यायपूर्ण नीति का अवलम्बन यही बताता है कि जीवन के संघर्ष में जो पिछड़े हैं, उनके साथ भी समानता और भ्रातृत्व का व्यवहार किया जाय। यदि अध्यात्मवाद ठीक है तो समस्त प्राणी एक ही चिन्मयतत्व के आंशिक प्रकाश हैं। व समानतः एक ही परमात्मा के पुत्र हैं और इसलिए असमानता का कोई कारण नहीं है। यदि भौतिकवाद ठीक है तो समस्त मानव एक ही प्रकार के अणुओं-परमाणुओं से बने हुए हैं, और अवश्य ही सभी को माता पृथ्वी के गर्भ में सर्वदा के लिए विलीन होना पड़ेगा। अतः किसी प्रकार से भी तात्त्विक विचार करें, असमानता-वाद कृत्रिम, असंगत और भ्रामक विचार है।

इतिहास में जहाँ असमानता की नीति का प्रयोग किया गया है, वहाँ नाश या पतन अवश्य दिखाई पड़ता है। संसार के धर्मग्रन्थों और धार्मिक सम्प्रदायों ने भी असमानता का समर्थन किया था। वदों में आर्यों और दस्युओं के युद्ध का उल्लेख आता है। ऋग्वद में दस्युओं के दमन के लिए देवताओं से प्रार्थना की गई

---

१. संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रयेवः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥
समानीव आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥
(ऋग्वेद, ८।८।४९।२-४)

है[१]। हिन्दू-धर्म ने बराबर आर्य और म्लेच्छ का अन्तर किया है। असमानता का पोषण व्यावहारिक दृष्टि से हिन्दू धर्म की बड़ी कमजोरी है। जिस दिन 'स्त्रीशूद्रानाधीयताम्' का उद्घोषण किया गया, उसी दिन एक बहुत भीषण अपराध सामाजिक हित के साथ किया गया। भारतवर्ष में इसलाम और ईसाई धर्म मुख्यतया निम्नजाति के लोगों के बीच ही फैल सके। पीड़ित और सताये गये लोगों को हिन्दू धर्म की ब्रह्मवाद वाली फिलासफी से क्या अनुराग हो सकता था? इसलाम ने समानता के प्रचार में बहुत बड़ा हिस्सा लिया है। अफ्रिका के हब्शी निवासियों के साथ यदि किसी धर्म ने सौहार्द्र का व्यवहार किया है तो इसलाम ने ही। किन्तु यद्यपि बिरादरी या पैगम्बर में विश्वास करनेवाले लोगों के बीच के अन्तर को इसने स्वीकार नहीं किया है तथापि ईमान लानेवालों और काफिरों के बीच कदापि इसलाम ने समानता का व्यवहार नहीं रखा। भारतवर्ष में खिलजी, तुगलक आदि वंश के शासकों ने जिस धार्मिक असहिष्णुता की नीति को अपनाया, उससे तुर्क-अफगान साम्राज्य का पतन हुआ। औरंगजेब का कट्टरपन पागलपन की सीमा तक पहुँच गया था। अंग्रेजी साम्राज्य-वाद ने विजित देशों के लोगों के साथ बराबर असमानता का व्यवहार किया है। दुनिया में अनेक साम्राज्य आये और गये। भयंकर क्रूरता और दमन की नीति का आश्रयण इन साम्राज्यों ने किया था; किन्तु वर्णश्रेष्ठता की नीति को स्वीकार कर जिस बर्बरता और अभद्रता का परिचय अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने दिया, उसकी तुलना जगत् में प्राप्त करना कठिन है। हालैण्ड और फ्रांस के साम्राज्यवादियों ने राजनीतिक दृष्टि से अंग्रेजों की अपेक्षा अधिक क्रूरतापूर्ण नीति का आश्रय लिया; किन्तु एशियावासियों के साथ सामाजिक दृष्टि से वे मिलजुल सके। अपनी विजित जनता से उनके विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित हो सके। किन्तु वर्ण का अभिमान अंग्रेजों में अतिशय रहा है। आज जो दक्षिण अफ्रिका और अमरीका के दक्षिणी रियासतों में वर्ण-भेद की नीति का भयंकर प्रयोग हो रहा है, वह मानव शांति के लिए चुनौती है। विज्ञान वा प्राचीन-मानव-शास्त्र, या मनश्शास्त्र किसी प्रकार से भी मानव असमानतावाद को तर्कयुक्त

---

१. विजानीह्यार्यान् यं च दस्यवो
बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान् ।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता
विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन (ऋग्वेद, १।५१।८)

मृळा नो रुद्रोत नो मयस्कृधि
क्षयद्वीराय नमसा विधेम ते (ऋग्वेद, १।११४।२)

नहीं मानते। जो लोग असमानतावाद का प्रचार कर रहे हैं, वे अपना स्वार्थसाधन ही करना चाहते हैं।

यदि मुगल साम्राज्यवाद और पश्चिमी साम्राज्यवाद का पतन असमानता की नीति के व्यवहार से हुआ[1] तो दूसरी ओर बौद्धधर्म को जो सफलता मिली, उसका कारण था कि यह समानता का पोषक था। यद्यपि बौद्धधर्म भी प्रारम्भ में पूर्ण समानतावादी नहीं था, तथापि जाति-प्रथा में विश्वास नहीं करने के कारण तत्कालीन ब्राह्मणधर्म की अपेक्षा यह अधिक उदार रहा है। विदेश से आई अनेक जातियों को बौद्धधर्म में दीक्षित कर इसने भारतवर्ष की जनसंख्या का सम्वर्द्धन किया है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति का जो उन्नीसवीं शताब्दी में इतना जबर्दस्त प्रभाव हुआ, वह इसीलिए कि प्रचलित एकराज्यवाद या सामन्तवाद के विपरीत इसने स्वतंत्रता और समानता का प्रचार किया। असमानता की नीति से जो स्वाभिमान को ठेस लगती थी, नेपोलियन के अनुसार, उसी परिक्रुद्ध अभिमान-भावना ने फ्रांसीसी क्रान्ति को जन्म दिया। आज जो साम्यवाद की वृद्धि हो रही है, उसका मुख्य कारण समानता का प्रचार ही है। मार्क्सवाद के अनुसार प्राथमिक साम्यवाद में किसी प्रकार की असमानता नहीं थी। वह शांति और प्रजातंत्र का युग था। वैयक्तिक सम्पत्ति और तदाश्रित परिग्रह के कारण ही असमानता का जन्म हुआ। निस्सन्देह पूँजीवाद ने कर्मकर को कानूनी स्वतंत्रता प्रदान की है। यद्यपि पूँजीवाद समानता का उद्घोषण करता है, तथापि मार्क्सवाद के अनुसार, यह समानता सिर्फ उतनी ही दूर तक है जहां तक श्रम-शोषण सम्बन्धी पूँजीवादियों के अधिकार का सम्बन्ध है, अर्थात् पूँजीवाद समानता का यही अर्थ समझता है कि प्रत्येक पूँजीपति को समानरूप से श्रमिकों के शोषण का अधिकार है।[2] अवश्य ही पूँजीवाद के विपरीत, कृषकों और

---

१. Aristotle: *Politics V.* 2 "The universal and chief cause of this revolutionary feeling is the desire of equality when men think that thay are equal to others who have more than themselves; or again the desire of inequality and superiority, when conceiving themselves to be superior they think that they have not more but the same or less than their inferiors; pretensions which may and may not be just. Inferiors revolt in order that they may be equal, and equals that they may be superior."

२. Engels : *Feuerbach*.

मजदूरों के पक्ष का समर्थन मार्क्सवाद ने किया है। जो मजदूर, केवल पानी खींचने वाले और रिक्शा खींचनेवाले ही अबतक समझे गये हैं, उनको अधिनायकतंत्र का संदेश जबर्दस्त आशावाद का देनवाला है। किन्तु मार्क्सवाद और समानतावाद का सैद्धान्तिक संबंध भी ध्यान में रखना चाहिए। सन् १८७५ ई० में लिखे गये बेबेल को एक पत्र में, ऐंगल्स ने बताया है कि समानतावाद फ्रांसीसी भावनात्मक कल्पनावादमात्र है।[१] दो प्रकार से मार्क्सवाद समानतावाद से भिन्न है। मार्क्सवाद के अनुसार जबतक साम्यवाद का पहला रूप रहेगा, उसी समय तक पूँजीवादी समानता, अर्थात् समान कार्य के लिए समान वेतन के अनुसार वितरण होगा। किन्तु समाजवादी राज्य से उच्च स्तर का जो साम्यवादी समाज होगा, उसमें आवश्यकता के अनुसार वितरण होगा।[२] मार्क्सवाद के अनुसार यह एक महान् आदर्श है। शोषण, परिग्रह और वैयक्तिक सम्पत्ति के अवसान से मानव-स्वभाव और व्यवहार में जो अकल्पित परिवर्तन होंगे उनके कारण 'यथाकर्म तथा वेतन' के बदले आवश्यकतानुसार सामाजिक वस्तुओं का वितरण संभव होगा। कर्म के अनुसार वितरण न कर, आवश्यकतानुसार वितरण करना अवश्य ही एक महत्तर कल्पना है, यदि ऐसा संभव हो सके और आवश्यकताओं का निर्णायक कोई वस्तुनिष्ठ मापदण्ड बन सके। दूसरी ओर, मार्क्सवाद निरे समानतावाद का पोषक नहीं है। मार्क्सवाद समानतावाद को वर्ग-संघर्षवाद की पृष्ठभूमि में समझना चाहता है। वर्ग-संघर्ष का अन्त साम्यवाद का उद्देश्य है। अतः मार्क्सवाद समानतावाद का अर्थ समझता है, शोषक वर्गों का विनाश[३]। वर्गहीन समाज ही समानता के आदर्श का पालन कर सकता है। यद्यपि व्यवहार में साम्यवाद तानाशाही, अधिनायकवाद और घोर शक्तिवाद में परिणत हो गया है तथापि मानव-समानता का इसने वेग से पक्षसमर्थन किया है।

यूनान में 'आयसोनोमी' (अर्थात् विधि का समान रूप से पालन) का नियम था।[४] वहाँ की स्वतंत्रता का आधार यही था। किन्तु वहाँ दास-प्रथा का प्रचलन

१. Marx and Engels : *Selected Correspondence.*

२. Marx : *Critique of Gotha Program.*

३. Lenin : *Selected Works*, Volume 2, Part II, पृ० २८८।

४. *Anitonomy*, *Isonomia*, *Isotimia* तथा *Isegeria* यूनानी राजनीतिशास्त्र और नीतिशास्त्र के मुख्य शब्दों में से हैं।

Anitonomy=Goverment by one's own law.

Isonomia=Equality before the law.

Isotimia=Equal respect for all.

प्रजातंत्र के ऊपर एक बड़ा काला कलंक था। प्लेटो ने मानव-समानता के पोषण में कहा कि सब मनुष्य एक ही पृथ्वी के पुत्र हैं; किन्तु उसने साथ-साथ यह भी कहा कि कुछ मनुष्यों में स्वर्ण का, कुछ में रजत का और कुछ में लोहे का मिश्रण रहता है। जो सुवर्ण-निर्मित हैं, वे शासक; जो रजत-निर्मित हैं, वे सैन्यगण और जो लौह-निर्मित हैं, वे उत्पादक--कर्षक बने। इस प्रकार उसने भी अंशतः असमानतावाद का पोषण ही किया। अरस्तू ने तो यहाँ तक कह डाला कि कुछ लोग प्रकृतितः शासक और और कुछ प्रकृतितः दास हैं[१]। व्यवहार में भी यूनानी जगत् में घोर नगर-उपासना की भावना वर्तमान थी। यूनानियों ने अन्य जातियों को बर्बर कहा। भेदनीति का आश्रय करने के कारण ही यूनान का पतन हुआ। स्पार्टा का नागरिक-समुदाय शनैः-शनैः संख्या में कम होता गया; किन्तु भेदनीति का आश्रय करने के कारण उसने 'हेलोट' लोगों को नागरिकता का अधिकार नहीं दिया। एथेन्स में भी 'पैरोयोइकाई' लोगों को भी नागरिकता का अधिकार नहीं दिया गया। अतः, नागरिकों की बढ़ती हुई संख्या-कमी को दूर करने का कोई उपाय काम में नहीं लाया गया और इसका परिणाम हुआ, पतन और विनाश। जहाँ-जहाँ भेदनीति का व्यवहार हुआ है, वहाँ-वहाँ राजनीतिक और सामाजिक पतन अवश्यम्भावी रूप से हुआ है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र का मुख्य लक्ष्य है--मानव के नैतिक चेतनरूप का समर्थन। अतः, किसी प्रकार की भी अतर्कसंगत और अनावश्यक असमानता का यह पोषण नहीं कर सकता।

समानता के पोषण का अर्थ घोर समानता या पूर्ण समानता का पोषण नहीं है।[२] कुछ समानता मानवताएं को पतन की ओर ले जानेवाली हैं; यथा, दरिद्रता या दासता में, समानता या दुष्कृत्य में समानता। समानता सद्गुणों में होनी चाहिए न कि मानव को पतित और तिरस्कृत करनेवाले विषयों में। दूसरी ओर, कुछ असमान

Isegeria=Equal freedom of speech.

१. Aristotle : *Politics* I, 4-5 "....whereas the slave is not only the slave of his master, but wholly belongs to him. Hence he who is by nature not his own but another's man, is by nature a slave....It is clear, then, that some men are by nature free, and others slaves, and for these latter slavery is both expedient and right."

२. David G. Ritchie, "Equality", *Studies in Political and Social Ethics*, पृष्ठ ४१.

ताएँ कल्याणकारिणी हैं—जैसे, पिता-पुत्र या आचार्य-शिष्य में असमानता । दोनों को पूर्णतः समान करने का परिणाम होगा अव्यवस्था। पुनश्च, अत्यन्त असाधारण यत्न करने पर भी शारीरिक और मानसिक दृष्टि से मानव को समान नहीं बनाया जा सकता है। असाधारण उद्योग के बावजूद भी सारी जनता को बुद्ध और शंकर नहीं बनाया जा सकता। अतः, स्पष्ट है कि समानता के समर्थन का यह अर्थ नहीं है कि पूर्ण अनिर्विशिष्ट समानता का पोषण हमें अभीष्ट है। समानता के विवेचन में तर्क और युक्ति से काम लेना होगा।[1] बहुत अंश तक समानता का अर्थ होगा यथानुपात की नीति का अवलम्बन । जीवन की जो अत्यन्त आवश्यक वस्तुएँ हैं—जैसे, भोजन, वस्त्र गृह आदि—इनकी व्यवस्था सभी के लिए समान रूप से आवश्यक है। इनके अतिरिक्त वितरण की नीति अनुपात का आश्रय ग्रहण कर सकती है। प्रजातंत्रीय शासन में अवसर की समानता सभी के लिए अपेक्षित है । जीवन-संघर्ष में सफलता प्राप्त करने के उपकरण सर्वसाधारण के लिए समान हों, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए। निहित स्वार्थों और मजबूत गिरोहों के आक्रमण से रक्षा के लिए अवसर की समानता आवश्यक है। यदि बिना अवसर दिये ही कोई मनुष्य निम्नस्तर पर फेंक दिया गया, तो इसके लिए प्रजातंत्र को उत्तरदायी होना पड़ेगा। कानूनी व्यवस्था का प्रयोग कर अवसर की समानता की नीति को अपनाना होगा। जो मनुष्य या अल्पसंख्यक वर्ग किसी कारणविशेष से पिछड़े हैं, उन्हें विशेष आर्थिक या अन्य प्रकार की सुविधा देकर संघर्ष योग्य बनाना प्रजातंत्र से कदापि प्रतिकूल नहीं है। नागरिक

१. तुलनीय—Aristotle: *Politics II*, 7 : "Clearly then, the legislator ought not only to aim at the equalization of properties, but at moderation in their amount. Further if he prescribes this moderate amount equally to all, he be no nearer the mark, for it is not the possessions but the desires of mankind which require to be equalized, and this is impossible unless a sufficient education is provided by the laws....Moreover, civil troubles arise not only out of the inequality of property, but out of the inequality of honour, though in opposite ways. For the common people quarrel about the inequality of property, the higher class about the equality of honour....for it is of the nature of desire not to be

और राजनीतिक अधिकारों की समानता तो प्रजातंत्र का आधार ही है। वर्ण-वैभिन्न्य तथा राजनीतिक मतभेद आदि के कारण किसी भी मनुष्य या दल को मानवोचित अधिकारों से वंचित करना मानो प्रजातंत्र का दमन करना है। आज भी वाशिंगटन शहर के किसी अच्छे होटल में स्थान प्राप्त करना किसी हबशी नेता के लिए अत्यन्त कठिन है। इसी कारण अमरीका का यह दावा कि वह प्रजातंत्र का नेतृत्व कर रहा है, एशियावासियों को झूठा और कूटनीतिपूर्ण मालूम पड़ता है। उसी प्रकार जबतक भारत में अछूत प्रथा है, तबतक वेदान्त का ब्रह्मवाद और मायावाद केवल शब्दजाल और आत्म-प्रवंचना मात्र हैं। गौतम और शंकर का एक ओर तो आत्मवाद प्रचारित करना और दूसरी ओर यह कहना कि शूद्र यदि वेद का उपश्रवण कर ले तो त्रपु और जतु से उसका कान परिपूर्ण कर देना चाहिए, प्रलापमात्र प्रतीत होता है। प्रजातंत्र और नागरिक असमानता साथ-साथ नहीं रह सकतीं। जब तक कोई स्पष्ट निर्दिष्ट कारण न हो तबतक किसी भी गिरोह को राजनैतिक अधिकारों से वंचित नहीं किया जा सकता। अमरीका के आदिम निवासी आज अपने पुराने देश में कुछ विशिष्ट स्थानों में घिरे हुए हैं और वे अन्यत्र नहीं जा सकते। सभ्यता और राजनीति के मुख्य केन्द्र से उनका कोई लगाव नहीं है। इस प्रकार की असमानताएँ प्रजातंत्र के लिए अशोभनीय हैं। कानून की समानता भी अत्यन्त आवश्यक है। कानूनी समानता का यह अर्थ है कि जो सर्वव्यापक नियम हैं, उनका पक्षपातरहित प्रयोग होना चाहिए।[१] कानून और न्याय की दृष्टि में कदापि भेदभाव वांछित नहीं है।[२] यदि राजकर्मचारी भी दोषी हों तो उन्हें उचित दण्ड मिलना

satisfiied, and most even live only for the gratification of it. The beginning of reform is not so much to equalize property as to train the nobler sort of natures not to desire more, and to prevent the lower from getting more."

१. R. M. MacIver, *The Ramparts we Guard*, पृ० १२५-२६; L. T. Hobhouse, *Elements of Social Justice*, पृ० १०.

२. तुलनीय—Rousseau, *Social Contract* II, 6, : "When I say that the object of laws is always general, I mean that law considers subjects *en mass* and actions in the abstract, and never a particular person or action···it can no longer be asked whose business it is to make laws, since

चाहिए। जबतक कानून की दृष्टि में सब लोग समान समझे नहीं जाते तबतक कोई व्यवस्था टिक नहीं सकती। कानून का समान रूप से भय, प्रत्येक नागरिक को अपने कर्तव्य पर नियुक्त करता है। इस प्रकार प्रजातंत्रीय शासनपद्धति में इन तीन प्रकार की समानताओं की महती आवश्यकता है (१) अवसर की समानता, (२) नागरिक और राजनीतिक अधिकारों की समानता और (३) कानून की समानता।

स्वतंत्रता और समानता, इस युग की महती आवश्यकताएँ हैं।[१] स्वतंत्रता का

they are acts of the general will, nor whether the prince is above the law, since he is a member of the state; nor whether the law can be unjust, since no one is unjust to himself; nor how we can be both free and subject to the laws, since they are but registers of our wills. We see further that, as the law unites universality of will with universality of object, what a man, whoever he be, commands of his own motion cannot be law; and even what the sovereign cammands with regard to a particular matter is no nearer being a law, but is a decree, an act, not of sovereingnty but of magistracy. I therefore give the name 'Republic' to every state that is governed by laws, no matter what the form of its administration may be : for only in such a case does the public interest govern, and the *res publica* rank as a reality. Laws are, properly speaking, only the conditions of civil association. The people being, subjects to the laws, ought to be their author : the conditions of the society ought to be regulated solely by those who come together to form it."

१. Muriel Jaeger: *Liberty versus Equality;* J. F. Stephen, *Liberty, Equality, Fraternity* (लंदन १८७३); Harold J. Laski: "A Plea for Equality"; *The Dangers of Obedience and other Essays,* पृ० २०७-२३७; Rousseau: *Social Contract* II, ii.

दार्शनिक अर्थ है—नैतिक कर्तृत्वशक्ति का प्रबोध, चेतना का विस्तार और प्रसारण तथा मानव का सर्वविध विमोक्ष। स्वतंत्रता, इस प्रकार, एक व्यापक और महान् संदेश है। समानता इसकी तुलना में एक सीमित आदर्श है। समानता का मुख्य अर्थ है दूसरों की बराबरी। इस बराबरी के पीछे ईर्ष्या और द्वेष भी छिपे रह सकते हैं। स्वतंत्रता का परम विकास हमें नैतिक चैतन्य का उदात्त दर्शन कराता है, समानता बराबर 'मैं और तू, मेरा और तेरा' के दलदल में रहती है; क्योंकि इसकी प्रमुख मनोवैज्ञानिक वृत्ति है कि दूसरा आदमी हमसे बढ़ने न पावे। एक उचित अंश तक समानता ठीक है; किन्तु जहाँ तक यह अतिरंजित प्रतियोगिता और संस्पर्धा को उत्पन्न करती है, वहाँ तक यह एक अनैतिक वृत्ति का रूप धारण कर लेती है। स्वतंत्रता एक प्राचीन आदर्श है। वेदान्त और बौद्धदर्शन में इसके आध्यात्मिक स्वरूप का उल्लेख मिलता है। प्लेटो और अरस्तू, सालिसबेरी, जॉन, मिल्टन और स्पीनोजा में इसका संदेश है। यद्यपि प्रजातंत्रीय समानता का उल्लेख अरस्तू में भी आता है;[१] तथापि मानव-समानता को व्यावहारिक राजनीतिक रूप देने का उद्योग नया है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति से यह प्रारम्भ होता है और समाजवाद के प्रचार से इसको प्रश्रय मिला है।[२] महात्मा गांधी के जीवन और शिक्षा से भी समानता के विचार को बल मिला है। यूरोपीय विचारक जब समानता का उल्लेख करते थे तब मानवता से मुख्यतः वे गौरांग मानवता को समझते; थे किन्तु गांधीजी ने अपने जीवन में मनुष्यमात्र को समान समझने का जो संदेश क्रियान्वित किया है, वह इतिहास में एक अनोखी वस्तु है।

"..two main objects, liberty and equality—liberty because all particular dependence means to much force taken from the body of the states, *and equality because liberty cannot exist without it.*"

१. Aristotle: *Politics*, Book VI.2. "The basis of a democratic state is liberty.... One principle of liberty is for all to rule and be ruled in turn, and indeed democratic justice is the application of numercial not proportionate equality."

२. Oswald Spengler: *Decline of the West*, खण्ड २, पृ० ४४६. स्पेंगलर ने समानता और दलीय राजनीति में संबंध बताने की कोशिश की है।

स्वतंत्रता और समानता परस्पर सहयोगी होकर ही मानव-समाज को समृद्ध कर सकती हैं।[1] कुछ विचारक इनमें विरोध मानते हैं। ब्रिटिश इतिहासवेत्ता आक्टन के मत में स्वतंत्रता व्यक्तित्व का अनुसंधान करती है। प्रजातंत्र और समानता की बाढ़ अवस्थाओं की तद्रूपता, अर्थात् प्रत्येक नागरिक के लिए एक ही प्रकार की बाह्य अवस्था ही को समर्थित कर व्यक्तित्व का नाश करती है।[2] फ्रांसीसी विचारक डी टीक्वियाविल के मत में प्रजातंत्र और समाजवाद न केवल भिन्न मार्ग हैं, अपितु वे परस्पर विरुद्ध हैं।[3] इटली के दार्शनिक क्रोचे के मत में भी स्वतंत्रता और न्याय परस्पर विरोधी विचार हैं।[4] मैकिवर का कहना है कि एक निश्चित सीमा के परे, स्वतंत्रता और समानता परस्पर विरोधी हैं।[5] मकिवर की युक्ति है कि मनुष्य सामान्यतः भिन्न योग्यतावाले और भिन्न प्रवृत्ति-सम्पन्न हैं। इन विभिन्नताओं के बावजूद यांत्रिक और कृत्रिम उपायों से उन्हें आर्थिक दृष्टि से पूर्णतः समान बनाने का अर्थ होगा अतिरंजित शक्तिवाद और तानाशाही, क्योंकि एक अप्राकृतिक आदर्श प्रचण्ड दण्डशक्ति के द्वारा ही लागू किया जा सकता है। अतः मैकिवर का कहना है कि प्रजातंत्र को मनुष्य की आर्थिक दृष्टि से समान बनाने का आदर्श छोड़ देना चाहिए।

यह ठीक है कि उच्च स्तर की स्वतंत्रता का तात्पर्य है– अनासक्त कर्मयोग का पालन। यह भी ठीक है कि जगत् के अनेक महापुरुषों ने धन की नितान्त उपेक्षा की है। बुद्ध राज्य छोड़ने के बाद ही शास्ता बन सके। किन्तु इस प्रकार की नैतिक और आध्यात्मिक स्वतंत्रता परम आदर्श है। यह सर्वसाधारण-सुलभ नहीं है। किन्तु राजनीतिक स्वतंत्रता को क्रियात्मक बनाने के लिए भयंकर आर्थिक गढ़ों को ढाहना

---

१. स्वतन्त्रता और समानता की सम्बन्ध-मीमांसा के लिए द्रष्टव्य: A. T. Hadley: *The conflict between Liberty and Equality*; J. A. Hobson: T. V. *Towards Social Equality;* C. E. M. Joad: *Liberty to-Day;* Smith : *The American Philosophy of Equality.*

२. Harold Laski, "Liberty", *Encyclopaedia of the Sciences.*

३. Tocqueville: "..democracy and socialism are not only different, they are opposed", उद्धृत. MacIver: *The Ramparts we Guard,* पृ० ३४.

४. Benedetto Croce, *My Philosophy,* पृ० १०६.

५. R. M. MacIver, *The Ramparts we Guard,* पृ० १४-१५.

आवश्यक है।[१] प्रत्येक नागरिक को यह अनुभव होना चाहिए कि उसके व्यक्तित्व के विकास संबंधी उचित उपादान उसे प्राप्त होंगे। पूर्णतः सत्य न होते हुए भी यह ठीक है कि हमारे जीवन का आर्थिक स्तर हमारे विचारों को काफी दूर तक प्रभावित करता है। मुट्ठी भर लोगों का कलात्मक विकास और उनका मनचाहापन, यही स्वतंत्रता नहीं है। अपार, अगणित जनसमूह को करवट लेने का स्थान मिले, उसके भोजन, वस्त्र, शिक्षा आदि की समस्या सुलझ सके, यह आज की स्वतंत्रता का मूल है। प्रत्ययों और विचारों के जगत् में ही लीन रहकर स्वतंत्रता और समानता को परस्पर विरोधी कहना आसान है। अफ्रिका और एशिया को असमान रखकर ही यूरोपीय उद्योगपतियों, बैंकशाहों और बुद्धिजीवियों का आरामतलबीपन टिक सकता था। किन्तु 'वसुधैव कुटुम्बकम्' या 'आत्मैवाभूद्विजानतः' या 'सर्वे भवन्तु सुखिनः', इस आदर्श को मानने पर मानवमात्र के कल्याण में अपना जीवन अर्पित करना ही नैतिक स्वतंत्रता का मूल हो जाता है। स्वतंत्रता कोई कोरे आत्मचिंतन और बौद्धिक विलास का तो नाम है नहीं। पड़ोसी और अन्य देशवासियों के बीच जब पीड़ा के कारण मातम छाया हो तो अकेले बैठकर अपनी बाँसुरी बजाकर आनन्द लेना स्वतंत्रता नहीं है। यह ठीक है कि कुछ वीर आत्माएँ धन की बेचैन करनेवाली और आकर्षक सम्मोहिनी मूर्ति से प्रभावित नहीं होती हैं, किन्तु आज प्रजातंत्र और मानवतावाद के युग में समष्टि के विषय में सोचना है। धन की शक्ति अपार है और धनशाह जबतक अपने धन की शक्ति से दूसरों के विकास में कण्टक पैदा कर सकते हैं तबतक स्वतंत्रता शब्दमात्र है। स्वतंत्रता का अर्थ है, मानवसंस्कृति की देन का सर्जनात्मक उपभोग और यह तबतक संभव नहीं है जबतक समाज भयंकर रूप से श्रेणियों में विभक्त है। एक ओर धन का अपार केन्द्रीकरण और दूसरी ओर पीड़न

१. तुलनीय—Rousseau : *Social Contract* II, ii, "....by equality, we should understand, not that the degrees of power and riches are to be absolutely identical for everybody; but that power shall never be great enough for violence, and shall always be exercised by virtue of rank and law; and that, in respect of riches, no citizen shall be wealthy enough to buy another, and none poor enough to be forced to sell himself: which implies, on the part of the great, moderation in goods and position, and, on the side of the common sort, moderation in avarice and covetousness."

और शोषण—ऐसी अवस्था में बहुतायत संख्या के लिए स्वतंत्रता और समानता अजीब पहेली का रूप धारण करती है। स्वतंत्रता एक वृत्ति है और अन्य वृत्तियों के समान ही अनुपयोग से यह कुंठित हो जाती है। जब आर्थिक साधनों के अभाव में मनुष्य पद-पद पर अपने को प्रतिहत और पराजित पाता है तब उसका नैतिक पतन हो जाता है और आत्मकर्तृत्व का संदेश भूलकर वह यथास्थिति से सन्तोष कर लेता है। लिखित इतिहास के आरम्भ से लेकर आजतक यही प्रवृत्ति व्यापक रही है। प्रजातंत्र ने अवश्य एक नूतन चेतना का जागरण किया है। इसको आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से संपूरित करने के लिए धन का उचित वितरण आवश्यक है। धन का पूर्णतः समान वितरण अवश्य कृत्रिम प्रस्ताव है। किन्तु दूसरी ओर भयंकर असमानता भी कृत्रिम और विनाशकारी है। सम्पत्ति का मनुष्य के कार्य की उपयोगिता और मानव आवश्यकता को ध्यान में रखकर पुनर्वितरण होना चाहिए। एक सफल वकील और एक सफल आचार्य के आर्थिक स्तर में जो अन्तर है, वह किसी भी समाज के लिए लज्जा की बात है। संस्कृत शास्त्रों का पारदर्शी पाण्डित्य आज साधारण भोजन आदि देने में भी असमर्थ है। यह बताता है कि समाज आज भीषण रोग से पीड़ित है। इसका निदान यही है कि राजनीतिक स्वतंत्रता की सम्पूरिका उचित आर्थिक समानता को भी क्रियान्वित किया जाय। एक आवश्यक सीमा तक आर्थिक समानता नितान्त वांछनीय है। इससे कार्य करने के कुछ उचित अवसर प्राप्त होंगे और उनके उपयोग से स्वतंत्रता का विकास होगा।

एकादश अध्याय

सम्पत्ति

वित्त की एषणा मनुष्य के हृदय में प्रबलतया वर्तमान है। सांसारिक प्रतिदिन के व्यवहार और संघर्ष को देखें तो सर्वत्र धन का साम्राज्य दिखाई पड़ेगा। इतिहास में आर्थिक शक्तियों का प्रभाव रहा है। यूनान में दासाधीशों की शक्ति का रहस्य दासों को सम्पत्ति के रूप में उपयोग करने में था। सैकड़ों वर्षों तक रोम में पैट्रिशियन और प्लेवियन लोगों में युद्ध हुआ। रोमन साम्राज्यवाद, पश्चिमी जातियों की सोलहवीं शताब्दी के बाद के साम्राज्यवाद तथा मध्यकालीन इसलामी साम्राज्यवाद के पीछे सम्पत्ति की खोज वर्तमान थी। सोने की खोज के सिलसिले में नई दुनिया का पता मिला। आज सर्वत्र सुवर्ण की प्रचण्ड माया बड़े वेग से व्याप्त है। व्यंग्य करते हुए कोलम्बस ने कहा था कि सोने के बल पर मनुष्य स्वर्ग में भी जा सकता है। 'हिरण्यमयपात्र' की शक्ति बड़ी प्रबल है।[1]

सम्पत्ति एक व्यापक शब्द है। इसमें जमीन, मुद्रा, पशु, बैंक और सरकारी खजाने के कागजात (सिक्यूरिटी, मार्टगेज, डिपोजिट) सभी आते हैं। सम्पत्ति वस्तुओं के समूह का नाम है। जिन बाहरी वस्तुओं का अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त मनुष्य प्रयोग करता है, उन समस्त वस्तुओं का सम्पत्ति में ग्रहण होता है। वस्तुओं के अतिरिक्त सेवा का भी इसमें ग्रहण होता है। मानव आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं को सम्पत्ति में परिगृहीत कर इसका व्यापक रूप खड़ा होता है। किन्तु सम्पत्ति केवल वस्तुओं का नाम नहीं

१. तुलनीयः—

अनुग्रहपरिहारौ चैभ्यः कोशवृद्धिकरौ दद्यात्। कोशोपघातिकौ वर्जयेत्। अल्पकोशो हि राजा पौरजानपदानेव ग्रसते। (अर्थशास्त्र २।१)

समाहर्ता दुर्गं राष्ट्रं खनिं सेतुं वनं व्रजं वणिक्पथं चावेक्षेत।

एवं कुर्यात्समुदयं वृद्धिं चायस्य दर्शयेत।

ह्रासं व्ययस्य च प्राज्ञः साधयेच्च विपर्ययम्॥ (अर्थशास्त्र २।६)

है। सम्पत्ति के पीछे कानूनी अधिकार रहना चाहिए। कानूनी अधिकार के विना सम्पत्ति हो नहीं सकती। किसी वस्तु के अनेक उपयोग होते हैं। यदि कोई आदमी मकान किराये पर लेता है तो वह उसमें निवासमात्र कर सकता है। वह उस मकान को न बेच सकता है और न तोड़ सकता है। ये अधिकार मकान के असली मालिक के हाथ में हैं। अर्थात् किरायेदार को मकान में सम्पत्ति का अधिकार नहीं है। सम्पत्ति के अधिकार का अर्थ है पूर्ण एकाधिकार। यह एकाधिकार वस्तुओं की समस्त उपयोगिताओं पर व्याप्त रहता है। सम्पत्तिवान् का एकाधिकार होना और अन्य का किसी प्रकार का अधिकार न होना सम्पत्ति का कानूनी तात्पर्य है। अनन्य होना अर्थात् केवल सम्पत्तिवाले का होना इसका तत्व है। अतः सम्पत्ति के लिए न केवल वस्तुओं की आवश्यकता है, अपितु वैधिक अपवर्जित्व भी अपेक्षित है। यह अपवर्जी एकाधिकार सरकार के द्वारा प्राप्त होता है अर्थात् सरकार अपनी नियंत्रण-शक्ति का प्रयोग करके कानूनी दृष्टि से सम्पत्तिधारक के अधिकार का रक्षण करती है और अन्यों के अवैध आक्रमण से उसकी रक्षा करती है। अतः जब हम सम्पत्ति शब्द का प्रयोग करते हैं तब उसका उपकरणात्मक और अपवर्जनात्मक तात्पर्य हम ध्यान में रखते हैं।

सम्पत्ति शक्ति और स्वतंत्रता का दान करती है। प्रकृति की शक्तियों से जो मानव का संघर्ष हो रहा है, उसमें सम्पत्ति उसको बल प्रदान करती है। हमारे वस्त्र शीत से हमारी रक्षा करते हैं। बिजली का पंखा उष्णता को शक्तिहीन बनाता है। सम्यता के विकास के साथ-साथ सम्पत्ति की मात्रा में भी विकास हुआ है। जिन जातियों के पास सम्पत्ति नहीं है या कम मात्रा में हैं, जैसे एस्किमो, जिप्सी या अफ्रिका के होटेनटौट, वे जातियाँ जीवन-संघर्ष में पिछड़ी रह गई ह। अतः प्रकृति-विजय का तथा सम्यता के विकास का एक अतिशय महान् साधन सम्पत्ति है। सम्पत्ति के गुणात्मक परिवर्तन से सम्यता के काष्ठातारतम्य का बोध हो सकता है। जैसे, हल और बैल मात्र को ही सम्पत्ति रूप में प्रयोग करनेवाला कृषक, ट्रैक्टर और मोटर रखनेवाले कृषक से सम्यता की दृष्टि से पिछड़े स्तर का है। जीवन-संग्राम में सहायिका होने के कारण सम्पत्ति मानव के व्यक्तित्व के विकास में भी सहायिका है[1]। जब हम सम्पत्ति का उपभोग करते हैं तब प्रकृति संघर्ष के निमित्त

१. तुलनीय—Aristotle *Nicomachean Ethics I*, 5: "The life of money-making is one undertaken under compulsion, and wealth is evidentely not the good we are seeking; for it is merely useful and for the sake of something else."

आवश्यक किसी वृत्ति का तोषण करते हैं। दूसरी ओर, वस्तुओं के प्रयोग का अपवर्जनात्मक अधिकार प्रदान कर सम्पत्ति मानव की इच्छाओं के विकास में सहायिका होकर स्वातंत्र्यानुभूति का माध्यम बनती है। वस्तुओं के नानाविध उपयोग में प्रवृत्ति-बाहुल्य की अभिव्यंजना होती है। जब किसी उपयोगविशेष के लिए किसी पड़ोसी से कोई वस्तु उधार ली जाती है तब उसके प्रयोग में पूरी स्वतंत्रता का अनुभव नहीं होता है। किन्तु एकाधिकारपूर्ण उपयोग करने की शक्ति एक निराली और सुखद स्वतंत्रता का दर्शन कराती है। अतः स्पष्ट है कि सम्पत्ति शक्ति-प्रदायिका है। इससे आर्थिक शक्ति मिलती है। पूँजीपतियों और कर्मकरों के जीवनस्तर में जो भेद है, उससे यह बात स्पष्ट रूप से दीख पड़ती है। पूँजीपति नये-नये क्षेत्रों में अपनी वर्तमान आर्थिक शक्ति का उपयोग कर सकता है। जब दो विभिन्न दलों में विमर्श और समझौता होता है, वहाँ भी स्पष्टतया सम्पत्ति की शक्ति दिखाई पड़ती है। सम्पत्ति सामाजिक शक्ति को भी प्रदान करती है। सम्पत्तिशाहों को सामाजिक सम्मान और यश मिलता है। दुराचारी भी सम्पत्तिशाली होकर समाज में नैतिकता का प्रबल समर्थक कहा जा सकता है। बड़े-बड़े आचार्य सम्पत्तिशाहों की खुशामद में महाकाव्य तक रच देते हैं। यह ठीक है कि सामाजिक सम्मान अनेक कारणों से मिलता है। विद्या के कारण आयन्स्टीन को और चरित्रशीलता के कारण गांधी को सम्मान मिला। किन्तु सम्पत्ति से भी सम्मान मिलता है और सम्मानित होने पर शक्ति मिलती है। सम्पत्ति से राजनीतिक शक्ति भी प्राप्त होती है।[1] अन्य देशों के

---

१. तुलनीय:—

तस्मान्नित्योत्थितो राजा कुर्यादर्थानुशासनम्।
अर्थस्य मूलमुत्थानमनर्थस्य विपर्ययः
अनुत्थाने ध्रुवो नाशः प्राप्तस्यानागतस्य च।
प्राप्यते फलमुत्थानाल्लभते चार्थसंपदम् ॥ (अर्थशास्त्र, १, १९)

अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्यः। अर्थमूलौ हि धर्मकामाविति। (अर्थशास्त्र १, १७)

कृषिपाशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता। धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टिप्रदानादौपकारिकी। तया स्वपक्षं परपक्षं च वशीकरोति कोशदण्डाभ्याम्। (कौटिल्य अर्थशास्त्र, १।४)

धर्माधिगतः पूर्वैः स्वयं वा हेमरूप्यप्रायश्चित्रस्थूलरत्नहिरण्यो दीर्घमप्यापदमनायतिं सहेतेति कोशसंपत्। (अर्थशास्त्र ६।१)

स्थानवानात्मधारणः परधारणश्चापादि स्वारक्षः स्वाजीवः शत्रुद्वेषी शक्यसामन्तः पंकपाषाणोषरविषमकण्टकश्रेणीव्यालमृगाटवीहीनः कान्तः सीताखनिद्रव्यहस्तिवनवान् गव्यः

धन को हड़पने के लिए ही यूरोपीय साम्राज्यवाद का जन्म हुआ। फ्रांस और जर्मनी के बीच के राजनीतिक संघर्ष का कारण है--राइन नदी के पास का कोयला। वर्षों तक फ्रांस और इंगलैण्ड कर्णाटक और मद्रास को प्राप्त करने के लिए लड़ते रहे। राजनीतिक प्रक्रियाओं में भी धन का दूषितकारी प्रभाव व्यक्त हो सकता है। न्यायालय और मतदान-क्रिया भी इसके प्रभाव में आ सकती हैं। किन्तु यदि एक ओर सम्पत्ति शक्ति देती है तो दूसरी ओर इस की रक्षा के लिए नैतिक उत्तरदायित्व की भावना भी आवश्यक है। यदि मनुष्य सावधान न रहे तो चोर और डाकू उसके धन का अपहरण कर लें और कभी-कभी तो सावधान रहने पर भी अपहरण हो जाता है। सम्पत्ति की रक्षा के लिए चातुरी, ध्यान आदि गुणों की आवश्यकता है।

सम्पत्ति की प्रकृष्ट आवश्यकता और महत्त्व को देखते हुए धर्मग्रंथों में भी इसकी प्रशंसा है। गीता में कहा है कि जो कुछ विभूतिमान और 'श्रीमान्' है, वह ईश्वरांशसम्भूत है। योगभ्रष्ट पुरुष पवित्र 'श्रीमान्' के घर जन्म लेता है, ऐसा गीता का विचार है। उपनिषदों में वित्तैषणा के परित्याग का उपदेश होने पर भी 'याज्ञवल्क्य' और 'सयुग्वा रैक्व' धन से परहेज नहीं करते। उपनिषत् के कुछ ऋषि तो प्रभूत धन मिलने पर ही शिक्षा देते हैं। भारतीय संस्कृति ने धन का महत्त्व देखते हुए 'श्री' या लक्ष्मी नामधारिका देवी की उपासना करने का ही उपदेश दे डाला[1]। किन्तु सम्पत्ति के संबंध में भारतीय संस्कृति की कुछ बातें महत्वपूर्ण हैं। धन का उपार्जन इसने मुख्यतः वैश्यों तक सीमित रखकर समस्त समाज को धन को प्राप्त करनेवाली फैक्ट्री के रूप में बदलने से रोका। धन को आवश्यक मानते हुए भी वेद के समय से ही सम्पत्ति का अत्यन्त स्वार्थपरक भोग बुरा माना गया है। इसीलिए अस्तेय और दान को महत्त्वपूर्ण 'शील' का स्थान प्राप्त है। ऋग्वेद में कहा है 'नार्यमणं पुष्यति नोसखायं केवलाघो भवति केवलादी'। अतएव सम्पत्ति का प्रयोग यज्ञों में करने का विधान ब्राह्मणग्रंथों में पाया जाता है। इतना स्पष्ट मालूम पड़ता है कि लक्ष्य के रूप में आर्थिक कर्म का परिग्रहण भारतीय

पौरुषेयो गुप्तगोचरः पशुमानदेवमातृको वारिस्थलपथाभ्यामुपेतः सारचित्रबहुपण्यो दण्डकरसहः कर्मशीलकर्षकोऽबालिशस्वाम्यवरवर्णप्रायो भक्तशुचिमनुष्य इति जनपदसंपत्।

(अर्थशास्त्र ६।१)

१. "मयि देवा दधतु श्रियम्। (यजुर्वेद ३२।१६)

संस्कृति में नहीं हुआ है।[१] व्यावहारिक जीवन और सांसारिक संघर्ष में धन का महत्त्वपूर्ण स्थान देखते हुए भी भारतीय संस्कृति ने यही आदर्श सामने रक्खा कि महाश्रेष्ठी अनाथपिंडिक बुद्ध की शरण में जाकर अभ्यर्थना करे न कि महाज्ञानी बुद्ध श्रेष्ठियों की चाटुकारी करें।

सम्पत्ति के दार्शनिक समर्थन का प्रयत्न इसके उपादानात्मक स्वरूप का समर्थन करता है। मनुष्य का संकल्प, बाह्य वस्तुओं की प्राप्ति से ही क्रियात्मिकता को प्राप्त करता है। व्यक्तित्व निजी तौर पर भावात्मक रहता है। सम्पत्ति व्यक्तित्व को प्रकाशित करती है। संकल्प नानामुख और अगणित हैं, किन्तु जब किसी वस्तु-विशेष को हम प्राप्त करते हैं तब अनेक सामयिक वृत्तियों और भावनाओं में से कुछ को चुन कर उनका क्रियान्वयन होता है। इस प्रकार अनेक संकल्पजातों में से कुछ का निर्वाचन और उनके व्यवहारीकरण का प्रयास मानव व्यक्तित्व को निश्चित मार्गनिर्देश करता है। इस प्रकार का चुनाव मानव को संकल्पात्मक और ज्ञानात्मक स्थिरता और एकता प्रदान करता है। मानव का व्यक्तित्व जबतक निर्विशेष रहता है तबतक उसमें निजीपन या वैलक्षण्य का अभाव रहता है। अनेक अवसरों पर प्राकृतिक और सामाजिक शक्तियों के साथ संघर्ष कर मानव व्यक्तित्व को आकार और स्पष्ट रूप प्राप्त होता है। व्यक्तित्व, क्रियान्वित सकल्पों के अनुशय और संस्कार का ही नाम है। जब हम संकल्प शक्ति के प्रयोग से किसी वस्तु को प्राप्त कर उसे अपनी सम्पत्ति बनाते हैं तब हम उसकी निरी बाह्यता का अतिक्रमण करते हैं। उस वस्तु का हमारे व्यक्तित्व से सन्निकर्ष हो जाता

१. यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्।
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यताम्।
तां तृष्णां संत्यजन् प्राज्ञः सुखेनैवाभिपूर्यते।। (महाभारत, आदिपर्व, ८५।१४)
संतोषादनुत्तमः सुखलाभः (पातञ्जलयोगसूत्र २।४२)
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव।
(कठोपनिषत् १।१।२७)
न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
(कठोपनिषत् १।२।६)
नैतां सृंकां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः
(कठोपनिषत् १।२।३)

है। वह केवल वस्तु न होकर हमारे व्यक्तित्व कीसूचिका, ज्ञापिका और सम्वर्धिनी हो जाती है। दूसरों की दृष्टि में हमारी वस्तुएँ निरी बाह्य चीजें हैं; किन्तु हमारे व्यक्तित्व से उनका रागात्मक सम्बन्ध हो जाता है। हमारी सत्ता की समग्रता के वे एक अविभाज्य अंग हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में, हमारे व्यक्तित्व के वे प्रसारण हैं। मेरी पुस्तकें मेरे व्यक्तित्व का प्रकाशन और अभिव्यक्तीकरण करती हैं। सम्पत्ति प्राप्त करने का प्रयास जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का ज्ञापन करता है। वस्तुओं के सम्पत्तीकरण और उनके प्रयोग का प्रयास व्यक्तित्व के विकास का इतिहास है। वस्तुओं और संकल्पों में जब अन्त:क्रिया होती है तब उनका अन्योन्याश्रयी सम्बन्ध व्यक्त होता है। मनुष्य अपने सकल्पों के अनुरूप वस्तुओं का स्वरूप-निर्माण कर उन्हें आकार प्रदान करता है और वस्तुएं उसके सकल्पों को चेतन बनाती हैं।

सम्पत्ति मानव को नैतिक जीवन बिताने नें सहायता करती है। दीनता का जीवन बहुत अंशों तक मानव के स्वाभिमान को चूर्ण कर देता है। इसीलिए वेद में कहा—"अदीना: स्याम शरद: शतम्"। द्रविण की प्राप्ति वैदिक संस्कृति में उच्च पुरुषार्थ कहा गया है।[1] सम्पत्ति क सहारे आत्मिक विकास सम्भव है। सम्पत्ति के सहारे अपना विकास सम्पादित कर मानव अपने निष्णात ज्ञान और अनुभव की भेंट सामाजिक कल्याण के लिए अर्पित कर सकता है। सम्पत्ति अपने जीवन-संघर्ष में सहायता प्रदान करती है। इसके द्वारा अन्यों को भी कुछ सहायता दी जा सकती है। किन्तु यदि सम्पत्ति का नैतिक विकास में स्थान है तब इसका मतलब हुआ कि सम्पत्ति उतनी ही दूर तक अभिवांछित है, जहाँतक वह मानव को नैतिक चैतन्य प्रदान करती है। जब मानव अपने जीवन के परम कर्तव्यों की उपेक्षा कर केवल-मात्र धनानुसंधान में लग जाता है, तब वह साधन को साध्य के रूप में बदल देता है। ऐसे लोगों के लिए भर्तृहरि का यह वचन ठीक है—'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता:।' धन यदि नैतिक जीवन का उपकरण है तब साधन के समान ही उसका उपयोग किया जा सकता है। धन को साध्य मानकर नैतिकता और आध्यात्मिकता को खो देना, यह संस्कृति के नष्टनिधित्व को सूचित करता है। दार्शनिक राजनीति शास्त्र मानव जीवन का लक्ष्य शील, संयम, ज्ञान आदि को मानता है। स्वस्थ, सशक्त स्वाभिमानपूर्ण जीवनयापन के लिए जहाँ तक धन अपेक्षित है, उतनी ही दूर तक उसका ग्रहण करना ठीक है। यह ठीक है कि वस्तुओं की प्राप्ति या स्वीकार से हमारी

१. य इमां विश्वा भुवनानि जुह्वदृर्षिर्होता न्यसीदत् पिता न:।
स आशिषा द्रविणमिच्छमान: प्रथमच्छदवरां आविवेश॥ (यजुर्वेद १७।१७)

वृत्तियाँ चेतन होती हैं। किन्तु अपने नैतिक और आध्यात्मिक स्वातंत्र्य की दुहाई देकर परिग्रह का असीम अधिकार माँगना, दार्शनिक दृष्टि नहीं है। यह ठीक है कि वस्तुएँ व्यक्तित्व का पोषण करती हैं; किन्तु वस्तुओं की अनन्तता या असीमता अभिवांछित नहीं है।[१] मुख्य लक्ष्य है--नैतिक चैतन्य का परिपोषण।

मानव के राजनीतिक विकास में भी सम्पत्ति का स्थान रहा है। जिन लोगों के पास सम्पत्ति रही है, मुख्यतया वे ही राजकीय शक्ति का प्रतिरोध करने में समर्थ रहे हैं। अमरीकन राज्यक्रान्ति के नेता जेफरसन, वाशिंगटन आदि धनशाली थे। मैगना-कार्टा के नेता बड़े क्षेत्राधीश थे। अन्य यूरोपीय देशों के स्वतंत्रता संग्राम में भी धन-

१. Aristotle: *Politics* I, 8 "....for the amount of property which is needed for a good life is not unlimited, although Solon in one of his poems says that 'No bound to riches has been fixed for man.' But there is a boundary fixed, just as there is in the other arts; for the instruments of any art are never unlimited, either in number or size, and riches may be defined as a number of instruments to be used in a household or in a state." *Politics* I, 9,: But the art of wealth-getting which consists in household management, on the other hand, has a limit; the unlimited acquisition of wealth is not its business. And, therefore in one point of view, all riches must have a limit....Some persons are led to believe that getting wealth is the object of household management, and the whole idea of their lives is that they ought either to increase their money without limit, or at any rate not to lose it. *The origin of this disposition in men is that they are intent upon living well.*" *Politics* VII, 13,: "..for a good life requires a supply of external goods, in a less degree when men are in a good state, in a greater degree when they are in a lower state."

वानों का स्थान जबरदस्त रहा है। किन्तु स्वतंत्रता की प्राप्ति में जब धनवानों का स्थान हम बता रहे हैं तब इसका यह मतलब नहीं है कि मार्क्स और मेजिनी की दर्दनाक गरीबी को हम भूल रहे हैं या उन अनेक युवकों की जिन्होंने हँसते-हंसते शूली का आलिंगन किया है, उनकी उपेक्षा कर रहे हैं। हमारा यह बताने का लक्ष्य है, कि जिस मनुष्य को प्रतिदिन के उग्र जीवन-संघर्ष से कुछ अवकाश प्राप्त रहता है वही प्रतिरोध के विषय में सोच सकता है। जिस मनुष्य की सारी शक्ति प्रातः से लेकर सायं तक जीवन संघर्ष में लगी है, उसे राजकीय प्रश्नों पर विचारने का या उनके सम्बन्ध में अपनी राय बनाने का अवकाश ही नहीं मिलता है। जब मनुष्य भोजन आदि के लिए, नौकरी करने को वाध्य हो जाता है तब उसमें राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए युद्ध करने की वृत्ति कुण्ठित हो जाती है। अनेक युवक जिनमें भारतीय स्वतंत्रता को प्राप्त करने की बड़ी अभिलाषा थी, जब जीवनसंग्राम में कूदे और गरीबी से पाला पड़ा तब उन्हें स्वतंत्रता की वृत्ति को छोड़ना पड़ा। इटली के राजनीतिशास्त्रवेत्ता मोस्का ने बताया है कि सम्पत्ति राजनीतिक प्रतिरोध का अब तक माध्यम रही है। जब सम्पत्ति का पूर्ण समाजीकरण या राज्यीकरण हो जायगा तब भोजन तथा साधारण आराम के लिए भी मनुष्य को समाज का मुँह ताकना पड़ेगा। ऐसी दशा में सामाजिक सत्ताशाही और राजकीय सत्ताशाही का जन्म होगा। प्रतिरोध के अभाव में मानव पुनरपि अन्धकारयुग में प्रविष्ट हो जायगा। मोस्का की युक्तियों में हमें सार मालूम पड़ता है। साम्यवादी देशों में आर्थिक सुरक्षा है, बेरोजगारी हटा दी गई है। जनता का बहुलांश सुरक्षा के लिए ही लालायित रहता है। किन्तु सभ्यता और संस्कृति का विकास केवलमात्र सुरक्षा पर आश्रित नहीं है। जिन लोगों ने सत्ताशाही का विरोध किया है, उन्होंने निस्सन्देह संसार के निर्माण में एक तेजस्वी योगदान किया है। प्रजातंत्रीय देशों के इतिहास को देखने से यही मालूम पड़ता है कि सम्पत्ति की प्राप्ति आवश्य ही राजकीय सत्ता का प्रतिरोध करने में सहायता दे सकती है।

आर्थिक आधार पर भी सम्पत्ति का समर्थन किया जाता है। सम्पत्ति का स्वयं उपभोग करना और सन्तति के लिए विरासत छोड़ जाना, मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मानव-सभ्यता के विकास के पीछे जो शक्ति मनोवैज्ञानिक प्रेरणा दे रही है, वह अपने जीवन को और अपनी सन्तान के जीवन को सुखमय बनाने की दृढ़ इच्छा है। सम्पत्ति को प्राप्त करने के लिए कुछ दूर तक मितव्ययिता और श्रम का अवलम्बन करना होता है। लाक ने बताया था कि सम्पत्ति श्रम से ही प्राप्त होती है। सत्रहवीं

शताब्दी के लम्बे खुले मैदानवाले अमरीका में यह विचार लागू हो सकता था ; किन्तु पूँजीवाद के विकसित रूप को देखते हुए श्रम को सम्पत्ति का मूल मानना अपूर्ण और असंगत है। सम्पत्ति की उत्पत्ति में श्रम, एक कारक है, सर्वस्व नहीं। दूसरी ओर पूँजीवाद के समर्थक नसउ सीनीयर का कहना था कि पूँजी परिवर्जन[1] पर आश्रित है --अर्थात् पूँजीपति अपनी पूँजी के उपभोग से परिवर्जन करता है और इस प्रकार के निरोध और संयम से ही पूँजी पैदा होती है। न केवल मार्क्स ने ही अपितु पूँजीवाद के समर्थक अर्थशास्त्रियों को भी सीनियर की दलील लचर मालूम पड़ती है। लाक और सीनीयर के विचार को अपूर्ण और असंगत मानते हुए भी इतना ठीक मालूम पड़ता है कि जिसने प्रथम बार सम्पत्ति इकट्ठी की है, उसे अवश्य परिश्रम करना होता है। उसकी सम्पत्ति को विरासत में पानेवाले को परिश्रम नहीं करना पड़ता है। इस प्रकार सम्पत्ति प्राप्त करना और सम्पत्ति का स्वत्व हासिल करना, इन दोनों में आकाश-पाताल का भेद है। एक वकील भयंकर श्रम के द्वारा कुछ सम्पत्ति इकट्ठी करता है, किन्तु उसके अयोग्य पुत्र, मुफ्त में ही सम्पत्ति पा लेते हैं। इस प्रकार इतना ही कहना समीचीन है कि कुछ सम्पत्ति अवश्य ही श्रम से प्राप्त होती है और सम्पत्ति प्राप्त करने की वृत्ति एक सीमा तक परिश्रम, मितव्ययिता और आत्मसंयम सिखाती है। इसीलिए मनोवैज्ञानिक आधार पर कुछ विचारकों का ऐसा मत रहा है कि सम्पत्ति प्राप्त करने की अभिलाषा श्रम करने तथा जोखिम उठाने की उद्दीपिका है। किन्तु इसको एक सीमित अंश तक ही सत्य समझना चाहिए; क्योंकि बहुत बार विना सम्पत्ति-उद्दीपन के ही मनुष्य परिश्रम करते हैं। यह भी बहुत बार होता है कि सम्पत्ति को प्राप्त करने में लगा हुआ श्रम अन्ततः सामाजिक अकल्याण का ही साधक बने। तथापि सम्पत्ति और श्रम के आंशिक मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध को देखते हुए ऐसा प्रस्ताव रक्खा गया है कि नैतिकता का तकाजा है कि जो श्रम करता है, उसे अपने परिश्रम के अनुरूप आर्थिक सामग्रियाँ प्राप्त हों। समाज, श्रम-विभाजन के आधार पर टिका हुआ है और कुछ दूर तक सम्पत्ति, सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त किये गये श्रम की परिसूचिका हो सकती है। जब समाज में श्रम-विभाजन नहीं रहता है तब उत्पादन-प्रक्रिया साधारण स्थिति में रहती है। प्लेटो ने रिपब्लिक में बताया है कि आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राज्य का विकास होता है और श्रमविभाजनजनित दक्षता ही इसको शील और श्रेय का अनुसंधानकर्त्ता बनाती है। समाजशास्त्री डर्खायम ने भी बताया है कि श्रमविभाजन से ही प्राथमिक अवस्था से आधुनिक सभ्यता तक मानवता का आगमन

१. परिवर्जन = Abstinence.

संभव हुआ है। श्रमविभाजन इस प्रकार सभ्यता का वाहक है और इसका मूल लक्ष्य है--नियम के अनुसार, गुणकर्म स्वाभावानुमोदित, सामाजिक श्रम के सहारे सामाजिक कल्याण का पृष्ठपोषण। सम्पत्ति प्राप्त करने की प्रवृत्ति भी श्रम-विभाजन के सिद्धान्त को पुष्ट करती है, यद्यपि श्रमविभाजन सम्पत्तिलाभवृत्ति से एक अधिक व्यापक विचार है।

सम्पत्ति के महत्त्व-प्रदर्शन का जबर्दस्त प्रयास ग्रासवाल्ड स्पेंगलर ने किया है।[१] उसके अनुसार एकांशनिष्ठ पुजारीवाद आकाश और कार्यकारण सिद्धान्त में विश्वास करता है। व्यापकदर्शी अभिजातवर्ग काल, इतिहास और भाग्य का समर्थक है। आकाश की स्वच्छता और विशालता से प्रभावित पुजारी लोग, सम्पत्ति का उत्कर्ष नहीं समझ पाते। सम्पत्ति माता पृथिवी से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है। सम्पत्ति का समर्थन जाति (रेस) के महत्त्व का प्रदर्शन है। सम्पत्ति के विरोध में आवाज उठानेवाले बुद्धिजीवी, नागरिक, नगरनिवासी साधु-संत, दार्शनिक और कल्पनाविलास-कारी लोग होते हैं जिन्होंने ग्राम्य भूमि के साथ अपनी संजात अनुराग की भावना को खो दिया है। मार्क्सीय साम्यवाद का इसीलिए स्पेंगलर ने खंडन किया है कि वह इतिहास की धारा के प्रतिकूल है। स्पेंगलर का यह कहना ठीक है कि ग्रामवासियों के हृदय में भूमि से जो अनुराग रहता है, वह नागरनिवासियों में नहीं है। किन्तु यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि मानव-सभ्यता में जो सम्पत्ति का अभूतपूर्व एकत्रीकरण हुआ है, वह नगरनिवासियों के उद्यम से ही। जब अथेंस ने उप-निवेशवाद और साम्राज्यवाद का आश्रय लिया तभी धन की अपार राशि वहाँ इकट्ठी हुई। मध्ययुग में वेनिस, जिनोआ आदि शहरों ने प्रभूत धन इकट्ठा किया। यही कह सकते हैं कि ग्रामवासियों की ममता पैत्रिक भूमि से है और नगरनिवा-सियों की ममता उद्योग, बैंक आदि के द्वारा प्राप्त धन में है। स्पेंगलर का यह कहना ठीक है कि बुद्धिजीवियों और सन्तों ने धन के विरुद्ध आवाज लगाई। बेसिल महान् और जान क्रायसोस्टम ईसाई थे। मार्क्स, लाजाल, वाकुनिन आदि भ्रमण करनेवाले, बुद्धिजीवी साम्यवादी नेता थे। किन्तु इन लोगों ने सम्पत्ति का खंडन या उसका समाजी-करण इसीलिए बताया कि स्वयं वे जमीन से उखड़े हुए थे अथवा वे लता की भाँति भूमिनिष्ठ नहीं अपितु जन्तुओं के समान इतस्ततः गामी थे, यह कहना कठिन है। स्वयं ऐंगल्स के पास उद्योग द्वारा अर्जित बड़ी सम्पत्ति थी। स्पेंगलर के कथन में इतना सत्य अवश्य है कि सम्पत्ति का स्वत्व मनुष्य को उत्तरदायी बनाता है। जीवन के अनेक प्रश्नों पर सम्पत्तिवान अनर्गल रूप से नहीं बोल सकता। दूसरी ओर धनहीन

१. Oswald Spengler :—*The Decline of the West* II. पृ० ३४३-३४४,

मनुष्य कभी-कभी निराशावाद में पड़ा रहकर शून्यवाद का समर्थन करनेवाले विचारों में लीन रह सकता है। शून्यवाद सभ्यता और संस्कृति का घातक शत्रु है। मानव-संस्कृति की अमूल्य देनों को यह पूर्णतः उपेक्षित करता है। रूस के शून्यवादी विचारक पिसारेभ, डोब्रोलियुबोभ और शेरनिसेव्सकी में शून्यवाद के संस्कृतिविरोधी रूप को हम देखते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि उत्तरदायी नागरिक बनाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को जीवन की कम से-कम आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाली सम्पत्ति अवश्य संप्राप्त रहनी चाहिए।[१] सम्पत्ति एक महान् बल है और जनता की बहुतायत संख्या को इससे वंचित रखना ठीक नहीं है।

सम्पत्ति का इतिहास मानव सभ्यता के विकास का बहुत अंशों में द्योतन करता है। सम्पत्ति के प्रश्न को लेकर अनेक क्रान्तियाँ इतिहास में हुईं। यूनान में सोलन और पायसिसट्रेटस से लेकर पेरिक्लीज तक अनेक आन्दोलन सम्पत्ति के विभाजन और संगठन के सम्बन्ध में हुए। रोम का पैट्रिशियन-प्लेबियन आन्दोलन मुख्यतः इसी सम्पत्ति के प्रश्न को लेकर चला था। पूँजीवाद के आगमन के बाद से धार्मिक समस्याएँ अधिक संजटिल हो गई हैं। अमरीका की राज्यक्रान्ति के पीछे, कर लगाने का अधिकार किसे है, यही समस्या थी। फ्रांस और रूस की राज्यक्रान्तियाँ भी आर्थिक प्रश्नों से बहुत दूर तक प्रभावित थीं। जब मानव वृक्ष के पत्र-पुष्पों से अपना भरण-

---

१. Aristotle: *Politics* II, 5 : "It is clearly better that property should be private, but the use of it common; and the special business of the legislator is to create in men this benevolent disposition. Again, how immeasurably greater is the pleasure, when a man feels a thing to be his own; for surely the love of self is a feeling implanted by nature and not given in vain, although selfishness is rightly censured....And further, there is the greatest pleasure in doing a kindness or service to freinds or guests or companions, which can only be rendered when a man has private property. These advantages are lost by excessive unification of the state....No one, when men have all things in common, will any longer set an example of liberating, or do any liberal action for liberality consists in the use which is made of property."

पोषण करता था, उस समय की आर्थिक समस्याएँ अत्यन्त सरल थीं। उस समय सम्पत्ति को लेकर कोई संघर्ष नहीं होते थे। किन्तु जब कृषि का विकास हुआ तब सम्पत्ति का महत्त्व बहुत बढ़ गया। आपेनहायमर के विचार में भेड़पालकों ने कांस्य-काल (जो लोहे और पत्थर की बीच के काल है) में वैयक्तिक सम्पत्ति का प्रवेश, मानव-सभ्यता में कराया[1]। जगत् के इतिहास का आरम्भ प्राथमिक कम्यून से होता है या वैयक्तिक सम्पत्ति से, इस विषय में समाजशास्त्रियों में महान मतभेद है। भारतीय इतिहास को दृष्टि में रखते हुए मैं ऐसा समझता हूँ कि यहाँ कभी प्राथमिक साम्यवाद नहीं था। मोहंजदारों-सभ्यता के अवशेषों से और वैदिक साहित्य के अनुशीलन से यही बात मालूम पड़ती है। प्राचीन मानवशास्त्रवेत्ता मारगन ने सम्पत्ति का परिवार पर प्रभाव बताया है। उसके अनुसार पहले दुनिया में मातृमूलक समाज था। सम्पत्ति के परिग्रह और अपनी सन्तति के लिए विरासत छोड़ने की इच्छा ने मातृमूलक समाज को पितृमूलक परिवार में बदल दिया और माता से वांशिकता ढूँढने के बदले पिता और पितामह से आनुवंशिकता खोजी जाने लगी। मारगन के विचार का विरोध वेस्टरमार्क ने किया है। सम्पत्ति और परिवार के विकास में निश्चित सम्बन्ध है। जाबाल, कौन्तेय आदि प्रयोग बताते हैं कि कभी भारतीय समाज में भी माता से सन्तति का नामकरण किया जाता था। परिवार का विकास, सम्पत्ति के एकत्रीकरण और बँटवारे से घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। परिवार रक्ताश्रित सम्बन्धों का केन्द्र होने के साथ ही सम्पत्ति के वितरण का भी केन्द्र है। दायभाग का विभाजन, विज्ञानेश्वर और जीमूतवाहन, जो याज्ञवल्क्यस्मृति के दो प्रसिद्ध टीकाकार हैं, के बीच अन्तर का एक महान् कारण है। सम्पत्ति के वितरण ने परिवार को इकट्ठा और आवश्यकता पड़ने पर छिन्नभिन्न भी किया है। चाहे व्यक्तिवादी परिवार हो या संयुक्त; दोनों ही में सम्पत्ति का प्रश्न बड़ा महत्वपूर्ण रहा है और प्रारम्भिक सामाजिक इतिहास से लेकर आज तक ऐसी ही अवस्था है। रोम के 'द्वादश मेज' के अनुसार प्रजापति का महान् आधिपत्य था। स्त्री, पुरुष की सम्पत्तिवत् थी। किन्तु 'द्वादश मेज' के प्राय: एक हजार बाद बनाये गये जस्टिनियन के कोड के अनुसार पिता का प्रभाव कम किया गया। यदि पिता अपंग या शक्तिरहित हो जाता था तब उसके बदले में उसका पुत्र कार्य करता था। जस्टिनियन के कोड के अनुसार परिवार पर सामाजिक-राज्यिक नियंत्रण बढ़ रहा था। दास अपनी स्वतंत्रता खरीद सकता था तथा स्वयं प्रदास भी रख सकता था। मध्ययुग में सामन्त-प्रथा का विकास हुआ। इस समय भूमि का स्वत्व सम्पत्ति का मुख्य स्रोत था। भूमि का

१. Franz Oppenheimer : *System der Soziologi* II and IV.

अन्तिम स्वत्वधारी राजा था और वह भूमि का स्वेच्छया अपने सामन्तों में वितरण करता था। बड़े-बड़े सामन्त फिर उस भूमि का छोटे सामन्तों में बँटवारा करते थे। स्मरण रखना है कि यह भूमि सिर्फ उपयोग के लिए वितरित की जाती थी। राजा का सांगत्तिक स्वत्व सर्वदा सुरक्षित रहता था।

सामन्तवादी युग के अन्त में सम्पत्ति के संगठन में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। सामन्तवाद के अन्तिम दिनों में कृषकदास की परम्परा विकसित हो गई थी। ये कृषकदास अपनी जमीन छोड़कर कहीं नहीं जा सकते थे। सामन्तवाद के पतन से ये कृषकदास भाग कर शहरों में जहाँ गये, वहाँ पर बढ़ते हुए पूँजीवाद के लिए उन्होंने श्रमिक तैयार किये। अब कृषकदासों की प्रतिहृतगतिता के बदले श्रमिकों के गतिस्वातंत्र्य और कानूनी समानता का विकास हुआ। मध्ययुग में संघ या निगम, सम्पत्ति के आधार पर स्वतंत्रताएँ खरीदते थे, अब मानव के वैयक्तिक कानूनी अधिकार का विकास होने लगा। कृषकदासों के प्रति अब सम्पत्तिपति का न तो कोई अधिकार शेष रह गया और न कोई कर्तव्य उनसे वह अपने लिए करा सकता था। पूँजीवाद के विकास के साथ पूँजी, जमीन नहीं, आर्थिक शक्ति का स्रोत बन गई। पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी से ही पश्चिमी यूरोप में एक ऐसे वर्ग का उत्थान प्रारम्भ हुआ जो विनिमय, व्यापार और सामूहिक बृहदुत्पादन के सहारे सम्पत्ति का अधीश बना हुआ था। पूँजीवाद के विकास ने अतिरंजित सम्पत्ति का केन्द्रीकरण सम्भव बना दिया। जमीन बहुत कुछ सीमित है; किन्तु पूँजी असीम है और पुनः पूँजी को सुरक्षित रखना भी आसान है। मार्क्सवाद के अनुसार पूँजी उस राक्षस के समान है जो अत्यन्त वेग से उत्पादन-क्रिया में रत है।[1] पूँजी के अपार केन्द्रीयकरण से सम्पत्ति शक्ति का साधन बन गई। अब तक सम्पत्ति से आंशिक मात्रा में ही दूसरों के भाग्यविधान का अवसर मिलता था। किन्तु पूँजीवाद के विकास के साथ साथ सम्पत्ति का उपकरण से शक्ति में रूपान्तर हो गया। पूँजीवादी अन्य लोगों के जीवन पर अपना नियंत्रण

१. Karl Marx : *Capital* I, पृ० २१७: "By turning his money into commodities that serve as the material elements of a new product, and as factors in the labour-process, by incorporating living labour with their dead substance, the capitalist at the same time converts value, i. e., past materialised, and dead labour into capital, into value big with value, a live monster that is fruitful and multiplies."

स्थापित कर सका। अपरिमित वेग से सम्पत्ति का परिग्रह और फिर उसका सामाजिक शक्ति के रूप में प्रयोग, यही पूँजीवादी सभ्यता का महान् सूत्र है[1]। जबतक व्यापारी पूँजीवाद और मुद्रा-पूँजीवाद का ही विकास हुआ था, तबतक केवल मुनाफा को हथियाना यही मुख्य उद्देश्य था। अर्थात् व्यापारी और सूदखोर, पूँजी के परिवर्धन में दिलचस्पी नहीं रखते थे। किन्तु औद्योगिक पूँजीवाद उत्पादन पर मुख्य दृष्टि देता है। मुनाफ को प्राप्त करने पर ही नहीं, अपितु मुनाफा के स्रोत—अतिरिक्त मूल्य के उत्पादन पर भी इसकी दृष्टि लगी है। शनैः-शनैः पूँजीवाद कृषिक्षेत्र पर भी अपना प्रभाव जमाता है और कृषकों की स्वतंत्रता का नाश कर उसमें भी औद्योगिक प्रणालियों का अनुप्रवेश होता है। पश्चिमी यूरोप और अमरीका में बहुत दूर तक छोटे-छोटे कृषकों का इस प्रकार सत्यानाश हो गया। इन छोटे-छोटे कृषकों के नाश का तात्पर्य है, उस सभ्यता का ही नाश जिसका इनपर आधार था।

सम्पत्ति के रूप और संगठनप्रक्रिया में भी पूँजीवाद के विकास के साथ बड़े परिवर्तन हो जाते हैं। संघीय जीवन का विकास इस युग की विशषता है। एक ओर पूँजीवादी उत्पादक-मंडल अपना संगठन करता है। पूँजीवाद की वृद्धि के कारण अमरीका में ट्रस्ट का विकास हुआ और जर्मनी में 'कार्टेल' का। पहला उत्पादन का नियंत्रण करता है तो दूसरा मल्य का। दूसरी ओर श्रमिक वर्ग भी अपना संघ बनाता है। संघीय जीवन के विकास से समाज, व्यक्तिप्रधान न होकर, श्रेणीप्रधान हो जाता है। हाब्स ने संस्थाओं को सामाजिक अंतड़ी का कृमिसमूह बताया था। रूसो संस्थाओं का घोर विरोधी था; क्योंकि इनसे व्यक्ति और सामान्य संकल्प के बीच व्यवधान उपस्थित हो जाते हैं। किन्तु आज संघीय और श्रेणीगत जीवन का इतना अधिक विकास हुआ है कि व्यक्ति के लिए अपनी सत्ता को पहचानना भी कठिन हो गया है।

१. Karl Marx: *Capital* I, पृ० १४८-१४९: "But money itself is a commodity, an external subject, capable of becoming the private property of any individual. Thus social power becomes the private power of private persons. The ancients, therefore, denounced money as subversive of the economical and moral order of things. Modern society, which soon after its birth, pulled Plutus by the hair of his head from the bowels of the earth, greets gold as its Holy Grail, as the glittering incarnation of the vary principle of its own life."

यांत्रिक सभ्यता की अपरिकल्पित विशालता और संघीय जीवन के अप्रत्याशित विकास से आज व्यक्ति अपने को प्रायः खो बैठा है। उसकी स्वतंत्रता नष्ट हो रही है। आज किसी संघ का सदस्य बनकर ही वह कुछ आत्माभिव्यंजन कर सकता है। संघीय संस्थाओं के विकास के साथ ही समाज में अत्यधिक वस्तुओं का उत्पादन शुरू हो गया है। पहले की अर्थ व्यवस्था सीमित उत्पादन के आधार पर बनी थी। अब की अर्थव्यवस्था अन्तरराष्ट्रीय पण्य को ध्यान में रखकर विनिमय के द्वारा प्राप्त मुनाफे को दृष्टिगत कर अत्यन्त अधिक मात्रा मे वस्तुओं का उत्पादन करती है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था के साथ-साथ संस्पर्धा, होड़, साख (उधार या क्रेडिट) आदि का विकास भी हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में वित्त-पूँजीवाद का विकास हुआ। वित्त-पूँजीवाद की बढ़ती के कारण परिकल्पना या सट्टा करनेवाले लोगों का विकास हुआ और विनियोग करनेवाले बंक मालिकों का भी अधिकार फैला। वित्त-पूँजीवाद के साथ-साथ आर्थिक साम्राज्यवाद का भी विकास हुआ और केवल उपनिवेशों में बनाया माल भेजने के बदल अब पूँजी भी भेजी जाने लगी और उपनिवेशों में ही कार्यालयों की स्थापना हुई।

पूँजीवाद का समाजशास्त्रीय विश्लेषण करते हुए माक्स वेबर ने बताया है कि इसमें उत्पादनप्रक्रिया के मानवी उपकरण अर्थात् श्रमिकगण पूर्णतया स्वतंत्र हैं।[१] अर्थात् वेतनभोगी श्रमिक, इस दृष्टि से दास और कृषक-दास से पृथक है कि उसको कानूनी स्वतंत्रता है। कोई बलप्रयोग कर उससे काम नहीं करा सकता। दूसरी ओर उत्पादन-प्रक्रिया के अमानवी उपकरणों पर पूँजीपतियों का सम्पूर्ण अधिकार रहता है। सामन्तवादी युग में सामन्तों का भूमि पर पूर्ण स्वत्व नहीं था। पूँजीवाद के विकास के साथ, सम्पत्ति की राशि और उसके संगठन, व्यवस्था आदि में अनेक बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं। किन्तु यांत्रिकता और पूँजीवाद तथा प्रजातंत्रवाद के विकास के कारण एक नई चेतना का भी जागरण जनसमाज में हुआ है और सम्पत्ति के नैतिक आधार की मीमांसा करते हुए इसके पुनर्वितरण, समाजीकरण आदि की समस्याएँ भी महत्त्वपूर्ण हो गई हैं।

पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ ऐसे विचारकों और आन्दोलनकर्त्ताओं का भी प्रचारकार्य जारी रहा है जो सम्पत्ति का पुनर्वितरण चाहते हैं या यदि पूर्ण पुनर्वितरण नहीं तो कम-से-कम श्रम और सम्पत्तिप्राप्ति में अधिक तर्कसंगत अनुपात को कायम करना चाहते हैं। 'राजनीतिक न्याय' नामक ग्रंथ में गाडविन ने यह प्रस्ताव रक्खा कि

१. Max Weber : *Essays in Sociology*, पृ०१८२ : *Theory of Social and Economic Organization*.

सम्पत्ति सब में समानतः वितरित की जानी चाहिए[१]। प्रूधों ने कहा 'सम्पत्ति चोरी है।' आर्थिक आधार पर प्राप्त शक्ति का वह विरोधी था और सामयिक तथा आकस्मिक कारणों से प्राप्त सुविधाओं और सम्पत्ति संबंधी सहूलियतों का भी वह खंडन करता था। किन्तु वैयक्तिक सम्पत्ति अल्पमात्रा में लोगों के पास रहे, इसका वह विरोध नहीं करता था। पूँजीवादी सम्पत्ति-व्यवस्था का संगठित विरोध मार्क्सवाद ने उपस्थित किया[२]। मार्क्सवाद के अनुसार प्राथमिक साम्यवाद के अन्तिम दिनों में वैयक्तिक सम्पत्ति का जन्म हुआ और इसी कारण वर्ग-प्रथा, शोषण प्रथा आदि के प्रादुर्भूत होने से पुराना साम्यवाद खत्म हो गया। बर्बरता से सभ्यता की ओर जब उत्क्रमण हो रहा था तब, प्रायः उसके मध्यकाल में, एशिया में पशुओं में वैयक्तिक सम्पत्ति की स्थापना हुई। ऋग्वेद में गो, सम्पत्ति का मापक मानी जाती थी। मार्क्स के मतानुसार सम्पत्ति अन्य मनुष्यों के जीवन पर अधिकार प्रदान करती है। पूँजीवादी व्यवस्था में सम्पत्ति का, शक्तिधर का रूप, बहुत निखरा हुआ मालूम पड़ता है। इस युग में सम्पत्ति अपने आध्यात्मिक और नैतिक विकास का साधन न होकर अन्य मनुष्यों के जीवन पर अधिकार प्रदान करती है। सम्पत्ति का अधिकार, अन्य लोगों के जीवन पर कानूनी अधिकार प्राप्त कराता है; क्योंकि सम्पत्ति का कुछ हाथों में केन्द्रीकरण होना, स्वभावतः ही सम्पत्तिहीनों के ऊपर नियंत्रणात्मक अधिकार प्रदान करता है। माण्टेस्क्यू ने 'कानूनों के आत्मा' के अनुसंधान का प्रयत्न वातावरणात्मक और सामाजिक कारकों में किया था। किन्तु मार्क्स, लिंगुए के उस कथन का, कि कानून की आत्मा सम्पत्ति में है, अनुमोदन करता है[३]। इस प्रकार पुरातन साम्यवाद के अन्त से लेकर पूँजीवादी सभ्यता तक मार्क्स ने वैयक्तिक सम्पत्ति के शोषणकारी प्रभावों को व्यक्त किया है। डुहरिंग के इस मत का कि बल से वैयक्तिक सम्पत्ति की उत्पत्ति होती है, खंडन करते हुए ऐंगल्स ने भी बताया है कि यद्यपि उत्पादन की मात्रा के परिवर्धन के निमित्त वैयक्तिक सम्पत्ति का विकास होता है, तथापि आज दुनिया में यह समाजोपयोगी उत्पादन का अवरोधक बन गई है[४]। पूँजीवाद के द्वारा उत्पन्न असंगतियों को हटाने के लिए वैज्ञानिक साम्यवाद का संदेश मार्क्सवाद ने दिया

१. William Godwin, *Political Justice* (Property' विषयक अध्याय).

२. Karl Marx : *Capital* I, पृ० ८३७-८३८, *Selected works of Marx* I, पृ० २२०-२२२; Engels : *The Origin of the Family, Private Property and State.*

३. Karl Marx : *Capital* I, पृ० ६७५ नोट.

४. F. Engels : *Anti Duhring* पृ० १८०.

है। इस अवस्था में जमीन और उत्पादन के अन्य साधनों का समाजीकरण हो जायगा। एक प्रकार की वैयक्तिक सम्पत्ति वह है जब मानव अपने श्रम का प्राकृतिक साधनों पर प्रयोग कर सम्पत्ति उत्पन्न करता है। किन्तु नाममात्र की ही समानता इस सरलतामूलक वैयक्तिक सम्पत्ति में और अन्यों के शोषण पर आश्रित पूँजीवादी वैयक्तिक सम्पत्ति में है[1]। एक का आधार है--वैयक्तिक श्रम, दूसरे का आधार है शोषण। मार्क्सवाद सम्पत्ति का विनाश नहीं चाहता, अपितु उसका समाजीकरण चाहता है। सर्वतोभावेन वैयक्तिक सम्पत्ति का यह अपसारण नहीं चाहता है[2]। श्रमिकों के द्वारा, श्रमजनित वस्तुओं का उत्पादन यह नहीं चाहता है[3]। साम्यवाद, सामाजिक वस्तुओं के ग्रहण को खतम नहीं करना चाहता, अपितु उनका अन्यों के शोषण के लिए उपयोग इसे अभिवांछित नहीं है। मार्क्सवाद के अतिरिक्त, लियो टाल्सटाय ने भी रूसी कृषकों का पक्ष समर्थन करने के लिए, पूँजीवाद का खंडन किया। विलियम मौरिस ने भी बृहत्काय उद्योगों के बदले छोटे-छोटे पैमाने पर कार्य करनेवाले कर्मकरों को प्रतिष्ठापित करने का संदेश दिया। पूँजीवाद को शोषणकारी और साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का खंडन गांधीजी ने भी किया है।

निस्सन्देह सम्पत्ति का प्रश्न मानव समाज के अत्यन्त गम्भीर और महत्त्वपूर्ण

---

१. Karl Marx : *Capital* I, पृ० ८३८.

२. Marx and Engels : The *Communist Manifesto.*

३. Marx and Engels : *The Communist Manifisto.* " We by no means intend to abolish this personal appropriation of the products of labour, an appropriation that is made for the maintenance and reproduction of human life, and that leaves no surplus wherewith to command the labour of others. All that we want to do away with is the miserable character of this appropriation, under which the labourer lives merely to increase capital and is allowed to live only in so far as the interest of the ruling class requires it......Communism deprives no man of the power to appropriate the products of society, all that it does is to deprive him of the power to subjugate the labour of others by means of such appropriation."

प्रश्नों में स्थान रखता है। सम्पत्तिपरिग्रह के नाशकारी प्रभावों को देखते हुए प्लेटो ने आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों का पार्थक्य स्थापित किया। राज्यपालों को धन से कोई सम्बन्ध नहीं रखना है। वार्षिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उत्पादकवर्ग एक निश्चित मात्रा में सामग्री राज्यपालों को दे देंगे और राज्यपाल या राज्यरक्षक एक साथ इसका उपभोग करेंगे। प्लेटो की दृष्टि में सम्पत्ति का मोह मनुष्य को पतन और युद्ध के मार्ग पर ले जाता है। उसके अनुसार सम्पत्ति-उत्पादक का सामाजिक स्थान निम्नतम है। उसके बाद सैनिकगण का और उत्कृष्टतम स्थान ज्ञानसम्पन्न राज्यरक्षकों का है। सम्पत्ति का मोह मानव को सामष्टिक कल्याण-कामना से अलग हटाता है और इसलिए वैयक्तिक सम्पत्ति का आकर्षक अवरोध, राज्य-रक्षकों के मार्ग से हटाना उसने उचित समझा। प्लेटो का बताया हुआ साम्यवादी मार्ग हमें अभीष्ट नहीं है। किन्तु सम्पत्ति के विनाशकारी अवरोधों को हटाना दार्शनिक राजनीति शास्त्र को पूरा अभीष्ट है; क्योंकि इसका लक्ष्य है - मानव के नैतिक चैतन्य का जागरण। वैयक्तिक सम्पत्ति मनुष्य का चारित्रिक और ज्ञानात्मक विकास करने में साहयक है। इसलिए आवश्यक है कि समस्त जनसमाज को उचित मात्रा में सम्पत्ति प्राप्त हो। कुछ वर्गों के पास इतनी सम्पत्ति का केन्द्रीकरण है कि वे अपना नैतिक आदर्श भूलकर अन्यों का शोषण करें और समाज के बहुतायत के पास भोजन आदि की भी व्यवस्था न हो सके—यह अवस्था नितान्त शोचनीय है। इसलिए वैयक्तिक सम्पत्ति समस्त नागरिकों को प्राप्त रहनी चाहिए, न कि अल्पवर्गसीमित। जब श्रम के सहारे सम्पत्ति की उत्पत्ति की जाती है, तब उस प्रक्रिया में नैतिक विकास संभव है; किन्तु विरासत के रूप में असीम सम्पत्ति की प्राप्ति नैतिकता के बदले स्वेच्छाचारिता, बर्बरता, निर्दयता आदि क्रूरताओं को जन्म देती है। प्लेटो के साम्यवाद का इतना ही अंश हमें ग्राह्य है कि शक्ति का केन्द्रीकरण न होना चाहिए। जब प्लेटोकालीन मुख्यतया ग्राम्य सभ्यता में केन्द्रीकरण बुरा था तब तो आज वह अत्यन्त ही भयानक है, क्योंकि विज्ञान और यांत्रिकता के कारण शक्ति का एकत्रीकरण आज बहुत आसान है।

अरस्तू ने बताया कि सम्पत्ति वैयक्तिक हो; किन्तु विधान निर्माता को लोगों में ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न करनी चाहिए जिससे वे उसका अन्य लोगों के लिए भी उपयोग करें। यह तभी संभव है जब उदारता और संयम के नियम का पालन किया जाय। यद्यपि सम्पत्ति नागरिकों के स्वत्व में रहेगी, तथापि राजकीय कार्यों के निमित्त कुछ जमीन राज्य के पास रहनी चाहिए। जहाँ तक सम्पत्ति के प्रयोग का प्रश्न है, अवश्य ही संयम के साथ आत्मिक कल्याण और सामाजिक विकास के लिए उसका

उपयोग करना ठीक है। आज के युग की मुख्य समस्या है कि जनसमूह के लिए वह व्यवस्था उत्पन्न की जाय जिससे उनका कल्याण सिद्ध हो सके। आज कुछ लोगों का ही ज्ञानात्मक और नैतिक अभ्युदय अभीष्ट नहीं है, अपितु सारे समाज के लोगों का। आज पूँजीवादी युग में, वैयक्तिक सम्पत्ति के शोषणकारी कुप्रभावों के देखते हुए अरस्तू के विचार की व्यावहारिकता में सन्देह होता है। सम्पत्ति वैयक्तिक हो और उसका उपयोग सामुदायिक, यह विचार श्रुतिप्रिय तो है; किन्तु बड़े पैमाने पर इसका क्रियान्वयन कैसे होगा, यह कठिन समस्या है। या तो यह स्वेच्छया होगा, किन्तु मानव-स्वभाव की स्वाभाविक एषणाओं को देखते हुए, इस प्रस्ताव का व्यवहारीकरण असंभव मालूम पड़ता है। यदि नियंत्रण के सहारे यह कार्य होना है तो वैयक्तिक सम्पत्ति की वैयक्तिकता और उसकी संकल्पमूलकता तथा नैतिकता का ही तिरोभाव हो जाता है।

संम्पत्ति के नाशकारी प्रभाव को देखते हुए ही मध्यकालीन ईसाई विचारकों ने सम्पत्ति का खंडन किया और राज्यप्रथा, दासप्रथा और वैयक्तिक सम्पत्ति को मानव-पतनप्रजनित घोषित किया। संत अम्ब्रोज ने न्यासवाद[१] का सिद्धान्त उपस्थित किया। न्यासवाद के अनुसार सम्पत्तिशाह सम्पत्ति के ट्रस्टी हैं, अर्थात् कार्यकारक हैं, उसके स्वत्त्व का अधिकार उन्हें नहीं है। ईसाई धर्मप्रोक्त इस न्यासवाद का आधुनिक समर्थन महात्मा गांधी में मिलता है। अरस्तू मुद्रा का प्रयोग केवल विनिमय के निमित्त करना चाहता था। द्रव्य के मुनाफे के लिए प्रयोग को वह नितान्त अनभिवांछित मानता था। ईसाई धर्मवेत्ताओं ने भी ऐसी ही विचारधारा प्रतिपादित की है। मुनाफाखोरी का खंडन समस्त मध्ययुगीन विचारकों में पाया जाता है। संत टामस ने कुछ अंश तक मुनाफे का समर्थन किया है। उसके अनुसार आयात-निर्यात करने वालों को कुछ वेतन मिलना ठीक है। बहुत जोखिम के काम में भी कुछ मुनाफा लेना संगत है। जान काल्विन ने कुछ अंश तक मुनाफा लेना ईसाईधर्म से पूर्णतः संगत बताया और इस प्रकार उसने पूँजीवाद का नैतिक और धार्मिक आधार ठीक किया। जिस प्रकार बढ़ते हुए पूंजीवाद का नैतिक और धार्मिक आधार काल्विन ने स्थापित किया, उसी प्रकार जान लाक ने उसका आर्थिक और सामाजिक आधार पुष्ट किया। लाक के मतानुसार जीवन, स्वतंत्रता और सम्पत्ति की सुरक्षा करने के लिए ही राज्य की व्यवस्था होती है।[२] डेविड ह्यूम के अनुसार भी कानूनी संगठन का

१. न्यासवाद = Trusteeship

२. John Locke: *A letter concerning Toleration* (Works Locke, II पृष्ठ २३६)। उद्धृत है: Laski, *A Grammar of Politics* पृष्ठ १८१.

प्रयोजन भाग्य और श्रम द्वारा अर्जित सम्पत्ति का सुरक्षण और उसका शांतिपूर्ण उपभोग करने की व्यवस्था करने में है।

काल्विन, लाक और ह्यूम ने पूँजीवाद के उद्भव और विकास का सैद्धान्तिक आधार तैयार किया। असमानता की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए रूसो ने बताया है कि सम्पत्ति का विकास उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण था। सम्पत्ति के अभिज्ञान के फलस्वरूप ही न्याय के नियमों की उद्घोषणा होती है।[1] मूलतः सम्पत्ति का स्रोत हस्तश्रम ही है। अपने ग्रंथ 'राजनीतिक अर्थशास्त्र' में रूसो ने बताया है कि सम्पत्ति का अधिकार अत्यन्त पवित्र मानव अधिकार है; क्योंकि नागरिक समाज का आधार इसी पर है।[2] सम्पत्ति तभी प्राप्त होती है जब इसके पीछे कानूनी अभिज्ञान या स्वीकृति हो, अन्यथा निरा परिग्रहण मात्र यह रहती है।[3] यद्यपि अपने कुछ ग्रंथों में रूसो ने वैयक्तिक सम्पत्ति का महत्वगान किया है, तथापि इसकी भयंकरताओं को देखते हुए अपनी कुछ कृतियों में उसने इसका पूरा खंडन किया है।

आज की जो बड़ी समस्याएँ सम्पत्ति से संबंध रखनेवाली हैं, उनके समाधान में लाक और रूसो से विशेष सहायता नहीं मिल सकती है। आधुनिक सभ्यता की बुराइयों को देखते हुए यह आवश्यक है कि दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से सम्पत्ति का प्रयोग कैसे हो, इसकी मीमांसा की जाय। आज सामाजिक और आर्थिक न्याय को ध्यान में रखते हुए कुछ आवश्यक नियमों का पालन आवश्यक है। अरस्तू, हेगेल और ग्रीन ने व्यक्तित्व, संकल्प, नैतिक विकास और सम्पत्ति का अन्योन्यानुबंधात्मक सम्बन्ध तो बताया है, किन्तु उनकी दृष्टि अल्पसंख्यकों तक ही सीमित थी। जनसमूह के व्यक्तित्व के विकास के लिए आर्थिक दृष्टि से एक निम्नतम सीमा का निर्धारण आधुनिक युग में अत्यावश्यक है। संजटिल सभ्यता के प्रवाह में आज इस निम्नतम सीमा की प्राप्ति प्रत्येक नागरिक को अवश्य कराई जानी चाहिए। राज्य का यह आवश्यक कर्तव्य है कि इस निम्नतम सीमा को प्रत्येक नागरिक के लिए सुलभ कर दे। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र न तो संन्यासियों के समान समस्त वित्तैषणा का त्याग करना सिखाता है और न तो यह अपरिकल्पित परिग्रह का ही पोषक है। यदि प्रत्येक नागरिक को जीवन-संघर्ष के निमित्त तैयार कराना है और यदि धनाधीशों के आर्थिक कुचक्रों को कम करना है तो प्रत्येक नागरिक को एक निश्चित जीवन-स्तर तक पहुँचाना अनिवार्य है। चैल्सीडन के फेलीयस का ऐसा प्रस्ताव था कि सम्पत्ति

१. Rousseau : *Discourse on the Origin of Inequalitties*, पृष्ठ २०१.
२. Rousseau : *Political Economy*, पृष्ठ २०४.
३. Rousseau : *Social Contract* पृष्ठ १६.

का समान विभाग और वितरण होना चाहिए।[1] किन्तु निरी समानता एक यांत्रिक प्रस्ताव है। यह ठीक है कि ज्ञान, शक्ति, अनुभव, मेधा और अन्तर्निहित क्षमता की दृष्टि से मानवगण असमान है। इस प्रकार असमान की वर्तमानता अवस्था के बावजूद कृत्रिम उपायों से मानवमात्र को आर्थिक दृष्टि से समान बनाना कठिन और असंभव मालूम पड़ता है। किन्तु यदि पूर्ण आर्थिक समानता एक कृत्रिम और अव्यावहारिक विचार है तो दूसरी ओर धनसम्बन्धी भीषण असंगतियों को हटाना भी कम आवश्यक नहीं है। एक ओर धन का केन्द्रीकरण और दूसरी ओर भयंकर निर्धनता, इनके बीच की खाई को कम करना आवश्यक है। अतएव पूर्ण समानता के बदले आंशिक उचित सीमा तक समानता आवश्यक है। जीवन की मुख्य आवश्यकताएँ प्रत्येक नरनारी के लिए समान हैं। जीवन की पूर्णतः आधारभूत आवश्यकताएँ प्रत्येक नागरिक की पूरी हो जानी चाहिए। उसके बाद जहाँ तक कम आवश्यक और विलास की सामग्रियों का सम्बन्ध है, उनका प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रत्येक नागरिक क जीवन की आधारभूत आवश्यकताएँ पूर्ण हो जायँ, इसके निमित्त धन की ऊपरी सीमा का निर्धारण भी आवश्यक है। इस प्रकार की उच्चतम या अन्तिम काष्ठा के निर्धारण का यह परिणाम होगा कि उसके परे की कोई धनराशि स्वभावतः ही सामाजिक उपयोग के लिए राज्य द्वारा ले ली जायगी। इस सीमा के परे जो कुछ होगा, उसे बिना मुआवजा दिये ही राज्य ले सकता है, क्योंकि पूर्वतः ही अन्तिम सीमा का निर्धारण किया जा चुका है।

वेतनक्रम की आज जो व्यवस्था है, वह नितान्त असंगत है। वेतनक्रम में पूर्ण साम्य स्थापित करना हमें काल्पनिक प्रतीत होता है तथापि आज जो भयानक असमानता है, उसका अन्त होना चाहिए। आश्चर्य की बात है कि यथार्थवाद के नाम पर साम्यवादी रूस में वेतनक्रम में इतना महान् अन्तर स्थापित किया गया है। यदि

---

१. Aristotle : *Politics* II : "Phaleas of Chalcedon, who was the first to affirm that the citizens of a state ought to have equal possessions. He thought that in a new colony the equalization might be accomplished without difficulty, not so easily when a state was already established ; and that then the shortest way of compassing the desired end would be for the rich to give and not to receive marriage portions, and for the poor not to give but to receive them."

वेतनक्रम में अतिशय अन्तर का रखना असंगत है तो दूसरी ओर पूर्ण समानता का आदर्श भी भावमूलक है। दार्शनिकता का अर्थ है--वस्तु-तत्त्व का यथातथ्य ज्ञान। वाह्य आवरण का ज्ञान दार्शनिक ज्ञान नहीं है। अतएव सामाजिक वस्तुस्थिति को देखते हुए हमें एक ओर तो महान् अन्तरों को कम करना है और दूसरी ओर कार्य के अनुपात में वेतनदान करना है। कार्य के अनुपात का यह मतलब नहीं है कि वर्तमान पूँजीवादी प्रथा का समर्थन किया जाय। कार्य के अनुपात का मापदण्ड स्थापित करने के लिए सामाजिक हस्तक्षेप और राजकीय विधान अपेक्षित है। मापदण्ड भूतकल्याण-वाद ही हो सकता है। सामाजिक कल्याण का यह तकाजा है कि मेहतरों और डाक्टरों के लिए जो वेतनक्रम स्थापित है, उसे भूतकल्याणवाद की दृष्टि से असंगत मानते हुए परिवर्तित किया जाय। कार्यानुकूल वेतन का अर्थ है कि कार्य के महत्त्व का निर्णय करने के लिए समाज में शिक्षात्मक प्रबोध हो। स्तरग्रस्त, प्राचीन शृंखलाबद्ध सामाजिक रूढ़ियाँ हमें अपेक्षित नहीं हैं। दूसरी ओर यह कहना कि आवश्यकताओं के अनुसार वितरण हो, यह भी अव्यावहारिक और काल्पनिक है। आवश्यकताओं का निर्णय कौन करेगा ?—व्यक्ति या समाज। वैयक्तिक निर्णय से स्वेच्छाचारिता तथा विशृंखलता उत्पन्न होगी। सामाजिक निर्णय का अन्ततः अर्थ होगा—यांत्रिकता तथा राजकीय शक्ति का हस्तक्षेप। अतएव, यद्यपि आवश्यकतानुसार वेतनोपभोग एक पवित्र धार्मिक सिद्धान्त है, तथापि जबतक सारे समाज को परिवारवत् या आत्मवत् समझने के निमित्त आवश्यक आमूल स्वभाव-परिवर्तन नहीं होता है तबतक इसका क्रियान्वयन अत्यन्त कठिन है।

सामाजिक न्याय और आर्थिक सुरक्षा की दृष्टि से यह अत्यन्त आवश्यक है कि राज्य के द्वारा बुढ़ापा, बीमारी, खतरे आदि के लिए नागरिकों का बीमा कराया जाय। पहले संयुक्त परिवार के सहारे इनका समाधान हो जाता था। किन्तु आजकल सामाजिक संजटिलताओं को देखते हुए आवश्यकता इस बात की मालूम पड़ती है कि मजदूरों और कृषकों का भी अनिवार्य बीमा हो। निश्चित ही इसके लिए बड़े पैमाने पर कार्य करना होगा, किन्तु सामाजिक न्याय और व्यापक समन्वयात्मक संध्वनि के लिए यह आवश्यक है। आज के दरिद्र देशों में परिवार के कमानेवाले सदस्य की मृत्यु से जो हाहाकार उपस्थित होते हैं, उनकी कल्पना करके ही रोमांच हो जाता है।

उद्योगों पर नियंत्रण भी आवश्यक है। नियंत्रण समस्त उद्योगों के निमित्त वांछित है। उद्योगों में किस प्रकार मानव-कल्याण-सम्बन्धी प्रश्नों का समाधान किया जा रहा है, इसकी पूरी खोज-खबर राज्य को चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर दण्ड का प्रयोग कर भी सामाजिक और आर्थिक न्याय के प्रश्नों का हल निकालना चाहिए।

सामाजिक न्याय का यह तकाजा है कि समस्त नागरिकों का आत्मिक विकास हो। किसी वर्ग-विशेष के स्वार्थों की सिद्धि के लिए जनता की उचित माँगों को कुचलना सरासर अन्याय है। अतएव सार्वत्रिक औद्योगिक नियंत्रण तो अत्यन्त अभीष्ट है। उद्योगशालाओं में निश्चित स्तर की योग्यता आवश्यक है। जिस प्रकार डाक्टर या इंजीनियर या प्रोफेसर बनने के निमित्त एक सीमा तक प्रमाणित योग्यता प्राप्त करना पड़ती है, उसी प्रकार उद्योगों में योग्यता को प्रश्रय मिलना चाहिए। दूसरी ओर जैसे अखिल देशीय संघों के द्वारा डाक्टरों तथा कानून-पेशेवालों के लिए कुछ अनिवार्य नैतिक नियम और पाबन्दियाँ मानी गई हैं, उसी प्रकार उद्योगों में भी होना चाहिए। जिस प्रकार शपथ खाने के बाद ही डाक्टरों को अमरीका में डिग्री मिलती है और उनसे आशा की जाती है कि कुछ अवश्यंकर्तव्य नैतिक नियमों का वे पालन करेंगे, उसी प्रकार का चारित्रिक विकास समस्त उद्योगों में भी होना चाहिए।[१] किन्तु इस प्रकार के मापदण्ड का अनुवर्तन केवल उद्योगपतियों के नैतिक रूपान्तर सम्बन्धी इलहाम के दिन के लिए स्थगित नहीं किया जा सकता। सामाजिक और आर्थिक न्याय को ध्यान में रखते हुए इस नियम और मापदण्ड को, प्रवरों की सहायता से स्थिर कर, राजकीय दण्ड और नियंत्रण के सहारे उनका पालन कराया जाना चाहिए।

यदि समस्त उद्योगों पर नियंत्रण अभिप्रेत है तो दूसरी ओर आवश्यक उद्योगों के ऊपर सामाजिक स्वत्व प्राप्त करना और उनका सामाजिक संचालन आवश्यक है। यातायात के साधन, बैंक, लोहा, इस्पात, तार आदि का समाजीकरण अवश्य होना चाहिए। सामाजिक न्याय को ध्यान में रखकर इस दिशा में न्यूजीलैण्ड, ब्रिटेन आदि में काफी प्रगति हुई। किन्तु अमरीका अभी विशुद्ध पूँजीवाद का केन्द्र बना हुआ है। तथापि टेनेसी-घाटी योजना वहाँ भी पूँजीवाद और समाजवाद के बीच एक मध्यवर्ती मार्गान्वेषण

---

१ तुलनीय–R. H. Tawney, *The Acquisitive Society* पृष्ठ १११: "If industry is to be organized as a profession, two changes are requisite, one negative and one positive. The first is that it should cease to be conducted by the agents of property-owners for the advantage of property-owners and should be carried on, instead for the service of the public. The second is, that, subject to rigorous public supervision, the responsibility for the maintenance of the service should rest upon the shoulders of those, from organizer and scientist to labourer, by whom in effect the work is conducted."

का सुन्दर उदाहरण है। अमेरिका के विचारकों को भी यह पता चल गया है कि अनियंत्रित व्यक्तिवाद से कार्य नहीं चलेगा। वहाँ भी शर्मन कानून, प्रतिट्रस्ट कानून आदि ने औद्योगिक केन्द्रीकरण का विरोध किया। अमरीका में इधर चालीस वर्षों में अनेक आयोगों को स्थापित कर—उदाहरणार्थ इन्टर स्टेट कामर्स कमीशन (जिसकी स्थापना १८८७ में हुई थी), फेडरल ट्रेड कमीशन, सीक्यूरीटीज एण्ड एक्सचेंज कमीशन—उद्योगों के नियत्रंण का प्रयत्न किया है।[१] किन्तु आवश्यक उद्योगों का समाजीकरण वहाँ अत्यन्त असंगत माना गया है। तथापि आणवी शक्ति का एकाधिकार संघ-राज्य के हाथ में ही है। युद्ध और आर्थिक संकट के अवसर पर वहाँ के राज्य को भी औद्योगिक जीवन में हस्तक्षेप करना ही पड़ा है। अपार धनराशि का आधिपत्य रखने के कारण अमरीका में यह भले ही संभव हो कि आवश्यक उद्योगों का समाजीकरण न हो—और यह भविष्य ही बतायेगा कि कहाँ तक अमरीका में विशुद्ध पूँजीवाद चल सकेगा, तथापि यूरोप और एशिया के गरीब देशों के लिए आवश्यक उद्योगों को पूँजीवादी मुनाफा-पद्धति से चलाना, सामाजिक न्याय की दृष्टि से घातक है। दूसरी ओर, एशिया का वास्तविक औद्योगीकरण अभी आरम्भ हुआ है। अनेक महत्त्वपूर्ण नए उद्योगों के लिए अपेक्षित वैयक्तिक पूँजी का यहाँ अभाव है और इसलिए इन उद्योगों को, प्रारम्भ से ही, राज्यों को ही चलाना होगा। सामाजिक हित के लिए निरा राज्यीकरण अपेक्षित नहीं है; क्योंकि तब संभव है कि वैयक्तिक पूँजीवाद के बदले राज्य-पूँजीवाद का आगमन हो जाय। समाजीकरण का मतलब केवल राज्य द्वारा स्वात्वप्राप्ति और संचालन ही नहीं है, अपितु सामाजिक कल्याण के निमित्त वस्तुओं का उपभोग भी है।

दार्शनिक राजनीति शास्त्र सम्पत्ति के बुरे परिणामों को देखते हुए यह मानता है कि वैयक्तिक लिप्सा के उद्दाम वेगों से रक्षा आवश्यक है। मानव एकता और समानता में विश्वास रखते हुए दार्शनिक राजनीति शास्त्र का यह प्रस्ताव है कि सामाजिक वस्तुओं का उत्पादन जनकल्याण की दृष्टि से ही हो। वस्तुओं का तपस्यात्मक अपरिग्रह, कुछ विशिष्ट मानवों के लिए भले ही सम्भव हो किन्तु जन समाज के लिए नितान्त अपरिग्रह और विलासिता के बीच का मध्यवर्ती मार्ग ही श्रेयस्कर है। आज उस पुरातन सभ्यता की ओर फिर प्रत्यावर्तन करना, जहाँ पूर्ण सादगी, अकृत्रिमता और ग्राम्य जीवन हो, संभव नहीं है। अतएव सम्पत्ति पर जो आक्षेप टामस मोर,

१. Fainsod and Gordon: *Government and the American Economy*; Robert E Cushman : *The Independent Regulatory commissions.*

कैम्पानला आदि ने किये हैं, उनका व्यावहारिक प्रयोग संभव नहीं है।[1] तपस्या और साधना तथा अपरिग्रह उच्चतम वैयक्तिक आदर्श हैं, किन्तु बौद्ध धर्म और गीता में अनुमोदित सामूहिक यज्ञ की भावना पर ही सामाजिक कल्याण सिद्ध हो सकता है। गीता में बताया है कि यज्ञ इष्टसाधन और प्रसवन का मार्ग है। यज्ञ का अर्थ है शक्तियों का सामुदायिक उपयोग। यज्ञ शब्द से यह मतलब नहीं है कि वैदिक कर्म-काण्ड का अभी समर्थन किया जा रहा है। गीता में यज्ञ का जो नैतिक अर्थ किया गया है, वह आधुनिक सामाजिक और आर्थिक न्याय का प्रायः समानार्थक ही है। अतएव आज आवश्यकता है कि वैज्ञानिक और तांत्रिक पद्धतियों का प्रयोग कर उत्पादनराशि का संवर्धन हो और फिर उनका न्यायोचित वितरण। केवल वितरण की समस्या पर विचार करना जैसा प्रूधों और जॉन मिल ने किया है, अपूर्ण है। विज्ञान ही उत्पादन को प्रभूत वेगवान और फलप्रद बना सकता है। उत्पादन-राशि का न्यायोचित सर्वकल्याण-साधक वितरण ही शांति, सुरक्षा और न्याय का सामंजस्य सुलभ कर सकता है। सामाजिक कल्याण और विकास वैज्ञानिक उन्नति और नैतिक पुनश्शिक्षण दोनों के पारस्परिक सहयोग से ही साध्य हो सकता है।

---

१. Thomas More: Utopia ; Companella: The City of the Sun.

द्वादश अध्याय

प्रजातंत्र और मार्क्सवाद

प्रजातंत्र या लोकतंत्र या जनतंत्र, ये बड़े आकर्षक शब्द हैं। समस्त जनता स्वतः अपना राजनीतिक भाग्य निर्णय करे, यह एक विराट् आदर्श है। प्रजातंत्र शब्द से एक प्रकार के विकास, उन्मुक्ति आदि की भावना उद्भूत होती है। प्राचीन काल में प्रजातंत्र, अभिजाततंत्र, देवतंत्र, एकतंत्र आदि विभिन्न राज्य-प्रणालियों में अन्तर किया जाता था। किन्तु आज के राजनीतिक चैतन्य के युग में जिन देशों में औपचारिकता की दृष्टि से प्रजातंत्र नहीं है, वहाँ भी राज्य और सरकार को जनता के विश्वास को अपनी ओर आकृष्ट करना होता है। आज का युग प्रजातंत्रीय समानता का युग है। प्रजातंत्र और गणतंत्र में अन्तर है। प्राचीन भारत में पाणिनि, यूनानी ऐतिहासिकों और कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनुसार प्रायः समस्त उत्तरी भारत में गणतंत्र थे।[1] गणतंत्र का अर्थ है संघराज्य। गणतंत्र में राजा नहीं शासन करता था। इसमें अभिजात कुलों का शासन होता था। अभिजातत्व का निर्णय वांशिक परस्पर या धनराशि पर अधिकार के सहारे होता था। गौतम बुद्ध प्रसिद्ध शाक्य गणतंत्र में उत्पन्न हुए थे। बौद्ध साहित्य में लिच्छविगणतंत्र और मल्ल गणतंत्र का उल्लेख आता है। गणतंत्र और लैटिन भाषा का 'रेस पुबलिका', जिसे आजकल रिपब्लिक कहते हैं, समानार्थक हैं। प्रजातंत्र या जनतंत्र, यूनानी भाषा के शब्द डिमोक्रेसी (जिसका आजकल की यूरोपीय भाषाओं में भी पूरा

---

१. पाणिनि–अष्टाध्यायी; कौटिल्य–अर्थशास्त्र।

"संघलाभो दण्डमित्रलाभानामुत्तमः। संघाभिसंहत्वादधृष्यान्परेषांताननुगुणान् भुंजीत सामदानाभ्याम्। द्विगुणान्भेददण्डाभ्याम्।

कम्बोजसुराष्ट्रक्षत्रियश्रेण्यादयो वार्ताशस्त्रोपजीविनः। लिच्छिविकवृजिकमल्लकमद्रककुकुरकुरूयपांचालादयो राजशब्दापजीविनः।... राजशब्दभिरवरुद्धमत्रक्षिप्तं वा कुल्यमभिजातं राजपुत्रत्वे स्थापयेत् ... संघेष्वेवमेकराजोवर्तेत। संघाश्चाप्येवमेकराजास्तेभ्योऽतिसंधानेभ्यो रक्षेययुः

सघमुख्यश्च सघषु न्यायवृत्तिहितः प्रियः।
दान्तो युक्तजनस्तिष्ठेत्सर्वचित्तानुवर्तकः॥" (कौटिल्य अर्थशास्त्र, ११।१)

व्यवहार होता है), का समानार्थक है। जनतंत्र में संप्रभुता जनता के हाथ में सन्निहित मानी जाती है। प्राचीन भारत में गणतंत्र की स्थिति, साहित्यिक, ऐतिहासिक और मुद्रित आधारों पर प्रमाणित है, किन्तु जनतंत्र या लोकतंत्र या प्रजातंत्र का कोई उल्लेख नहीं आता है। अमेरिकन लेखक मैडिसन ने जनतंत्र और गणतंत्र का भेद निर्दिष्ट करते हुए बताया है कि गणतंत्र प्रातिनिधिक सरकारशाही है। अर्थात् इसमें जनता के प्रतिनिधि सरकार का कार्यभार चलाते हैं। जनतंत्र वह पद्धति है जिसमें जनता स्वयं प्रत्यक्षतः शासन करती है। मैडिसन के बताये अर्थ को व्यक्त करने के लिए आजकल प्रातिनिधिक जनतंत्र और विशुद्ध जनतंत्र का व्यवहार किया जाता है। रूसो विशुद्ध जनतंत्र का पोषक था।[१] आजकल के बृहत्काय राज्यों के लिए अनुपयुक्त होकर इस विशुद्ध जनतंत्र की प्रक्रिया स्विटजरलैण्ड के कुछ कैन्टनों में ही केवल व्यवहार में लाई जाती है, अन्यत्र नहीं।

आसवाल्ड स्पेंगलर के मतानुसार जनतंत्र नागरिक सभ्यता की देन है।[२] उसके

१. Rousseau, *Social contract III*, 3 : "..The Sovereign may commit the charge of the government to the whole people or to the majority of the people, so that more citizens are magistrates thana re more private individuals. This form of government is called *democracy*."

२. Spengler : *Decline of the West* II, पृष्ठ–९६-९७ : "It is in resistance to the feudal powers of blood and tradition that the bergherdom or bourgeoisie, the intellectual class, begins to be cosnscious of its own separate existence. It upsets thrones and limits old rights in the name of reason and above all in the name of the people, which henceforward means exclusively the people of the city. *Democracy is the political form in which the townsman's outlook upon the world is demanded of the peasantry also*. The urban intellect reforms the great religions of the springtime and sets up by the side of the old religion of noble and priest,. the new religion of the Third Estate, liberal science. The

मतानुसार प्राक्सांस्कृतिक युग में न तो कोई राजनीति थी और न कोई राज्य था। प्रारम्भिक सांस्कृतिक युग में सामन्तशाही, अर्थशास्त्र और उसके पोषक कुलीन-वर्ग और पादरीवर्ग का आगमन हुआ। अन्तिम सांस्कृतिक युग में तृतीय श्रेणी अर्थात् मध्यमवर्ग का जन्म हुआ जिसने भू-सम्पत्ति की प्रतिक्रिया में अर्थ या द्रव्य (मनी) की शक्ति का उपयोग किया। द्रव्य का अतिरंजित प्रयोग अन्तिम सांस्कृतिक युग के सभ्यता के युग में परिवर्तित होने का सूचक है। इस काल में प्रजातंत्र का पूरा विकास होता है। पश्चिमी सभ्यता में अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त में प्रजातंत्र का विकास हुआ और १८०० से २००० तक इसका घोर रूप देखने को मिलेगा। इस काल में जनता और विशेषत: उसके निम्न स्तरों का उदय होता है[१]। स्पेंगलर की, इस समस्त इतिहास को चार स्पष्ट भागों में विभक्त करने की प्रणाली का समर्थन नहीं करते हुए भी उसकी यह सूझ कि ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर जनतंत्र, नागरिक मनोवृत्ति का परिचायक है, मुझे संगत मालूम पड़ती है। प्राचीन एथेन्स या मध्यकालीन फ्लोरेन्स या आधुनिक ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका—कहीं पर देखें, विकासकाल में प्रजातंत्र ग्रामीण-सभ्यता से नहीं, अपितु नगरों में एकत्रित जनसमूह की मनोवृत्ति और राजनीतिक वृत्ति का सूचक रहा है। एक बार विकास हो जाने पर, अन्यत्र ग्राम आदि में भी उसका प्रसारण हो सकता है, जैसे ब्रिटेन, अमरीका और भारत में हुआ है। किन्तु उद्भव एक प्रश्न है, प्रसारण दूसरा।

जनतंत्र या प्रजातंत्र की परिभाषा अनेक प्रकार से की गई है। लिंकन के अनुसार यह जनता का, जनता के लिए और जनता के द्वारा शासन है। जनता या प्रजा का शासन, जनतंत्र को मानना आकर्षक प्रतीत होता है। जनता से मतलब देशविशेष में नवास करनेवाली समस्त प्रजा या व्यापक जनसमूह से है। किन्तु शासन जनता के लिए होकर भी जनता के द्वारा होना कठिन है। समाज-शास्त्रीय दृष्टि से देखने पर मालूम पड़ता है कि शासन अल्पजनसाध्य प्रक्रिया है[२]। समस्त जनता के द्वारा

city assumes the lead and control of economic history in replacing the primitive values of the land, which are for ever inseparable form of life and thought of the rustic, by *the absolute idea of money* as distinct from goods."

१. Oswald Spengler, *The Decline of the West* II पृ० ३२५–४६६.

२. Vilfredo Pareto, *Mind and Society*; G. Mosca, *The Ruling Class*,

शासन असंभव है[१]। भारत के पैंतीस करोड़ या अमरीका के सोलह करोड़ नागरिक किस प्रकार स्वतः शासन-क्रिया में प्रत्यक्ष भाग ले सकते हैं ? मध्ययुग और आधुनिक यूरोपीय युग के प्रारम्भ में जन या जनता (पिपुल) शब्द से यह अर्थ ग्रहण किया जाता था कि इसमें नेताओं, जैसे कुलीनवर्ग अर्थपति आदि, का प्राधान्य रहना चाहिए[२]। संत टामस, मारसिलियस, बुकानन आदि लेखक 'नैसर्गिक' नेताओं के द्वारा जनता का वैधिक प्रकाशन पूर्ण स्वाभाविक मानते थे। किन्तु आज नैसर्गिक नेतृवाद का युग बीत गया। विज्ञान और प्रजातंत्रीय परम्परा के विकास के कारण आज जनता चेतन है और यद्यपि पूर्ण क्रियाशील नहीं है तथापि प्रकृतितः कुछ लोग नेता हैं, ऐसा विचार आजकल नहीं स्वीकार किया जाता है। जनयुग में जनता की अपरिमित संख्या को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि जनता विधायकों का निर्वाचन करती है और इनकी कार्यकारिता क निमित्त कुछ आधारभूत नीति का निर्देशन करती है। नीति का पूरा क्रियान्वयन विधायकों की अध्यक्षता में, उत्तरदायित्वपूर्ण मंत्रियों की अधीनता में, सचिवमण्डल और अन्य राजकीय कर्मचारी करते हैं। परन्तु जनता के द्वारा आधारभूत नीति-निर्देशन के अतिरिक्त राज्यकार्य के दैनिक भार को सँभालना अतिशय कठिन ही नहीं, असंभव है। प्राचीन यूनान के छोटे-छोटे शहरों में यह संभव था और रूसो इसी का स्वप्न देखता था; किन्तु विशाल राज्य-क्षेत्रों में जनता का प्रत्यक्ष रूप से राज्यकार्य सम्पादन करना असंभव है। यद्यपि जनतंत्र की यह व्याख्या कि वह जनता का राज्य है, बड़ा श्रुतिप्रिय और मनोहारी मालूम पड़ता है। किन्तु जनता द्वारा नीतिनिर्देशन और समय-समय पर विधायकों और कहीं-कहीं कार्यकारिणी के मुख्य नेता का निर्वाचन प्रजातंत्र का प्राण है। जनता का अर्थ केवल निम्नस्तर के लोग, ऐसा निर्वचन कर कुछ विदेशी आलोचकों ने प्रजातंत्र का

१. Rousseau, *Social Contract* III, 4, : 'If we take the term in the strict sense, there never has been a real democracy, ,and there never will be. It is against the natural order for the many to govern and the few to be governed. It is unimaginable that the people should remain continually assembled to devote their time to public affairs, and it is clear that they cannot set up commissions for that purpose without the form of administration being changed."

२. G. Mosca, *The Ruling Class*, पृ०, ३८०.

निरर्थक उपहास किया है। अंगरेजी में जनता के लिए 'पिपुल' शब्द का प्रयोग किया जाता है। जब निम्नस्तरीय और अशिक्षित, अपरिमार्जित जन-पुंज का वर्णन करना होता है तब 'मास या मासेज' शब्द का प्रयोग होता है। स्पेन देश के दार्शनिक ओरटेगा गैसेट ने कहा है कि 'मासेज' (जनपुंज) का विद्रोह यूरोपीय सभ्यता के लिए बड़ा खतरा है[१]। स्पेंगलर के अनुसार 'मासेज' का उद्भव आध्यात्मिक शक्तिहीनता, थकान और सामष्टिक विशृंखलता और विच्छिन्नता का सूचक है। मासेज शब्द का प्रयोग, जनतंत्र के सम्बन्ध में करना असम्यक् है। क्योंकि इस शब्द का प्रयोग करते ही हमारे मस्तिष्क में अपरिमार्जित वृत्तिवाले एक जनपुंज का दृश्य सामने आ जाता है जो अर्धचेतन और मुख्यतया भावनात्मक पद्धति से मेषन्याय के अनुसार कार्य करता है। मासेज या जनपुंज तिरस्कारपूर्ण शाब्दिक व्यंजना का द्योतक है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र आध्यात्मिक और नैतिक मानववाद का पोषक है। इसके नियामक सूत्र विराट् श्रेय हैं जिनमें मानव की समानता भी एक मुख्य श्रेय है। सांसारिक अभ्युदय और व्यक्तिगत सिद्धिप्राप्ति की दृष्टि से मनुष्यों में महान् अन्तर मानते हुए भी जनतंत्र का नियामक श्रेय, मानवतः सब मनुष्यों को समान मानना है। यह एक आधारभूत धार्मिक और दार्शनिक दृष्टिकोण का सूचक है। राजनीतिशास्त्र का दार्शनिक विवेचन यह स्पष्ट करता है कि अशिक्षा, गरीबी, बेरोजगारी के कारण अवैयक्तिकीकृत अर्धचेतन प्रक्रिया के द्वारा कार्य करना या तथाकथित नेताओं के नारों का वशवर्ती हो जाना, यह एक सामाजिक अवस्थाविशेष का सूचक है, यह मानव के नैसर्गिक स्वरूप का बोधक नहीं है। अतएव जनता को केवल भीड़ मानना या असम्यवृत्तिसम्पन्न या पशुवत् मानना उन प्रजातंत्रविरोधी प्रतिक्रियावादियों का विचार है जो अपनेको एक उच्चाशय संस्कृति का संदेशवाहक मानते हैं या शक्तिधर तानाशाहों की चाटुकारिता में उनके शक्तिसंवर्धन का जनता को एक साधनमात्र मानते हैं। नित्शे और स्पेंगलर शक्तिवाद के समर्थक थे। उनके अनुसार राज्यनीतिक कर्म, शक्तिप्रवाह से नियंत्रित होता है। जब कोई दुधर्ष दण्डधर भयंकर संग्राम में विजय प्राप्त करता है या संग्राम के मध्य में किसी खतरे की आशंका से नीतिनिर्माण करता है तब उस समय राजनीतिक शक्ति का निखरा स्वरूप सामने आता है। इस प्रकार की कल्पनाएँ जर्मन इतिहास-वेत्ताओं और समाज शास्त्रियों में पाई जाती हैं। त्रित्शे, टाइटश्के, स्पेंगलर आदि इसी परम्परा के समर्थक थे। इस प्रकार का मानववाद का विरोध आध्यात्मिक शून्यता का सूचक है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र यह मानता है कि मानव का राजनीतिक स्वरूप अभिव्यक्त

१. Ortega Y. Gasset, *The Revolt of the Masses*.

करने के लिए प्रजातंत्रीय पद्धति से आधारभूत नीति का निर्धारण कर के ही स्वतंत्रता, समानता, सामाजिक न्याय की सिद्धि हो सकती है तथा आध्यात्मिकता के मूल तत्व संसंजनात्मक अनुभूतिसम्पन्न जीवन की परिसिद्धि चरितार्थ हो सकती है। जनता स्वयं शासन न करते हुए भी निर्वाचन पद्धति के सहारे सरकार को वैधानिक रीति से उत्तरदायित्वपूर्ण बना सकती है। यही प्रजातंत्र का मूल विचार है।

किसी विराट आदर्श का सारे देश में क्रियान्वयन करना अत्यन्त कठिन कार्य है। आज की कूटनीतिक, सैन्यसम्बन्धी तथा आर्थिक समस्याएँ अत्यन्त गम्भीर और पेचीदगीपूर्ण हैं। रूस से व्यापारिक नीति कैसी हो तथा अमरीका के साथ राजकीय सम्बन्ध कैसा रहे—इन प्रश्नों की बारीकियों का सुझाव विशारद-गण या दक्षसमिति ही कर सकती है। जनतंत्र की मूल समस्या यह है कि किस प्रकार वह सामाजिक और मानसिक अवस्था प्राप्त की जाय जिससे प्रवरगणों और जनता के बीच पारस्परिक सम्बन्ध सुगठित हों। केवल दक्षवाद या प्रवर समिति का नारा लगाना, नौकरशाही का दृश्य उपस्थित कर देगा। सरकार सुचारुरूप से कार्य कर सके, केवलमात्र यही अपेक्षित नहीं है। कार्यदाक्ष्य तो एकतंत्र और अभिजाततंत्र में भी हो सकता है। किन्तु इस कार्यदाक्ष्य को जनमत पर आधारित करना ही जनतंत्र का उद्देश्य है। जनता ही उस संगठित नीति और मौलिक सूत्रों का प्रणयन कर सकती है जिसको दृष्टिगत कर प्रवरगण और नौकरशाही (या जिसे कौटिल्य की भाषा में अध्यक्षगण कह सकते हैं) अपनी क्रियाओं को आदर्श प्रदान कर सकते हैं। अतएव जनता के मूलभूत आदर्श के संरक्षण के लिए ही प्रवरवाद और अध्यक्षवाद का समर्थन किया जा सकता है। नौकरशाही का यह सबसे बड़ा दुर्गुण है कि वह निहित स्वार्थों और वर्तमान सत्ताशाही का समर्थन करने लगती है। आवश्यकता इस बात की है कि जनता के मौलिक श्रेयों के परिरक्षण के लिए प्रवरता और दक्षता का उपयोग हो। दाक्ष्य साधन है, साध्य नहीं। जनतंत्र का मूल है--जनता द्वारा अपने अभिकर्त्ताओं का निर्वाचन[1]।

१ अरस्तू ने प्रजातंत्र के विभिन्न प्रकारों और रूपों का बड़ा विशद विवेचन किया है। उसके अनुसार प्रजातंत्र के निम्नलिखित भेद हैं:—

(क) जहाँ विधि की संप्रभुता है और आवश्यकता पड़ने पर ही जहाँ नागरिक परिषदों में उपस्थित रहते हैं। जिन लोगों के पास अपेक्षिक साम्पत्तिक साधन हैं उन्हें शासन-कार्य में भाग लेने का अधिकार है।

(ख) जहाँ विधि की संप्रभुता है, जहाँ प्रत्येक नागरिक को जो जन्मना अधिकृत है, शासन-कार्य में अधिकार है।

धारा-सभा के सदस्य अपनेको जनता का शासक और नियंत्रक न समझ कर अपने को अभिकर्ता माने या, प्रशिया के सम्राट फ्रेडरिक द्वितीय के शब्दों में अपनेको जनता का भृत्य समझे। रूसो ने बताया है कि संप्रभुता अप्रतिहार्य और अप्रतिदातव्य है; किन्तु राजकीय शक्ति का प्रत्यायोजन किया जा सकता है। यदि धारासभा के सदस्य प्रत्या-युक्त शक्ति के आधार पर कार्य करें और सचिवगण इस सदस्यों में से निर्वाचित मंत्रिगणों के अधीन हों, तो कहा जा सकता है जनता की संप्रभुता का आधारभूत प्राधान्य है। अमरीका में राष्ट्रपति का चुनाव तथा धारासभा के सदस्यों का चुनाव जनता करती है और इस प्रकार अपनी संप्रभुता को व्यक्त करती है।

जनता की संप्रभुता का तात्पर्य है--राज्य के अधिकार पर सीमानिर्धारण करना। प्रजातंत्र की यह मान्यता है कि समष्टि राज्य की अपेक्षा श्रेयसी है। मानव के समस्त

(ग) जहाँ समस्त स्वतंत्र पुरुषों को शासन-कार्य-संचालन का अधिकार है, वहाँ भी विधि की संप्रभुता है।

(घ) जहाँ बहुसंख्यक गरीबों का राज्य है, वहाँ विधियों का प्राधान्य नहीं रहता है।

(च) जहाँ समस्त नागरिक, एक ही परिषद् में नहीं बैठते हैं, अपितु बारी-बारी से शासन-कार्य में भाग लेते हैं।

(छ) जहाँ नागरिकों की एक परिषद रहती है। परिषद् निम्नलिखित कार्यों के सम्पादन के लिए बैठती है:—

(१) कार्यकारी अध्यक्षों का निर्वाचन (२) विधि-निर्माण (३) युद्ध और शान्ति के सम्बन्ध में राय देना।

(ज) जहाँ नागरिकों की परिषद् में निम्नलिखित कार्यों का सम्पादन होता है।—
(१) विभिन्न पदों के लिए कर्मचारियों का निर्वाचन (२) युद्ध और शांति के सम्बन्ध में विचार। अन्य विषय निर्वाचित कार्यकारी अध्यक्षों के द्वारा सम्पन्न होते हैं।

(झ) जहाँ समस्त नागरिक मिलकर सब विषयों पर विचार करते हैं। कार्यकारी अध्यक्ष, प्रजातंत्र के इस रूप में कोई निर्णय नहीं करते।

(ट) कृषि-प्रधान प्रजातंत्र:—जहाँ नागरिकों का अधिकांश कृषि और पशु-पालन से जीवन-निर्वाह करता है। अरस्तू के अनुसार प्रजातंत्र का यह सर्वश्रेष्ठ रूप है।

(ठ) मेषपालकप्रधान प्रजातंत्र—

(ड) व्यापारी-प्रधान प्रजातंत्र

(ढ) उग्र प्रजातंत्र जहाँ वयस्क मताधिकार है।

सामूहिक अन्तःसम्बन्धों तथा अन्तःक्रियाओं की समग्रता का नाम है— समाज अथवा समष्टि। समष्टि का मानव के जीवन से घना और व्यापक तथा गम्भीर सम्बन्ध है। जनता और जनसमष्टि ही प्रजातंत्र में मुख्यस्थानीय है। सरकार तो उसका अभिकर्ता है। जब राज्य समष्टि का एक भागभूत रूप है और रूप जब राज्य में नियंत्रणात्मक सम्बन्धों का ही परिग्रहण होता है तब राज्य को मानव का एकमात्र उपासन-केन्द्र कदापि नहीं स्वीकृत किया जा सकता है। प्रजातंत्र की सफलता इसी में है कि राज्य का पूर्ण समाधार समष्टि को बनाया जाय। समष्टि की जीवनचेतना से अनुप्राणित होना ही प्रजातंत्रीय राज्य का उद्देश्य हो सकता है। इसके लिए अपेक्षित है कि नागरिकगण अपने जीवन में अवकाश तथा स्वतंत्रता का अनुभव करें। नागरिक स्वच्छन्दता का आधार है—राज्य का सामष्टिक मूलादर्शों में निष्ठ होना।

किन्तु समष्टि की उद्भावना का यह अर्थ नहीं है कि बहुमत का राज्य हो। ब्राइस, डायसी आदि ने प्रजातंत्र को बहुमत का राज्य कहा है; किन्तु प्रजातंत्र का अर्थ बहुच्छन्दवाद करना असंगत है। सौ मनुष्यों की उपस्थिति में एकावन मनुष्य किसी प्रस्ताव को पास कर दें और वही विधि बन जाय तो इस प्रकार उनचास मनुष्यों की उपेक्षा को ही प्रजातंत्रवाद का नाम नहीं दे सकते। एकावन का न्याय अर्थात् गणितात्मक दृष्टि से बहुसंख्यावाद का समर्थन प्रजातंत्रीय नीतिशास्त्र से समर्थित नहीं हो सकता। एकावन के न्याय का शब्दतः पालन बताता है कि जनमत दो बिभिन्न अत्यन्त विरोधी दलों में विभक्त हो गया है। जब जनता का इस प्रकार प्रचण्ड द्विधाध्रुवीकरण[1] हो जाय तब समझना चाहिए कि प्रजातंत्र खतरे में है। प्रजातंत्र का अर्थ है— सामष्टिक अभिचैतन्य का प्रकाश और यह तभी सम्भव है जब अनेकविध संघर्षों, वर्गस्वार्थों और प्रतिस्पर्धाओं के पीछे एक मौलिक आधारभूत एकता हो। एक तात्विक सामान्य संकल्प की वर्तमानता पर ही प्रजातंत्रवाद टिक सकता है। जान लाक और रूसो में बहुमत प्राधान्यवाद का दर्शन मिलता है। किन्तु रूसो ने यह बताया है कि बहुमत, निश्चित ही सामान्य संकल्प का बोध कराता है, ऐसा विचार ठीक नहीं हो सकता। यह ठीक है कि जब हम आदर्शवाद के क्षेत्र से उतर कर प्रजातंत्र को व्यावहारिक बनाने का प्रयास करेंगे तब हमें किसी न किसी प्रकार बहुसंख्यातंत्र का आश्रय लेना ही पड़ेगा। एकतंत्र और अल्पतंत्र की अपेक्षा बहुसंख्यातंत्र, अधिक नीतिपूर्ण इतनी दूर तक अवश्य है कि इसमें अधिक लोगों को राजकीय क्षेत्र में अपनी बुद्धि के प्रयोग का अवसर दिया जाता है। किन्तु प्रजातंत्रीय न्याय को अचारमूलक बनाने के लिए अपेक्षित है कि बहुसंख्यातंत्र, गणितवाद से ही प्रभावित न होकर विधि-

---

१ द्विधाध्रुवीकरण=Bipolarisation.

शीलता का व्यापक अनुगमन करे। संख्याप्राचुर्य के मद में संभव है कि बहुसंख्यातंत्र बहुसंख्या अनाचार और दमन में परिवर्तित हो जाय। किन्तु यदि जनसमाज में अत्यन्त विभाजनकारी समस्याएँ नहीं हैं तो आंशिक रूप से बहुतंत्र ग्राह्य हो सकता है, इस शर्त पर कि विधान सम्मतता का इतना प्रकर्ष स्थापित हो कि अल्पसंख्यकों के उचित स्वार्थों और नागरिक अधिकारों को किसी प्रकार कुचलने का कभी प्रयास न हो। समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर अंशतः, बहुतंत्रवाद का खतरा कम हो जाता है। बहुसंख्या, स्पायनोजा के मूलतत्व के समान कोई शाश्वत सत्ता तो है नहीं। यह एक सतत परिवर्तनशील सामाजिक राशि है। इसमें सर्वदा नूतन परिवर्तन होते हैं। यदि एक-एक प्रश्न पर कुछ लोग एकसाथ हैं तो दूसरे प्रश्न पर उनमें मतवैभिन्य हो सकता है। फ्रांस के मंत्रिपरिषद् का इतिहास प्रजातंत्रीय राजनीतिक परिवर्तनों का एक सतत गतिशील इतिहास है। दो वर्ष या चार वर्ष में बहुसंख्या का परिवर्तन प्रचार आदि के सहारे किया जा सकता है। इंगलैण्ड में अभी श्रमिक-दल और अनुदार-दल का जो राजनीतिक भाग्य रहा है, उससे स्पष्ट है कि संसदीय बहुसंख्या का जनता के विचार परिवर्तन के साथ, परिवर्तन किया जा सकता है। किन्तु शासन पद्धति को सर्ववेदितव्य और स्पष्ट बनाने के लिए बहुसंख्यावाद के अतिरिक्त अन्य कोई प्रणाली नहीं है जिससे जनमत प्रकाशित किया जाय और उसको समझा जा सके। सर्वसहमतिवाद एक श्रुतिप्रिय कल्पना है, किन्तु स्पेन के कार्टेज और पोलैण्ड के लिबेरम भीटो के दुष्परिणामों को देखते हुए कोई भी विचारक जनतंत्र का अर्थ, समस्त जनता की पूर्ण सहमति से राज्य का शासन नहीं स्वीकृत कर सकता। पूर्ण सर्वसहमतिवाद का व्यावहारिक अर्थ होगा कि एक मनुष्य भी चाहे तो सारे राज्यकार्य को शिथिल कर दे। अतः यह जनतंत्र न होकर एक कुत्सित प्रकार का एकतंत्र हो जायगा। अतः व्यावहारिक दृष्टि से जनतंत्र को व्यक्त करने के लिए बहुसंख्यावाद का आश्रय लेना ही पड़ेगा। जनतंत्र को बहुसंख्यातंत्र से अलग करने का जो प्रयास मैकिबर ने किया है वह असंगत और भ्रामक है। किन्तु बहुसंख्यावाद की पद्धति को जनतंत्र के निमित आवश्यक मानते हुए भी मैं चाहूँगा कि यह बहुसंख्यावाद कुछ मौलिक आदर्शों से नियंत्रित हो। सर्वप्रथम इस मौलिक नियम का पालन आवश्यक है कि संख्यास्वार्थ, श्रेणीस्वार्थ या वर्गस्वार्थ मूलभूत जनकल्याणवाद का खंडन न कर बैठे। जब तक सर्वसामान्य संकल्प का केन्द्रबिन्दु, सर्वकल्याण का आदर्श, सर्वदा अनुप्रेरक नहीं रहेगा तबतक प्रजातंत्र नहीं चल सकता। पुनश्च, यह भी आवश्यक है कि बहुसंख्यक सदस्य कम-से-कम इस बात पर सर्वदा एकमत रक्खें कि प्रजातंत्रीय पद्धति को बनाये रक्खा जाय, नहीं तो जर्मनी का इतिहास बताता है कि जर्मनी का नात्सीदल

प्रजातंत्रीय पद्धति से शासनसूत्र ग्रहण कर प्रजातंत्र का हत्यारा बन बैठा। अतएव प्रजातंत्र को बनाये रखना, इस प्रकार का मौलिक आदर्श बहुसंख्यावाद के पीछे अवश्य रखना होगा। इस प्रकार समाजशास्त्रीय दृष्टि से देखने पर विदित होता है कि प्रजातंत्र का आधार है जनकल्याण पोषक संस्थाओं और कानूनों का विकास करना। केवल आकस्मिक कारणों का आश्रय लेकर सामयिक बहुसंख्यावाद के सहारे स्वेच्छाचारिता का पोषण करना और इसको नैसर्गिक अधिकार मानना जनतंत्र नहीं है। सर्वव्यापक सामाजिक कल्याण से अनुप्रेरित होना ही प्रजातंत्र का लक्षण है। जब इस प्रकार का आदर्शवाद व्याप्त रहता है तब उस समय सम्भव है कि विचार परिवर्तन के अवसर प्राप्त होने पर अधिकारवाद के नूतन स्वरूपों से जनता को परिचित कराकर उसकी सहमति प्राप्त की जाय। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन और सत्तात्मक रूपान्तर सम्भव हो सकता है और डी टौक्विमैल ने जिस बहुसंख्या-अनाचार के खतरे का जिक्र किया है, उसका अभाव रह सकता है।

अरस्तू ने बताया है कि प्रजातंत्रीय व्यवस्था में स्वतंत्रता और समानता का पालन होता है। आधुनिक इतिहास को देखते हुए यही प्रतीत होता है कि समानता ही प्रजातंत्र का मूल है। प्रजातंत्र के पूर्ववर्ती व्यक्तिवाद और उदारवाद में भी स्वतंत्रता की उद्घोषणा थी; किन्तु समानता का संदेश प्रजातंत्र की विशिष्ट देन है। बुर्खार्ट, मैन, आक्टन आदि उदारवादी परम्परा के पोषक स्वतंत्रता के समर्थक होते हुए भी प्रजातंत्रीय समानता को शंका की दृष्टि से देखते थे। किन्तु समानता के सिद्धान्त का निर्देशन कर अरस्तू ने प्रजातंत्र के स्वरूप को अच्छी तरह समझा था[१]। किन्तु

१. Aristotle, *Politics* VI, 2, : "Every citizen, it is said, must have equality, and therefore in a democracy the poor must have more power than the rich, because there are more of them, and the will of the majority is supreme. This, then, is one note of liberty which all democrats affirm to be the principle of their State. Another is that a man should live as he likes. This, they say, is the privilege of the freeman, since, on the other hand, not to live like as a man likes is the mark of a slave. This is the second characteristic of democracy, whence has arisen the claim of none to be ruled by none, if possible, or, if this is

अरस्तू का यह भी कहना था कि बहुसंख्यक गरीब लोगों का तंत्र ही प्रजातंत्र है। यूनान की अयांत्रिक सभ्यता में बहुसंख्यक लोगों को धनवान बनाना संभव नहीं था। अमरीकी प्रजातंत्र दीनता को प्रजातंत्र का लक्षण नहीं स्वीकार कर सकता है। विज्ञान, यंत्रवाद और अर्थशास्त्र के विकास के कारण ऐसी सम्भावना आज विद्यमान है कि अधिकतम लोगों का जीवनस्तर उच्च किया जाय। वस्तुत: आधुनिक प्रजातंत्र की यह बड़ी समस्या है कि किस प्रकार जनता को सांसारिक अभ्युदय का दर्शन कराया जा सके। राजनीति स्वतंत्रता के साथ-साथ सामाजिक समानता और आर्थिक अभ्युत्थान ही इस युग के संक्रमणकालीन संकट से विमोचन प्राप्त करा सकते हैं।

प्रजातंत्र का मूल तत्व है जनता का उन्नयन। सार्वत्रिक समानता और जीवन के विनियंत्रण का सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त कर ही जनता प्रजातंत्रीय व्यवस्था को क्रियान्वित कर सकती है। जनता का राज्य या जनता के सामान्य संकल्प का प्राधान्य ही अट्ठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में, प्रजातंत्र का मूल अर्थ समझा जाता था। शूम्पेतर इस परम्परा को आज के लिए अनुपयुक्त बताता है। आज की विशाल यांत्रिक सभ्यता में तथा आर्थिक और राजनीतिक अनेक संजटिलताओं के रहते हुए, जनता का वास्तविक राज्य क्रियान्वित नहीं हो सकता। पश्चिमी प्रजातंत्रीय देशों के अनुभव को ध्यान में रखकर शूम्पेतर का यह कहना है कि आजकल इतना ही सम्भव है कि विभिन्न नेतृवर्ग में किसी एक नेता और उसके दलीय कार्यक्रम को जनता स्वीकार कर ले[१]। आज ऐसी व्यवस्था है कि विभिन्न नेता आपसी संघर्ष करते हैं और जनता

---

impossible, to rule and be ruled in turns; and so *it contributes to the freedom based upon equality.*"

१. Joseph A. Schumpeter, *Capitalism, Socialism and Democracy*, p. 250, p. 269 : "The eighteenth century philosophy of democracy may be couched in the following definition : the democratic method is that institutional arrangement for arriving at political decisions which realizes the common good by making the people itself decide issues through the election of individuals who are to assemble in order to carry out its will...... And we define; the democratic method is that institutional arrangement for arriving at political decisions in which individuals acquire the

दो या तीन नेताओं में से किसी एक को चुनती है। शूम्पेतर का विचार आंशिक रूप से ठीक है। इसका सबसे महत्त्वपूर्ण भाग इसकी यथार्थवादिता है। किन्तु शूम्पेतर का कथन अमरीका के लिए ही विशेष उपयुक्त है, जहाँ राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए, सारा देश एक चुनाव क्षेत्र बन जाता है। जहाँ चुनाव-क्षेत्र छोटे-छोटे हैं, वहाँ दलीय नेता को भी एक छोटे क्षेत्र से ही निर्वाचित होना पड़ता है और जो वैयक्तिक नाटकीय आकर्षण अमरीका के राष्ट्रपति के चुनाव के समय नेता के प्रति व्यक्त होता है वह इंगलैण्ड और भारत में नहीं देखा जा सकता। अतः शूम्पेतर की परिभाषा में से यदि नेतृवर्ग पर बल हटाकर, सिर्फ यह कहा जाय कि प्रजातंत्रीय व्यवस्था में जनता स्वयं राज्यसूत्र न सँभाल कर, दो विभिन्न दलों या अनेक विभिन्न दलों के कार्यक्रम में से चुनाव करती है, तो यह परिभाषा विशेष उपयुक्त होगी।

प्रजातंत्रीय व्यवस्था राजनीतिक संघर्षों को शक्ति या बल के आधार पर नहीं सुलझाती। इसकी पद्धति वादविवाद की है। जिस प्रकार वादविवाद के सहारे औपनिषदिक तत्वबोध होता है, उसी प्रकार विभिन्न राजनीतिक संगठन वर्ग अपने कार्यक्रमों के साथ अन्य कार्यक्रमों के सामंजस्य का प्रयत्न करते हैं। राजनीतिक संघर्षों का बौद्धिक समन्वय और समाधान ही प्रजातंत्र का मूल है। इसमें पूर्वनिर्दिष्ट किसी कार्यक्रम को जनता पर बल द्वारा थोपा या लादा नहीं जाता। सामाजिक जीवन का उद्देश्य है—वैयक्तिक अभ्युदय और सामाजिक निःश्रेयस के निमित्त जनसमूह की शक्तियों का पूर्णतम विकास। प्रजातंत्र इस आदर्श को ध्यान में रखते हुए कानूनी व्यवस्था का प्रयोग जनकल्याण के लिए करता है। इसका मूल लक्ष्य है—जनता का उन्नयन और इसलिए बलवाद का आश्रय छोड़कर सतत वादविवाद और तर्कपद्धति का आश्रय लेकर आपसी संघर्षों का समाधान करना ही प्रजातंत्र की प्रक्रिया है। प्रजातंत्र के पास किसी पूर्वनियति से निर्दिष्ट समस्याओं का समाधान नहीं है। जनता की मेधाशक्ति का आश्रय लेकर जनकल्याण को ध्यान में रखकर आगत प्रश्नों का समाधान करना ही इसकी पद्धति है। प्रजातंत्र का प्रयोजन है—विराट श्रेयों को चरितार्थ करना और इसकी पद्धति है—अहिंसात्मक तर्कणापद्धति। तर्कणात्मक स्वतंत्रता पर इसी लिए प्रजातंत्र बहुत बल देता है। केवल बाह्य कर्म को आवरणरहित और प्रतिरोधशून्य बनाना ही इसका लक्ष्य नहीं है। जबतक मानव की बौद्धिक शक्ति निष्प्रतिबंध होकर ज्ञान का अनुशीलन नहीं करेगी तबतक सभ्यता और संस्कृति का अभ्युदय नहीं हो सकता। यूरोपीय पुनरुत्थान ने यूनानी निष्प्रतिबंध जिज्ञासा के

power to decide by means of a competitive struggle for the people's vote."

यादृच्छिक प्रवाह के आदर्श को अपनाकर पश्चिमी सभ्यता के लिए एक प्रशस्त पथ का दर्शन कराया। प्रजातंत्र इसी व्यापक बुद्धिवाद पर आधारित है। विकर्म अविवेक या गतिशून्य परम्परा या शक्तिभय से नियंत्रित न होकर चेतन विज्ञान और प्रज्ञा के द्वारा अनुशासित हो, दलीय और वर्गीय संघर्षों को सुलझाना ही प्रजातंत्र की पद्धति है।

तार्किक स्वतंत्रता और बौद्धिक निष्प्रतिबंधता का आदर्श प्रजातंत्र को एक जीवनशैली का रूप प्रदान करता है। जनमत को राजकीय आधार पर बनाना या प्रतिनिधियों का निर्वाचन करना, यह प्रजातंत्र का राजनीतिक आधार है। किन्तु प्रजातंत्र जहाँतक, विराट् श्रेयों को आदर्श मानकर आगे बढ़ता है, वहाँ तक वह एक दार्शनिक और नैतिक रूप धारण कर लेता है। प्रजातंत्र, राज्य को ही अन्तिम आकर्षण का केन्द्र न मानकर मानव जीवन को एक रागात्मकरूप प्रदान करना चाहता है। सामाजिक जीवन के नियामक सूत्रों का निर्माण करने में साधारण मानवों की मेधाशक्ति का अनुप्रवेश हो, यह एक निर्मल नैतिक आदर्श है। अमरीका का प्रसिद्ध विचारक और कवि ह्वाल्ट ह्विटमैन, इसी नैतिक आदर्शपूर्ण, सामाजिक रागात्मक तादात्म्यमूलक, प्रजातंत्रीय जीवनादर्श का पोषक था। यूनान में जीवनशैली और राजनीतिक पद्धति के बीच सम्बन्ध बनाये रखने का आदर्श प्लेटो और अरस्तू ने रक्खा है। मानवजीवन और राज्य दोनों का उद्देश्य है--शील और न्याय का संरक्षण और संवर्धनव। अतएव जीवनादर्श को ध्यान में रखकर ही यूनानी विचारकों के अनुसार राज्य-व्यवस्था का निर्माण हो सकता था१। भौतिकवाद, यंत्रवाद, धर्मनिरपेक्षतावाद के अतिशय प्रचार ने आज जीवनादर्श और राज्य में एक अनपेक्षित पार्थक्य उपस्थित कर दिया है। प्रजातंत्र एक विराट् श्रेय---मानव की समानता, को चरितार्थ करना चाहता है। राजनीतिक समानता को व्यावहारिक बनाने के लिए आवश्यक है कि समस्त सामाजिक और आर्थिक जीवन का संगठन भी प्रजातंत्रीय पद्धति से हो।

१. द्रष्टव्य—Aristotle, *Politics* VIII, 1, : "He who would duly inquire about the best form of a state ought first to determine which is the most eligible life; while this remains uncertain the best form of the state also must be uncertain; for in the natural order of things, those may be expected to lead the best life who are governed in the best manner of which their circumstances admit."

इसके लिए सहिष्णुता अपेक्षित है। राजनीतिक पराजय को सहने के लिए संयम की आवश्यकता है। इसलिए स्पष्ट है कि दार्शनिक राजनीतिशास्त्र के द्वारा बताये गये विराट् श्रेयों के आधार पर और उनके पूर्ण साक्षात्कार करने के लिए ही प्रजातंत्र चल सकता है। राजनीतिक प्रजातंत्र, इस व्यापक प्रजातंत्र का, एक अविभाज्य अंश है। जब अपने उचित हित क प्रतिपादन और संवर्द्धन के निमित्त समाज की शक्तियाँ चैतन्य-युक्त हो जायँ तभी प्रजातंत्र की सफलता होगी और तभी विराट श्रेय साक्षात्कृत होंगें। केवल अल्पसंख्यक वर्गों के विकास से विराट श्रेय नहीं सिद्ध हो सकते। प्राकृतिक और अन्य प्रकार की वाधाओं के बावजूद मानवमात्र या कम से-कम एक देश की समस्त जनता को प्रशस्त पथ पर ले जाना एक महान यज्ञ है। इसके लिए बोधिसत्व के आदर्शवाद और आधुनिक भौतिक विज्ञान की पूरी व्यावहारिक शक्ति का समन्वय अपेक्षित है। केवल अभ्युदय की अवस्था ही प्रजातंत्र की अवस्था नहीं है। प्राचीनकाल और मध्ययुग में, आर्थिक दृष्टि से, भारत आज की अपेक्षा, शायद अधिक सुखी था; किन्तु इस कारण उस समय प्रजातंत्र था ऐसा हम नहीं कह सकते। आर्थिक अभ्युदय प्रजातंत्रीय श्रेयों में साक्षात्कार का एक महान् साधन है और आंशिक रूप में एक साध्य भी है; परन्तु प्रजातंत्र का आधार है—जनता की उन्मुक्त बौद्धिक शक्ति का सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं के समाधान में अनुप्रवेश। अर्थात् मनुष्य को केवल अभ्युदय नहीं चाहिए; किन्तु अपनी शक्तियों के द्वारा अर्जित अभ्युदय। दार्शनिक-राज्य का समर्थक प्लेटो कुछ लोगों को उच्चतम वैज्ञानिक और तत्व-समीक्षात्मक शिक्षा से विभूषित कर जागतिक या कम से कम नगरराज्य सम्बन्धी प्रश्नों के समाहित होने का स्वप्न देखते थे। प्रजातंत्र तो समस्त जनता के पूर्णतम अभ्युदय को ही अपना विराट् श्रेय मानता है। इस प्रकार का विशाल यज्ञ, अल्प-समय में पूर्ण नहीं हो सकता। दीर्घकालीन साधना और अनुष्ठान इसके लिए अभि-वांछित है। उतावलापन से इसका साक्षात्कार नहीं हो सकता। सन् १८४८ के आन्दोलन के बाद से जर्मनी में जो उदारवाद की लहर चल रही थी, उसे सन् १८६२ में बिस्मार्क ने कुचल डाला। उदारवाद के स्थान पर उसने 'लोहा और रक्त' की नीति का निर्धारण किया। वादविवाद के दीर्घकालीन समयनाश को सहने में फौलादी नीति का उपासक बिस्मार्क असमर्थ था। सन् १९१८ में रूसी विधाननिर्मात्री परिषद् को बलप्रयोग से छिन्न-भिन्न करके लेनिन ने रूस के पनपते हुए प्रजातंत्र की हत्या कर दी; क्योंकि जार-शाही के अत्याचारों का खात्मा केरेन्सकी की शनैःवादिनी नीति से न होने देकर वह सर्वहारा के अधिनायकवाद से करना चाहता था। चीन की संकटकालीन स्थिति में यूआन-शिहकाई का उदय भी बताता है कि प्रजातंत्र की परम्परा के विकास में

देर होती है जहाँ यह परंपरा विकसित न हो सकी हो वहाँ इसका अन्त आसानी से हो जाता है। हिटलर, मुसोलिनी आदि का अभ्युत्थान भी इसी बात का पोषक है। इससे स्पष्ट है कि प्रजासंत्र के विराट और महान यज्ञ की सिद्धि के लिए दीर्घकालीन अभ्यास की आवश्यकता है। प्रत्येक नागरिक अपनी बौद्धिक शक्ति का पूरा उपयोग करने का अभिलाषी बने और इसके लिए उचित अवसरों का अधिकतम रूप में निर्माण हो। यह महान् कार्य शीघ्र नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि प्रजातंत्र का विकास, सभ्यता और सस्कृति के दीर्घकालीन विकास से सम्बद्ध है।

प्रजातंत्रीय परम्परा का जन्म कब हुआ, इसका निश्चित समय बताना कठिन है। अन्य राजकीय और सामाजिक संस्थाओं के समान ही कह सकते हैं कि शनैः शनैः इसका विकास हुआ है। मारगन का ऐसा विचार था कि प्राचीन अमरीकन सभ्यता में प्रजातंत्रीय स्वतंत्रता और समानता के दर्शन होते हैं[१]। पुरातन साम्यवाद में, मारगन के आधार पर, स्वतंत्रता का वर्तमान रहना ऐंगल्स को भी मान्य है[२]। किन्तु आज के समाजशास्त्रियों में इस पुरातन साम्यवाद की ऐतिहासिक सत्ता के संबंध में बहुत मतभेद है। कम-से-कम ऋग्वेद में इसका कोई उल्लेख नहीं है। जब मनुष्य सभ्यता का निर्माण करने लगा, उस समय नियंत्रण की आवश्यकता हुई। बर्बरता की अवस्था में जो प्रजातंत्र रहा भी होगा वह उन्नति का पोषक कदापि न होगा; क्योंकि उसका आधार रहा होगा उत्पादन का बिलकुल साधारण रहना। यूनान में और विशेषतः अथेन्स में प्रजातंत्र का विकास हुआ। किन्तु यह प्रजातंत्र घोर-असमानतावाद पर टिका हुआ था। एथेन्स में यदि चालीस हजार नागरिक थे तो अस्सी हजार दास। अतः मानवमात्र की कम-से-कम राजनीतिक समानता का आदर्श पालन किया जाय, इस मौलिक आधारभूत सिद्धान्त का पालन एथेन्स में नहीं होता था। दासता की व्यापक आधारशिला पर ही यूनान का प्रजातंत्र स्थापित था। उस समय यंत्रवाद के अविकसित रहने के कारण क्षेत्रीयतावाद का प्राधान्य था। यूनानी विचारक और राजनीतिक नेता अपनी शिक्षाओं से इस क्षेत्रीयतावाद का समर्थन करते थे। इसलिए नगरों की सीमा को लाँघकर प्रजातंत्र वहाँ कभी भी अखिल यूनानव्यापी

१. L. Morgan, *The Ancient Society.*

२. F. Engels, *The Origin of Family, Private Property and the State*; A. F. Hattersley, *A short History of Democracy* p. 20 : "The democratic aspect (of primitive society) lies not so much in the forms of government, as in the absence of any system of authority and restraint."

नहीं हो सका। यूनानी सभ्यता के अन्तिम युग में अखिल यूनानवाद का संदेश सुनाई पड़ा; किन्तु इसके चरितार्थ होने के पूर्व ही मकदूनिया के साम्राज्यवाद ने यूनान पर कब्जा जमाया। अतः क्षेत्रीयतावाद और दासप्रथा—ये दो यूनानी प्रजातत्र की कमजोरियाँ थीं। आधुनिक प्रजातंत्रवाद, राज्य की अपेक्षा समष्टि को अधिक प्रश्रय देता हुआ भी राजनीतिक व्यक्तिवाद और अधिकारवाद पर आधारित है। यद्यपि नैतिक व्यक्तिवाद के बीज प्रोटागोरस और सुकरात में मिलते हैं और यद्यपि अधिकारवाद के अन्तिम प्रयोजन—सामान्य कल्याणवाद, की विशाल कल्पना प्लेटो और अरस्तू में मिलती है, तथापि राजनीतिक वैयक्तिक अधिकारवाद की कल्पना का उस समय अभाव था। किन्तु यदि एक ओर यूनानी प्रजातंत्र में ये कमियाँ थीं तो दूसरी ओर सेनाधिपतियों का भी यदाकदा निर्वाचन कर, यूनानी प्रजातंत्र किसी अंश में अतिप्रजातंत्रीयता का रूप प्रस्तुत करता है।[1]

रोमन सम्राज्यवाद ने प्रजातंत्र के विकास में कोई राजनीतिक योगदान नहीं किया। रोमीय गणतंत्र के समय जो पौट्रिशियन और प्लेबियन लोगों का संघर्ष हुआ, उसे समानता की प्राप्ति का एक महान् आन्दोलन कह सकते हैं। रोमीय गणतंत्र के अन्तिम दिनों में तीन परिषदें थी—कमिशिया क्यूरियाता, कमिशिया ट्रिब्यूटा और कमिशिया सेन्युरियाटा। किन्तु यद्यपि ये परिषदें वर्तमान थीं तथापि मुख्य शक्ति सीनेट के हाथ में थी, जो प्रजातंत्रीय आधार पर निर्वाचित न थी। इस कमी के होते हुए भी प्लेबियन लोगों को भी सामाजिक समानता देकर सामाजिक प्रजातंत्र के विकास में रोमीय गणतंत्र ने योगदान किया है। रोमीय सभ्यता के समय में ही स्ताइक विचारकों ने आध्यात्मिक आधार पर मानव समानता का समर्थन किया जो प्रजातंत्रीय व्यवस्था का एक महान् श्रेय है। सिसेरो, सेनेका और उनका पूर्ववर्ती जोनो एक प्रकार से भावी प्रजातंत्र की नैतिक आधारशिला निर्मित कर रहे थे।

मध्ययुग में 'नैसर्गिक नियम' के सिद्धान्त की घोषणा हुई। यह नैसर्गिक नियम प्रकृतितः वर्तमान माना गया। राजनीतिक शासकों को अपनी व्यवस्था में एक उच्चतर देवस्थापित या प्राकृतिक नैतिक नियम से अनुशिष्ट और नियंत्रित होना है—इस प्रकार के विचार को उद्घोषित कर नैसर्गिक नियमवाद उस प्रजातंत्रीय मनोवृत्ति को उत्पन्न करता है जो मानती है कि विधि-प्रणेत्री संप्रभुता शक्ति से भी अधिक शक्तिशाली संविधान की संप्रभुताशक्ति है। नैसर्गिक नियमवाद और संविधान संप्रभुता-

१. T. R. Glover, *Democracy in Ancient Times* (१९२७); A. F. Zimmern, *The Greek Commonwealth*, W. W. Willoughby, *Political Theories of the Ancient World*.

वाद में एक बात समान है और वह है कि दोनों के अनुसार राजकीय शक्तिधरों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण एक ऊँची शक्ति है। इस प्रकार नैसर्गिक नियम के सिद्धान्त के प्रणेता स्ताइक और ईसाई दार्शनिक अनजाने में ही सही, प्रजातंत्र का दार्शनिक आधार निर्मित कर रहे थे और इस दृष्टि से कह सकते हैं कि संत टामस, प्रजातंत्र का एक पैगम्बर था। अन्य ईसाई विचारकों ने भी पोप की शक्ति का समर्थन करने के लिए सम्राट् की शक्ति को दैवी नियमों से अधिकृत घोषित किया। लाउटेनबाख का मनीगोल्ड भी इसी विचार का समर्थन करता था[१]। सालिसबरी के जान ने भी अत्याचारी नृपति के बध का विचार रक्खा[२]। इस प्रकार राजकीय शक्ति पर धार्मिक नियंत्रण के समर्थक मध्यकालीन विचारक, प्रजातंत्र की नैतिक आधारशिला के निर्माता और पोषक थे।

यूरोपीय धार्मिक सुधार के बाद यूरोप में दो बड़े-बड़े धार्मिक दल हो गये। कुछ देशों में यदि राजा कैथोलिक था तो उसके राज्य में प्रोटेस्टेन्ट अल्पसंख्यक वर्ग था। कहीं राजा प्रोटेस्टेन्ट था तो उसके राज्य में अनेक कैथोलिक थे। इस प्रकार की धार्मिक अवस्था में, अनेक विचारकों ने अनाज्ञाकारिता और प्रतिरोध के विचारों ने प्रसारित किया। उनका कहना था कि यदि अन्तश्चेतना असन्तुष्ट है तो राजकीय शक्ति का विरोध करना परम कर्तव्य है। इस प्रकार के धार्मिक विचारकों में कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट और जेजुयिट लोग थे। स्काटलैण्ड में नाक्स और बुकानन ने

१. Menegold of Lawtenbach, *Monumenta, Libelli de Lite.* मनीगोल्ड के अनुसार:—"No man can make himself emperor or king ; a people sets a man over it to the end that he may rule justly, giving to every man his own, aiding good man and coercing bad, in short, that he may give justice to all men. If then he violates the agreement according to which he was chosen, disturbing and confounding the very things which he was meant to put in order, *reason dictates that he absolves the people from their obedience*, especially when he has himself first broken the faith which bound him and the people together."

२. John of Salisbery, *Policraticus*: "He who usurps the sword is worthy to die by the sword."

प्रतिरोध का प्रचार किया[१]। मरियाना और बेलारमिन जैसे जेसुईट विचारकों का भी ऐसा मन्तव्य था[२]। फ्रांस में 'मिनडिशिया कान्ट्रा टिरानोस' नामक ग्रंथ के लेखक नें अनाज्ञाकारिता और प्रतिरोध का समर्थन करने हुए कहा कि वैध राजकुमार अपनी शक्ति जनता से प्राप्त करता है[३]। इस प्रकार धार्मिक अधिकारों को व्यक्त करने के लिए उस प्रतिरोध समर्थक सिद्धान्त का जन्म हुआ जो व्यक्तिवादी प्रजातंत्र का एक मूलमंत्र है। आधुनिक प्रजातंत्रीय परम्परा का उद्‌भव बताते हुए लिंडसे ने कहा है कि ईसाई धर्मसभाओं में —मुख्यत: इन्डिपेन्डेन्ट, अनाबाप्टिस्ट और क्वेकरों की,—प्रजातंत्रीय पद्धति का व्यवहार किया जाता है और उसी से आधुनिक प्रजातंत्रीय पद्धति का जन्म हुआ है[४]। किन्तु यह एक आंशिक विचार है; क्योंकि यद्यपि सत्रहवीं शताब्दी की प्यूरिटन शिक्षाओं और व्यवहारों तथा पद्धतियों का प्रजातंत्र के विकास पर प्रभाव पड़ा है, तथापि प्राय: बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी से ही राजतंत्र-विरोधी आन्दोलन और जनसंप्रभुतावाद का बीज देखा जा सकता है। इसी आन्दोलन के साथ हमें मग्नाकार्टा सम्बन्धी आन्दोलन तथा इंगलैण्ड के पार्लियामेन्ट के विकास को जोड़ देना चाहिए।

---

१. John Knox, *Appellation*; George Buchanan *De jure regni apud Scotos.*

२. Juan de Mariana, *De rege et egis institution* (१५९९); Robert Bellarmine, *De potestate summiv pontifias* (१६१०)

३. *Vindiciae Contra Tyrannes* : "In the first covenant or pact, piety comes under the bond; in the second justice. In the one the king promises dutifully to obey God; in the second, justly to rule the people; in the one, to provide for the glory of God; in the other to maintain the welfare of the people. In the first the condition is, if you observe my law; in the second, if you secure to each his own. *Failure to fulfil the first pact is properly punishable by God; failure to fulfil the second, legitimately by the whole people*, or by the magnates of the realm who have undertaken to watch over the whole people."

४. A. D. Lindsay : *The Essentials of Democracy*; *The Modern Democratic State I.*

आधुनिक प्रजातंत्रवाद के विकास में निस्सन्देह धार्मिक सुधार आन्दोलन से सहायता मिली है। काल्विनवाद का नाम इसमें उल्लेखनीय है[1]। इसने न केवल इंगलैण्ड और स्काटलैण्ड में गणतंत्रीय दलों को जन्म दिया, अपितु हालैण्ड और जेनेवा में गणतंत्रों को स्थापित भी किया। तथापि काल्विनवाद को आधुनिक गणतंत्रवाद और प्रजातंत्रवाद का एकमात्र उद्भवकर्ता मानना सर्वथा अपूर्ण है। विकसनशील पूँजीवाद के विस्तार के साथ-साथ प्रजातंत्र का आन्दोलन भी प्रस्फुटित हुआ है। यूरोप में सामन्तशाही प्रथा के पतन के समय पर एक नये आर्थिक वर्ग का विकास हुआ। पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में यूरोप में एक व्यापारी क्रान्ति हुई। नई दुनिया तथा भारत का पता, यूरोपवासियों को लगा और स्पेन , पोर्तुगाल, इंगलैण्ड, फ्रांस तथा हालैण्ड के नागरिकों ने व्यापार और वाणिज्य के द्वारा बहुत धन प्राप्त किया। अब विश्वव्यापी वाणिज्य का उदय हुआ और फलस्वरूप जो नया पूँजीवादी वर्ग पैदा हुआ, वह देशविदेश में अपना प्रभुत्व चाहता था। यह नया आर्थिक वर्ग न केवल पूँजीवाद को विकसित करनेवाला है, अपितु प्रजातंत्र के साथ भी इसका जबरदस्त ऐतिहासिक सम्बन्ध है। यह नूतन आर्थिक मध्यवर्ग यद्यपि अपने स्वार्थ और परिग्रह में लिप्त था, तथापि अपने अधिकारों की रक्षा के लिए सामन्तशाहों, जमीन के मालिकों तथा एकतंत्रवादी राज्यों के गुट से लड़ना इसके लिए आवश्यक था। इस गृहयुद्ध की प्रक्रिया में, अपने विचारों को नैतिक और व्यवहारिक पोषण देने के लिए, इस वर्ग ने प्रजातंत्रीय विचारधारा का समर्थन किया। इसने सामाजिक अनुबंधवाद नैसर्गिक अधिकारवाद आदि को प्रश्रय दिया। यदि पुराने राजनीतिक शक्ति के समर्थक राज्यशक्ति को कुछ चुने हुए विशिष्ट लोगों के आधिपत्य का क्षेत्र समझते थे तो नया आर्थिक वर्ग अधिकार के आधार को विस्तृत करने का समर्थक था।

---

१. John Calvin, *Institutes*, विशेषतया अध्याय २०. F. Engels, *On Historical Materialism*, *Selected Works of Marx I* पृ० ४०४: "Calvin's creed was fit for the boldest of the bourgeoisie of his time ..Calvin's church constitution was throughly democratic and republican; and where the kingdom of God was republicanized, could the kingdom of this world remain subject to monarchs, bishops and lords?......Calvinism founded a republic in Holland and active republican parties in England, and, above all, Scotland."

इंगलैण्ड में प्यूरिटन क्रान्ति और रक्तहीन क्रान्ति के अग्रदूत के रूप में इस नये आर्थिक वर्ग के लोग ही थे। फ्रांस की राजक्रान्ति , तृतीय वर्ग का आन्दोलन थी, इस विचार का समर्थन न केवल साम्यवादी मार्क्स ने अपितु अनेक विख्यात इतिहास-वेत्ताओं ने भी किया है। सन् १७८९ में मानव स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व का जोरदार संदेश प्रचारित हुआ। सन् १६९१ और १६७३ के विधान में भी इस प्रकार के संदेश थे। अमरीका की स्वतंत्रता म भी इस नये पूँजीवादी वर्ग का हाथ था। अमरीका की पूर्वी रियासतों में व्यापार और उद्योग के सहारे एक नया मध्यवर्ग विकसित हुआ था जो आर्थिक विकास के नये क्षेत्र चाहता था। इस वर्ग के प्रतिनिधियों का ही यह सिद्धान्त था कि विना प्रतिनिधित्व के कर लगाने का अधिकार नहीं प्राप्त हो सकता। अमरीका के पूर्वी रियासतों में ज्यों-ज्यों आर्थिक विकास हुआ, त्यों त्यों प्रजातंत्रीय सिद्धान्त पर बल दिया गया; क्योंकि इनका सहारा लिये बिना भूमि के मालिकों के साथ युद्ध करना कठिन था। अतएव नूतन पूँजीवाद का प्रजातंत्रीय परम्परा के साथ ऐतिहासिक सम्बन्ध है। पूँजीवाद के विकास के साथ, सम्पत्ति और राज्यशक्ति के सम्बन्ध में रूपान्तर हो गया। मध्ययुगीन सामान्तवाद के जमाने में राजकीय शक्ति के कारण सम्पत्ति प्राप्त होती थी। जिस पर राजा की कृपा होती थी, उसे जमीन दी जाती थी। किन्तु पूँजीवाद के विकास के साथ एक ऐसा धन का साधन उत्पन्न हुआ जो भूमि के समान सीमित न होकर सतत प्रवर्धनशील था। इस नये साधन ने सम्पत्ति का यथेष्ट विकास सम्भव कर दिया। इस प्रकार के विकास में राज्य की सहायता की आंशिक आवश्यकता होने पर भी राज्य पर वह निर्भर कदापि न थी जो सामन्तवादी समय में पाई जाती थी। पूँजीवाद के विकास के साथ यह संभव हुआ कि सम्पत्ति की शक्ति का प्रयोग राज्यकीय शक्ति के प्रतिरोध में किया जाय। इस प्रकार उस प्रतिरोध-आन्दोलन को पुष्टि मिली जो तेरहवीं शताब्दी से ही यूरोप में और प्रधानतः इंगलैण्ड में आरम्भ हुआ था।

यदि काल्विनवाद और मुख्यतया पूँजीवादी मध्यवर्ग के सहारे आधुनिक प्रजातंत्र के उद्भव और विकास में प्रभूत सहायता मिली है तो उसके परिपाक में राष्ट्रवाद के विकास ने भी योगदान किया है। राष्ट्रवाद समस्त देशवासियों के साथ केवल सहानुभूति का ही नहीं, अपितु रागात्मक तादात्म्य का पोषण करता है। इस प्रकार की भावना प्रजातंत्र को प्राणप्रदान करती है। प्रजातंत्र जनता की संप्रभुता की घोषणा करता है और सांस्कृतिक, ऐतिहासिक तथा मनोवैज्ञानिक आधारों को ग्रहण करता हुआ राष्ट्रवाद देशव्यापी तादात्म्य-भाव की अभ्यर्थना करता है। इसलिए प्रजातंत्र

के पोषण में स्वतंत्रता और समानता के साथ-साथ भ्रातृत्व के मंत्र का भी प्रचार राष्ट्रवाद के प्रभाव के कारण किया गया था। यद्यपि भ्रातृत्व का तात्पर्य है—निखिल विश्व के साथ आध्यात्मिक मानववाद का व्यवहारीकरण, तथापि उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में भ्रातृत्व के विचार ने राष्ट्रवाद का ही पोषण किया है। नेपोलियन ने भी भ्रातृत्व का अर्थ, फ्रांसव्यापी भ्रातृत्व ही किया था। भ्रातृत्व-भावना की आवश्यकता नगरराज्य को परिपुष्ट करने के लिए पिथागोरस, प्लेटो के 'फोयनिशियन मिथ' और अरस्तू में भी पाई जाती है। प्रजातंत्र को यदि समस्त जनसमूह का तंत्र बनना है तो अवश्य ही उसे राष्ट्रवादाभिप्रेत भ्रातृत्व के विकास से समर्थन मिलना चाहिए यद्यपि विराट् श्रेयों का अन्तिम साक्षात्कार विश्व के साथ बंधुत्व प्राप्त कर ही किया जा सकता है।

प्रजातंत्र के समर्थन में अठारहवीं शताब्दी में नैसर्गिक अधिकारवाद का सिद्धान्त प्रयुक्त होता था। मनुष्य की अन्तर्निहित समस्त शक्तियों के विकास के निमित्त राजनीतिक चैतन्य का उद्बोध और प्रकाशन उस समय आवश्यक माना जाता था। राजनीतिक भाग्यविधान का नैसर्गिक अधिकार उस समय आवश्यक माना जाता था। इसी विचार का अनुवर्तन करते हुए रूसो ने प्रजातंत्र का समर्थन किया था। प्राक् सामाजिक नैसर्गिक अधिकार का पोषण न करते हुए भी दार्शनिक राजनीतिशास्त्र प्रजातंत्र को नैतिक दृष्टि से पुष्ट और श्रेयस्कर मानता है। आध्यात्मिक और नैतिक मानववाद का पोषण, प्रजातंत्र के द्वारा ही संभव है। यदि मानव नीतिमान चैतन्य-युक्त प्राणी है तो अपनी नैतिक शक्ति का राजनीतिक प्रयोग उसे अवश्य करना चाहिए। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र के महान् यज्ञ से अपने को अलग रखना ठीक नहीं। नैतिकता की यह माँग है कि समाजकल्याण निमित्तक कर्मयोग का अनासक्त बुद्धि से पालन किया जाय। अबतक दार्शनिकता के नाम पर कुछ अल्पसंख्यक बुद्धिजीवीगण अपने स्वार्थ को सिद्ध करते रहे हैं। किन्तु प्रस्तुत पुस्तक में जिस दार्शनिकता का समर्थन किया गया है, वह मानवमात्र के आत्मिक विकास का मार्ग-ग्रहण करती है, किसी विशिष्ट राज्यपाल वर्ग और अभिजात वर्ग का नहीं। इस व्यापक दार्शनिकता की सिद्धि तभी होगी जब जनता के आत्मिक उन्नयन का मार्ग प्रस्तुत किया जायगा। मनुष्य के यादृच्छिक नैतिक विकास की यह माँग है कि वह अपने सामाजिक और राजनीतिक भाग्य का स्वतः निर्णय करे। जनतंत्रवाद की परम्परा में ही यह संभव है कि साधारण नर-नारियों के नैतिक और बौद्धिक चैतन्य का विकास किया जा सके। दार्शनिकता के नाम पर विशिष्ट वर्ग का ही उन्नयन कदापि हमें अभीष्ट नहीं है। प्रजातंत्रीय पद्धति से जब जीवन के नियामक आदर्शों का निर्माण

होता है तब मानव आत्मा की अन्तर्हित शक्तियों का यादृच्छिक उन्मोचन होता है। मानसिक कर्तृत्वशक्ति का इससे विकास होता है। जब विभिन्न दलों द्वारा प्रस्तुत कार्य-क्रमों का पारस्परिक मिलान किया जाता है और उनमें से एक को चुना जाता है तब इससे निजी अधिकार-समर्थन का एक क्रियात्मक रूप प्रस्तुत होता है। अधिकार का व्यावहारिक प्रयोग आत्मिक चैतन्य का अवश्यम्भावी परिणाम होना चाहिए। इस प्रकार जनमत को एक रचनात्मक रूप प्राप्त होता है। अबतक जनमत, परम्परा और शक्ति से नियंत्रित होता आ रहा था और इसके गतिशील स्वरूप का पूरा प्रस्फुटन नहीं हुआ था, किन्तु राज्य को जनमत का संदेशवाहक मानकर प्रजातंत्र ने एक विराट् नैतिक आदर्शवाद की सृष्टि की है। जब केवल शस्त्रबल और दमन के द्वारा शासन होता है, तब मानव-स्वभाव बर्बरता की अवस्था को प्राप्त करता है। नियंत्रण का स्वेच्छाचारपूर्ण प्रयोग, प्रयोक्ता और भोक्ता दोनों को पशुत्व की ओर ले जाता है। प्रजातंत्र घरेलू प्रश्नों का हिंसा और दमन से नहीं, अपितु वादविवाद, बहस और तर्क के सहारे समाधान करता है और इस प्रकार समाज को कल्याणं चित शम, दम, शान्ति आदि सद्गुणों के विकास का अवसर मिलता है। प्रजातंत्र की मूल निष्ठा विचारात्मक ऐकमत्य और नियंत्रणरहित ठोस सामाजिक भावनासंश्रित भित्ति को दृढ़ करने में है; क्योंकि यदि समष्टि की भावना को दमनाधारित राज्य से श्रेयस्कर प्रति-पादित करना है तो ऐसा करना ही होगा।

नैतिक आधार पर प्रजातंत्र को स्थापित करना ही दार्शनिक राजनीतिशास्त्र मानव के चेतन विकास के निमित्त आवश्यक मानता है। प्रजातंत्र के समर्थन में व्याव-हारिक युक्तियाँ भी दी जा सकती हैं। राजकीय शक्ति साध्य नहीं, कल्याण की प्रसाधिका है। प्रजातंत्रीय व्यवस्था में कल्याणनिमित्तक शक्ति ही अभिवांछित है, इस प्रकार की विचारधारा व्यवहार में लाई जा सकती है। प्रजातंत्र के समर्थन में जान डिवी ने कहा है कि जनता की वास्तविक कठिनाइयाँ दलित लोगों को ही विदित हैं। जनता का नाम लेकर शक्ति का स्वार्थपूर्ण प्रयोग करनेवाले जनकल्याणसम्बद्ध प्रश्नों के समाधान में अपनी राजकीय शक्ति का पूरा प्रयोग नहीं करते। आवश्यकता इस बात की है कि प्रजातंत्रीय पद्धति का व्यावहारिक उपयोग कर जनता स्वयं प्रकाश में आवे और अपनी कठिनाइयों का सामना करे। प्रजातंत्र जनता के हाथ में एक महान साधन सौंपता है। इसका प्रयोग कर जनता अन्य प्रकार के सामाजिक और आर्थिक निहित स्वार्थों का सामना कर सकती है। प्रजातंत्र ने ही इस विराट् आदर्श को स्थापित किया है कि राज्यपाल, मंत्री और सचिवगण, न्यायाधीश, पुलिस आदि जनता के मालिक नहीं, किन्तु भृत्य और सेवक हैं। जनता के खजाने से जितने लोग

वेतन पाते हैं, वे सब जनता के अनुचर हैं। इस प्रकार का विराट् सन्देश किसी भी तथाकथित धार्मिक सन्देश से अधिक तेजस्वी है और मानव-जीवन को एक अभूत-पूर्व दिव्य संसार का दर्शन करानेवाला है। अबतक सभ्यता और संस्कृति के नाम पर जनता को चकमा देकर, कुछ विशिष्ट वर्गों ने स्वार्थसाधन किया है। प्रजातंत्रीय मानववाद ने मानव-इतिहास में पहली बार यह विराट् आदर्श स्थापित किया है कि जनता ही शक्ति का आगार है। जनता ही शासकों का शासक है, इस महान् मंत्र में जादू की शक्ति भरी हुई है। प्रजातंत्र इस प्रकार जनता को शक्ति का केन्द्र मानकर लोगों में एक अपूर्व नैतिक आत्मबल की सृष्टि करता है। प्रजातंत्रीय राज्य में ही यह संभव है कि सम्पत्ति का अवश्यम्भावी परिणाम, राज-नीतिक अधिकारप्राप्ति, न बन सके। इतिहास में पहली बार जनता को करवट लेने का ही नहीं, अपितु उन्मुक्त स्वच्छन्द विचरण का अवकाश प्राप्त हुआ है। इस प्रकार देखने से मालूम पड़ता है कि व्यावहारिक दृष्टि से भी प्रजातंत्र एक पुष्ट विचार है। जब मानव को शक्ति मिलती है तब उसका देशप्रेम भी बढ़ता है। एकतंत्र और अल्पतंत्र में जनता को देशरक्षा में रागात्मक संकल्प नहीं रहता है। जनतंत्र, जनता को यह स्पष्ट सूचित करता है कि देश लोगों का है और इसकी रक्षा उनका कर्तव्य है। जब जनता को राजनीतिक अधिकार प्राप्त होता है तब परम्परागत शक्तिधरों के साथ वह उचित रूप से संघर्ष कर अपने महत्त्व की अभिव्यंजना कर सकती है। कार्ल मानहायम ने बताया है कि प्रजातंत्र के उदय के साथ साथ निम्नवर्गों की विचार-राशि और तर्कणाशैली को सामान्य स्वीकरण प्राप्त होता है। प्रजातंत्र इस विचार की घोषणा करता है कि सत्य सर्वसामान्य होना चाहिए न कि विशिष्ट वर्गों का स्वार्थ-साधक और इस प्रकार प्रजातंत्रीय विश्वमानववाद की पुष्टि होती है[१]।

यद्यपि इस प्रकार नैतिक, दार्शनिक और व्यावहारिक युक्तियों से प्रजातंत्रवाद एक स्वस्थ और कल्याणकारी विचार प्रतीत होता है, तथापि प्रारम्भकाल से ही इसकी आलोचना की गई है[२]। प्लेटो दार्शनिक की परिमार्जित और तात्त्विक ऊहापोह में

१ Karl Mannheim, *Ideology and Utopia*, पृष्ठ ७–८.

२ यूनान में पाचवीं और चौथी शताब्दी में हेरोडोटस, जोनोफोन, अरिस्टोफानिस तथा प्लेटो ने प्रजातंत्र का खण्डन किया। बोदां, अलगर्नन सिडनी, हैमिल्टन, आडम्स तथा बर्क भी इसके विरोधी थे। उन्नीसवीं शताब्दी में कार्लायल, जेम्स स्टिफेन, हेन्री, मेन, रेनन तथा नीत्शे ने प्रजातंत्र का बड़ा जोरदार खण्डन किया था। दृष्टव्य—Heinrich Von Treitschke, *Politics* खण्ड २, पृष्ठ २७३--३२९। वंशागत अभिजातवर्ग का समर्थन विलियम लेकी ने अपने

निष्णात चेतना का समर्थक था। वह प्रजातंत्र का घोर विरोधी था[१]। सुकरात की हत्या कर एथेन्स के प्रजातंत्र ने अपने को घृणा का पात्र बना लिया था। प्लेटो के अनुसार प्रजातंत्र भोगात्मिका वृत्तियों के अतिरंजित प्रवाह का मार्ग खोलकर स्वतंत्रता को अनाचार और समानता को विवेकहीन साम्य में परिवर्तित कर देता है। विधिशीलता और सामाजिक व्यवस्था का तिरस्कार करने के कारण शीघ्र ही प्रजातंत्र दमनतंत्र में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार प्रजातंत्र को भोगात्मिका वृत्तियों का राजनीतिक प्रकाशन मानकर प्लेटो इसका घोर खंडनकर्ता सिद्ध हुआ। किन्तु इस प्रकार का सम्बन्ध-स्थापन निराधार है। एकतंत्र, अल्पतंत्र और अभिजाततंत्र में ही भोगात्मिका प्रवृत्ति के प्रकटीकरण का विशेष अवसर प्राप्त होता है। प्रजातंत्र के समय में शासकों की भोगवृत्ति को नियंत्रित करने का साधन तो कम-से-कम प्राप्त होता है, भले ही उसका पूर्ण उपयोग न किया जाय। यद्यपि काण्ट मानवसाध्यवाद का प्रतिपादन कर प्रजातंत्र का ऋषि बन गया है[२] तथापि व्यावहारिक प्रजातंत्र की सफलता के विषय में उसको शंका थी; क्योंकि प्रजातंत्र में बहुसंख्यावाद के प्राधान्य से, सामान्य संकल्प का पूरा प्रकाशन नहीं हो पाता है और इसलिए स्वतंत्रता को धक्का लगता है[३]। कुछ अन्य दार्शनिकों ने, उदाहरणार्थ सान्टायाना और बैबिट ने भी, प्रजातंत्र का खंडन किया है। किन्तु कविता, कला और चिन्तनात्मक दर्शन के उत्कर्ष का आधार लेकर जनता को शासन के अयोग्य मानने का कोई वैज्ञानिक और शास्त्रीय आधार नहीं है। अनेक वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक परीक्षणों से यह बात स्पष्ट हो गई है कि स्वभावतः ही जनता अवर और निम्न नहीं है। मदान्ध पश्चिमी वर्णश्रेष्ठतावादी[४] ही एशिया और अफ्रिका के निवासियों को--जिन्होंने उच्च कोटि की

ग्रंथ *Democracy and Liberty* में किया। अभिजातप्रथा के समर्थन के लिए द्रष्टव्य--William H. Mallock, *Aristocracy and Evolution* तथा *The Limits of Pure Democracy.*

१ Plato, *Republic* VIII; अपने ग्रंथ *Statesman* में प्लेटो ने प्रजातंत्र के सम्बन्ध में कहा है--"The worst of lawful governments, the best of lawless ones." द्रष्टव्य--Plato, *Laws,* पृष्ठ ८३२.

२. Bergson, *The Two Sources of Morality and Religion.*

३. Kant, "The 'whole people', so called who carry their measures are really not all, but only a majority; so that here the universal will is in contradiction with itself and with the principle of freedom." *Perpetual Peace,* Newyork, १६४८, पृष्ठ १३.

४. वर्णश्रेष्ठतावाद=Theory of Racial Supremacy.

सभ्यता का मिस्र, बाबुल, भारत और चीन में विकास किया तथा ईसा, बुद्ध, गांधी, कन्फूसियस जैसे आध्यात्मिक ऋषियों और नेताओं को जन्म दिया--अवर समझ कर उन्हें प्रजातंत्रीय परम्परा के लिए अयोग्य मानते थे; किन्तु वर्तमान जगत का इतिहास इसका खंडन करता आ रहा है। वैयक्तिक सिद्धियों और गुणों में असमान रहते हुए भी तात्त्विक श्रेयात्मक मानवता की दृष्टि से ही प्रजातंत्र समस्त मानवों को समान मानता है और निहित स्वार्थों का सुमनर के समान विवेकहीन समर्थक ही, मानव-समानता को एक निराधार कल्पना मान सकता है।[१]

कुछ विचारकों का ऐसा प्रस्ताव है कि प्रजातंत्र साहित्य और संस्कृति का विरोधी है। इतिहास को देखने से विदित होता है कि सार्वत्रिक मानव उन्नयन के अनेक युगों में प्रजातंत्र का अभाव था। वेद, वेदान्त, सांख्य और गीता की विचारधारा प्रजातंत्रीय काल में नहीं उत्पन्न हुई थी। यह भी ठीक है कि अक्वायनास, दांते, लियोनार्डो, गेलिलियो, आदि जिस काल में उत्पन्न हुए थे, वह प्रजातंत्र का युग नहीं था। यह भी सत्य है कि काण्ट, शेलिंग, गेटे जिस युग में पैदा हुए थे, उस समय जर्मनी में एकतंत्र था; तथापि जितने थोड़े अवसरों पर और समय में, प्रजातंत्र का व्यावहारिक रूप उपस्थित रहा है, उसे संस्कृतिहीन कहना ऐतिहासिक असत्यता है। सांस्कृतिक दृष्टि से वित्ततंत्रीय स्पार्टा की अपेक्षा प्रजातंत्रीय एथेन्स अधिक उन्नतिशील था और इसका कारण था कि वहाँ कलायसथेन्सि से लेकर पेरिक्लिज तक और पीछे भी प्रजातंत्रीय परम्परा का विकास हुआ था। यद्यपि कला और धर्म तथा दर्शन के क्षेत्र में प्रजातंत्रीय ब्रिटेन और अमरीका ने कोई उच्चस्तरीय संस्कृति का निर्माण नहीं किया है, तथापि गणित, विज्ञान और यंत्रवादी सभ्यता के निर्माण में इनका योगदान अतिशय महत्त्वपूर्ण है। संस्कृति के विकास के लिए अनेक साधनों की आवश्यकता है। प्रजातंत्र की यह विशेषता है कि मानव-आत्मा को उन्मुक्त कर वह सांस्कृतिक साधनों को जनसमाज के लिए सुलभ बनाता है। जिस-जिस काल में अनेक देशों में सांस्कृतिक अभ्युत्थान हुआ था, वहाँ प्रजातंत्र के अभाव में कुछ सीमित लोग ही उस संस्कृति से लाभान्वित होते थे। प्रजातंत्र, सभ्यता और संस्कृति को विशाल महलों से हटाकर जनता की झोपड़ियों में भी ले जाने का यत्न करता है। मानव-सभ्यता के इतिहास में प्रजातंत्र को अभी बहुत थोड़ा समय मिला है। भावी इतिहास इस बात का

---

१. W. G. Sumner, "..the assertion that all men are equal is perhaps the purest falsehood in dogma ever put into human language." यह वाक्य Barnes, *Introduction to the History of Sociology*, पृष्ठ १६२, में उद्धृत है।

निर्णय करेगा कि प्रजातंत्र का सांस्कृतिक योगदान कितना होता है। अभी तक विशाल जनसमूह प्रजातंत्रीय परम्परा से पूरा प्रभावित नहीं हो पाया है।[१] भारत में प्रजातंत्रवाद को क्रियान्वित करने का प्रयत्न अभी बिलकुल नया है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि प्रजातंत्रीय आदर्शवाद एक विशाल और तेजस्वी महामंत्र है और जनता को पूर्ण प्रभावित कर ही शायद यह दम लेगा। दार्शनिक समाजशास्त्र का आश्रय लेकर सोरोकिन ने प्रजातंत्रीय परम्परा के प्रति उदासीनता दिखाई है।[२] उसके अनुसार राजनीतिक स्वतंत्रता, नागरिक अधिकार आदि विषयों को भौतिकवादी इन्द्रियप्रत्यक्षज्ञानवादी मनोवृत्ति गम्भीरतापूर्वक ग्रहण करती है। किन्तु आदर्शवादी सांस्कृतिक मनोवृत्ति को प्रजातंत्र में कोई विशेष अभिरुचि नहीं है। सोरोकिन की इस प्रकार की स्थापना प्राचीन और मध्यकालीन संस्कृतियों के लिए ही अंशतः उपयुक्त है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र पूर्णतया मानव के नैतिक और आध्यात्मिक उन्नयन का पक्षपाती है। किन्तु एकान्तसाधन, महाकाव्य-विरचन और कलात्मिका अनुभूति को ही वह आध्यात्मिकता नहीं मानता। समस्त जनता को राजनीतिक अधिकारवाद में चेतनायुक्त दीक्षा देना, इसे मैं एक परम श्रेयस्कर धार्मिक और आध्यात्मिक यज्ञ मानता हूँ। प्रजातंत्र वह कार्य करना चाहता है जो किसी धर्म गुरु और नीतिशास्त्र के अगुआ और ऋषि ने नहीं किया था। प्रजातंत्रीय परिपाक के निमित्त अपेक्षित विराट् श्रेयों के पूर्ण क्रियान्वित साक्षात्कार के लिए बुद्ध के महान् आदर्शवाद और आधुनिक समस्त विज्ञान और अर्थशास्त्र की शक्ति के समन्वय की प्रचण्ड आवश्यकता है।

प्रजातंत्र के इस विशाल यज्ञ को सफल बनाने के लिए अनेक बातें आवश्यक हैं। संसदीय और केन्द्रीय स्तर पर प्रजातंत्र सफल हो सके इसके लिए आवश्यक है कि स्थानीय क्षेत्रों में प्रजातंत्रीय परम्परा का पालन हो। इस प्रकार नागरिकता को समझने में एक अपेक्षित प्रशिक्षण मिल जाता है। बहुत से राजनीतिशास्त्रवेत्ताओं का ऐसा प्रस्ताव है कि अन्य सामाजिक संस्थाओं में प्रजातंत्रीय परम्परा का निर्वाह करने से राजकीय प्रजातंत्र सफल होता है। उदाहरणार्थ, यदि विश्वविद्यालय, श्रमिक-संघ, चर्च आदि में प्रजातंत्र की पद्धति का अनुसरण किया जायगा तो इससे प्रजातंत्रीय समाज का निर्माण होगा और प्रजातंत्रीय समाज ही प्रजातंत्रीय राज्य का आधार हो सकता है। आंशिक रूप में इस प्रस्ताव में सचाई है। किन्तु धार्मिक संस्थाओं

१. Arnold Toynbee, *A study of History*.

२. P. A. Sorokin, *Social and Cultural Dynamics III*.

को भी प्रजातंत्रीय पद्धति पर चलाना आवश्यक नहीं है। धार्मिक संस्थाओं में मुख्य विषय रहना चाहिए—बौद्धिक और नैतिक उन्नति का अभिज्ञान और केवल वोट प्राप्त करने की योग्यतावाले व्यक्तियों के हाथ में धार्मिक संस्था चौपट हो सकती है। यदि धार्मिक संस्थाओं को सामाजिक और आत्मिक उन्नति में योगदान करना है तो उन्हें सन्त फ्रांसिस, विवेकानन्द, रामतीर्थ आदि के समान पुरुषों को उत्पन्न करना अपना लक्ष्य बनाना चाहिए। तभी उनका कार्य चल सकता है। विश्वविद्यालयों को भी वोट लेने की योग्यता रखनेवाले किन्तु अविद्वान् लोगों के चंगुल से हटाना चाहिए। अतएव राजनीतिक और आर्थिक संस्थाओं में प्रजातंत्र का समर्थन करते हुए भी विश्वविद्यालय और धार्मिक संस्थाओं में प्रजातंत्र के पूर्ण पालन के सम्बन्ध में मतवैभिन्य हो सकता है। तथापि इतना सही है कि सामाजिक क्षेत्रों में इस प्रकार के चैतन्य की आवश्यकता है कि प्रजातंत्रीय व्यक्तित्व का निर्माण हो सके। इसके लिए नागरिकों में एक नैतिक और आध्यात्मिक चैतन्य की आवश्यकता है। जबतक अन्य मनुष्यों को भी हम अपने ही समान अधिकारवाहक नहीं समझते हैं तबतक प्रजातंत्रीय परम्परा नहीं विकसित होगी। इसके लिए आवश्यक है कि स्वतंत्रता के प्रकृष्ट महत्त्व का अभिज्ञान हो। राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए विकेन्द्रीकरण का व्यवहार उपयोगी है। जब जनसंख्या का अधिक भाग उन राजनीतिक और आर्थिक नीतियों का निर्माण करता है, उसके दैनिक व्यवहार का संचालन करता है तो इससे सच्ची नागरिकता का विकास होता है। केन्द्र में ही सारी शक्तियों को एकत्र कर देने में, जनता के मस्तिष्क में राजनीतिक उत्तरदायित्व का विकास नहीं हो सकता। अतः स्पष्ट है कि राजकीय और आर्थिक शक्तियों के संचालन में अधिक मनुष्यों और क्षेत्रों को भाग लेने का अवसर मिले।

किन्तु दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से सबसे अधिक आवश्यक विषय है—प्रजातंत्रीय नैतिक चैतन्य का विकास। विकेन्द्रीकरण, क्षेत्रीय और स्थानीय स्व-शासन, सामाजिक संस्थाओं में भी प्रजातंत्रीय पद्धति का अनुप्रवेश, विरोधी दल का रहना, श्रेणियों का विकास, ये सब बातें आवश्यक हैं। किन्तु इनसे भी अधिक आवश्यक है—नैतिक चैतन्य का विकास। संस्थाओं और संविधान में परिवर्तन करने से ही काम नहीं चलने को है। संस्थाओं के पीछे जो मनुष्य वर्तमान हैं, उनमें परिवर्तन करना होगा। आज यांत्रिकता के विकास के साथ बड़े-बड़े नगरों का विकास हो रहा है। इन विशाल नगरों के निवासियों में किसी प्रकार का भावनामूलक सामष्टिक चैतन्य नहीं उत्पन्न होता। राजकीय जीवन की उदासता का रहस्य सामष्टिक चैतन्य में है, इस प्रकार का गम्भीर सन्देश

प्लेटो, अरस्तू और रूसो में पाया जाता है। समाजशास्त्री डुर्खायम ने बताया है कि सामष्टिक चैतन्य के अभाव में मानव आत्मसंज्ञाहीन हो जाता है[1]। किन्तु मानव में स्वसंज्ञा का विकास हो और समाज के कल्याण के निमित्त आवश्यक कर्मयोग का वह पालन कर सके, इसके लिए नैतिक चैतन्य अपेक्षित है। नैतिक चैतन्य, जीवन को लक्ष्य की पूर्ति में व्यतीत करने से प्राप्त होता है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र विराट् श्रेयों का समर्थक है। जब हम इन श्रेयों की प्राप्ति में अपनी शक्ति का व्यय करते हैं तब एक आत्मिक उत्कर्ष प्राप्त होता है। साथ-ही-साथ सामष्टिक कल्याण की भावना व्यक्त होती है। स्वतंत्रता, समानता, सामाजिक न्याय आदि महान् श्रेय केवल संविधान में लिख देने से ही नहीं प्राप्त हो जाते हैं। इनकी प्राप्ति पुरुषार्थ से ही सम्भव है। केवल निषेधपरक आर्थिक न्याय से जो जनता सन्तुष्ट हो जाती है, वह कोई अधिक श्रेयस्कर वस्तु नहीं प्राप्त कर सकती है। आलस्य, प्रमाद आदि को छोड़कर सर्वदा जागरूकता की नीति का अवलम्बन करना ही प्रयोजनमूलक श्रेयों की सिद्धि करा सकता है। आध्यात्मिक दृष्टि से संज्ञाहीनता सबसे बड़ा शत्रु है; क्योंकि इसमे तुलसीदास के रामचरितमानस में

१. E. Durkheim, *Suicide*, पृष्ठ ३८२–३८३ "Anomy indeed springs from the lack of collective forces at certain points in society; that is, of groups established for the regulation of social life. Anomy therefore partially results from the same state of disaggregation from which the egoistic current also springs....the chief role of corporations, in the future as in the past would be to govern social functions, especially economic functions, and thus to extricate them from their present state of disorganizations. Whenever excited appetites tended to exceed all limits, the corporations would have to decide the share that would equitably revert to each of the cooperative parts. Standing above its own members, it would have all necessary authority to demand indispensable sacrifices and concessions and impose order upon them."

वर्णित मन्थरा की नीति का अवलम्बन संभव हो जाता है। अतः गीता की भाषा में कह सकते हैं--'तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च।' अर्थात् आत्मिक कल्याण और सामान्य हित के प्रसाधक श्रेयों की प्राप्ति में समस्त शक्ति से जुट जाना और सर्वदा नैतिक चैतन्य की अनुप्राप्ति में लगा रहना ही सच्चा कर्मयोग है। अबतक मानव-सभ्यता में मुख्यतया अल्पवर्गों की बौद्धिक शक्ति का ही प्रकाशन हुआ है। प्रजातंत्र मानव की—प्रत्येक मानव की--क्रियात्मिक शक्ति में पूरा विश्वास करता है। यदि प्रत्येक मानव की बौद्धिक और नैतिक शक्ति का समन्वित उपयोग किया जाय तो एक प्रशस्त सभ्यता का आधार बनाया जा सकता है, इस प्रकार का विश्वास रखकर ही प्रजातंत्र अपना कार्य करता है। इस प्रकार प्रजातंत्र का आधार पूर्णतः आध्यात्मिक है। प्रत्येक मानव अपनी विलक्षण नैतिक शक्ति का चेतन उपयोग कर मानव संस्कृति को प्रवर्धनशील बना सकता है। यह अत्यन्त ही तेजस्वी महामंत्र है। इसी विशाल अध्यात्मवाद पर ही राजकीय प्रजातंत्र टिका हुआ है। आज आवश्यकता इस बात की है कि जनता, प्रजातंत्र में अन्तर्निहित इस विशाल आदर्शवाद को समझे। उतावलेपन, अधैर्य आदि से घबड़ाकर मनुष्य कभी-कभी तानाशाही का स्वप्न देखने लगता है और समझदार लोग भी कभी-कभी तानाशाही की डंडे की नीति का समर्थन कर बैठते हैं। किन्तु इस प्रकार के दार्शनिकम्मन्य लोगों को मैं बताना चाहता हूँ कि डंडे की नीति दो धारावाले खड्ग के समान है। जबतक दूसरों पर दण्ड का प्रयोग होता है तबतक वह प्रिय मालूम होता है; किन्तु विचारणीय बात यह है कि शनैः-शनैः दण्ड की अप्रतिहत दुर्धर्ष नीति अपने लोगों के ऊपर भी प्रयोग में आने लगती है। तब दण्ड का दारुण चित्र सामने आता है। पुनश्च, यह भी विचारणीय है कि क्या सचमुच प्रजातंत्र से घबराकर तानाशाही या आध्यात्मिक नरपतितंत्र के आह्वान करने की आवश्यकता है? अनेक देशों के प्रजातंत्र का बड़ा विस्तृत नापाजोखा करने के बाद ब्राइस इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि अनेक कमियों और कमजोरियों के होते हुए भी प्रजातंत्र की अपेक्षा कोई अधिक श्रेयस्कर तन्त्र नहीं मालूम पड़ता। ब्राइस का यह कहना था कि दुःख, भय और अन्याय के मोचन तथा सांस्कृतिक उन्नयन के पथ में एकतंत्र और अभिजाततंत्र की अपेक्षा प्रजातंत्र का कार्य अधिक उन्नतिवाहक है। इससे मालूम पड़ता है कि अधैर्य का कोई कारण नहीं है। सीजर, नेपोलियन और मुसोलिनी का चरित इस बात को स्पष्ट प्रमाणित करता है कि तानाशाही खतरे को उत्पन्न करती है। तानाशाही के द्वारा प्राप्त उत्कर्ष शीघ्र नष्ट हो जाता है। अतएव हमलोगों को पीटर महान्, फ्रेडरिक महान् आदि की 'महत्ता' को छोड़कर धीरे-धीरे चलनेवाले, किन्तु अधिक

मजबूत नींव पर आधारित प्रजातंत्र का ही समर्थन करना चाहिए।

इसके निमित्त अपेक्षित है कि जनसमाज चैतन्य प्राप्त करे। चैतन्ययुक्त जनता ही प्रजातंत्र-प्रतिपादित श्रेयों का महत्व समझ सकते है। प्रजातंत्रीय श्रेयों के स्वीकरण और अभिज्ञान से एक आत्मिक संज्ञा मालूम पड़ती है जो सामष्टिक कल्याण की प्रसाधिका है। केवल प्रजातंत्र का नारा लगाने से कार्य नहीं होगा। आज संत फ्रांसिस, शंकर और गांधी जैसे पुरुषों की आवश्यकता है जो इस संसार के विषाक्त वातावरण में ईसाइयत, वेदान्त और अहिंसा के समन्वित रूप विराट् श्रेयों की प्राप्ति में अपना जीवन लगा दें और जनसमाज को भी उसी पथ पर ले जायँ। किन्तु यह कार्य केवल किसी बड़े नेता से ही सम्भव नहीं होगा। यह तो जन-जागरण और समस्त मानवता के नैतिक उद्बोध का विषय है। केवल समाचारपत्रों, पर्चों आदि में प्रजातंत्रीय आदर्श को नहीं स्थापित करना है। यह तो एक नैतिक साधना का मार्ग है। व्यवसायात्मिका बुद्धि ने मानव को अधिकार का चैतन्य प्राप्त करने में सहायता दी है और मानव को आत्मिक कल्याण के विरोधी सामाजिक, राजनीतिक प्रतिबन्धों से संग्राम करना सिखाया है। व्यवसायात्मिका बुद्धि का अनुसंधान ही प्रजातंत्र को चिरायु बना सकता है। केवलमात्र संस्थागत परिवर्तन से कार्य नहीं चल सकता। प्रजातंत्रीय व्यवस्था को नैतिक चैतन्य से युक्त करना होगा और यह कार्य व्यवसायात्मिका बुद्धि का अनुसंधान ही कर सकता है। सब मनुष्य समान हैं--यह नारा लगाना, एशिया में प्रजातंत्र के प्रचार के लिए कृतयत्न होना है; किन्तु अपने ही देश में भयंकर वर्ण-विद्वेष की नीति को व्यवहार में लाना, यह सिद्ध करता है कि अमरीकन प्रजातंत्र के पीछे स्वार्थमुखी नानामुखी बुद्धि का प्रयोग किया जा रहा है। इसीलिए हांकिंग आदि दार्शनिक प्रजातंत्र के निमित्त धार्मिक अन्तःकरण की आवश्यकता प्रतिपादित करते हैं।[1] भारतीय धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र में बहुत से मौलिक उपदेश हैं जिनसे प्रजातंत्रवाद पुष्ट हो सकता है। अहिंसा, करुणा, मैत्री आदि के सम्बन्ध में अतिप्राकृतिकतावाद से रहित अनेक निर्मल विचार भारतीय परम्परा में हैं। मैं समझता हूँ कि भारतीय प्रजातंत्र को मजबूत बनाने में बौद्ध दर्शन में प्रोक्त नैतिक आदर्शों से बहुत सहायता मिल सकती है। आज केवलमात्र वस्तुस्थिति के निर्वाहमात्र से काम नहीं चल सकता। उन्नीसवीं शताब्दी में 'तथास्तु' का अवलम्बन कर राज्य आर्थिक प्रश्नों के विषय में तटस्थता की नीति का अवलम्बन कर सकता था; किन्तु आज जब प्रजातंत्र विराट् श्रेयों को मानवमात्र के लिए क्रियान्वित करना चाहता है तब आवश्यकता है प्रचण्ड विश्वास की। जिसे प्रजातंत्र में

१. W. E. Hocking, *Human Nature and its Remaking.*

विश्वास नहीं, वह इसकी रक्षा में आत्मबलिदान कैसे कर सकता है? किन्तु जनता प्रजातंत्र की रक्षा के लिए आत्मबलिदान करने की प्रेरणा तभी प्राप्त होगी जब विराट् श्रेयों का क्रियान्वयन होगा। ऐसी अवस्था में एक शक्ति प्रवाहित होगी और इस धर्मयुक्त शक्ति को ही प्रजातंत्र का परम अस्त्र मानना चाहिए। सैन्यबल से श्रेय का प्रचार उतना ही व्यर्थ है जितना दमन के आधार पर नैतिकता और धर्म का प्रचार। अतएव विराट् श्रेयों की प्राप्ति के निमित्त कर्मयोग में लग्न रहना, यही प्रजातंत्र और प्राच्य संस्कृति की साधना से ही उत्पन्न हुए हैं।

प्रजातंत्र के आध्यात्मिक आधार को दृढ़ करने के लिए व्यापक शिक्षा की आवश्यकता है। वर्ण अधिकार-भेद के पचड़े में आज कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति विश्वास नहीं रखता। ज्ञान समस्त मानवमात्र को मिलना चाहिए। इस प्रकार की घोषणा करके स्वामी दयानन्द ने भारत का बड़ा उपकार किया था।[1] मानव अज्ञान का फायदा उठाकर अनेक लोगों ने अपना स्वार्थ सिद्ध किया है। प्रत्येक नागरिक को ऐसा अवसर मिलना चाहिए कि वह यदि निष्णात न हो सके तो कम से कम दर्शन, विज्ञान, राजनीति के मोटे निष्कर्षों में दिलचस्पी ले सके। अतः एक निश्चित आयु तक, सबको अनिवार्य शिक्षा मिलनी चाहिए। उसके बाद जीवनोपयोगी धन्धों में जो लोग लगे हों, उनके प्रशिक्षण का प्रबन्ध हो सकता है। शिक्षा का अर्थ है आध्यात्मिक और बौद्धिक चैतन्य का विकास। यह एक ऐसा तत्त्व है जो पारस्परिक बौद्धिक सन्निकर्ष से विकसित होता है। अपने कल्पित सिद्धान्तों का, दमन-शक्ति का प्रयोग करके भी, जनता में प्रचार करना शिक्षा नहीं, संप्रचार है। इसके द्वारा ज्ञान का संम्बर्धन नहीं हो सकता है। प्रजातंत्र मानव को नैतिक और आध्यात्मिक मानकर, उसकी शक्तियों का शनैः शनैः विकास करने का पक्षपाती है। किसी प्रकार के विचार को जनता पर लादना इसे अभीष्ट नहीं है; क्योंकि यह तो मानव को साध्य के बदले साधन बना डालना है। अतएव आधुनिक विज्ञान की शक्तियों का सहारा लेते हुए यदि शिक्षा-प्रचार का पूरा उद्योग हो तभी डिजरैली का यह कथन 'हमें अपने मालिकों को शिक्षा देनी है' चरितार्थ हो सकता है।

आधुनिक प्रजातंत्र प्रतिनिधि-प्रथा पर आधारित है। प्रतिनिधित्व-प्रथा का बीज कुछ ऐतिहासिकों ने जर्मनी के जंगलों में खोजा है जब ट्यूटन जातियाँ अपने मुखियों का निर्वाचन करती थीं। अनेक विचारक इस विचार को कल्पनामात्र मानकर इंगलैण्ड में प्रायः तेरहवीं शताब्दी के बाद इसका उद्भव देखते हैं। आज का प्रजातंत्र प्रतिनिधि प्रथा पर आश्रित रह सकता है। रूसो का प्रजातंत्र संबंधी स्वप्न आज सफल

---

१ स्वामी दयानन्द, सत्यार्थप्रकाश: ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका।

नहीं हो सकता। किन्तु प्रतिनिधि, चुने जाने के बाद केवल अपने निर्वाचन-क्षेत्र का ही प्रतिनिधि नहीं है, वह सारे देश के हितों का प्रतिनिधि बन जाता है। प्रतिनिधि का मतलब यह नहीं कि प्रत्येक विस्तार की बातों में वह अपने निर्वाचन क्षेत्र के निवासियों की इच्छाओं से अनुशासित हो। वह अपने को देश का सेवक समझे और मूलभूत नियमों और नीतियों को यथानिर्वाचनक्षेत्र निर्दिष्ट या यथानिर्वाचक निर्दिष्ट मानकर, विस्तार की बातों में अपनी विशुद्ध बुद्धि का प्रयोग करे। यह ठीक है कि कोई प्रतिनिधि, दूसरों के संकल्प का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। संकल्प एक वैयक्तिक वस्तु है और रूसो ने ठीक ही कहा था कि संकल्प का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकता। कोई दूसरों के हितों का प्रतिनिधित्व कर सकता है, संकल्पों का नहीं। यथा-संभव जनता द्वारा निर्दिष्ट आधारभूत नीति के दायरे में रहना और विस्तार की बातों के सम्बन्ध में अपनी राय बनाना और उसे व्यक्त करना प्रतिनिधि का कार्य है।

प्रतिनिधि का चुनाव राजनीतिक दलों के द्वारा ही संभव है। जबतक एकदलीय शासन होता है तबतक प्रजातंत्रीय परम्परा विकसित नहीं होती। विरोधी विचारों का प्रकटीकरण और उसका निश्चित स्वस्थ रूप से प्रवाह, इसी पद्धति से प्रजातंत्र चल सकता है। फ्रांस का इतिहास बताता है कि अनेक दलों की उपस्थिति प्रजातंत्र को शिथिल कर देती है और मंत्रि-परिषदों के निर्माण में इतना परिवर्तन होता है कि आवश्यक प्रश्नों पर निर्णय करने में भी विलम्ब हो जाता है। राजनीतिक दल, जनमत को संगठित और प्रकटित करने में सहायता प्रदान करता है अन्यथा जनमत रूपहीन रहता है। भावी प्रश्नों का पहले से समाधान सोच लेना और उसके अनुसार अपनी नीती का निर्धारण करना और तदनुकूल जनमत का निर्माण करना राजनीतिक दलों का कार्य है।[१] आस्ट्रोगोर्स्की तथा रोबर्टो मिशेल्स ने बताया है कि राजनीतीक दलों में धनलिप्सा और अधिकार संगठन के कारण छोटे गुट बन जाते हैं जिनके हाथ में नेतृत्व चला जाता है। प्रजातंत्र को धनशाही और अल्पतंत्र के आक्रमण से बचाने के लिए दार्शनिक राजनीतिशास्त्र यह मानता है कि केवलमात्र शक्ति की प्राप्ति ही नहीं, अपितु जनता को राजनीतिक चैतन्य प्राप्त करा कर उसे नैतिक दृष्टि से स्वस्थ बनने के लिए आवश्यक उत्पादनों को प्राप्त कराना भी इन दलों का उद्देश्य

१. R. M. MacIver, *The Modern State*: A. N. Holcombe, *Political Parties of Today*. E. E. Schattsneider, *Party Government*: Lowell, *Public Opinion and Popular Government.*

होना चाहिए[1] । जनमत की उपेक्षा कर राजनीतिक दल प्रजातंत्र की सेवा नहीं कर सकता । आज जनमत के निर्माण में केवल धार्मिक विश्वास, ऐतिहासिक परम्परा और सामाजिक आदर्शों का ही हाथ नहीं है, अपितु जनता-संवहन के अनेक नूतन साधन उपस्थित हो गये हैं जो अत्यन्त द्रुतगति से कार्य करते हैं । रेडियो, समाचार-पत्र, व्याख्यान आदि के सहारे संवहन अत्यन्त शीघ्रता से आज हो रहा है । इन साधनों को राजकीय प्रतिबंध से हटाना ही केवलमात्र अभीष्ट नहीं है, अपितु उनका जनसेवार्थ प्रयोग करना है । अमेरिका में संवहन-साधनों पर केन्द्रित पूँजीवाद का घोर आधिपत्य है । अतः कभी-कभी रेडियो आदि का राष्ट्रीयकरण जनकल्याण के निमित्त आवश्यक हो जाता है ।

प्रजातंत्र एक विशाल यज्ञ है और उसको चलाने के लिए ऋषिकल्प नेताओं की आवश्यकता है । स्वार्थसाधक, अलंकारात्मक शैली का प्रयोग करने वाले तथा-कथित नेताओं को इस लक्ष्य को सफल बनाने के लिए कौटिल्य के मूलमंत्र 'विनयमूलो दण्डः' का अभ्यास करना होगा । एथेन्स में पेलोपोनोशियन युद्ध के बाद तीस अनाचारियों का दल शासन-कार्य चलाने लगा । रोम के गणतंत्र की परिणति सीजर और अगस्टस के एकतंत्र में हुई । आधुनिक युग में हिटलर के जर्मनी, मुसोलिनी के इटली, युआन के चीन तथा फ्रांको के स्पेन के इतिहास को देखते हुए मालूम पड़ता है कि शायद डोनोजो कोर्टेज और स्पेंगलर की दारुण भविष्यवाणी कि—प्रजातंत्र का अन्त तानाशाही में होता है, में सत्य है। किन्तु इससे चिन्तित होने का कोई कारण नहीं । हम आज देख रहे हैं कि पुनरपि जर्मनी और इटली में प्रजातंत्रीय परम्परा के अनुप्रवेश का प्रयत्न हो रहा है। एशिया

१. Rousseau, *Social Contract III*, 4, : "....how many conditions that are difficult to unite does such a government presuppose! First, a very small state, where the people can readily be got together and where each citizen can with ease know all the rest; secondly, great simplicity of manners, to prevent business from multiplying and raising thorny problems; next a large measure of equality in rank and fortune, without which equality of rights and authority cannot long subsist; lastly little or no luxury."

में प्रजातंत्र फैल रहा है। आज का जमाना आशावान नवयुग का है। जनता के नाम पर, उसके संकल्प के आधार पर, अनेक तथाकथित नेता उसके अगुआ बनने का प्रयास कर रहे हैं और करेंगे। किन्तु मानव-सभ्यता और संस्कृति को त्राण कर्तृत्वमूलक प्रजातंत्र के सच्चे विकास से ही मिलेगा। आध्यात्मिक मानव का राजकीय रूप केवलमात्र इसी के द्वारा प्रस्तुत होता है, अन्य किसी भी तंत्र के द्वारा नहीं।

प्रजातंत्रीय व्यवस्था को सम्यक् क्रियाशील बनाने के लिए न्याय का पक्षपातहीन होना आवश्यक है। उपन्यास-लेखक बालजाक तथा मार्क्स का ऐसा विचार है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में न्यायालय स्वतंत्र नहीं रह सकते। यह एक अतिरंजित विचार है; किन्तु इतना निश्चित है कि न्यायाधीशों के हाथ में एक जबर्दस्त उत्तरदायित्व है। जर्मनी में वायमर प्रजातंत्र को कमजोर करने में वहाँ के न्यायाधीशों का हाथ था[१]। जेम्स प्रथम कहता था कि न्यायाधीश सिंह हैं; किन्तु उन्हें राजा की अधीनता में ही कार्य करना होगा। अपनी नई व्यवस्थामूलक अर्थनीति को क्रियान्वित करने में रूजवेल्ट की, अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय से, काफी मुठभेड़ हुई। स्पष्ट है कि प्रजातंत्रीय आदर्शवाद को क्रियान्वित करने के लिए न्यायालय की स्वतंत्रता अपेक्षित है। आखिर प्रजातंत्र को, जो मानव-समाज अभी वर्तमान है, उसी के सहारे कार्य करना है—स्वर्ग के फरिश्तों से व्यवहार नहीं करना है। प्रजातंत्र कोई जागतिक रूपान्तर नहीं कर सकता। सर्वव्यापक असन्तोष, लिप्सा आदि को राजनीति ढंग से कम करने का एक व्यावहारिक प्रयत्न है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र मानव के नैतिक और आध्यात्मिक चैतन्य का सन्देश देकर प्रजातंत्र को विचारात्मक आधार प्रदान करता है। इस प्रकार के चैतन्य के बिना स्वस्थ नागरिकों का कोई उन्नतिशील समाज नहीं बन सकता। जबतक मनुष्य अच्छे, स्वस्थ और नीतिमान् नहीं होंगे तबतक कोई महत्त्वपूर्ण अभ्युन्नति का कार्य सम्भव नहीं है।

आधुनिक प्रजातंत्र का आधार अबतक मुख्यतया व्यक्तिवाद ही रहा है[२]। व्यक्तिवाद एक प्राचीन विचार है[३]। व्यक्तिवाद का पहला रूप नैतिक और आध्यात्मिक है। इस व्यक्तिवाद का यह मत है कि मानव अपना उद्धार आप ही कर सकता है। स्वकीय श्रम ही उसकी उन्नति का मार्ग है। इस प्रकार का व्यक्तिवाद गीता में

१. R. T. Clerk, *The fall of the German Republic* (लन्दन १९३६)

२. A. B. Wolfe, "Individualism and Democracy", *International Journal of Ethics*, 1923, पृष्ठ ३९८–४१५.

३. A.D. Lindsay, 'Individualism', *Encyclopaedia of Social Sciences*.

पाया जाता है। प्रोटागोरास, सुकरात, स्ताइक, लूथर आदि विचारक इस व्यक्तिवाद से पोषक थे। इस व्यक्तिवाद ने संगठित शक्ति के विरोध में, यूरोप में सत्रहवीं शताब्दी में, युद्ध किया। यूनानी नैतिक व्यक्तिवाद का कोई आर्थिक और राजनीतिक तात्पर्य प्राचीनकाल में नहीं निकाला गया था। दूसरी ओर, मानव-श्रम से एक अधिक श्रेयस्कर समाज का निर्माण सम्भव है, इस प्रकार का भविष्योन्मुखी आशावाद भी उस समय नहीं पाया जाता है। यूरोप में सत्रहवीं शताब्दी में धार्मिक व्यक्तिवाद का विकास हुआ। इसने धार्मिक समता का प्रचार किया और धर्मनिरपेक्ष राजनीति का प्रस्ताव रक्खा। नैतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक व्यक्तिवाद की यह विशेषता है कि यह मानव को केवल संस्कृति और तर्कणा का वाहक और पोषण ही नहीं मानता है, अपितु मानव को साध्य मानने का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। मनोवैज्ञानिक व्यक्तिवाद मानव को एषणातुष्टि और भोगवाद का मार्ग बताता है। भारत में चार्वाक और यूनान में एपिक्यूरस इसके समर्थक थे। स्पष्ट है कि केवलमात्र भोगवाद पर किसी समाज की रचना नहीं हो सकती। समाज, सामाजिक कल्याण की व्यापक कल्पना पर ही टिका रह सकता है और इसके निमित्त भोगवृत्ति का आंशिक परिमार्जन. कम-से-कम इतनी दूर तक कि मानव अपने लिए उतनी ही स्वतंत्रता की माँग करे जितना वह दूसरे को देना चाहता है, अपेक्षित है। व्यक्तिवाद का तीसरा रूप आर्थिक है। आर्थिक व्यक्तिवाद का मन्तव्य है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ का साधन करेगा तो इससे सामाजिक कल्याण की सिद्धि होगी। फ्रांसीसी फिजीयोक्रैट मतवादियों, तथा आडम स्मिथ, रिकार्डो आदि में इस प्रकार का विचार पाया जाता है। अनेक विचारकों ने इस आर्थिक व्यक्तिवाद का आश्रय लेकर पूँजीवाद का समर्थन किया तथा आर्थिक जीवन में राज्य के हस्तक्षेप को अनावश्यक तथा सभ्यता-विरोधी बताया। राजनीतिक व्यक्तिवाद वैयक्तिक अधिकारवाद का पोषक है। हाब्स सत्ताशाही का समर्थक होते हुए भी व्यक्ति के आत्म-रक्षणात्मक अधिकार का पोषक था[१]। लाक

१. Thomas Hobbes, *Leviathan*, अध्याय २१: "If the Sovereign command a man (though justly condemned,) to kill, wound or maim himself; or not to resist those that assault him; or to abstain from the use of food, air, medicine, or any other thing, without which he cannot live; yet hath that man Liberty to disobey. If a man be interrogated by the Sovereign, or his Authority, concerning a crime done by himself,

स्वतंत्रता और सम्पत्ति के अधिकार का समर्थक था और रूसो के अनुसार तो राज्य का बीज ही जनता के स्वतंत्र संकल्प पर है। स्पेन्सर और उसके पहले विलहेल्म भान हम्बोल्डट तथा मिल ने राजनीतिक व्यक्तिवाद का समर्थन किया था। बेंथम और उसके साथी 'दार्शनिक उग्रपन्थी' लोगों को सामाजिक विषमता और अन्याय से गहरा असन्तोष था और इसी लिए उन्होंने राजनीतिक और विशेषत: कानूनी सुधार का मार्ग प्रशस्त किया। जान स्टुआर्ड मिल स्वतंत्रता का प्रचण्ड पोषक था। वह सामाजिक और आर्थिक विषमताओं से चिन्तित होकर अपने जीवन के अन्तिम काल में समाजवादी वितरण-क्रिया का समर्थक बन गया।

निसन्देह व्यक्तिवाद एक अतिशय महान विचार है। नैतिक और आध्यात्मिक व्यक्तिवाद हमें अभिप्रेत है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र का तो यह प्राण ही है। राजनीतिक व्यक्तिवाद ने अधिकारवाद की घोषणा कर राज्य के अतिरंजित समर्थन का विरोध किया है। व्यक्तियों के द्वारा यादृच्छिकता के आधार पर निर्मित संस्थाओं के महत्त्व का इसने प्रतिपादन किया है। अमरीका का प्रजातंत्र व्यक्तिवाद का अतिशय पोषण करता है[१]। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में अमरीका में व्यक्तिवाद का

---

he is not bound (without assurance of Pardon) to confess it; because no man can be obliged by covenant to accuse himself. Again, the consent of a subject to a Sovereign power is contained in these words, *I authorise, or take upon me, all his actions*; in which there is no restriction at all, of his own former natural liberty. For by allowing him to *kill me*, I am not bound to kill myself when he commands me. It is one thing to say, *kill me or my fellow, if you please*; another thing to say, *I will kill myself or my fellow*. It follows therefore, that no man is bound by the words themselves, either to kill himself or any other man."

१. John Dewey, *Individualism Old and New*; Herbert Hoover, *The Challenge to Liberty*. आर्थिक व्यक्तिवाद के नाम पर हूवर ने रूजवेल्ट की आर्थिक नीति (न्यू डील) का खण्डन किया है।

प्रशस्त विकास हुआ। भारत में गांधी की शिक्षाओं से एक उदात्त व्यक्तिवाद जाग्रत हुआ। प्रश्न यह है कि आज की समस्याओं को देखते हुए कितनी दूर तक व्यक्तिवाद और प्रजातंत्र का मेल रक्खा जा सकता है। राजनीतिक व्यक्तिवाद और प्रजातंत्र सिद्धान्ततः सामंजस्यपूर्ण हैं। चाहे प्रजातंत्र का केवल राजनीतिक प्रक्रियात्मक अर्थ किया जाय या इसको आध्यात्मिक श्रेयमूलक जीवन-दर्शन का रूप दिया जाय। इतना ठीक है कि वैयक्तिक अधिकारों को सुरक्षित रखना इसका आदर्श है। व्यक्तिवाद और प्रजातत्र दोनों सत्तावाद और एकतंत्र के विरोधी हैं तथा राजकीय विकास के निमित्त सतत वाद-विवाद, बहस और शास्त्रार्थ की पद्धति को अनिवार्य मानते हैं। किन्तु व्यवहार में कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि बहुसंख्यातंत्र स्वेच्छाचारिता का प्रयोग कर अल्पसंख्यकों के उचित स्वार्थ को भी कुचलने का प्रयास करता है। अमरीका की दक्षिणी रियासतों में हब्शी लोगों को मनुष्य से अवर समझना, प्रान्तीय व्यवस्था के अन्दर भी संभव है। जब प्रजातंत्र के नाम पर मंत्रिपरिषद् या कार्यपालिका का एकतंत्र स्थापित हो जाता है[1] तब राजनीतिक व्यक्तिवाद का हनन होता है। क्योंकि राजनीतिक व्यक्तिवाद का यह मन्तव्य है कि प्रजातंत्र की सफलता के लिए कार्यपालिका की अपेक्षा संसद अथवा व्यवस्थापिका की शक्ति अधिक होनी चाहिए। महात्मा गांधी आधुनिक प्रजातंत्र के विरोधी थे। उनका कहना था कि नैतिक व्यक्ति-वाद का तकाजा है कि मत गिनने की अपेक्षा, मत के सौष्ठव और सत्यता पर ध्यान दिया जाय। यद्यपि गांधी का यह कथन कि एक पुरुष का सत्यमत बहुत लोगों के अयुक्त मत की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है, श्रुतिप्रिय है; तथापि संस्थात्मक रूप में इसका पालन अत्यन्त कठिन हो जायगा। यह भी संभव है कि जनमत का अपनेको संदेशवाहक मानकर कोई नेता या अल्पसंख्यक वर्ग स्वेच्छाचारिताा का अवलम्बन कर ले। अतः प्रजातंत्रीय पद्धति को हटाने का प्रस्ताव असंगत है। आवश्यकता है, इसमें नैतिक तत्त्वों के अनुप्रवेश की। राजनीतिक व्यक्तिवाद के ऊपर आधारित प्रजातंत्रवाद प्रत्येक मनुष्य को एक वोट देकर उसको नैतिक सम्मान प्रदान करता है। इसका तात्पर्य है कि प्रत्येक चेतन मानव अपनी अनुभूति और जीवनधारा का परिणाम सामूहिक कल्याण के लिए अर्पित कर सके। किन्तु दलीय संगठन ने उत्कर्ष-प्राप्ति के नाम पर और कभी-कभी आर्थिक और राजनीतिक आयात (आकस्मिक घोर संकट)

---

१ रैमजे मूर ने ब्रिटेन में मन्त्रि-परिषद् के अधिनायकत्व का उल्लेख किया है। हीवार्ट ने कार्यपालिका की सतत वर्धनशीला-शक्ति का उग्र चित्रण किया है। द्रष्टव्य— R. Muir, *How Britain is governed*; Hewart, *The New Despotism.*

का नारा लगाकर व्यक्ति को प्रश्रय देने के स्थान पर अपने स्वार्थ के साधन करने का प्रयास किया है। राजनीतिक जीवन में सफलता को आज इतना खर्चीला और इतना पेचीदगीपूर्ण बना दिया गया है कि प्रजातंत्रीय पद्धति के रहते हुए भी अल्प-साधनवाले नीतिमान् विद्वान् पुरुषों को राजनीति से दूर रहना पड़ता है और कभी-कभी अल्पयोग्यतावाले, अभावुक, मोटी बुद्धिवाले आदमी राजनीति में आगे बढ़ जाते हैं। ऐसा उदाहरण प्रजातंत्रीय परम्परा के लिए असंगत और अशोभनीय है। इसी प्रकार की बातों को देखकर ही प्लेटो ने प्रजातंत्र की भर्त्सना की है। यद्यपि प्रजा-तंत्रीय परम्परा का आश्रय लेकर अबतक दलित रहनेवाले अनेक वर्गों ने अपना नूतन संगठन किया है, तथापि विभिन्न निहित स्वार्थों और वर्गों के संघर्ष से राजकीय जीवन एक दलदल बन जाता है और वैयक्तिक अधिकार की उपेक्षा हो जाती है। ऐसा भी देखा गया है कि दलबंदी करनेवाले लोग नौकरशाही (अर्थात् अध्यक्षगण) को अपने गुट में मिलाकर राजनीतिक अधिकारों की उपेक्षा करते हैं। इसलिए आव-श्यक है कि अपने अधिकारों की रक्षा के लिए नैतिक चैतन्य का विकास हो। व्यक्ति-वाद का आधार है--मानव की तर्कसंगतता और बुद्धिशीलता का विचार। चेतन नीतिमान् मानव अधिकारप्राप्ति के सहारे अपनी शक्तियों का विकास करे और अपने विकसित विलक्षण चारित्र्य से सामूहिक उन्नयनरूपी यज्ञ में जुट जाय, यही व्यक्तिवाद का लक्ष्य है। प्रजातंत्र का भी यही लक्ष्य है। वैयक्तिक समुत्थान से ही सामष्टिक उन्नयन संभव है और सामाजिक विकास का आदर्श नियम यही हो सकता है कि व्यष्टि और समष्टि का समसामयिक परस्पर सद्भावनामूलक उत्थान हो। व्यक्ति-अधिकार-विरोधी अविवेकवादी विचारों का प्रचार कर जर्मनी, इटली आदि में उदारवादी प्रजातंत्रीय परम्परा को कुचला गया[१]। जब सामाजिक और आर्थिक विषमताओं का कोई तर्कयुक्त समाधान खोजने के बदले मानव को ऋतुमय पशु मान-कर कोई दल अतिरंजित शक्तिवाद, साम्राज्यवाद, युद्ध आदि का प्रचार करता है तब निस्सन्देह प्रजातंत्र खत्म हो कर ही रहेगा। इसी बलवाद की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि, नित्शे ने ईसाइयत, प्रजातंत्र और समाजवाद इन तीनों को यहूदियों के पतन से निःसृत मान कर तैयार की थी। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र मानव को नीतिमान् और चेतन मानता है और मानव के आध्यात्मिक उन्नयन में इसको विश्वास है। केवलमात्र

---

१. V. P. Varma, "From Liberalism to Totalitarianism" *The Calcutta Review*; जनवरी १९५३; F. W. Coker, "Some Present day critics of Libralism;" *The American Political Science Review*, मार्च १९५३.

भावनाओं और वासनाओं का पोषण इसको कदापि अभीष्ट नहीं है। स्पष्ट है कि प्रजातंत्र की रक्षा के लिए व्यापक व्यक्तिवाद का समर्थन करना ही होगा। आज व्यक्तिवाद खतरे में है। समूहवादियों और साम्यवादियों के विचार में इसका कोई महत्त्व नहीं[1]। प्रजातंत्रीय देशों में भी यांत्रिक सभ्यता और पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के तीव्र विकास के कारण आज व्यक्ति कोई विशिष्ट वस्तु नहीं रह जाता है। आज अमरीका के कुछ विचारक अठारहवीं शताब्दी के उस स्वतंत्र व्यक्तिवादी कृषक का स्वप्न देखते हैं जो अनेक प्रकार से स्वतंत्र रहकर अपनी बुद्धि के द्वारा अपने भाग्य का निर्माण करता था। किन्तु आज के युग में अनेक संस्थाओं और संगठनों के द्वारा अपने व्यक्तित्व के छिटपुट भागों का प्रकटीकरण करता हुआ, मानव अपने समग्रदर्शी व्यक्तित्व को खो बैठा है। यंत्रयुग में वह स्वयं एक मशीन बन गया है। व्यक्तित्व के लाभ का अर्थ है—अपनी विलक्षण भावप्रवणता और बौद्धिकता की प्राप्ति के निमित्त कर्मयोग का साधन। जब भयंकर संगठनों के द्वारा, चाहे वे संगठन राजनीतिक हों वा आर्थिक, मानव का जीवन पूर्णतया ग्रस्त और नियंत्रित हो जाता है तब उस घातप्रतिघात, और अन्तष्क्रिया का उसे अवसर और अवकाश नहीं मिलता जो उसके वैयक्तिक विकास के लिए आवश्यक है। आज इस अज्ञात, अव्यक्त, मूक मानवता का चित्र संसार के बड़े-बड़े नगरों में देखा जा सकता है। आज के राजनीतिक जीवन की सबसे बड़ी समस्या है कि प्रजातंत्रीय समाज का नूतन निर्माण हो जिससे इस अनेकधाविभक्त मानव के बदले एक आत्मविकासोन्मुख नैतिक चेतन मानव का दर्शन हो सके। ऐसी अवस्था में ही प्रजातंत्र व्यक्तिवाद का पोषक बन सकेगा। मानव-संस्कृति और सभ्यता का वाहक और उसका निर्माता व्यक्ति ही है। जब यह व्यक्ति ही आर्थिक दलदल और यांत्रिकता के जंगल में नष्ट हो जायगा तब निर्जीव संस्थाओं से क्या होगा? अतएव राजनीतिक समस्याओं में आज एक महत्तम समस्या है—किस प्रकार वैयक्तिक अधिकार और स्वातंत्र्य को दलीय और आर्थिक आक्रमणों से बचाकर प्रशस्त व्यक्तिवाद का विकास किया जाय? इस विकास के निमित्त विराट श्रेयों का क्रियान्वयन अपेक्षित है। इस प्रकार का श्रेयनिष्ठ व्यक्तिवाद सर्वभूत-कल्याण का पोषक है। इसके सहारे ही सामान्य हित प्रकटित हो सकता है।

दार्शनिक राजनीतिशास्त्र राजनीतिक व्यक्तिवाद का समर्थक होते हुए भी आर्थिक व्यक्तिवाद का विरोधी है। आर्थिक व्यक्तिवाद का अतिरंजित रूप है—आर्थिक

---

१. द्रष्टव्य—Bernard Bosanquet, "The Antithesis between Individualism and Socialism Philosophically considered". *The Civilization of Christendom*, पृष्ठ ३०४–३५७.

सशक्तों का ही अवशिष्ट रहना। जब दो विभिन्न शक्तिवाले दलों में संघर्ष होता है, तब उसमें राज्य की निरपेक्षता का अर्थ है--कमजोर दल का अन्त। अठारहवीं शताब्दी और उन्नीसवीं शताब्दी के तीन दशकों तक आर्थिक व्यक्तिवाद चल सकता था। किन्तु उसके बाद के आर्थिक विकास ने इसको असामयिक बना दिया है। पूँजीवादी संस्थाओं--ट्रस्ट, कार्टेल, सिन्डिकेट आदि, के विकास और श्रमिक संघों के संगठन से वैयक्तिक प्रतियोगिता का जो रूप था, वह अब बदल गया है। औद्योगिक जीवन के विकास से तथा एकाधिकारवाद के उद्‌भव और बढ़ती से आर्थिक जीवन का ढाँचा बदल गया है। सैद्धान्तिक रूप से प्रजातंत्र और आर्थिक व्यक्तिवाद में कोई विरोध नहीं है। किन्तु व्यवहार में दोनों का सामञ्जस्य अत्यन्त कठिन है। आर्थिक व्यक्तिवाद का अर्थ है कि प्रतियोगिता के द्वारा यदि वैयक्तिक स्वार्थ का साधन किया जाय तो इसमे अन्ततः सामूहिक कल्याण सिद्ध होगा। किन्तु आज की संजटिल आर्थिक समस्या के निमित्त यह एक अत्यन्त साधारण निदान है और अव्यावहारिक है। आज प्रजातंत्र को मजबूत बनाने के लिए आर्थिक व्यक्तिवाद के बदले राजकीय हस्तक्षेप तथा राजकीय नियंत्रण की ही आवश्यकता नहीं है, अपितु योजनायुक्त समाज अपेक्षित है। अमरीका में अभी तक धन का प्राचुर्य है और वहाँ व्यक्तिवाद अभी टिका है और अनेक अमरीकन विचारक प्रजातंत्र और आर्थिक व्यक्तिवाद को अविभाज्य सम्बन्ध से बँधा हुआ मानते हैं। किन्तु यूरोपीय देशों के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि योजनायुक्त अर्थव्यवस्था आज के निमित्त आवश्यक है।

दार्शनिक राजनितिशास्त्र का आधारस्तम्भ है--आध्यात्मिक और नैतिक मानववाद। किन्तु आज की संजटिल अवस्था में असहाय मानव अपनी शक्तियों का उचित विकास कर ही नहीं सकता जबतक सामाजिक दृष्टि से उसके लिए उपयुक्त आधार न पैदा किये जायँ। आर्थिक झंझटों, मन्दी, मुद्रास्फीति, बंकों और पूँजीपतियों की स्वार्थपूर्ण नीति आदि से ग्रस्त मानव अपने को 'अयमात्मा ब्रह्म' का क्या बोध करायेगा? भूख और अनिश्चितता की समस्या आज विकट है। कुछ विशालाशय पुरुष आर्थिक उपादानों के अभाव में भी आत्मनिष्ठ और प्रत्यगात्मदर्शी बने रह सकते हैं, किन्तु अपार जनसमूह की शक्तियों का यदि मानवहित के निमित्त प्रयोग करना है तो आवश्यक हो जाता है कि आर्थिक व्यवस्था का पुनर्निर्माण हो। लुडविग, भान मिसेज, हाएक, लिपमैन आदि व्यक्तिवादी प्रतियोगिताधारित अर्थव्यवस्था के पोषक हैं[1]।

१. Ludwig Von Mises, *Socialism*, *Human Action* ; Friedeich Hayak, *Road to Selfdom. The Pure Theory of Capital* : Walter Lippman, *The Good Society*.

किन्तु आर्थिक मन्दी के बाद से ही अमरीका के कुछ समाजशास्त्री कम-से-कम आंशिक योजना का समर्थन कर रहे हैं। यूरोप के कुछ देशों में तो प्रजातंत्र और समूह-वादी अर्थव्यवस्था का बहुत दूर तक मेल किया गया है। स्वीडेन और डेनमार्क इस दिशा में बहुत आगे बढ़ गये हैं। लास्की का कहना था कि यदि समय रहते प्रजातंत्रीय देशों ने योजनाबद्ध समाज का निर्माण नहीं किया तो संभव है कि प्रति-क्रियावादी फासिस्ट अर्थ-राज्यव्यवस्था प्रजातंत्र को ही खत्म कर दे, जैसा उसने जर्मनी और इटली में किया था। लास्की सहमननात्मक क्रान्ति का पोषक था। उसने ब्रिटेन को आगामी खतरे से आगाह किया। शीघ्रातिशीघ्र उसने, बीमा (इन्स्यूरेन्स) कम्पनियाँ, जमीन, आयात और निर्यात, यातायात के साधन, गैस, बिजली आदि के राष्ट्रीयकरण का प्रस्ताव पेश किया[१]। इतना निश्चित है कि आज सारे संसार में भयंकर आर्थिक खतरा है। आज प्रजातंत्र केवल राजनीतिक निर्वाचन-पद्धति का नाम ही नहीं है; प्रजातंत्र का मतलब है—प्रजा को सुखी बना कर उसे राज्यकार्य के आधारभूत नियमों के निर्माण के लिए उपयुक्त बनाना। एशिया में अभी प्रजातंत्र का प्रभात हुआ है। बड़ा खतरा है कि यहाँ की आर्थिक समस्याओं की विभीषिका कहीं प्रजातंत्र को ग्रस्त न कर ले। केवल राजनीतिक प्रश्नों के समाधान से कार्य नहीं चल सकता। आज अनेक पैगम्बर मार्क्सवाद का नारा लगा रहे हैं। उनका कहना है कि जनवाद का तकाजा है कि मार्क्सवाद के द्वारा ही आर्थिक-राजनीतिक समस्याओं का समाधान हो सकता है। रूस और चीन की सफलताओं से प्रभावित हो कुछ लोग मार्क्सवाद को ही एकमात्र निदान मानते हैं। इसलिए आवश्यक हो जाता है कि प्रजातंत्र और मार्क्सवाद का पारस्परिक सम्बन्ध अच्छी तरह समझा जाय।

साम्यवाद एक प्राचीन विचारधारा है[२]। आध्यात्मिक और लोकोत्तरवादी भावनाओं का आश्रयण कर तपस्यामूलक साम्यवाद प्लेटो में पाया जाता है। यांत्रिक सभ्यता के अभाव में मानव की आवश्यकताओं को कम करना ही इसका उद्देश्य था। आधुनिक साम्यवाद मुख्यतया भौतिकवादी, यंत्रवादी, जड़वादी है और विज्ञान तथा अर्थशास्त्र का प्रयोग कर एक सुखी वर्गहीन, राज्यहीन साम्याधारित समाज की स्थापना इसका उद्देश्य है। प्लेटो का साम्यवाद केवल शासकवर्ग के लिए था, आधुनिक साम्यवाद

२. Harold J. Laski, *Reflections on the Revolution of our Time*, पृष्ठ ३०७–३०८.

१. Bernard Bosanquet, "Some Socialistic Features of Ancient Societies", *Essays and Addresses*: पृष्ठ ४८–७०.

सर्वव्यापी बनना चाहता है। अध्यात्म प्रतिपादित अद्वैत और एकता के अनुसंधान में पारिवारिक जीवन को बंधन मानकर प्लेटो ने राज्यपालों के लिए विवाह-प्रथा का उन्मूलन करने का प्रस्ताव किया। आधुनिक साम्यवाद परिवार का महत्त्व स्वीकार करता है। प्राचीन साम्यवाद भावनात्मक संशोधन और चारित्रिक रूपान्तर में विश्वास करता था। आधुनिक मार्क्सीय वैज्ञानिक साम्यवाद राजनीतिक शक्ति पर विजय प्राप्त कर आर्थिक रूपान्तर को ही मुख्य मानता है। साम्यवाद की स्थापना को प्लेटो ईश्वर या नियति के आश्रित मानता था। मार्क्सवाद का कहना है कि इतिहास की अनुस्यूत शक्तियाँ अप्रतिहार्य वेग से वैज्ञानिक साम्यवाद की स्थापना के लिए वेगवती हैं। मार्क्सवाद के अतिरिक्त अन्य भी कुछ साम्यवादी धाराएँ आज संसार में हैं,[1] उदाहरणार्थ धार्मिक साम्यवाद। किन्तु इसी की प्रधानता होने के कारण प्रजातंत्र और मार्क्सवाद का सम्बन्ध-विवेचन समीचीन है।

सन् १८४४ में यहूदी समस्या पर मार्क्स ने एक लेख लिखा था। इसमें इसने अठारहवीं शताब्दी के प्रजातंत्रीय आन्दोलन का महत्त्व स्वीकार किया था। उसने ऐसा भी बताया था कि प्रजातंत्रीय राज्य में धर्म की आवश्यकता नहीं होगी। उसी

---

१. "कम्यूनिस्ट घोषणापत्र" में मार्क्स और एङ्गल्स ने साम्यवादी और समाजवादी साहित्य का विवेचन करते हुए निम्नलिखित विचार-धाराओं का उल्लेख किया है :—

(क) प्रतिक्रियावादी समाजवाद।

(१) सामन्तवादी समाजवाद—मोन्टेलम्बर्ट, डिजरेली, कार्लायल आदि में इसका निदर्शन है। पादरी-समाजवाद भी सामन्तवादी समाजवाद का अनुवर्त्ती है।

(२) क्षुद्र-मध्यवर्गीय समाजवाद—(Petty-Bourgeois socialisim) —उदाहरणार्थ, सिसमौन्डी की विचारधारा इसका निर्देशक है।

(३) जर्मन या 'सत्य' समाजवाद—कार्ल ग्रून इसका प्रतिनिधि है।

(ख) अनुदारवादी या मध्यवर्गीय समाजवाद—प्रूधों इसका प्रतिनिधि है।

(ग) आलोचनात्मक-कल्पनात्मक समाजवाद और साम्यवाद—संत-सायमन, फूरिये और ओवेन इसका प्रतिनिधित्व करते हैं।

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में समाजवाद और साम्यवाद की अन्य शाखाओं-प्रशाखाओं का भी विकास हुआ है, उदाहरणार्थ, समूहवाद, श्रेणी-समाजवाद, सिन्डीकलिज्म, सुधारवाद (बर्न्सटायन और तुगान-बारानोव्स्की की विचार-धारा), काउत्सकीवाद, लेनिनवाद स्तालिनवाद, ट्राट्स्कीवाद आदि।

समय के अपने लेखों में ऐंगल्स ने भी बताया कि समस्त सभ्य देशों में प्रजातंत्र का परिणाम होगा– सर्वहारा का राजनीतिक राज्य। यद्यपि 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' क्रान्ति का नारा लगाता है तथापि इसका यह प्रस्ताव कि मध्यवर्ग से 'धीरे धीरे' वस्तुएं छीन ली जायेंगी तथा विकास-प्रकिया में वर्गभेद मिट जायेंगे, शक्ति और बल के समर्थन के बावजूद भी, शुम्पेतर के विचार में, एक प्रकार से प्रजातंत्र के अन्तर्गत लिया जा सकता है। सन् १८४८ की क्रान्ति के समय मार्क्स 'नोय रायनिश जायटूंग' नामक पत्र का सम्पादक था। यद्यपि इसमें प्रकाशित उसके विचार बड़े उग्र थे तथापि वे मध्यवर्गी प्रजातंत्र की विचारधारा के अन्तर्गत थे। 'नोय रायनिश जायटूंग' का दूसरा नाम (सब टाईटिल) था 'प्रजातंत्र का माध्यम'[१]। सन् १८४८ की क्रान्ति के बाद, उस समय की आस्ट्रिया और जर्मनी में श्रमिक आन्दोलन की विफलता को देखते हुए, मार्क्स को प्रजातंत्र से असन्तोष हो गया। तथापि 'न्यूयार्क ट्रिब्यून' और 'न्यू अमरीकन इन्सायक्लोपिडीया' में प्रकाशित अपने लेखों में मार्क्स उग्र प्रजातंत्रीय नीति का समर्थक मालूम पड़ता है[२]। मार्क्स सन् १८४९ से १८८३ तक अर्थात् मरणपर्यन्त अपने देश से निर्वासित होकर लंदन में रहा और अंग्रेजी प्रजातंत्र की छत्रच्छाया का अनुभव करता रहा। इसी लिए अंग्रेजी पूंजीवाद का निर्मम खंडन करने के बावजूद भी अंग्रेजी प्रजातंत्र में उसका विश्वास रहा। सन् १८७२ में, हेग के अपने व्याख्यान में, मार्क्स ने आशा प्रकट की कि इंगलैण्ड, अमरीका और संभवतः हालैण्ड में भी शांतिपूर्ण उपायों से राजनीतिक शक्ति प्राप्त की जा सकती है[३]। मर्क्स क्रान्ति का पक्षपाती होते हुए भी यावज्जीवन अराजकतावादियों की पद्धति का विरोधी था। सन् १८८१ में मार्क्स ने हिण्डमान से कहा था कि इंगलैण्ड ही एक ऐसा देश है जहाँ शांतिपूर्ण क्रांति संभव है; किन्तु कुछ ठहरकर उसने कहा कि इतिहास में ऐसे उदाहरण नहीं मिलते हैं[४]। सन् १८९१ में ऐंगल्स ने लिखा कि संयुक्तराज्य अमरीका, फ्रांस और इंगलैण्ड में वर्तमान समाज शांतिपूर्ण उपायों से नूतन समाज में परिवर्तित हो सकता है[५]। सन् १८९४ में साम्यवादी क्रिया-पद्धति को बताते हुए ऐंगल्स ने मुआवजा

१. John Spargo, *Life of Karl Marx*, पृष्ठ १४५.
२. "Karl Marx" by Karl Korsch, *Encyclopaedia of Social Sciences*, खण्ड १०.
३. M. M. Beber, *Karl Marx's Interpretation of History*, पृष्ठ २९५.
४. Boris Nicelaivsky and Otto Maenchen-Helfen, *Karl Marx, Man and Fighter*, पृष्ठ ३९३–९४.
५. Engels, *Neue zeit*, XX, No. 1, पृष्ठ १०.

देना भी संभव बताया[१]। सन् १८९५ में, मार्क्स-विरचित 'फ्रांस में वर्गसंघर्ष' नामक पुस्तक की भूमिका में उसने व्यापक मताधिकार की प्रशंसा करते हुए बताया कि जर्मनी का सोशल डिमोक्रैटिक दल इसके द्वारा उत्पन्न सुपरिणामों को व्यक्त कर रहा था[२]। इन सब उद्योगों और विचारों से ऐसा प्रतीत होता है कि अंशतः तो कम-से कम मार्क्सवाद और प्रजातंत्र का सामंजस्य किया जा सकता है।

मार्क्सवाद और प्रजातंत्र दोनों पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति की उपज हैं। यद्यपि मार्क्सवाद का व्यावहारिक रूप रूस और चीन में देखने में आया है, तथापि यह सिद्धान्त जर्मनी के विश्वविद्यालयों में शिक्षा पाये एक मनुष्य के द्वारा निर्मित हुआ है। पश्चिमी सभ्यता के गढ़--लन्दन के ब्रिटिश म्यूजियम--में कैपिटल लिखने की सामग्री इकट्ठी की गई। मार्क्सवाद की यह बड़ी विशेषता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रायः अन्त तक पश्चिमी देशों में जो महत्त्वपूर्ण ज्ञानधाराएँ थीं; उनके समन्वय का इसने यत्न किया। हेगेल का द्वन्द्ववाद, प्रूधों और संत सायमन का समाजवाद, स्मिथ और रिकार्डो का अर्थशास्त्र, मारगन का प्राचीन मानवशास्त्र, डारविन का विकासवाद, इन सब विचारधाराओं का आंशिक प्रभाव मार्क्सवाद के ऊपर व्यक्त हुआ है। मध्ययुग के अन्त के बाद जगत का पूर्ण अध्ययन करनेवाली जो वैज्ञानिक धारा यूरोपीय पुनरुद्धार के साथ व्यक्त हुई, उसी व्यापक सैद्धान्तिक आकाश का अन्तर्वर्ती मार्क्सवाद भी है। यूरोपीय विज्ञान और दर्शन के द्वारा प्रतिपादित प्रकृति-विजय का मुख्य सूत्र ही मार्क्सवाद को चेतन प्रदान करनेवाला महान आदर्श है। मार्क्सवाद पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के वैशिष्ट्यों के समन्वय का यत्न करता है। और इसी लिए इसकी व्यापक ज्ञानग्राहिता और द्वन्द्ववाद की समग्रमूलिका दृष्टि से रूस और एशिया के लोग प्रभावित हुए हैं। मार्क्सवाद के रूप में, एक ही सैद्धान्तिक विचारधारा के सहारे रूस और एशिया के बुद्धिजीवियों को पश्चिमी सभ्यता की अनेक धाराओं से परिचय मिल जाता है। मार्क्सवाद के अन्तर्गत जो सामाजिक न्याय का अत्यन्त जोरदार समर्थन हुआ है, वह यहूदी धर्मप्रतिपादित, न्याय के प्रचण्ड आशावाद का ही रूपान्तर है। जगतव्यापी अत्याचार, अनाचार और पाषण्ड का जिस उग्रता से खण्डन यहूदी पैगम्बरों ने किया था, वही तीव्रता, वही उग्रता मार्क्सवाद के द्वारा भी पूँजीवादी सभ्यता के खण्डन में व्यक्त हुई है। न्याय के विशाल आशावाद ने ही मार्क्सवाद को एक रागात्मक चुम्बकत्व प्रदान किया है। पश्चिमी सभ्यता में वर्तमान यहूदी धर्म की न्यायवादिनी

१. Engels, Neue ziet *XXIII*, No. 1, पृष्ठ ३०५.

२. Engels, *Class Struggles in France* (*by Marx*) की भूमिका।

धारा से यदि मार्क्सवाद प्रभावित है तो ईसाइयत की धारा से प्रजातंत्र प्रभावित है। किन्तु अन्तर यह है कि मार्क्स और मार्क्सवादी सर्वदा धर्म को अफीम कह कर कदापि भी यहूदी धर्म की विचारधारा का अपने ऊपर प्रभाव नहीं स्वीकार करेंगे। किन्तु दूसरी ओर धर्मनिरपेक्षतावाद का नारा लगाकर भी प्रजातंत्र प्रसन्नता से ईसाइयत के प्रभाव को स्वीकार करता है। यदि मार्क्सवाद की मुख्य माँग है सार्वत्रिक न्याय, तो प्रजातंत्र नैतिक स्वतंत्रता की कामना करता है। प्रजातंत्र, स्ताइक के मानववाद और ईसाईधर्म की मनुष्य को साध्य मानने की परम्परा से बहुत प्रभावित है।

मार्क्सवाद और प्रजातंत्र दोनों तर्कणावाद से प्रभावित हैं। डेकार्ट, लाइबनिज और स्पायनोजा के बुद्धिवाद को ध्यान में रखते हुए तथा जर्मन विज्ञानवाद द्वारा प्रचारित मानव-मस्तिष्क की कर्तृत्वशक्ति का विज्ञापन करते हुए, दोनों ही मानव-समाज को बुद्धि के द्वारा अनुशासित करना चाहते हैं। यदि लेनिन तर्कणासंश्रित और वैज्ञानिकीकृत समाज का समर्थक था तो जर्मनी का उदारवादी समाजशास्त्री वेबर भी ऐसा ही विचार मानता था। किन्तु यद्यपि विज्ञानसम्मतबुद्धिवाद का प्रभाव मार्क्सवाद और प्रजातंत्र दोनों स्वीकार करते हैं, तथापि इतना निश्चित है कि दार्शनिक बुद्धिवाद की धारा का प्रभाव मार्क्सवाद पर है और दार्शनिक अनुभववाद का प्रभाव प्रजातंत्र पर है। बुद्धिवाद का दर्शन मानसिक कर्तृत्वशक्ति का प्रतिपादन करते हुए भी बौद्धिक तत्त्वों का प्रकृष्ट महत्त्व मानता है। अतिशय बुद्धिवाद का प्रभाव ग्रहण करने के कारण मार्क्सवाद समूहवाद का समर्थन करता है। समूह, व्यक्तियों का एकत्रीकरण ही है, यद्यपि समूह में कुछ विलक्षण स्वतः उद्भूत गुण भी हैं। समूह का प्रकृष्ट महत्त्व बुद्धिवाद के द्वारा उपस्थित हुआ है। मार्क्सवाद का बुद्धिवाद काण्ट की संवित्धारा से प्रभावित था और यद्यपि लेनिन ने ज्ञान को 'प्रकाश' और 'अनुकृति' मात्र मानकर, पुनरपि अनुभववादी धारा को प्रकाशित किया, तथापि मुख्यतया मार्क्सवाद बुद्धिवादी है और इसीसे ही उसका समूहवाद भी प्रभावित है। बुद्धिवाद, प्रत्ययों को महत्त्व देने की धारा का समर्थन करता है। इसी कारण मार्क्सीय बुद्धिवाद समूह या समष्टि को, जो सत्य होते हुए भी अनेक पृथक्वर्ती मानवों का प्रत्यय ही है, प्रकृष्ट महत्त्व प्रदान करता है। दूसरी ओर प्रजातंत्र, लाक, बर्कले और ह्यूम की अनुभववादी धारा से प्रभावित है। उसी दार्शनिक परम्परा में ही उसका जन्म हुआ। जब ब्रिटिश अनुभववाद की चरम परिणति फ्रांसीसी जड़वाद में हुई तब उसने फ्रांस की राज्यक्रांति की, जो मुख्यतया प्रजातंत्रीय क्रांति थी, दार्शनिक पृष्ठभूमि तैयार की। यदि आज मार्क्सवाद पुनरपि

स्पायनोजा को जड़वादी मानकर उसके दर्शन का उद्धार चाहता है, तो प्रजातंत्र के समर्थक अनुभववादी परम्परा पर बल देते हैं। अनुभववाद पृथक्वर्त्ती मानव और उसके व्यापार पर ध्यान देता है। अनुभवराशि को ही मुख्य मानकर चलने से अनुभववाद में एक जागतिक और ऐतिहासिक सातत्य मालूम पड़ता है। समाज-शास्त्रीय दृष्टि से देखने पर, बुद्धिवाद और अनुभववाद से क्रमशः उद्भवकाल में प्रभावित रहने के कारण मार्क्सवाद और प्रजातंत्र क्रमशः इतिहास की व्याख्या के विभिन्न नियमों को मानते हैं। बुद्धिवादी मार्क्सवाद व्यापक ऐतिहासिक नियमों की उद्घोषणा करता है। समस्त इतिहास में सतत वर्तमान व्यापक साधारणीकरणात्मक नियमों का अनुदर्शन मार्क्सवाद को बुद्धिवादी परम्परा से विरासत में मिला है। हेगेल और मार्क्स दोनों ही इस प्रकार के व्यापक ऐतिहासिकतावाद के समर्थक हैं। दूसरी ओर अनुभववाद का विश्वास है कि मानवबुद्धि के सहारे सीमित क्षेत्रों के सम्बन्ध में ही नियम बन सकते हैं। वर्तमान के आधार पर ही भविष्य के लिए प्रतिहार्य नियमों की घोषणा करना, अनुभववाद के अनुसार असंगत है। बुद्धि का यह अगन्तव्य क्षेत्र में प्रवेश है। अतः इतिहास के कुछ अंशों के अध्ययन से, सीमित देशकालव्यापी साधारण मान्यताओं का निर्माण अनुभववाद का लक्ष्य है। दूसरी ओर ऐसे सार्वसामान्य नियमों का अनुसंधान करना—जो समस्त इतिहास में लागू हों और यह विश्वास कि इस प्रकार के व्यापक नियम मानव बुद्धि के द्वारा खोजे जा सकते हैं—बुद्धिवादी परम्परा की देन है। यह ठीक है कि आधुनिक समाजशास्त्र व्यापक सर्वसामान्य ऐतिहासिक नियमों का विरोधी है और सीमितकाल-देश-व्यापी निष्कर्षों का ही समर्थन करता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि बुद्धि-वादानुमोदित व्यापक ऐतिहासिकतावाद का रागात्मक महत्त्व होते हुए भी यह आधुनिक ज्ञानधारा के अनुकूल नहीं है।

एक ही पश्चिमी संस्कृति के अन्तर्गत उद्भूत होकर भी अनेक मौलिक प्रश्नों के सम्बन्ध में प्रजातंत्र और मार्क्सवाद में मतभेद है। प्रजातंत्र व्यापक वादविवाद, बहस, शास्त्रार्थ आदि की पद्धति में विश्वास करता है। विरोधियों को बंदूक से नहीं, किन्तु बुद्धि से समझा बुझा कर अपने मत का समर्थक बनाना इसका लक्ष्य है। प्रजातंत्र का विश्वास है कि इस प्रकार के पारस्परिक बौद्धिक संलाप और संघर्ष से ज्ञान का संवर्धन होता है। सत्य अनेकमुख है और इस प्रकार जैन न्याय में बताया गया सप्तभंगीनय ही प्रजातंत्र की तार्किक पद्धति हो सकता है[1]। बौद्धिक द्वन्द्वों

१. सप्तभङ्गीनय या स्याद्वाद :—

(क) स्याद् अस्ति :—

का विचारात्मक सुझाव करना न कि शस्त्रबल से विरोधी को अपने विचारों को मानने को बाध्य करना, प्रजातंत्र का उद्देश्य है। दूसरी ओर मार्क्सवाद बौद्धिक एकाधिकारवाद का आंशिक समर्थन करता है[१]। द्वन्द्ववाद में विश्वास करने के कारण मार्क्सवाद अवश्य मानता है कि विपक्षी के पास भी कुछ सत्य है, भले ही वह प्रवादात्मक हो, न कि संवादात्मक। विचारों को ऐतिहासिक और विशेषतया उत्पादनप्रक्रिया तथा समाज-व्यवस्था के आधार पर उत्पन्न मानकर मार्क्सवाद ऐसा प्रस्ताव रखता है कि कोई पूर्णत: निरपेक्ष सत्य, गणितशास्त्र को छोड़कर, अन्यत्र प्राप्तव्य नहीं है। तथापि मार्क्सवाद का ऐसा व्यावहारिक प्रस्ताव रहा है कि सत्य केवलमात्र उनके दल में ही है। अपने व्यक्तिगत जीवन में मार्क्स बड़ा उग्र था और अपनी बौद्धिक शक्ति का उसे अदम्य अभिमान था। यह निश्चित है कि जिसे प्रचण्ड आत्मविश्वास नहीं है, वह जगत् में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता, किन्तु मार्क्स और लेनिन का आत्मविश्वास इस भयंकर सीमा को पहुंच गया था कि विरोधियों को वे नैतिक दृष्टि से पूर्णतया पतित और बौद्धिक दृष्टि से निहित स्वार्थों का

(२) स्याद् नास्ति :—
(३) स्याद् अस्ति, नास्ति :—
(४) स्याद् अवक्तव्य :—
(५) स्याद् अस्ति अवक्तव्य :—
(६) स्याद् नास्ति अवक्तव्य :—
(७) स्याद अस्ति नास्ति अवक्तव्य :—

शंकर और रामानुज ने सप्तभंगीनय का खण्डन किया है। मैं मानता हूं, कोई भी वस्तु व्याहति-दोष से आक्रान्त होकर वास्तविक नहीं हो सकती है। जब मैं प्रजातंत्रीय परम्परा के लिए स्याद्वाद का अनुमोदन कर रहा हूं, तब इसका शब्दत: तर्कशास्त्रात्मक समर्थन मुझे इष्ट नहीं है। समस्त वस्तुएं संजातीय हैं। विज्ञान और दर्शन शनै: शनै: सत्य को प्राप्त करने का यत्न कर रहे हैं। ऐसी अवस्था में आंशिक सत्य विचारों को लेकर युद्ध करना केवल बौद्धिक मदान्धता का परिचायक है। किसी वस्तु को स्वरूपत: जानना और फिर उसका अन्य वस्तुओं से सम्बन्ध जानना आवश्यक है। प्रजातंत्र का बौद्धिक निष्कर्ष है सहिष्णुता। सत्य को पूर्ण स्वायत्त मानने की प्रणाली अधिनायकवाद को जन्म देती है।

१. तुलनीय—E. Barker, *Principles of Social and Political Theory*, पृष्ठ २००–२०६.

पोषकमात्र ही मानते थे। इस प्रकार का आत्मविश्वास, मजहबी कट्टरपन का रूप धारण कर लेता है। मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर मालूम पड़ता है कि यदि कोई राजनीतिक नेता या दल इस प्रकार की उग्र और प्रचण्ड बौद्धिक असहिष्णुता का परिचय देता है तो निश्चित ही राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने पर वह उसका उपयोग विरोधियों को खत्म करने में करेगा। बौद्धिक सहिष्णुता का विचार प्रजातंत्र को बाध्य करता है कि वह दो दलों अथवा अनेक दलों को स्थापित होने का पूरा अवसर दे। प्रजातंत्र का राजनीतिक आधार ही है- विरोधी राजनीतिक दल की उपस्थिति। केवल एक दल और केवल एक विचारधारा प्रजातंत्र के सर्वथा अननुकूल है। जिन देशों में विरोधी दल नहीं हैं, जहाँ शासक-वर्ग की आलोचना का पूरा अधिकार नागरिकों को नहीं है, वहाँ प्रजातंत्र स्थापित है, ऐसा नहीं माना जा सकता। बौद्धिक स्वतंत्रता के लिए यह पूर्णतया अपेक्षित है कि अभिव्यक्ति के समस्त साधन निष्प्रतिबन्ध हों। जबतक समाचारपत्र किसी का अपमान नहीं करते, तबतक उन्हें पूरी स्वतंत्रता रहनी चाहिए। जब राजनीतिक दल संवहन के साधनों पर भी एकाधिपत्य कर लें तब कह सकते हैं कि प्रजातंत्रीय पद्धति का विनाश हो रहा है।

आर्थिक दृष्टि से मार्क्सवाद योजनाबद्ध समाज का पोषण करता है[१]। उत्पादन

१. F. Engels : Anti-Duhring, (न्यूयार्क, १६३६) पृष्ठ ३०६— "The siezure of the means of production by soeiety puts an end to commodity production, and therewith to the domination of the product over the producer. *Anarchy in social production is replaced by conscious organisation on a planned basis.* The struggle for individual existence comes to an end." वही····पृष्ठ ६३२— "......only the abolition of the capitalist character of modern industry can do away with this new vicious circle, this contradictions in modern industry, which is constantly reproducing itself. *Only a society which makes possible the harmonious co-operation of its productive forces on the basis of a single vast plan* can allow industry to settle in whatever form of distribution over the whole country is best adapted to its own

के समस्त साधनों पर वह समाज का पूरा अधिकार चाहता है। 'कम्यूनिस्ट घोषणा पत्र' तथा अपने पत्रों में मार्क्स और एंगल्स ने उन पद्धतियों का जिक्र किया है जिनसे पूँजीवाद का रूपान्तर साम्यवाद में होगा[१]। मार्क्सवाद के प्रचार से निस्सन्देह अन्य देशों

development and the maintenance of development of the other elements of production."

१. निम्नलिखित कार्यक्रम साम्यवाद की स्थापना के निमित्त मार्क्स और एएंगल्स ने बनाया है:—

(i) Abolition of property in land and application of all rents of land to public purposes.

(ii) A heavy progressive or graduated income-tax.

(iii) Abolition of all right of inheritance.

(iv) Confiscation of the property of all emigrants and rebels.

(v) Centralisation of credit in the hands of the state, by means of a national bank with state capital and with exclusive monoploy.

(vi) Centralisation of the means of communication and transport in the hands of the state.

(vii) Extension of factories and instruments of production owned by the state; the bringing into cultivation of waste lands, and the improvement of the soil generally *in accordance with a common plan.*

(viii) Equal obligation of all to work. Establishment of industrial armies, especially for agriculture.

(ix) Combination of agriculture with manufacturing industries; gradual abolition of the distrinction between town and country, by a more equitable distribution of the population over the country.

(x) Free education of all children in public schools.

में भी राष्ट्रियकरण और योजना की बात चल रही है। मार्क्सवाद पूर्ण योजनाबद्धता का समर्थन करता है। किन्तु प्रजातंत्रीय देशों में आंशिक योजना का विचार मान लिया गया है। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के व्यक्तिवादी प्रजातंत्र के स्थान पर अब आंशिक योजनाबद्ध प्रजातंत्र का नारा सुनाई पड़ता है। अनेक विचारकों ने कहा है कि योजनावाद का अर्थ है--स्वतंत्रता का अवसान। योजना का तात्पर्य है, राज्य के द्वारा अधिक कार्यों का करना जिसे राज्य, अफसरशाही या अध्यक्षगण के द्वारा ही कर सकता है। राजकीय नौकरों के हाथ में बहुत शक्ति आने का मतलब है नागरिकों के जीवन का उनके द्वारा नियंत्रण। समाजवाद के संबंध में इसलिए वेबर ने कहा था कि दासप्रथा का पुनरपि उदय इससे हो जायगा। तथापि आज अनियंत्रित व्यक्तिवादी अर्थव्यवस्था से कार्य नहीं चल सकता। निष्प्रतिबंध उत्पादन, अनावश्यक उत्पादन आदि के कारण समाज पीड़ित है। अतः सामाजिक शक्तियों को समाजहित के लिए उत्पादन प्रक्रिया पर अधिकार करना होगा। विभिन्न देशों की जनसंख्या और साधनों को देखते हुए, कितनी दूर तक यह अधिकार प्राप्त करना आवश्यक है, इस विषय में कोई एक नियम न होकर तारतम्य स्थापित करना पड़ेगा। कोई भी प्रजातंत्रीय देश, व्यक्तिवादी अर्थशास्त्रियों के तर्कों की परवाह कर, अब योजना से विमुख नहीं हो सकता। अतः कह सकते हैं कि सिद्धान्ततः प्रजातंत्र और मार्क्सवाद में योजना के प्रश्न पर आंशिक मतैक्य तो अवश्य है। किन्तु इस योजना को कार्यान्वित करने में प्रजातंत्रीय पद्धति को ही अपनाना पड़ेगा। जिस निष्प्रतिबन्ध स्वतंत्रता का राग अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में अलापा जाता था, वह स्वतंत्रता आज नहीं चल सकती। श्रुतिप्रिय होने पर भी निष्प्रतिबन्ध स्वतंत्रता का आज व्यावहारिक तात्पर्य है--जबरदस्त आर्थिक स्वार्थों का निष्कंटक साम्राज्य। अमरीका के पूँजीपति और उनके पिट्ठू अर्थशास्त्री ही आज योजनाबद्धता को स्वतंत्रता का अपहरण और 'दासत्व की ओर अभिगमन' मानते हैं। आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है कि जितने भी साधन हमारे पास हैं, उनको पूरे नियम के अनुसार प्रयोग किया जाय। धनी देश तो अभी कुछ दिन बिना योजना के कार्य कर सकते हैं; किन्तु गरीब देश तो बिलकुल ही योजना के बिना नहीं चल सकते हैं। जिस आर्थिक स्वतंत्रता का उन्होंने कभी आस्वादन नहीं किया, उसके नाम पर क्रयशक्तिरहित जनता को यह बताना कि योजना से उनकी स्वतंत्रता नष्ट होगी, एक काल्पनिक आदर्श है। किन्तु इतना निश्चित है कि योजना को कार्यान्वित करने

Abolition of children's factory labour in its present form. Combination of education with industrial production, etc.

में प्रजातंत्रीय पद्धति का आश्रय लेने से स्वतंत्रता के अपहरण के संभाव्य अवसर कम किये जा सकते हैं। केन्द्रीय और स्थानीय स्तर पर यदि विरोधी दल न रहेंगे तो स्वतंत्रता निश्चित ही खतरे में रहेगी।

एंगल्स ने अपने समय में विद्यमान प्रजातंत्रीय देशों का बड़ा उग्र खंडन किया है। उसने बताया है कि अमरीका में प्रजातंत्र के नाम पर दो दल अपने आर्थिक स्वार्थों का पूरा पोषण करते हैं[१]। प्रजातंत्र, आर्थिक वर्गों के द्वारा, किस प्रकार पतित बनाया जाता है, इसका भी उसने वर्णन किया है। कभी-कभी घूसखोरी का उपयोग कर अफसरों का नैतिक स्तर नीचे किया जाता है। कभी बंक प्रथा तथा आर्थिक अन्य उपकरणों का राजनीतिक प्रक्रिया पर पूरा प्रभाव दिखाई देता है। यह ठीक है कि आर्थिक शक्ति-सम्पन्नता, राजनीतिक दृष्टि से भी एक महान् अस्त्र है। यह भी ठीक है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था ने आंशिक रूप से प्रजातंत्र पर आक्रमण किया है। अमरीकन इतिहासकारों की लीपापोती के बावजूद भी यह ठीक है कि अनेक अवसर पर पूँजीवादियों के स्वार्थ की रक्षा करने के लिए संयुक्त राज्य अमरीका को दक्षिणी और मध्यवर्ती अमरीका के आन्तरिक प्रश्नों में हस्तक्षेप करना पड़ा है। यह भी ठीक है कि पूँजी अधीशों और अन्य श्वेतांगश्रेष्ठतावादियों के प्रयत्न के कारण ही हब्शी लोगों के उचित अधिकारों का रक्षण भी अमरीकन प्रजातंत्र नहीं कर सकता। तथापि इस कारण से प्रजातंत्र की केवल निन्दा करना असंगत है। धन की शक्ति प्रचण्ड है और जबतक मनुष्य में वित्तैषणा वर्तमान है तबतक वह शक्ति वर्तमान रहेगी। किन्तु प्रजातंत्र के पक्ष-समर्थन में यह अवश्य मानना चाहिए कि मानव इतिहास में पहली बार उसने ऐसी पद्धति उपस्थित की है, जिसका कम से कम अर्थशाहों के राजनीति और विधिप्रणाली में हस्तक्षेप को कम करने के लिए प्रयोग तो किया जा सकता है। निस्सन्देह प्रजातंत्रीय देशों की न्यायव्यवस्था असंगत, खर्चीली और अपूर्ण है, तथापि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में जो विभिन्न वर्णों को पृथक्-पृथक् वर्णश्रेष्टतानुसार दण्ड का विधान किया गया है, वैसी असंगति आज नहीं प्रतिपादित की जा सकती है। मार्क्स के इस कथन का कि 'प्रजातंत्रीय किन्तु पूँजीवादी देशों की न्याय-व्यवस्था में उपस्थित न्याय और समानता आदि के सिद्धान्त का अर्थ ही बदल जाता है जब अर्थपति और श्रमिकों का प्रश्न उपस्थित होता है और न्याय के नाम पर श्रमिकों पर अत्याचार ढाहे जाते हैं', आंशिक समर्थन करते हुए भी मैं मानता हूँ कि अधिक जागरूकता, सतर्कता और संगठनशक्ति के संवर्धन से, यह संभव है कि इस अव्यवस्था का अन्त किया जाय।

---

१. Engeles, *The Origin of the Family, Private Property and the State*: पृष्ठ २०९-२१०.

प्रजातंत्रीय व्यवस्था का आवरण खड़ाकर स्वार्थसाधन करनेवालों के दोष के कारण, प्रजातंत्र का ही खंडन करना ठीक नहीं है। सामन्तवादी युग में राजकीय शक्ति के सहारे धन प्राप्त होता था और बड़े-बड़े जमीनमालिकों को राजकीय शक्ति प्राप्त थी। इस प्रकार की व्यवस्था प्रजातंत्र में संभव नहीं है। प्रजातंत्र कम से-कम ऐसी व्यवस्था और पद्धति उत्पन्न करता है कि बड़े-बड़े आर्थिक संगठित स्वार्थों को भी राजनीतिक दल और संसद के सहारे ही अपना स्वार्थ सिद्ध करना होगा। दल और संसद निश्चित ही अर्थपतियों के चंगुल में फँस जायँगे, इसका कोई कारण नहीं है। अनेक उदाहरणों के होते हुए भी कि अर्थपति प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। यह निश्चित है कि प्रजातंत्र व्यवस्था में इस प्रकार की कार्रवाइयों को रोकने की क्षमता है। अमरीका में अर्थपतियों का साम्राज्य होते हुए भी, संगठन के सहारे कुछ नियंत्रण उन पर लगाना संभव हुआ है। ब्रिटेन में, श्रमिक दल के आन्दोलन और राजकीय शक्ति-प्राप्ति के कारण, अर्थपतियों के ऊपर अनेक नियंत्रण लगाना संभव हुआ है और कुछ आवश्यक उद्योगों का राष्ट्रियकरण भी हुआ है। भारत में जमीन्दारी प्रथा का उन्मूलन कर और अछूत-प्रथा को गैर-कानूनी मानने का नियम लगाकर, यहाँ के प्रजातंत्र ने बताया है कि इस पद्धति के सहारे निहित स्वार्थों पर आक्रमण करना संभव है। प्रजातंत्रीय व्यवस्था राजनीतिक शक्ति को गतिशील बनाकर समस्त नागरिकों के लिए उसकी प्राप्ति संभव बनाती है और राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति के बाद अन्य अनेक निहित शक्तियों का मुकाबला किया जा सकता है। प्रजातंत्र मानव को एक नई चेतना प्रदान करता है। इससे आत्मविश्वास और आत्मसम्मान की भावना बढ़ती है। सदियों से पीड़ित मानव को प्रजातंत्र एक आह्लादकारी औषध के रूप में व्यक्त होता है। प्रजातंत्रीय व्यवस्था में यदि एक नागरिक चाहे तो वह बड़े-बड़े धनसेठों को नीचा दिखा सकता है। अर्थशक्ति का एकच्छत्र राज्य प्रजातंत्र में बन्द हो जाता है। इस पद्धति के सहारे, यदि कोई गरीब मनुष्य भी विधान-सभा का या संसद का सदस्य हो जाता है तो अनेक धनसेठ उसकी खुशामद करते हैं। यह भी संभव है कि जनमत को तैयार कर और दलीय संगठन मजबूत कर, आर्थिक समानता को अधिक दूर तक क्रियान्वित किया जाय। प्रजातंत्र समाजव्यवस्था की पुरानी लकीरों को तोड़ डालता है। यदि एक अछूत मंत्री बन जाता है तो अनेक वर्णाभिमानी ब्राह्मण भी उसको प्रणाम करते हैं। अतः मार्क्सवाद द्वारा उपस्थित प्रजातंत्र की अनेक कमजोरियों को स्वीकार करते हुए भी मैं मानता हूँ कि प्रजातंत्रीय व्यवस्था में उनके समाधान का बीज वर्तमान है।

सम्पत्ति के प्रश्न पर मार्क्सवाद और प्रजातंत्र में समझौता हो सकता है। समग्रात्मक जीवन-दर्शन होते हुए भी प्रजातंत्र व्यवहारतः एक राजनीतिक पद्धति है। व्यक्तिगत

सम्पत्ति इसका अविभाज्य अंग नहीं है। यदि जनमत व्यक्तिगत सम्पत्ति को हटाना चाहे तो वह प्रजातंत्रीय पद्धति से उसे हटा सकता है। अनेक प्रजातंत्रीय समूहवादियों ने, व्यक्तिगत सम्पत्ति को तो नहीं, किन्तु व्यक्तिगत पूँजी, को हटाने का प्रस्ताव किया है। किन्तु यदि व्यक्तिगत पूँजी या सम्पत्ति को हटाना इष्ट हो तो भी प्रजातंत्र उसे संसदीय पद्धति से हटायेगा। बलप्रयोग से सम्पत्तिहरण इसको अभीष्ट नहीं है। मार्क्सवाद हिंसात्मक क्रान्ति को इतिहास को आगे खींचनेवाला इंजन मानकर तथा बल को नूतन समाज को अपने गर्भ में रखनेवाले समाज की धात्रीस्थानीय मानकर सम्पत्तिहरण का समर्थन करता है। प्रजातंत्र को किसी विशेष अर्थव्यवस्था से प्रेम नहीं है, किन्तु इसका दृढ़ सिद्धान्त है कि जिस किसी अर्थव्यवस्था का अनुसरण किया जाय वह व्यवस्था प्रजातंत्रीय पद्धति के द्वारा अनुमोदित हो। अतएव व्यक्तिवादी और समूहवादी दोनों ही अर्थव्यवस्थाएँ प्रजातंत्र में चल सकती हैं। आवश्यकता इसी बात की है कि अर्थापहरण में शक्ति का प्रयोग अभिवांछित नहीं है। स्पष्ट है कि मार्क्सवादाभिप्रेत समूहवादी सम्पत्ति-व्यवस्था को आवश्यकता पड़ने पर प्रजातंत्र अपना सकता है।

प्रजातंत्र राज्य की सत्ता को स्वीकार करता है, किन्तु राज्य को दण्डधर मात्र मानना इसको अभीष्ट नहीं है। राज्य को न्याय स्थापित करने का यह वाहन मानता है। सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ-साथ मानव-चेतना में विकास होता है। जो कार्य पहले भय के कारण मनुष्य करता था, उन्हें संस्कृति के विकास के साथ मनुष्य स्वेच्छा से कर्तव्य समझकर करता है। अतः राज्य का शक्तिवाहक स्वरूप शनैः शनैः कम हो जाता है और न्याय तथा सामाजिक कल्याण का यह वाहक हो जाता है। प्रजातंत्र राज्य को स्वलक्ष्य कदापि नहीं मानता, यह राज्य को सर्वदा समाज का अन्तिम नियंत्रण केन्द्र मानता है। संप्रभुता को दाण्डिक एकाधिकार-सम्पन्नता न समझकर यह सामाजिक शक्तियों से प्रोद्भूत मानता है। प्रजातंत्र राज्य की रक्षा करना चाहता है, यह कदापि अराजकतावादी नहीं है। मार्क्सवाद राज्य का अन्तिम साम्यवादी व्यवस्था में तिरोभाव मानता है। मानव स्वभाव की परिवर्तनीयता में विश्वास, मार्क्सवाद का धार्मिक और कल्पनात्मक तथा आदर्शमूलक स्वरूप व्यक्त करता है। मानव-स्वभाव के इतिहास को देखते हुए, प्रजातंत्र का राज्य-सम्बन्धी विचार अधिक यथार्थवादितायुक्त प्रतीत होता है।

प्रजातंत्र धार्मिक सहिष्णुता का समर्थन करता है। आधुनिक प्रजातंत्र धर्मनिरपेक्ष-राज्य का अनुमोदन करता है। यद्यपि इंगलैण्ड में स्थापित ऐंगलिकन चर्च है तथापि नूतन प्रजातंत्र धार्मिक संगठनों से अपना सबन्ध नहीं रखना चाहते हैं। मार्क्सवाद, धर्म को उत्पादन-क्रिया के अनुरूप संस्थित मानता है। संभवतः मार्क्सवादी व्यवस्था

धार्मिक विश्वास की स्वतंत्रता प्रदान करेगी। किन्तु निस्सन्देह प्रजातंत्रीय व्यवस्था में धार्मिक प्रचार के निमित्त अधिक स्वतंत्रता रहेगी। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र धार्मिक संगठनों की अनेक कमियों और कमजोरियों को मानते हुए भी धर्मभावना का मानव-संस्कृति में कल्याणकारी रूप स्वीकार करता है। अत: धार्मिक प्रचारों को खत्म कर देना इसे कदापि अभीष्ट नहीं है। प्रजातंत्र जीवनदर्शन होते हुए भी अपना व्यावहारिक रूप राजनीतिक पद्धति के रूप में व्यक्त करता है। अत: धर्म के सम्बन्ध में इसकी नीति बड़ी उदार है। किन्तु दूसरी ओर मार्क्सवाद एक सम्पूर्ण दर्शन होने का दावा करता है। भौतिकवाद पर आधारित होने के कारण यह जड़वादी दृष्टि का आश्रयण करता है और धर्म को मुख्यतया लोकोत्तरवादी मानकर यह उसकी उपेक्षा करता है। अत: धार्मिक प्रश्न पर निश्चित ही प्रजातंत्र की नीति हमें अधिक श्रेयस्कर प्रतीत होती है।

हिंसा का प्रश्न, प्रजातंत्र और मार्क्सवाद के पार्थक्य को स्पष्ट करता है। मार्क्सवाद ने सर्वदा यह विश्वास किया कि विना क्रान्तिजनित रूपान्तर के किसी सामाजिक समस्या का समाधान नहीं हो सकता। उत्पादन प्रक्रिया में क्रान्ति करना ही उसने मुख्य समझा। राज्य का आधार ग्रहण कर शनैः-शनैः स्वस्थ परिवर्तन हो सकते हैं, इस प्रकार की मान्यता मार्क्सवाद की कदापि नहीं रही। शिक्षा और धर्म के सहारे मानव का हृदय-परिवर्तन हो सकता है, इस प्रकार का विचार मार्क्सवादी दल में सर्वदा मखौल का मसाला उत्पन्न करता है। इस दृष्टि से मार्क्स, प्लेटो की राजनीतिक धारा का नहीं, अपितु हाब्स की दृष्टि का समर्थक है। प्रजातंत्र अहिंसा का समर्थक नहीं है। आवश्यकता पड़ने पर देश की सुरक्षा के लिए शस्त्रधारण करने का सर्वदा इसने उपदेश किया है और करेगा। आशा यही की जाती है कि अन्तरराष्ट्रीयवाद के विकास के कारण हिंसा के प्रयोग के अवसर अत्यन्त कम होंगे। तथापि जबतक विश्वराज्य एक वास्तविक सचाई का रूप नहीं ग्रहण कर लेता है तबतक तो हमें प्रजातंत्रीय व्यवस्था में भी सैन्यशक्ति का संवर्धन करना ही होगा। किन्तु आन्तरिक समस्याओं के समाधान में प्रजातंत्र हिंसावृत्ति का समर्थन कदापि नहीं करता। अपराधियों और हिंसात्मक प्रतिरोधियों को दण्ड देने में हिंसा, केवल राज्य के द्वारा, वैदिक दृष्टि से विहित है। किन्तु अन्य सभी प्रश्नों में सुलझाव, वादविवाद की नीति का ही प्रजातंत्र सर्वदा समर्थक है। मार्क्सवाद, प्रजातंत्र के प्रति अपना विश्वास प्रकट करता हुआ भी, गृहसमस्याओं के समाधान में भी, सर्वदा हिंसात्मक बल को, आखिरी अस्त्र के रूप में ही क्यों न सही, स्वीकार करता है। आन्तरिक समस्याओं के समाधान के लिए प्रथम अस्त्र क्या, अन्तिम अस्त्र के रूप में भी, प्रजातंत्र हिंसात्मक बल का प्रयोग

करने का पक्षपाती नहीं है। सिद्धान्ततः प्रजातंत्र के अनुसार हिंसात्मक बल का एकाधिकारात्मक प्रयोग करने का अधिकार शान्ति और सुरक्षा के लिए केवलमात्र राज्य को ही है। कहा जा सकता है, अनेक अवसरों पर शान्ति और सुरक्षा का आवरण लगाकर वर्गविशेष की स्वार्थरक्षा के लिए राज्य हिंसात्मक बल का प्रयोग करता है। यदि प्रजातंत्रीय राज्य ऐसा करता है तो निस्सन्देह सामान्य कल्याणवाद के महान् उद्देश्य से वह पतित होता है। किन्तु इससे त्राण पाने का मार्ग यहीं है कि प्रजातंत्रीय व्यवस्था को इसके आदर्श के अधिक अनुरूप बनाया जाय। प्रजातंत्र के विशाल आदर्शवाद को ध्यान में रखते हुए इसको शक्तिशाली बनाने का यत्न करना है, न कि इसकी कमजोरियों के कारण इसका बध कर दिया जाय। लास्की का ऐसा प्रस्ताव है कि राजनीतिक स्वतंत्रता के नाम पर शस्त्र और सैन्यबल के द्वारा राज्य को खत्म करने का प्रचार करना भी विहित है[1]। मेरी समझ में लास्की का प्रस्ताव अव्यावहारिक है। यदि लास्की का इतने से ही प्रयोजन है कि राज्य इतना नैतिक दृष्टि से मजबूत बने कि हिंसात्मक क्रान्ति का विचार ही लोगों के हृदय में स्थान न पा सके तो यह भ्रामक है। जब-जब राज्य के विरोध में प्रतिक्रिया हुई है, तब-तब वह कुछ अल्पसंख्यक वर्ग के नेतृत्व में हुई है। लास्की का यह प्रस्ताव कि राज्य यदि सामाजिक न्याय का पूरा पालन करेगा तो उसके विरोध में कोई दलील जनता सुनेगी ही नहीं, समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असंगत है। राज्य और व्यक्ति में सर्वथा रागात्मक सम्बन्ध नहीं है। संभव है कि अल्पसंख्यक वर्ग और नेता, जनता को उलटा-सीधा प्रचार कर अपने दल में ले आवें। इसलिए राज्य हिंसात्मक प्रचार की छूट कदापि नहीं दे सकता। इस प्रकार की छूट न देने से उसकी प्रजातांत्रिकता में न्यूनता नहीं होती। क्या यह नहीं कहा जा सकता कि यदि विरोधी दल के पास

1. Harold Laski : *A Grammar of Politics*, पृष्ठ १२०: "The view I am concerned to urge is that from the standpoint of the state the citizen must be left unfettered to express either individually, or in concert with others, any opinions he happens to hold. /He may preach the complete inadequacy of the Social Order. *He may demand its overthrow by armed revolution* . . . . To be able to do any or all of these things, with the full protection of the state in so doing, is a right that lies at the basis of the freedom."

जबरदस्त स्वमतसमर्थक प्रमाण है, तो अवश्यमेव जनमत उनकी सचाई से प्रभावित होकर अगले निर्वाचन में उनकी बात मान लेगा ? हमें यह नहीं भूलना है कि प्रजातंत्र का उद्देश्य यही है कि जनमत निष्प्रतिबन्ध हो। यदि प्रजातंत्र में कमियाँ हैं, तो इसका यह मतलब नहीं कि प्रजातंत्र को हटाकर अपनेको प्रशस्त और बुद्धिमान माननेवाला वर्ग हिंसात्मक पद्धति से शासनारूढ़ हो जाय। प्रजातंत्रीय स्वतंत्रता का आधार ही यह है कि मनुष्य को गलती करने की भी स्वतंत्रता हो। उसी के सहारे सत्यमार्ग पर चलने की स्वतंत्रता प्राप्त होती है। यह ठीक है कि प्रजातंत्र को सैन्य-शक्ति का प्रयोग करना पड़ा है। सन् १७६६ से लेकर फ्रांको-प्रशियन युद्ध तक का इतिहास, फ्रांस के प्रजातंत्र के द्वारा शक्तिप्रयोग का इतिहास है। अमरीका के गृहयुद्ध में भी भयंकर सैन्यशक्ति का प्रयोग हुआ। किन्तु इस प्रकार के सैन्य-प्रयोग वैधिक राजकीय शक्ति द्वारा देश की रक्षा के लिए किये गये थे। किन्तु वर्गविशेष और दलविशेष को राज्य के उन्मूलन के निमित्त इस प्रकार की स्वतंत्रता नहीं मिल सकती है। दूसरी ओर, शक्ति और सैन्यबल के प्रयोग से पीड़ित जनता को शोषणमुक्ति और त्राण मिल ही जायँगे, इसे कौन कह सकता है ? यूरोप में रोमीय साम्राज्य का पतन, ट्यूटन, स्लाभ आदि जातियों के आक्रमण के कारण हुआ, किन्तु इन बर्बर जातियों के उत्थान के फलस्वरूप यूरोप की एकता और शांति नष्ट हो गई और समस्त मध्ययुग में, एक्वायनास, दांते आदि उस शांति का स्वप्न ही देखते रहे। आशा की जाती थी कि विलसन के नूतन स्वातंत्र्य से जनता को त्राण मिलेगा और जगत् प्रजातंत्र के लिए सुरक्षित होगा किन्तु यूरोप में तानाशाहों का भयंकर उदय हुआ। नूतन स्वतंत्रता और प्रजातंत्रता के बदले जनता को मिला भयंकर नरसंहारकारी विश्वमहासमर। अतः इस प्रकार का आशावाद कि हिंसा के फलस्वरूप निश्चित त्राण मिल जायगा, शोषितों और पीड़ितों की घृणा, रोष आदि को व्यक्त करने का एक सफल माध्यम भले ही हो, किन्तु शायद इतिहास इस आशावाद का पोषण नहीं करता है।

मार्क्सवादी विचारधारा में सर्वहारा का अधिनायकत्व एक सबल सिद्धान्त है। सन् १८५२ में जासेफ वेडेमेयर को लिखे एक पत्र में मार्क्स ने बताया कि वर्गसंघर्षों की निश्चित परिणति सर्वहारा के अधिनायकत्व में होगी। अबतक कुछ पुरुषों के या एक पुरुष के अधिनायकत्व की बात सुनी जाती थी। यह एक वर्ग का अधिनायकत्व एक अनोखी कल्पना थी। कार्ल काउत्सकी का कहना है कि वर्गाधिनायकत्व की कल्पना बताती है कि शायद मार्क्स को अधिनायकत्व का बिलकुल शाब्दिक अर्थ अभीष्ट न हो। किन्तु लेनिन इस विचार का उग्र समर्थक था। उसके अनुसार काउत्सकी आदि की, सर्वहाराधिनायकत्ववाद के साथ लीपापोती, उनकी क्रान्ति के साथ अवफादारी का सूचक

है। किन्तु मार्क्सवाद के अनुसार सर्वहारा का अधिनायकत्व केवलमात्र उग्र हिंसावाद नहीं है। सर्वहारा का अधिनायकत्व, प्रजातंत्रीय गणराज्य का रूप है। अबतक का गणराज्य, एक अल्पसंख्यक वर्ग, अर्थात् शोषकों का है। सर्वहारा का अधिनायकत्व समस्त पीड़ित और शोषित कर्मकरों का गणतंत्रात्मक राज्य होगा। मार्क्स और एंगल्स सन् १८७१ के पेरिस कम्यून के बड़े प्रशंसक थे और एंगल्स ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि पेरिस कम्यून सर्वहारा के अधिनायकत्व का विशिष्ट उदाहरण है। एंगल्स के अनुसार यह सर्वहारा का अधिनायकत्व, पूँजीवादी व्यवस्था से समाजवादी व्यवस्था के संक्रामणकाल के लिए उपयोगी है। यद्यपि यह प्रजातंत्र है, तथापि इसमें बहुसंख्यक कर्मकरों के द्वारा, मध्यवर्ग से छीनी गई राज्यशक्ति का संगठन किया जाता है। जब क्रान्ति के द्वारा प्राप्त शक्ति दृढ़ हो जाती है तब शोषणहीन समाज में राज्य की आवश्यकता नहीं होती। वर्गहीनता, वैयक्तिक पूँजी और शोषणक्रिया के अभाव में सर्वहारा के अधिनायकत्व में व्यक्त प्रजातंत्र का भी तिरोभाव सर्वदा के लिए हो जायगा।

ऐसा मालूम पड़ता है कि मध्यवर्ग के अधिनायकत्व के विरोध में मार्क्सवाद ने सर्वहारा के अधिनायकत्व का सिद्धान्त प्रणीत किया है। मार्क्स और एंगल्स अपने समय में विद्यमान प्रजातंत्रीय व्यवस्थाओं को पूँजीपतियों के शोषण का आवरणमात्र समझते थे। अतः उनका विचार था कि इस व्यवस्था के बदले बहुसंख्यक शोषितों का अधिनायकत्व संस्थापित हो। किन्तु इस सरकार का पूरा स्वरूप क्या होगा, यह मार्क्स और एंगल्स के ग्रन्थों में स्पष्ट नहीं है। कम्यूनिस्ट घोषणापत्र में कहा है कि क्रान्ति का पहला कदम होगा---मजदूरवर्गों को शासकवर्ग बनाना; अर्थात् प्रजातंत्र की लड़ाई में विजय प्राप्त करना। किन्तु इतने से ही कोई स्पष्ट चित्र सामने नहीं आता। पेरिस कम्यून को एंगल्स ने सर्वहारा अधिनायकत्व का उदाहरण माना है। मार्क्स ने भी इस कम्यून का वर्णन किया है। कम्यून ने सामान्य मताधिकार की घोषणा की तथा व्यवस्थित सेना के बदले नागरिक सेना को स्थापित किया। इस व्यवस्था में न्यायाधीश, सरकारी अफसर आदि जनता के द्वारा चुने जाते थे। वे कभी भी अपने पद से वापस बुलाये जा सकते थे। अपने जीवन के अन्तिम काल में मार्क्स को कम्यून से भी उदासीनता हो गई और उसने बताया कि केवल एक नगर के आन्दोलन से, जब कि बहुत से आक्रमणकारी और आन्दोलनकर्ता समाजवादी नहीं थे, कोई विशेष कार्य नहीं हो सका। यदि सचमुच मार्क्सवाद का विश्वास है कि सर्वहारा का अधिनायकत्व बहुसंख्यक जनता का गणतंत्र और प्रजातंत्र है तो अधिनायक शब्द केवल आलंकारिक प्रयोग के लिए ही है। किन्तु यदि यह प्रजातंत्रात्मक गणतंत्र है तो इसमें अन्य प्रजातंत्रीय उपकरणों तथा परम्पराओं---उदाहरणार्थ विरोधीदल की वर्तमानता, न्यायालय

की स्वतत्रंता, अभिव्यक्ति-स्वतंत्रता आदि--की बातें अपेक्षित होंगी। यदि इनका अभाव है तो किसी प्रकार भी उस व्यवस्था को प्रजातंत्र नहीं कह सकते। यदि उस व्यवस्था से सामाजिक और आर्थिक लाभ होता भी हो तो उसे प्रजातंत्र नहीं कह सकते। जबतक प्रत्येक वयस्क नागरिक को स्वतंत्र मतदान का अवसर नहीं प्राप्त होता, तबतक उस व्यवस्था को प्रजातंत्र नहीं कहा जा सकता, भले ही उसके द्वारा जीवन-स्तर में उन्नति हुई हो। प्रजातंत्र के निश्चित प्रकार से स्वीकृत तत्त्वों और साधनों के स्वीकार के अभाव में सर्वहारा के अधिनायकत्व को हम प्रजातंत्रात्मक गणतंत्र नहीं मानते हैं।

यह ठीक है कि आर्थिक दृष्टि से शक्तिशालीवर्ग स्वेच्छा से अपनी सम्पत्ति को कदापि नहीं छोड़ेगा। किन्तु इतिहास में कुछ उदाहरण ऐसे हैं जहाँ हिंसा और रक्त का आश्रय लिये विना ही सामाजिक और आर्थिक रूपान्तर संभव हुए हैं। इंगलैंड में सन् १६८८ की क्रान्ति उदाहरण है। आर्थिक रूपान्तर का विशिष्ट उदाहरण सन् १८६३ में रूसी कृषकदासों के विमोक्ष में मिलता है। भारत में देशी राज्यों तथा जमीन्दारों का उन्मूलन विना हिंसात्मक शक्ति का प्रयोग किये संभव हुआ है। ब्रिटेन के अभिजात वर्ग और जमीन-मालिकों को सन् १८३२ के रिफार्म ऐक्ट से अपनी परम्परागत राजनीतिक शक्ति छोड़नी पड़ी। अमरीका में जैक्सन के समय जो व्यापक मताधिकार दिया गया, वह भी रक्तहीन शक्ति-रूपान्तर का ही उदाहरण है। इंगलैण्ड का श्रमिक दल भी एक महान् क्रान्ति, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में शांतिपूर्ण उपायों से, करने का प्रयास कर रहा था। डेनमार्क, स्वीडेन में भी रक्तहीन अनेक महान् आर्थिक सुधार हुए हैं; किन्तु इन देशों में परम्पराबद्ध जबरदस्त वर्गप्रथा या सामन्तप्रथा नहीं थी। किन्तु मार्क्सवाद, हिंसा में ही अन्तिम विश्वास रखता है। इंगलैण्ड, हालैण्ड और अमरीका में शांतिपूर्ण परिवर्तन की आशा करते हुए भी, मुख्यतया मार्क्सीय दर्शन हिंसावादी ही है। सन् १८७८ में, अपने ग्रंथ 'ऐन्टी-डूरिंग' में ऐंगल्स ने लिखा कि बल का आश्रय लेकर ही कोई सामाजिक विकास-क्रिया पुराने राजनीतिक संगठनों को खत्म करती है। सन् १८८४ में ऐंगल्स ने सैन्य-शक्ति के सहारे प्रतिरोध करने के अधिकार का पूरा समर्थन किया। मार्क्स की पुस्तक 'फ्रांस में वर्गसंघर्ष' की भूमिका में यद्यपि शान्तिवादी उपायों का समर्थन है तथापि क्रान्ति और युद्ध के अधिकार का ऐंगल्स ने जोरदार समर्थन किया है। कुछ आलोचकों का ऐसा विचार है कि कम्यूनिस्ट घोषणापत्र लिखने के समय मार्क्स क्रान्तिवादी था, किन्तु सन् १८४८ के आन्दोलन के असफल होने के कारण वह शनैः-शनैः विकासवादी हो गया। किन्तु इस प्रकार का विचार मुझे असंगत मालूम पड़ता है। अपने ग्रंथ 'कैपिटल' के प्रथम भाग में भी स्पष्टतः उसने बल का समर्थन किया

है और शोषकों के शोषण का सन्देश सामने रखा है। जहाँ-जहाँ मार्क्स और ऐंगल्स ने प्रजातंत्र का समर्थन किया है, उन समस्त स्थलों को ध्यान में रखते हुए भी ऐसा मालूम पड़ता है कि वे प्रजातंत्रवादी नहीं थे। प्रजातंत्र उनके लिए एक साधन हो सकता था। ऐंगल्स और लेनिन ने स्पष्ट कहा है कि पूंजीवादी देशों में, मजदूरों की दृष्टि से, प्रजातंत्र सर्वोत्कृष्ट व्यवस्था है। जबतक समाजवाद और साम्यवाद का उदय नहीं होता है, तबतक पूँजीवादी देशों के अपूर्ण प्रजातंत्र का आश्रय ग्रहण कर भी मजदूरों को अपना संगठन दृढ़ करना चाहिए। इस प्रकार यद्यपि प्रजातंत्र जहाँ तक वह समुचित साधन बन सके, वहाँ तक मार्क्स और ऐंगल्स को इष्ट है, तथापि उनकी समस्त दार्शनिक और समाजशास्त्रीय धारा क्रान्ति—हिंसात्मक क्रान्ति—में निष्ठा पर आश्रित है, न कि प्रजातंत्रीय सहिष्णुता पर। जैसे-जैसे औद्योगिक और वैज्ञानिक विकास होता है, वैसे वैसे समाज नाना वर्गों और श्रेणियों में विभक्त हो जाता है। अनेक समाजशास्त्रियों का ऐसा विचार है कि मार्क्सवादोक्त वर्ग संघर्ष का सिद्धान्त मूलतः अप्रजातांत्रिक है। समाज को दो विभिन्न युद्धोन्मुख वर्गों में विभक्त मानना, शास्त्रीय दृष्टि से अपूर्ण है। धनी और गरीब, ये शास्त्रीय नहीं, अपितु व्यावहारिक शब्द हैं। निरपेक्ष धनी और निरपेक्ष गरीब, इस प्रकार के दो वर्ग समाज में नहीं पाये जाते हैं। इसके विपरीत क्रमिकता के अनुसार अंशतः धनी, अंशतः गरीब, इस आधार पर समाज का वर्गीकरण होता है। अबतक का लिखित इतिहास वर्गसंघर्षों का इतिहास है, यह विचार एक अप्रजातांत्रिक सिद्धान्त है। संघर्ष के स्थान पर सहमति, सद्भाव और बौद्धिकता का स्थापन प्रजातंत्र की पद्धति है। किन्तु संघर्ष, क्रान्ति आदि पर अत्यधिक बल देना प्रजातंत्रीय मनोवृत्ति के प्रतिकूल है। संघर्ष के अनेक क्षेत्रों के वर्तमान होने पर भी, सहमति और सामान्य कल्याणप्रतिपादकता ही समाज का व्यापक आधार है। यह ठीक है कि प्रजातंत्र का इतिहास भी स्वयं हिंसा से पूर्ण है। कुछ आलोचकों का कथन है कि यदि स्वयं प्रजातंत्र की स्थापना में हिंसा की पद्धति का—उदाहरणार्थ फ्रांस की क्रान्ति में—आश्रय लिया जा सकता था तो कोई कारण नहीं कि एक अधिक स्वस्थ और तेजस्वी समाज की रचना में क्यों नहीं हिंसा का आश्रय लिया जाय? मैं पूर्णतया अहिंसा का पक्षपाती नहीं हूँ। राष्ट्रीय और वैयक्तिक जीवन में अनेक अवसर आ जाते हैं—उदाहरणार्थ सुरक्षा, आत्मरक्षा और आत्मसम्मान का प्रश्न, जब मनुष्य के लिए हिंसा का आश्रय लेना कर्तव्य हो जाता है। किन्तु अहिंसा का अक्षरशः समर्थक न होता हुआ भी मैं मानता हूँ कि हिंसा का आश्रय लेना प्रजातंत्रीय पद्धति नहीं है। व्यापक बृहत्समस्याओं का समाधान हिंसा की दृष्टि से करना मुझे अभीष्ट नहीं है। इसके परिणामस्वरूप मनमानी और उच्छृंखलता

बढ़ेगी और संगठित हिंसा, प्रतिक्रिया में, और व्यापक हिंसा को जन्म देती है। अतः हिंसा का क्रम फैल जाता है। अतएव यह मानते हुए भी कि प्रजातंत्रीय पद्धति के विकास में कुछ देशों में हिंसा का प्रयोग हुआ है, हमें यह ध्यान में रखना है कि प्रजातंत्र ने हमारे सामने आन्तरिक राजनीतिक प्रश्नों के समाधान का एक अहिंसा-मूलक मार्ग प्रदर्शित किया है। जब यह पद्धति सामने आई है तब क्यों नहीं इसको अधिक प्रशस्त कर इसे अपनाया जाय?

मार्क्स आंशिक दृष्टि से अंगरेजी प्रजातंत्र का समर्थक था; किन्तु प्रशिया की एकतंत्रात्मक राज्य-पद्धति का भी उसपर प्रभाव था। मासारिक और स्पेंगलर ने मार्क्स की विचारधारा पर सूक्ष्म दृष्टि से प्रशिया में वर्तमान परम्पराओं का प्रभाव स्वीकार किया है। लेनिन ने रूस में कभी प्रजातंत्र देखा नहीं था। लेनिन राज्य की व्यवस्था में और साम्यवादी दल के संगठन में कहीं भी प्रजातंत्र को नहीं स्थान देता था। दलीय संगठन में अल्पसंख्यकों के नेतृत्व को ही वह विशेष आवश्यक मानता था। मानव जाति को साम्य, स्वतंत्रता, न्याय का दृश्य दिखाने का विराट् स्वप्न देखनेवाला होकर भी लेनिन स्वभावतः प्रजातंत्रवादी नहीं था[1]। हिंसा के समर्थन ने लेनिन की दृष्टि को आवृत्त कर दिया था। वह बहुत दूर तक असहिष्णु भी हो गया था। समग्रात्मक द्वन्द्ववाद का एकतंत्रात्मक सर्वत्र साम्राज्य मानने के कारण लेनिन का हृदय उस स्याद्वादी और आलोचनात्मक मानसिक वृत्ति के नितान्त प्रतिकूल था जो प्रजातंत्र का प्राण है। लेनिन के अनुसार प्रजातंत्र की तीन अवस्थाएँ हैं—(क) पूँजीवादी परम्परा के अन्तर्गत, कर्मकरों की रक्षा के लिए, प्रजातंत्र सर्वश्रेष्ठ साधन है अर्थात् एकतंत्र और अभिजाततंत्र की अपेक्षा यह अधिक कल्याणकारी है। अतएव लेनिन का कहना था कि प्रजातंत्रीय गणतंत्र, मध्यवर्गी शासनपद्धतियों में सर्वोत्कृष्ट और सबसे अधिक उन्नतिपथगामी है। (ख) किन्तु पूँजीवादी देशों का प्रजातंत्र स्वभावतः ही अपूर्ण है और एकतंत्र तथा अल्पतंत्र की अपेक्षा अधिक उन्नतिशील होते हुए भी, जब श्रमिकों और कृषकों का प्रश्न सामने आता है तब यह सर्वदा शोषणकारी पद्धति को अपनानेवाले पूँजीपतियों के हित का ही पोषण करता है। अतएव जब पूँजीवादी समाज का अन्त होगा तब मध्यवर्ग के प्रजातंत्र का खात्मा कर कर्मकरों और कृषकों का प्रजातंत्र स्थापित किया जायगा[2]। यह मध्यवर्गी प्रजातंत्र की अपेक्षा अधिक व्यापक होगा। यह शोषकों के स्थान पर शोषितों को प्रतिष्ठित करेगा। (ग) पूर्ण साम्यवादी व्यवस्था में शोषण, सामाजिक वर्ग और वैयक्तिक सम्पत्ति के अभाव में राज्य का

---

१. N. Berdyaev, *The Origin of Russian Communism*, पृष्ठ ११६.

२. G. Lukas, *Studies in European Realism*, पृष्ठ २६६.

तिरोभाव होने से प्रजातंत्र, जो सरकारी व्यवस्था का एक रूपमात्र है, का भी तिरोभाव हो जायगा। लेनिन की विचारधारा प्रजातंत्र की वर्तमान कमियों को सुधारने की अपेक्षा इसको हटाने पर अधिक बल देती है। कर्मकरों और कृषकों का अधिनायकत्व प्रजातंत्रीय पद्धति का समर्थन करेगा, इसके लिए कोई एतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता है। अधिनायकत्व और प्रजातंत्र, इन दो शब्दों का संयोग हास्यास्पद और असंगत है। प्रजातंत्र के साथ अधिनायकत्व का प्रयोग केवल लाक्षणिक या आलंकारिक रूप से ही किया जा सकता है, इसका यथातथ्य शाब्दिक अर्थ प्रजातंत्र के साथ कदापि भी चरितार्थ नहीं किया जा सकता। ऐसा विदित होता है कि प्रजातंत्र के विशाल राजनीतिक और सामाजिक रूपों को मार्क्सवाद के समर्थक नहीं स्पष्ट कर सके हैं।

दार्शनिक राजनीतिशास्त्र का मूल तत्त्व है—मानव के नैतिक और आध्यात्मिक स्वरूप का पोषण और समर्थन। इस महान् सिद्धान्त को क्रियान्वित करने में प्रजातंत्र का मौलिक और व्यापक स्थान है। पश्चिमी सभ्यता ने जो प्रतिनिधिक प्रजातंत्र का रूप उपस्थित किया है, उसमें अनेक अपूर्णताएं असगतियाँ और स्वार्थसाधन प्रक्रियाएँ वर्तमान हैं। तथापि उसकी अपेक्षा, मानव के राजनीतिक अधिकार को व्यक्त करनेवाली कोई अधिक सफल पद्धति अभी नहीं है। अतएव आज हमें इस बात का प्रयत्न करना है कि प्रजातंत्र को अधिक प्रशस्त और पूर्ण बनाया जाय। स्वतन्त्रता, समानता, सामाजिक न्याय आदि विशाल श्रेय इसके द्वारा ही निष्पन्न किये जा सकते हैं। मार्क्सवाद की सबसे बड़ी विशेषता है कि अत्यन्त उदात्त शब्दों में इसने सामाजिक न्याय की माँग की है। त्रस्त, पीड़ित जनता की आवाज को व्यक्त करने के कारण ही आज मार्क्सवाद, असहायों का एक नूतन धर्म बनकर आया है और स्वयं मार्क्स की, एक पैगम्बर के समान, पूजा होती है। आवश्यकता इस बात की है कि मार्क्सवाद द्वारा समर्थित सामाजिक न्याय को क्रियान्वित करने के लिए प्रजातंत्रीय पद्धति का आश्रय लिया जाय। प्रजातंत्रीय पद्धति के सहारे सम्पत्ति और विशेषतः जमीन की समस्या का समाधान यदि हो जाय तो मानवता के विकास में प्रजातंत्र एक अत्यन्त ही विशाल अगला कदम सिद्ध होगा। इसका तात्पर्य होगा कि राजनीतिक प्रजातंत्र और समाजवादी अर्थशास्त्र का सामंजस्य करना चाहिए। राजनीतिक स्वतंत्रता और समानता के साथ-साथ कम-से-कम आधारभूत आवश्यकताओं के सम्बन्ध में आर्थिक समानता का समन्वय करना होगा। इस अर्थ में कह सकते हैं कि समाजवाद प्रजातंत्र का आर्थिक विस्तार है। उन्नीसवीं शताब्दी में समाजवाद और आर्थिक समानता के सिद्धान्त जोरों से प्रचारित हुए। अब इस बात की आवश्यकता है कि अठारहवीं शताब्दी के महान् संदेश राजनीतिक स्वतंत्रता और समानता के साथ, समाजवाद और

आर्थिक समानता का यथासाध्य समन्वय किया जाय। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र समन्वय-सामंजस्य का पक्षपाती है न कि एकांशदर्शिता और अनावश्यक संघर्ष का। मानव सभ्यता और संस्कृति आज भयानक खतरे से गुजर रही है। आज यह अत्यन्त वांछनीय है कि अलग-अलग निराला राग आलापने के बदले मानव-संस्कृति की यांत्रिक और वैज्ञानिक विकास से संस्कृति की रक्षा नहीं हो सकती है। विराट् नैतिक और राजनीतिक श्रेयों को मानवमात्र के हित में उपयोग करना ही आज संत्राण का एकमात्र मार्ग है। नीतिमान् चैतन्य मानव के उद्बोध के लिए आवश्यक है कि सभ्यता और संस्कृति में बौद्धिकता और आचारग्राहिता का अनुप्रवेश किया जाय। स्वार्थ-साधक मतों के स्थान पर महान् विचारकों, तत्वदर्शी धर्मनेताओं और तपस्वी विशुद्ध मानव आत्माओं के द्वारा प्रदर्शित, दार्शनिक राजनीतिशास्त्र के विराट् श्रेयों को ही परम आदर्श मानना और उनकी सिद्धि में कर्मयोग का पालन करना, यही आज मानव-संस्कृति के त्राण का सबसे बड़ा प्रशस्त पथ है।

त्रयोदश अध्याय

सभ्यता और संस्कृति

मानव जाति की आधुनिक समृद्धि और विकसनशील संस्कृति को देखते हुए यह कल्पना करना कठिन हो जाता है कि कभी मानव असहाय होकर प्राकृतिक शक्तियों से त्रस्त रहता था। किस प्रकार शनैः-शनैः अपनी बौद्धिक शक्तियों का विकास करते हुए मानव इस महती सभ्यता को प्राप्त कर सका है, यह बड़ी आकर्षक कहानी है। यदि हम प्राचीन मानवों की कृतियों के अवशेषों को देखें या वर्तमान आदिम निवासियों का अध्ययन करें, या मिश्र, बाबुल, मोहंजदारो आदि की सभ्यता का निरीक्षण करें तो हमें मानव के उन प्रयत्नों का इतिहास मिलता है जिन्हें उसने स्वस्थ जीवन की प्राप्ति के लिए किया है। प्राकृतिक संघर्ष से ही मानव का विकास हुआ है। छः या सात हजार वर्ष पहले जो दुनिया का स्वरूप था, अब वह बहुत बदला हुआ है। इस महान् परिवर्तन का कारण मानव के संगठित प्रयत्न ही हैं।

मानवता को समृद्ध और विकसित करने के प्रयत्नों में कुछ तो ऐसे हैं जिनसे मानव का जीवन-स्तर ऊंचा होता है। शीत, उष्ण, ताप आदि से अपनी रक्षा करते हुए किस प्रकार मानव प्रतिरोधी प्राकृतिक शक्तियों को सहायिका के रूप में परिवर्तित कर सकता है, इसका उदाहरण हमें जगत् के प्रसिद्ध महानगरों में मिलता है। रेल, तार, यंत्र, जहाज, वायुयान, आदि ने प्रकृति और मानव के बीच एक प्रचण्ड मध्यवर्ती वस्तुजात को उपस्थित कर दिया है। दूसरी ओर हम देखते हैं कि मानव की रागात्मिका वृत्तियों और अनुभूतियों का सन्निवेश उसकी कविताओं और उसकी कलात्मक कृतियों में हुआ है। इस प्रकार एक ओर यदि वाह्य प्रकृति के साथ संघर्ष कर मानव ने विशाल और विस्मयकारी सभ्यता की रचना की है तो दूसरी ओर अपने अन्तर्जगत और आनुभूतिक प्रदेश में भी उसने बहुत उन्नति की है। व्यापक अर्थ में मानव-इतिहास उन समस्त प्रयत्नों का इतिहास है जो मानव अपने वाह्य और आभ्यन्तर जगत में करता है। इतिहास को केवल राजकीय विशिष्ट पुरुष संबंधी घटनाओं का समूह मानना इसकी आंशिक व्याख्या है। इतिहास में मानव आत्मा की उस क्रमिक अभ्युन्नति को हमें देखना है जिससे मानव की आवृत्त और निगूढ़ चेतना का विशुद्ध स्पष्ट चेतना और नीतिमता में रूपान्तर हो रहा है। यदि एक ओर

हमें उन सब उपकरणों, संस्थाओं और घटनाओं का अनुशीलन करना है जो इतिहास की राशि हैं तो दूसरी ओर मानव के नैतिक और बौद्धिक चैतन्य के विकास को भी हमें देखना ही होगा। इस प्रकार का अनुशीलन हमें सभ्यता और संस्कृति के प्रश्न पर ले आता है। सभ्यता और संस्कृति का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध राजनीतिशास्त्र से है। दूसरी ओर मानव जीवन के नैतिक और दार्शनिक लक्ष्यों के साथ भी इनका, विशेषतया संस्कृति का, गहरा सम्बन्ध है।

संस्कृति शब्द प्राचीन भारतीय साहित्य में मिलता है। "विश्ववारा संस्कृति का संदेश वेद में प्राप्त होता है[1]।" सभ्यता शब्द का सम्बन्ध सभा से है। जो नागरिक और राजनीतिक सभा का सदस्य है, वह सभ्य है। सभ्यता, इसी 'सभ्य' शब्द से भाववाचक संज्ञा है। प्राचीनमानवशास्त्र (आन्थ्रोपोलोजी) में संस्कृति, अर्थात् 'कल्चर' शब्द का बड़ा व्यापक प्रयोग होता है। जिन समस्त उपादानों, उपकरणों, सामाजिक वस्तुओं का उपयोग मानव प्राकृतिक शक्तियों के साथ, संग्राम और सामंजस्य में करता है, उन सबका परिग्रहण संस्कृति में होता है। मालिनोवस्की के अनुसार समस्त सामाजिक देनों का नाम संस्कृति है और इसमें यांत्रिक उपादानों के साथ-साथ वह विचारों, अभ्यासों, श्रेयों आदि का भी परिग्रहण करता है[2]। धर्म, भाषा, निर्माणकला, जादू-टोना, ज्ञान, सामाजिक संगठन इन सबों को वह संस्कृति या कल्चर के अन्तर्गत मानता है। आर्थिक संगठन, विधि और शिक्षा को संस्कृति की उपादानात्मक आवश्यकता के रूप में उसने प्रयुक्त किया है। संस्कृति की समन्वयात्मक आवश्यकता से उसने जादू-टोना धर्म, ज्ञान और कला का तात्पर्य ग्रहण किया है। इस प्रकार मालिनोवस्की के मत में उपादानात्मक आवश्यकता और समन्वयात्मक आवश्यकता का सम्मिलित रूप ही संस्कृति है[3]। प्राचीन मानवशास्त्री, संस्कृति शब्द का अत्यन्त व्यापक प्रयोग करते हैं। प्राचीन मानवों के जो गिरोह या जो टोलियाँ अमरीका, अफ्रिका, न्यूजीलैण्ड आदि में मिलती हैं, उनकी संस्कृति का वे अध्ययन करते हैं। इसी प्रकार गोंड, मुंड, उराँव, नागा

१. अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्य्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्याम।
सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रोऽग्निः॥ (यजुर्वेद ७।१४)

२. Bronislaw Malineowski, "Culture", *Encyclopaedia of the Social Sicences*, खण्ड ४, पृष्ठ ६२१-६४५. B. Malinowski, *A Scientific Theory of Culture and other Essays, Freedom and civilization, Magic, Science, and Religion and other Essays, The Dynamics of Culture change.*

३. Instrumental imperative and Integratives or Synthetic imperatives.

आदि जातियों के सम्बन्ध में जो अध्ययन होता है, उसे भी वे सांस्कृतिक अध्ययन समझते हैं। कभी-कभी प्राचीन मानवशास्त्री भौतिक संस्कृति और मनोवैज्ञानिक और सामूहिक संस्कृति इन शब्दों का भी प्रयोग करते हैं। संस्कृति का इतना व्यापक अर्थ ग्रहण करने के कारण प्राचीन और सरलतापूर्वक जीवन-यापन करनेवाले मानवों के प्रायः समस्त क्रियाकलापों, विश्वासों आदि का बोध इस एक शब्द संस्कृति से हो जाता है[1]। सभ्यता शब्द का प्रयोग, प्राचीन मानवशास्त्री एक सीमित अर्थ में, करते हैं। जब पेचीदगी और संजटिलता आ जाती है, तब सभ्यता का प्रयोग उस अवस्था के बोध के लिए हो सकता है। बहुत से प्राचीनमानवशास्त्री लिखित शिक्षा को संस्कृति और सभ्यता का विभाजक मानते हैं। जब शिक्षा और लेखन-कला का विकास होता है तब सभ्यता का विकास होता है। उसके पहले, संस्कृति की अवस्था है। इस प्रकार का जो पार्थक्य सरलतामूलक समग्रग्राहिणी संस्कृति और शिक्षणलेखनाश्रित संजटिलता-मूलक सभ्यता में प्राचीन मानवशास्त्रियों ने किया है, वह उन्हीं के साहित्य में रूढ़ हो गया है, अन्यत्र इस प्रकार का पार्थक्याश्रयी अन्तर नहीं किया जाता है।

यूरोपीय साहित्य में बेकन ने सर्वप्रथम 'कल्चर' शब्द का प्रयोग किया। बेकन ज्ञान के प्रकृष्ट महत्व को स्वीकार करता है, क्योंकि इससे शक्ति और सुख की वृद्धि होती है[2]। ज्ञान शक्ति का प्रदाता है—बेकन का यह मंत्र पश्चिमी संस्कृति में आधार-भूत सिद्धान्त बन गया है। संस्कृति का लक्ष्य केवल कलात्मिका अनुभूति न मान कर शक्तिप्रदान मानना भावी यंत्रवादी वैज्ञानिक सभ्यता का पूर्वरूप था। यदि बेकन ने सर्वप्रथम 'कल्चर' शब्द का प्रयोग किया तो फ्रांस के तर्कणावादी विचारकों ने सर्व-प्रथम 'सिविलिजेशन' शब्द का प्रयोग किया[3]। सिविलिजेशन शब्द नागरिक या नगर-व्यवस्था—इस आशय पर बल प्रदान करता है। सामन्तशाही युग और अन्धकार युगीन अवस्था से अपने युग को अधिक उत्कृष्ट प्रमाणित करना ही इस शब्द के फ्रांसीसी दार्शनिकों द्वारा व्यवहार का कारण था। इस अर्थ को व्यक्त करने के लिए टुर्गो ने

१. William Ogburn and Nimkoff, *Sociology* (१९४०) पृ० ४२; E. B. Tylor, *Primitive Culture* (१९२४) पृ० १. इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य—Ruth Benedict, *Patterns of Culture*; W. G. Sumner, *Folkways*; Graham Wallas, *Our Social Heritage*; A Golden Weiser, *Anthropology*; Clark Wissler, *Man and Culture*.

२. Francis Bacon, *Advancement of Learning*, Chapter II; Bacon, *Nevum Organum* में कहता है—"Scientiaest potentia."

३. Carl Brinkmann, "Civilization", *Encyclopaedia of Social Sciences*, खण्ड ३, पृष्ठ ५२६.

सर्वप्रथम 'सिविलिजेशन' का प्रयोग किया। फ्रांस के दार्शनिक और विचारक अपने तर्कणात्मक और प्रबुद्ध युग के बड़े अभिमान थे। अपने प्रबुद्ध युग को वे पिछले अप्रबुद्ध युग से अधिक महत्त्वपूर्ण और श्रेयस्कर मानते थे। यूरोपीय साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विकास के कारण यूरोपीय लोगों का सम्बन्ध अन्य सरलतापूर्वक रहनेवाले लोगों से हुआ। प्राचीन अमरीका के निवासियों को यूरोपीय लोग प्राकृतिक मानव कहते थे। कुछ सामाजिक अनुबन्धवादियों का ऐसा विचार रहा कि नागरिक और राजनीतिक समाज के उदय के पूर्व समस्त मानव इसी प्राकृतिक अवस्था में थे। अठारहवीं शताब्दी में प्राकृतिक मानव और प्रबुद्ध मानव का अन्तर जोरों से उद्घोषित हुआ[१]। उसी समय से यूरोपीय और पीछे चलकर अमरीकन मस्तिष्क में यह विषैला और घातक विचार उत्पन्न हुआ कि वैज्ञानिकता और नागरिकता के कारण पश्चिमी सभ्यता अन्य मानवों के संगठनों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है और इस प्रकार साम्राज्यवाद का विचारात्मक आधार निर्मित्त हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि सभ्यता या सिविलिजेशन की जो कल्पना पहले यूरोपीय मध्ययुग की अपेक्षा, आधुनिक यूरोपीय सभ्यता को अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध करने के लिए उपस्थित हुई, उसने अन्ततोगत्वा साम्राज्यवाद को पुष्ट करने में अपनी विजय समझी।

जर्मन में सर्वप्रथम 'कल्चर' शब्द का प्रयोग हर्डर ने किया। हर्डर ने प्राकृतिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन में सातत्य दिखाने का यत्न किया[२]। गेटे ने आध्यात्मिक संस्कृति (गाइस्टेस कल्चर) का संदेश व्यक्त किया। उसका महाकाव्य फाउस्ट ज्ञान की खोज में निरन्तर परिश्रमशीलता का आदर्श उपस्थित करता है[३]।

---

१. तुलनीय—Vierkandt, *Naturvolker und Kulturvolker : Ein Beitrag zur Sozialpsychologie* (१८९६).

२. Herder, *Ideen zur Philos der Geschichte der Menschheit* (१७९०–१७९२). जर्मन भाषा में "kultur" शब्द का प्रयोग होता है।

३. गेटे के 'फाउस्ट' महाकाव्य की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

"How each the whole its substance gives,
Each in the other works and lives!
Like the heavenly forces rising and descending,
Their golden urns reciprocally leading,
With wings that winnow blessing
From Heaven through Earth I see them pressing
Filling the all with harmony unceasing".

काण्ट और फिक्ट के अनुसार स्वातंत्र्य संस्कृति का मूलतत्त्व है।[१] इसी समय से जर्मन विज्ञानवादी-दर्शन में सभ्यता और संस्कृति में अन्तर किया जाने लगा। सभ्यता का सम्बन्ध नागरिकता और समीक्षात्मक तार्किकता से था। संस्कृति अध्यात्मवाद, विज्ञानवाद और रोमान्टिक दार्शनिकों की आत्मनिष्ठता का पोषण करती थी। काण्ट का कहना था कि विज्ञान की उन्नति के सहारे मनुष्य ने बहुत दूर तक सभ्यता के क्षेत्र में उन्नति की है, किन्तु नैतिकता का पूरा प्रवेश मानव-जीवन में नहीं हो सका है। नैतिकता, संस्कृति का एक बृहद् अंश है। किन्तु नैतिकता का तात्पर्य जब बाह्य आचरण और परम्परागत नियमों का पालनमात्र समझा जाता है, तब वह सभ्यता से पृथक नहीं की जा सकती। काण्ट के अनुसार कुछ महान् लक्ष्यों की प्राप्ति में मानव की शक्तियों का प्रयोग ही संस्कृति का रहस्य है। इस प्रकार नैतिक दृष्टि के आधार पर सभ्यता और संस्कृति में काण्ट ने अन्तर बताया है। इसी विचारधारा का अनुसरण फिक्ट और हम्बोल्ट में भी मिलता है।

इस प्रश्न का पता लगाना मुश्किल है कि वास्तव में मानव की उत्पत्ति कैसे हुई। आधुनिक प्राणिशास्त्री, ऋग्वेद या बायबिल में प्रोक्त ईश्वरमूलक सृष्टिशास्त्र का विचार स्वीकार नहीं करता है। जीवन का विकास मानने के कारण आजतक सर्वत्र ही विकास-सिद्धान्त का अनुमोदन किया जाता है। वेस्टरमार्क, जान डिवी आदि इसी परम्परा का अनुसरण कर नैतिक वृत्तियों और भावनाओं का विकास स्वीकार करते हैं। निश्चयात्मक रूप से वर्तमान नैतिक नियमों और भावनाओं का बीज प्राचीन

× × × ×

"A fool, who here his blinking eyes directeth,
and o'er his clouds of peers a place expecteth
Firm let him stand, and look around him well
This World means something to the capable.
Why needs he through Eternity to wend ?
He here acquires what he can apprehend.
Thus let him wander down his earthly day."

१. Kant, *Critique of Pure Reason* (मैक्समूलर का अंग्रेजी अनुवाद) पृष्ठ ७३०; Kant, *Critique of Judgement* (बर्नार्ड का अंग्रेजी अनुवाद) पृष्ठ ६७–६६; Rudolf Eucken, *Main Currents of Modern Thought*, पृष्ठ २८१–३०७; C. G. Shaw "Culture", *Encyclopaedia of Religion and Ethics*, खण्ड ४, पृष्ठ ३५६–३६०.

आदिम निवासियों की परम्पराओं में खोजना सर्वथा संभव नहीं है। किन्तु मूलतत्त्व का ऐतिहासिक अनुसंधान कठिन होने पर भी यह ठीक है कि नैतिकता का पूर्ण उदय ही मानव जाति का महान् साध्य है। किस प्रकार अपनी मानसिक शक्तियों का प्रयोग कर एक ओर मानव ने प्रकृति-विजय करने का प्रयत्न किया है और दूसरी ओर अपनी वृत्तियों का नियन्त्रण किया है और कर रहा है, इस प्रश्न की मीमांसा करते हुए ऐसा मालूम पड़ता है कि मानव का मन या बुद्धि भी एक पूर्ण निश्चित एकरस सत्ता नहीं है, अपितु सभ्यता के विकास के साथ इसमें भी महान् परिवर्तन होते हैं। फ्रांस के कुछ समाजशास्त्रियों का ऐसा ख्याल था कि आदिम निवासी प्राक्-बौद्धिक अवस्था की मानसिक क्रिया का प्रदर्शन करते हैं[1]। मानव बुद्धि के विस्तार और विकास का इतिहास अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि एक प्रकार से यही सभ्यता और संस्कृति दोनों का मूल नियामक है।

सभ्यता का सम्बन्ध उन समस्त उपादानों और साधनों से है जिनका प्रयोग कर मानव बर्बरता की अवस्था का अतिक्रमण कर प्रकृति-विजय करने का प्रयास करता है। प्रकृति-निष्ठता की अवस्था बर्बरता की अवस्था है, जब प्रस्तर के साधनों का प्रयोग कर मानव बहुत दरिद्रता से अपना जीवन व्यतीत करता था। जब लोहे का प्रयोग होने लगा, उस समय से सभ्यता प्रारम्भ होती है। मनुष्य किस प्रकार प्रकृति-निमग्नता की अवस्था को पारकर विशाल समृद्ध नगरों का निर्माण करता है, यह सभ्यता का प्रश्न है। सामाजिक, आर्थिक, यांत्रिक, राजनीतिक जीवन को समृद्धतर करना ही सभ्यता का महान् उद्देश्य है। प्राचीन काल की अविकसित समिति और सभा से आगे बढ़कर किस प्रकार पहले बड़े साम्राज्यों और आधुनिक काल में राज्य का विकास हुआ है, इसको समझना सभ्यता के प्रश्न को समझना है[2]। स्वस्थ नागरिकता ही सभ्यता का मूल है। राज्य का सम्बन्ध सभ्यता से है; क्योंकि सभ्यता के विकास के साथ ही उन समस्त साधनों का विकास होता है जिनके सहारे विस्तृत क्षेत्र के बड़े जनसमुदाय का राजकीय नियंत्रण संभव

१. L. Levy-Bruhl, *How Natives Think*, *Primitive Mentality*, *The "Soul" of the Primitive, and the Supernatural.*

२. Benjamin Kidd, "Civilization", *Encyclopaedia of Religion and Ethics*, खण्ड ३, पृष्ठ ६८३–६८७; H. T. Buckle, *History of civilization in England*; Benjamin Kid, *Principles of Western Civilization* (१९०२); Lester F. Ward *Psychic Factors of Civilization* (१९०१).

है। भारतवर्ष में प्राचीनकाल और मध्यकाल में सारे देश को एक मजबूत केन्द्रीय सूत्र में बाँधने के प्रयत्न इसीलिए असफल हुए कि उस समय सभ्यता के साधनों की अपूर्णता के कारण सारे देश में एक केन्द्रीय नियंत्रण को स्थापित करना अत्यन्त कठिन था। रूस और अमरीका जैसे विशाल देशों में सभ्यता के विकास ने ही राज्य का संगठन संभव किया है। प्राकृतिक संघर्ष के सहारे सामूहिक जीवन को किस प्रकार दृढ़ और संगठित किया जायगा, यही सभ्यता का साध्य है। इससे स्पष्ट है कि समस्त सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था तथा संगठन का सम्बन्ध सभ्यता से है। दूसरी ओर यांत्रिकता और विज्ञान की उन्नति भी सभ्यता से सम्बन्ध रखती है।

संस्कृति का सम्बन्ध मानव की अनुभूति से है। काव्य, कला, दर्शन, धर्म, नीति-शास्त्र, सौन्दर्यानुभूति, आनन्दोल्लास आदि का संबंध संस्कृति से है। जिन वृत्तियों, इच्छाओं और अनुभूतियों का संबंध मानव को विशालता, सामान्यहित या आत्मिक उत्कर्ष का दर्शन कराने से है, उन्हें हम संस्कृति के अन्तर्गत मानते हैं। यदि समुद्रयान और रेलगाड़ी का सम्बन्ध सभ्यता से है तो ताजमहल, वाल्मीकीय रामायण, भगवद्-गीता का सम्बन्ध संस्कृति से है। यदि मौर्य और गुप्त साम्राज्य की शासन-व्यवस्था सभ्यता से सम्बद्ध है तो रामचरितमानस, भीष्म का चारित्र्य और अजन्ता की कला संस्कृति का निर्मल चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। मानव की वृत्तियों का सन्तुलन और सामंजस्य कर किस प्रकार विशुद्ध संस्कारों की प्राप्ति हो सकती है, यही संस्कृति का महान् लक्षय है। यदि सभ्यता, वाह्य कर्मशीलता और सामूहिक-जीवन संगठन से सम्बद्ध है तो संस्कृति का प्रयास है, स्तुत्य संस्कारों का निर्माण। जब हम बुद्ध की विशाल, गम्भीरभावोत्पादक मूर्तियों का अवलोकन करते हैं तब हमारी भावनाओं का परिमार्जन होता है और अपेक्षित संस्कारों की सृष्टि होती है। यूनानी कला के अत्यधिक सौन्दर्याभिव्यंजक कलात्मिका कृतियों का अवलोकन कर हमारा मनोवेग अभिनव रूप से प्रभावित होता है। ललित कला और साहित्य का अनुशीलन भावनासंशोधक और वृत्तिपरिमार्जक है। नीतिशास्त्र और दर्शन हमें आत्मा के अहंकार-हन्ता रूप का दर्शन कराते हैं। क्षुद्र एषणाओं और भोगवृत्तियों से ऊपर उठकर सर्व-भूतहित का दर्शन ही नीति और अध्यात्म का मूल लक्ष्य है। इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्कृति का सम्बन्ध शिक्षा से है। शिक्षा का अर्थ केवलमात्र नई वस्तुओं के सम्बन्ध में कुछ बातों की जानकारी कर लेना मात्र नहीं है। शिक्षा का तात्पर्य है मानसिक प्रबोध। सत् और असत्, कर्म और अकर्म, के सम्बन्ध में वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति ही शिक्षा का लक्ष्य है। अहंकारविमूढ़ता की अवस्था का अतिक्रमण कर विशाल

मानवता का दर्शन करना और तात्विक बोध की प्राप्ति ही शिक्षा है[1]। जो शिक्षा मानव को अर्थोपार्जन करने के योग्य बनाकर उसकी आर्थिक सुरक्षा और उसकी राजनीतिक कर्मशीलता की व्यवस्था कर सकती है, उस शिक्षा का सम्बन्ध सभ्यता से है। अरस्तू ने इसीलिए, आर्थिक दृष्टि से, उत्पादनकारी और उदरकारी शिक्षा में पार्थक्य स्थापित किया है। जो शारीरिक और सैन्यशिक्षा सैनिकों को दी जाती है या जिस वैज्ञानिक शिक्षा का उपयोग अच्छे-अच्छे यंत्रों के निर्माण में होता है, वह सभ्यता से सम्बन्ध रखनेवाली है। किन्तु जिस शिक्षा से मानव चरित्रवान्, नीतिमान्, सर्वभूतहितान्वेषी बनता है, उसका सम्बन्ध संस्कृति से है।

मानव प्रयत्नों से किस प्रकार श्रेयस्कर सामूहिकीकरण हो सकता है, इस प्रश्न का सम्बन्ध सभ्यता से है। मानव की सब प्रकार की शक्तियों का प्रयोग कर किस प्रकार सामाजिक जीवन संगठित तथा अधिक कार्यकारी हो सकता है, इस प्रश्न का समाधान सभ्यता से होता है[2]। यदि प्रस्तरयुग, लौहयुग आदि की अपेक्षा आधुनिक विद्युत्-युग और अणुयुग मानवजीवन की सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति में अधिक सहायक हैं तो हम कह सकते हैं कि आधुनिक युग प्राचीन युग की अपेक्षा अधिक सभ्य है। विशाल यंत्रों का निर्माण तथा विशाल सभ्यताओं और साम्राज्यों का निर्माण मानव की संगठित सामूहिक जीवन की श्रमशीलता का ही परिणाम है। मिट्टी के मकान बनाने की अपेक्षा, आधुनिक न्यूयार्क में विशाल गगनचुम्बी अट्टालिकाओं को बनाना अधिक कठिन है और अधिक बुद्धिशीलता तथा सामाजिक शक्तियों के अधिक संगठित प्रयोग की माँग करनेवाला है। इस दृष्टि से कह सकते हैं कि आधुनिक मकान-निर्माण-क्रिया प्राचीन युग की अपेक्षा सभ्यता के अधिक विकास को सूचित करती है। किन्तु यह कहना असंगत होता है कि आधुनिक छायावादी और उन्नतिवादी कवि वाल्मीकि, व्यास, कालिदास की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ करते हैं। प्राचीनकाल और मध्यकाल में बैलगाड़ी और घोड़ागाड़ी से यात्रा करनी पड़ती थी। आज भले हम मोटरगाड़ी और वायुयान से यात्रा कर लें; किन्तु इससे यह कदापि नहीं सिद्ध होता है कि प्राचीनकाल के ऋषियों और तपस्वियों की अपेक्षा, मानवजीवन को आत्मिक उन्नयन का मार्ग दिखानेवाले क्षेत्र में भी आजकल अधिक उन्नति हो गई है। भगवान् बुद्ध ने अपना धर्मचक्र-प्रवर्तनसूत्र पाँच भिक्षुओं को सुनाया था। प्रतिदिन वे सात-आठ

1. V. P. Varma, Democracy and Education, *Siksha*. जनवरी, १९५४.
2. James H. Robinson, "Civilization", *Encyclopaedia Britanica*. खण्ड ५, पृष्ट ७३५–७४१.

मील की ही पैदल यात्रा करते थे। रेडियो की सहायता से आज अत्यन्त साधारण मनुष्य भी हजारों आदमियों को अपना सन्देश सुना सकता है और एक दिन में हजारों मील की यात्रा कर सकता है। लेकिन इतिहास बताता है कि नीतिमत्ता और आत्मिक संस्कृति की विशालता में बुद्ध की तुलना संसार में कोई मनुष्य नहीं कर सकता। संस्कृति का सम्बन्ध मानव के स्वरूप-बोध से है। बहुत बड़ी सभ्यता का निर्माण करने के बाद भी, आत्मिक वृत्तियों के उन्नयन और नैतिक तथा कलात्मक चैतन्य के उदय की दृष्टि से, मानव बर्बर रह सकता है। वाह्य जगत् का नियंत्रण ही मानव पुरुषार्थ की इतिश्री नहीं है। नेपोलियन यूरोप के बहुत बड़े भाग का विजय करने में समर्थ हुआ; किन्तु आत्मविजय के अभाव में अहंकार और भोगवादिता का वशवर्ती होकर वह अपना पतन कर बैठा। अतः व्यापक उन्नति के लिए सामूहिकीकरण और सामाजिकीकरण के साथ-ही-साथ आत्मिक, नैतिक और कलात्मक चैतन्य का सम्यक् अवबोध होना चाहिए। एकांश उन्नति से कार्य नहीं सिद्ध हो सकता।

सभ्यता का सम्बन्ध जीवन के संगठन से है, संस्कृति का सम्बन्ध जीवन के उन्नयन से है[1]। जीवन का संगठन उन समस्त वाह्य उपकरणों से होता है जो जीवन

१ सभ्यता और संस्कृति में पार्थक्य बताते हुए स्पेंगलर ने अपने ग्रन्थ *Decline of the West* I, पृष्ठ ३५३-३५८ में लिखा है : "Culture and civilization—the living body of a soul and the mummy of it. For Western existence the distinction lies at about the year 1800—on the one side of that frontier life in fullness and sureness of itself, formed by growth from within, in one great uninterrupted evolution from Gothic childhood to Goethe and Napoleon, and on the other the autumnal, artificial, rootless life of our great cities, under forms fashioned by the intellect. Cuture and civilization—the organism born of Mother Earth and the mechanism proceeding from hardened fabric. Culture-man lives inwards, Civilization-man outwards in space and amongst bodies and facts. That which the one feels as Destiny the other understands as a linkage of causes and effects, and thenceforward he is a materialist—in the sense valid for, and only valid for,

संघर्ष में सहायता प्रदान करते हैं। जीवन के संगठन का मतलब है—शक्ति की प्राप्ति। शक्ति के सहारे हम प्राकृतिक ताकतों से संघर्ष करते हैं और शक्ति के द्वारा ही हमारा सामाजिक जीवन व्यवस्थित होता है। उच्छृंखलता, अव्यवस्था सार्वत्रिक मत्स्यन्याय से मानव सभ्यता का परिरक्षण करने में वैज्ञानिक शक्ति का बहुत बड़ा हाथ है। शक्ति की प्राप्ति और उसका वैधिक विनियोग ही मानव-जीवन को प्रशस्त सामाजिक जीवन की प्राप्ति करा सकते हैं। बर्बरता और असभ्यता के युग में शक्ति की अव्यवस्था के कारण मानव-जीवन अत्यन्त साधारण स्तर का और प्राकृतिक शक्तियों के पूर्णतः आश्रित था। आज के विद्युत-युग में जब हम उस अवस्था का काल्पनिक स्मरण करते हैं जब मानव अग्नि का प्रयोग नहीं जानता था, या जब वह लिखना नहीं जानता था, तब सभ्यता के विस्मयकारी उत्कर्ष का हमें पता चलता है। किन्तु स्पष्ट है कि सभ्यता की इन आकर्षक और जीवनोपयोगी वस्तुओं से ही कार्य नहीं चल सकता। वाह्य वैधिक और राजनीतिक नियम ही सर्वस्व नहीं है। हमें उन वस्तुओं की भी आवश्यकता है जिनका स्वतः ही महत्त्व है। प्लेटो के अनुसार वस्तुओं के तीन विभाग हैं[१]। (क) वे वस्तुएँ जिनका उनके परिणाम के लिए नहीं, अपितु अपने ही लिए महत्त्व है, उदाहरणार्थ हानिरहित आनन्द के साधन। (ख) वे वस्तुएँ जो स्वतः नहीं, किन्तु अपने परिणाम के लिए अभिवांछित हैं, जैसे शारीरिक श्रम, डाक्टर का पेशा और अन्य अर्थोपार्जन कर्म। ये स्वतः नहीं अभिप्रेत

---

civilization—whether he wills it or no, and whether Buddhist, Stoic or Socialist doctrines wear the garb of religion or not......Every soul has religion, which is only another word for its existence. All living forms in which it exresses itself—all arts, doctrines customs, all metaphysical and mathematical form-worlds, all ornament, every column and verse and-idea—are ultimately religions and *must* be so. But from the setting in of civilization they *cannot* be so any longer. *As the essence of every culture is religion so—and consequently—the essence of every civilization is irreligion—the two words are synonymous.*"

१. *Republic*, Book II.

है अपितु, अर्थोपार्जन या अन्य उन्नतिमूलक परिणाम इनसे निकलते हैं। (ग) वे वस्तुएँ जिन्हें हम स्वतः भी और उनके परिणाम के लिए भी अच्छा समझते हैं, उदाहरणार्थ शुद्ध विचार, स्वास्थ्य आदि। प्लेटो के वर्गीकरण से हमें मतविभिन्नता हो सकती है; किन्तु उसके सिद्धान्त से नहीं। जगत् में कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनका हम साधारण रूप में ही उपयोग करते हैं। अस्पताल हम किसी निमित्त से ही जाते हैं। यदि रोग न हो तो कोई अस्पताल न जाय। किन्तु काव्य का आनन्द सतत वर्धमान और विलक्षण आह्लादकारी है। सभ्यता का सम्बन्ध उन समस्त आवश्यक और उपयोगी वस्तुओं से है जो मानवजीवन को सुखमय बनाती है। किन्तु संस्कृति इन्द्रियग्राह्य सुखों से भी ऊपर की अवस्था, आनन्द, का अनुसंधान करती है। सुख के साधनों को हम बाह्य ढंग से एकत्रित कर सकते हैं। अर्थात् एक हजार वायुयान के बदले हम दस हजार वायुयान बना सकते हैं। एक-देश दूसरे देश से वायुयान खरीद सकता है अथवा, एक देश का इन्जिनियर दूसरे देश के लोगों को वायुयान बनाने की शिक्षा दे सकता है। आज अमरीका और यूरोप में अनेक भारतीय वायुयान बनाने की शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं। यूरोप से रेल की इंजिन और वायुयान खरीदे जा सकते हैं किन्तु होमर के 'इलियड' और डान्टे की 'डिवाइन कौमेडी' जैसे महाकाव्यों को हम अपने देश में किसी बाह्य साधन से नहीं उत्पन्न कर सकते। ऐसे महाकाव्यों का निर्माण वैयक्तिक साधना और प्रतिभा पर आश्रित है। भोजन में मसाले का प्रयोग, यूरोप-वासियों ने मध्ययुग के अन्त में पश्चिमी एशिया से सीखा; किन्तु ईसा मसीह, संत पाल और जरथुस्त्र जैसे पुरुषों का आविर्भाव क्यों और कैसे होता है, इसे कोई देश किसी दूसरे देश से नहीं सीख सकता। सांस्कृतिक निर्माण आत्मनिष्ठता का परिणाम है। इसके द्वारा मानव-चेतना का अभ्युदय होता है। निजी प्रतिभा के सहारे ही इसका निर्माण और रसास्वादन हो सकता है। जर्मनी से हम मोटर मँगा सकते हैं; किन्तु काण्ट के महान् ग्रंथ—'विशुद्ध बुद्धि का परीक्षण', को हमें स्वयं अपनी बौद्धिक शक्ति का विकास कर समझना होगा। प्रसिद्ध समाजशास्त्री आल्फ्रेड वेबर ने कहा है कि सभ्यता की वस्तुओं को एक देश से दूसरे देश में ले जाना सहज है, किन्तु संस्कृति की वस्तुएँ दीर्घकालीन श्रम और अभ्यास से ही समझ में आती हैं। संक्षेप में कह सकते हैं कि सभ्यता के संस्थागत और उपादानात्मक तथा क्रियात्मक साधनों को हम अन्य स्थानों से उधार ले सकते हैं, किन्तु संस्कृति का सम्बन्ध अन्तःप्रेरणाओं, रागात्मक वृत्तियों और सूक्ष्म मानसिक जगत् से है। ये शनैः-शनैः ही सीखी जा सकती हैं। इसीलिए सभ्यता शीघ्र अन्य स्थानों में फैल सकती है। यूरोपीय साम्राज्यवाद के उदय के बाद से सुदूर अफ्रिका और मंगोलिया में भी पश्चिमी सभ्यता फैल रही है, किन्तु

जापान, चीन और भारत ने अपनी प्राचीन संस्कृति को सर्वदा सुरक्षित रखकर ही पश्चिमी सभ्यता के उपकरणों को ग्रहण किया था। हाँ, तुर्की में मुस्तफा कमाल के नेतृत्व में, कम-से-कम संकल्प ऐसा रहा कि पश्चिमी सभ्यता के साथ-साथ पश्चिमी संस्कृति को भी अपनाया जाय, किन्तु तीस वर्षों के अनुभव से पता चलता है कि बाह्य दृष्टि से यूरोपीय सभ्यता के उपादानों का ही अनुकरण तुर्की कर सका है[1]। संस्कृति का मानसिक और हार्दिक सम्बन्ध होने से सभ्यता के महान् परिवर्तन के बाद भी संस्कृति सुरक्षित रहती है। अशोक के समय से, आज भारतीय सभ्यता में महान् अन्तर है, किन्तु बौद्ध संस्कृति के अनुपम संदेश आज भी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से भारत म अपना प्रभाव व्यक्त कर रहे हैं। बुद्धकालीन यातायात और व्यापार के साधन अब इतिहास की वस्तु हैं, किन्तु धम्मपद और दीघनिकाय अभी भी नवीन हैं। सभ्यता की वस्तुएं पुरानी पड़ जाती हैं, किन्तु संस्कृति में एक शाश्वत और चिरन्तन सत्य प्रकाशित होता है। महाभारतकालीन लेखनकला से आज की लेखनकला अधिक उत्कृष्ट है, किन्तु शांतिपर्व का अमूल्य संदेश आज भी भारतीय संस्कृति पर अपना अमिट प्रभाव व्यक्त कर रहा है। इस प्रकार देखने से संस्कृति का विशाल रूप स्पष्ट होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृति रूपी सरिता का निर्मल सतत प्रवाह हो रहा है। अपनी साधना के सहारे मानव इस धारा में योगदान कर रहा है। इस प्रकार वैयक्तिक श्रम और साधना से उद्भूत होकर भी संस्कृति व्यापक और विशाल रूप धारण कर अतिवैयक्तिक हो जाती है। बौद्ध संस्कृति बुद्ध की विशाल चेतना से उद्भूत होकर भी सदियों तक एशिया पर अति वैयक्तिक शक्ति के रूप में अपना प्रभाव व्यक्त कर रही है।

संस्कृति की व्याख्या करने में इसके कलात्मक और साधानात्मक पक्ष का विश्लेषण करना आवश्यक है। यूरोपीय संस्कृति के अनुशीलन के विषय में मैथ्यू आर्नाल्ड ने यहूदी धर्म द्वारा प्रदत्त प्रचण्ड धार्मिकता तथा न्यायशीलता के साथ यूनानियों द्वारा प्रदत्त सौन्दर्यात्मक और कलात्मक अनुभूति का उल्लेख किया है[2]। मानव-इतिहास में अनेक युग ऐसे होते हैं जब ज्ञान, साधना, तपस्या तथा अध्यवसाय के सहारे संस्कृति का संबर्धन होता है। भारतीय इतिहास में मौर्यकाल और यूरोपीय इतिहास में मध्ययुग इस प्रकार के धार्मिकता के युग थे। यूरोप में सत्रहवीं शताब्दी के प्यूरिटन लोगों के आन्दोलन में धार्मिकता व्यक्त होती है। धार्मिकता के युग में नैतिक शक्तियों के केन्द्री-

---

१. Luke, *The Making of Modern Turkey*; H. Edib, *Turkey faces West.*

२. Matthew Arnold, *Culture and Anarchy*, प्रथम अध्याय.

करण और वैयक्तिक तथा सामाजिक शक्तियों के जनकल्याणात्मक उपयोग पर बल दिया जाता है। एक दूसरा समय इतिहास में आता है जब काव्य साहित्य, चित्रकला, स्थापत्यकला आदि के विकास पर अधिक ध्यान दिया जाता है। भारतीय इतिहास में गुप्तलोगों का राज्यकाल और मुगलों का राज्यकाल इस प्रकार के युग थे। यूरोपीय इतिहास में एथेन्स तथा रेनायसेन्स के समय की इटली में इस प्रकार का प्रयत्न हमें दिखाई पड़ता है। इस प्रकार मौर्यकाल और गुप्तकाल को इतिहासव्यापी प्रवृत्ति का निदर्शन करनेवाला प्रतीकात्मक स्वरूप हम मान सकते हैं। मौर्यकाल, धार्मिक विकास, नैतिक साधना तथा जनकल्याणात्मक शक्ति-उपयोग का प्रतीक है। गुप्तकाल, साहित्य, कला आदि के विकास का प्रतीक है। स्पष्ट है कि मौर्यकाल और गुप्तकाल का उदाहरण, एक ऐतिहासिक प्रवृत्ति का विशद उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए ही यहाँ दिया जा रहा है। सामान्यतः ये दो प्रवृत्तियाँ सर्वदा व्यापक रहने पर भी किसी-किसी युग में अपना विकसित रूप प्रस्तुत करती हैं। संस्कृति का विश्लेषण करने में फिक्ट तथा उससे पहले काण्ट ने नैतिक तत्त्वों पर ही विशेष महत्त्व प्रदान किया है। काण्ट के अनुसार संस्कृति का स्वरूप मानव अन्तश्चेतना के सहारे विदित होता है। सर्वव्यापक अवश्यकर्त्तव्य नैतिक नियमों के द्वारा अनुवर्तित होना ही संस्कृति का लक्षण है। फिक्ट भी संस्कृति को आन्तरिक स्वतंत्रता और तर्कसंगतता के साथ तादात्म्यप्राप्त मानता है। पूर्ण स्वतंत्रता को लक्ष्य मानकर मानव शक्तियों का प्रयोग ही सांस्कृतिक प्रयास है।

सभ्यता और संस्कृति का मानव विकास के साथ-साथ परिवर्तन होता है। यद्यपि सभ्यता और संस्कृति की एक स्वतंत्र सत्ता हो जाती है[१], तथापि इनकी चेतना की धारा का वाहक व्यक्ति ही है[२]। सभ्यता को व्यक्त करनेवाले वाह्य उपादान और संस्कृति को व्यक्त करनेवाले स्तम्भ, काव्य, चारित्र्य आदि यद्यपि अति वैयक्तिक हो जाते हैं, तथापि विकसित मानव का प्रबुद्ध नैतिक और आध्यात्मिक चैतन्य ही इनका समुचित उपयोग कर सकता है। सभ्यता और संस्कृति का स्थायित्व इसी पर आश्रित है कि व्यापक मानव आवश्यकताओं की कितनी दूर तक उनसे पूर्ति

१. L. A. White, "Man's Control over civilization", *The Scientific monthly*, मार्च १६४८.

२. E. Cassirer, *An Essay on Man*, पृष्ठ २२८—"Human culture as a whole may be described as the process of man's progressive self-liberation. Language, art, religion, science are various phases in this process."

होती है। पश्चिमी वैज्ञानिक यांत्रिक सभ्यता से पूर्व की साधारण सभ्यताएं युद्ध में पराजित हो गईं और इस प्रकार एशिया और अफ्रिका के निवासियों को इस विजयिनी नई सभ्यता के अनेक अंशों को अपनाना पड़ा। किंतु पश्चिमी यांत्रिक सभ्यता के अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों को अपनाकर पूर्वीय देशों के लोग आज पुनरपि जीवनसंघर्ष में वीरता से खड़े हैं और इस प्रकार उन समाजशास्त्रियों की उस कल्पना को निराधार सिद्ध कर रहे हैं जो मानती हैं कि कुछ देशों के निवासी पुराने पड़ गये और वार्धक्य के कारण उनमें प्रमाद और शैथिल्य आ गया है। वस्तुत: कोई जाति पुरानी नहीं पड़ती[1]। अमरीका एक नई सभ्यता है, इससे यह नहीं समझना है कि उसके मानव-वाहक चिरन्तन काल तक वर्तमान रहेंगे। सभ्यता और संस्कृति का वाहक मनुष्य एक सीमित आयु तक ही जीवित रह सकता है। मानवों का सतत जन्म और मरण होता रहता है। इससे संस्कृति की परम्परा पुरानी होने पर भी उसकी धारा से प्रभावित शरीरधारी मनुष्य अपनेको नूतन चेतना से प्रभावित मान सकते हैं। वेदान्तवाद एक प्राचीन सांस्कृतिक विचार है, उपयोगितावाद नूतन है। परन्तु इन दो वादों के शरीरधारी समर्थकों का एक निश्चित जीवन काल तक ही इनसे सम्बन्ध हो सकता है। पीछे आनेवाली पीढ़ियों को फिर धीरे-धीरे इनको अध्ययन के सहारे सीखना होगा। इस प्रकार स्पष्ट है संस्कृति के वाहक नये-नये मनुष्यों के द्वारा संस्कृति अपना कल्याणकारी प्रकृष्ट स्वरूप व्यक्त कर सकती है।

आज मानव-सभ्यता में बड़े-बड़े नगरों का योगदान महत्त्वपूर्ण है। अनेक विचारकों ने प्रकृतिनिष्ठता और ग्राम्यवाद का संदेश दिया है. किन्तु ऐसा मालूम पड़ रहा है कि संसार बड़े-बड़े नगरों के विकास की ओर बढ़ रहा है। इन विश्व-नगरों के निर्माण के कारण यांत्रिकता का प्रयोग बढ़ेगा[2]। दूसरी ओर यांत्रिकता के कारण विश्व सभ्यता का निर्माण हो रहा है किन्तु ऐसा मालूम पड़ रहा है कि विश्व-सभ्यता की ओर अभिमुख होकर भी शायद विश्व-संस्कृति का निर्माण नहीं हो सकता।

---

१. जातियों की स्वतंत्र प्राणगत (biological and vital) सत्ता नहीं है, अपितु जाति शब्द के द्वारा वाच्य मनुष्यों की है। अत: जिस अर्थ में सत्तर पचहत्तर वर्ष आयुवाले मनुष्य को हम वृद्ध कहते हैं, उसी अर्थ में तीन, चार या पाँच हजार वर्ष पुरानी सभ्यता को धारण करनेवाले देश या जाति को वृद्ध नहीं कह सकते। देश या जाति के पृथक्-पृथक् मनुष्य सर्वदा मरते और जन्म लेते हैं। इस प्रकार नूतन सृष्टि सर्वदा होती रहती है। अत: इतिहास और सभ्यता के पुराने पड़ने पर भी उस इतिहास और सभ्यता की धारा को वहन करनेवाले मनुष्य सर्वदा नये रहते हैं।

२. L. Mumford, *Technics and Civilization.*

मानव-जीवन के बाह्य आधारों और उपकरणों में साम्य लाया जा सकता है, किन्तु अनुभूति और विचिंतन में वैभिन्य ही संस्कृति का प्राण है। निश्चय ही यांत्रिकता, विश्व-व्यापार तथा अन्तरराष्ट्रीय संगठनों से सभ्यता का जोरों से विकास हो रहा है। विश्व-चेतना का भी शनैः-शनैः विकास हो रहा है। इस प्रकार की चेतना का यही परिणाम होगा कि पारस्परिक सन्निकर्ष से संस्कृतियों की धारा में आदान-प्रदान होगा। ऋग्वेद के समय से ही भारतीय संस्कृति विश्वकल्याण का मंत्र प्रचारित करती रही है। समस्त संसार को नैतिक चेतना प्रदान करने का आदर्श त्रिपिटक में प्राप्त होता है। इस मानवहितवाद को ध्यान में रखते हुए वैज्ञानिक सभ्यता के समस्त साधनों और उपकरणों का प्रयोग करके ही भारत विश्वसंस्कृति में अपना योगदान कर सकता है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता शक्तियों को उन्मुक्त करती है और उन्मुक्त विप्रबुद्ध चैतन्य ही सभ्यता के द्वारा उपस्थित साधनों का सम्यक् प्रयोग कर सकता है। यदि अणुशक्ति का अनुचित उपयोग कर मानव-सभ्यता को खतरे में न डाला जाय तो ऐसा मालूम पड़ता है कि विश्वसभ्यता के आधार पर अलग-अलग वर्तमान संस्कृति-धाराओं का विकास हो सकता है।

सभ्यता और संस्कृति का मानव-विकास से अत्यन्त ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। कह सकते हैं कि सभ्यता और संस्कृति का इतिहास ही मानव-विकास का इतिहास है। अनेक विचारकों ने सभ्यता का खंडन किया है। परन्तु मैं समझता हूँ कि स्वयं सभ्यता और संस्कृति का दोष नहीं है, यदि अप्रबुद्ध मानव उनका दुरुपयोग करता है। साम्यवाद के कुछ समर्थकों ने पीड़ित और शोषित जनता के नाम पर संस्कृति का खंडन किया है। मिश्र देश के पिरामीड, ताजमहल, रोम में वर्तमान संत पीटर का चर्च—ये निस्सन्देह संस्कृति के महान् स्तम्भ हैं; किन्तु इनके निर्माण में लाखों मजदूरों का शोषण हुआ है। संस्कृति सर्वदा अल्पतंत्रीय वर्ग के हाथ में रही है। जब संसार में पीड़ा, भूख और शोषण का साम्राज्य जारी है तब कालिदास, शेक्सपियर और पुश्किन के साहित्य का रसास्वादन वही वर्ग कर सकता है जिसके पास पूरा अवकाश है। इस प्रकार संस्कृति कुछ अंशों में निठल्ले बैठनेवाले लोगों के मनोरंजन का एक साधन बन जाती है। जिन बनारसी साड़ियों को भारत की धनी स्त्रियाँ बड़े शौक से पहनती हैं, उनको बनाने में अनवरत परिश्रम करने के कारण हजारों मजदूर यक्ष्मा के शिकार होकर स्वर्ग सिधार गये। जिन रेलगाड़ियों में बैठकर हम आराम से सोकर सफर करते हैं, उनके बनाने में लाखों मजदूरों का भयंकर शोषण हुआ है। इस प्रकार देखने से मालूम पड़ता है कि सभ्यता और संस्कृति के स्तम्भों पर मानव-शोषण और उत्पीड़न की छाप लगी हुई है। इसी कारण मानवता के नाम

पर अनेक विचारकों ने सभ्यता और संस्कृति का खंडन किया है। इस प्रकार के आक्षेपों का उत्तर देना कठिन है। निस्सन्देह अशोक के जिन धर्मस्तम्भों पर हम इतना गर्व करते हैं, उन्हें देश के कोने-कोने में, यातायात की अविकसित अवस्था में, ले जाने में श्रमिकों को भयंकर परिश्रम करना पड़ा होगा। इतनी ही हम आशा करते हैं कि भविष्य में सभ्यता और संस्कृति के श्रेयस्कर रूप का फल व्यापक रूप से जनसाधारण को मिलेगा। प्रजातंत्र और समाजवाद के विकास के साथ यह एक मानव-अधिकार माना जा रहा है कि कला, संस्कृति आदि के समुचित उपभोग का अवसर प्रत्येक नागरिक को मिले।

प्लेटो मानव-संस्कृति का समर्थक था। दार्शनिक शिक्षा के द्वारा जगत् का रहस्योद्घाटन करने की शक्ति प्राप्त कर ही, मानव-जीवन का स्वरूप मालूम हो सकता है और शासन की उचित क्षमता प्रदान करनेवाला वृत्ति-संशोधन प्राप्त हो सकता है। प्लेटो के मतानुसार राजनीतिक न्याय छायामात्र है; वास्तविक न्याय है अपनी वृत्तियों का एकीकरण और उनका सम्यक् विनियोग। प्लेटो संस्कृति का उपासक था। शिक्षणात्मक संस्कृति को ही मानव-जीवन का वह परम लक्ष्य मानता था। किन्तु संजटिल विलासितापूर्ण सभ्यता का उसने खंडन किया है। विलासिता और परिग्रह युद्ध के कारण हैं, ऐसा प्लेटो का विचार है। सरलता का वह पक्षपाती था। संजटिलता का आगमन मानव-उन्नति का नहीं, अपितु पतन का चिह्न है। प्रत्येक मनुष्य को अपना स्वभावनियत कर्म करना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि अपने कर्म को करने की वृत्ति जिस प्रकार दृढ़ हो उसी प्रकार का वातावरण मनुष्य को मिलना चाहिए। इसी लिए पेचीदगी को बढ़ाकर कानून और दवाइयों को बढ़ाना उसे अभीष्ट नहीं था। सरलता का जीवन व्यतीत करने पर वैद्य और डाक्टर की खुशामद करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। साहित्य में भी प्लेटो अतिरंजित नाटकीयता का विरोधी था। वह कला का नहीं, सत्य का प्रेमी था। सौन्दर्यपूर्ण वस्तुओं के बाह्य आकर्षण का वह भक्त नहीं था, किन्तु वह उस व्यापक सौन्दर्य-प्रत्यय का अनुसंधान करना चाहता था जो मानव-जीवन को प्रशस्त और यत्नशील बनाता है। प्लेटो सरलता का पक्षपाती था, संजटिलता का नहीं। किन्तु यह सरलता, अज्ञान की सरलता नहीं है। यह ज्ञानी का आर्जव है जो वस्तुओं के याथातथ्य ज्ञान के कारण अकृत्रिम सहज रूप से ही सरलता की वृत्ति का आश्रय लेती है। सुकरात के जीवन में समुन्नत मानव-आत्मा की यह सरलता व्यक्त हुई है। अपने आदर्श नगर में प्लेटो यह व्यवस्था कायम करना चाहता था कि धन और दीनता के अतिरंजित रूप का दर्शन न होने पावे। ज्ञान पर उचित ध्यान देने से समस्त कृत्रिम वस्तुओं के आवरणात्मक रूप का पता

लगता है और मानव विशुद्ध सत्य की ओर बढ़ता है। संस्कृति की प्रयोजनसिद्धि इसीमें है कि शासकों में सम्यक् ज्ञान हो, रक्षकों में भय और अभय के अवसरों के सम्बन्ध में ठीक विचार हो और समस्त राज्य के नागरिकों में आवश्यक आत्म-निग्रह और संयम हो। प्लेटो संस्कृति का समर्थक था, इसी लिए जीवन को भोगमय और सुखमय बनाना उसका लक्ष्य नहीं था। समग्रग्राहिणी दृष्टि का अवलम्बन ही उस विशाल आदर्शवाद को जन्म देता है जिसके अनुसार मनुष्य को केवल वर्ग-विशेष के सुख की खोज नहीं करनी है, अपितु समग्र राज्य का पूर्ण कल्याण और शील ही उसका सच्चा प्राप्तव्य है। जिस प्रकार व्यावहारिक जगत् में किसी व्यापक आदर्श को क्रियान्वित करने से ही मानवशक्तियों का समुचित उपयोग हो सकता है, उसी प्रकार प्रत्ययमूलक आदर्शवाद और अद्वैतमूलक व्यापक प्रयोजनवाद का आश्रय लेने से ही मानव विशुद्ध नैतिक चैतन्य की प्राप्ति कर सकता है। जिस प्रकार दार्शनिक विचिंतनमय जीवन को प्लेटो संस्कृति का उच्चतम आदर्श मानता है, उसी प्रकार अरस्तू भी भोगमय जीवन को अपेक्षा कर्मयोगपूर्ण ज्ञानमय जीवन की श्रेष्ठता का प्रतिपादक है। किन्तु दार्शनिक विचिंतन का समर्थन करते हुए भी प्लेटो और अरस्तू अपनी विचारधारा में अभिजातवाद का समर्थन करते हैं। मानव-मात्र के लिए किस प्रकार समानता और स्वतंत्रता की प्राप्ति कराई जा सकती है, इस प्रश्न पर उन्होंने विचार नहीं किया है। आज आवश्यकता है कि प्रत्येक मानव का पूर्णतम विकास के अवसर प्राप्त हों। बाह्य वस्तुओं और उपकरणों के निर्माण के लिए वैज्ञानिक सभ्यता का आश्रय लेना ही पड़ेगा। परन्तु संस्कृति के अभाव में मानव केवल बाह्य सभ्यता के भयंकर बाहरी आकार को ही खड़ा कर सकता है। संस्कृति के अभाव में बाह्य सभ्यता बोझ बन कर मानवजाति का अन्त भी कर डालती है। असीरिया के सम्राटों ने युद्ध करनेवाले महान् अस्त्र-शस्त्र को प्रस्तुत किया था, परन्तु संस्कृति का पूर्ण विकास न होने से वह बाह्य सैनिक सभ्यता असीरिया के पतन का कारण हुई। आज आर्थिक, सामाजिक और यांत्रिक सभ्यता के अपरि-कल्पित उपकरण मौजूद हैं, फिर भी आज मानव-संस्कृति खतरे में है[1]। आज

१. Harold Laski : *Reflections on the Revolution of Our time*, पृष्ठ ३०५ : "We are in the midst of the profoundest crisis our civilization has known, at least since the Reformation, and perhaps since the fall of the Roman Empire......It is not a crisis which any simple or single remedy can resolve. For there are

मनुष्य को फिर से नैतिक और सांस्कृतिक चेतना से दीक्षित करना है। आज वह समय बीत गया जब संस्कृति को एक वर्गविशेष के मनोविनोद का साधनमात्र बनाया जाता था। आज प्रजातंत्र, मानव समानतावाद, अधिकारवाद आदि की माँग है कि प्रत्येक मानव को पूर्ण जीवन व्यतीत करने का उचित अवसर मिलना चाहिए। वैज्ञानिक, यांत्रिक और नागरिक सभ्यता ही इसके लिए अपेक्षित समस्त वाह्य उपकरणों को प्रस्तुत करेगी। किन्तु इनका उपयोग सम्यक् रूप से हो सके, इसके निमित्त आवश्यक है कि संस्कृति का आधारभूत मंत्र—मानव का नैतिक चैतन्य और आन्तरिक उद्बोध—दृढ़ किया जाय। सभ्यता का सम्बन्ध, इस प्रकार यदि राजकीय और आर्थिक व्यवस्था से है तो संस्कृति का सम्बन्ध उन व्यापक आदर्शों से है जो इस वाह्य अवस्था के द्वारा प्रकटित और क्रियान्वित होते हैं। इस प्रकार सभ्यता और संस्कृति का राजनीतिशास्त्र से स्पष्ट सम्बन्ध है[१]।

सभ्यता और संस्कृति का मानव इतिहास और चेतना में क्या स्थान है, इस प्रश्न की मीमांसा करने का बहुत बड़ा प्रयास रूसी दार्शनिक निकोलस बर्जाइभ ने किया है। बर्जाइभ के ऊपर काण्ट, मार्क्स, इबसेन, डास्टोइभस्की तथा सोलोमिएभ का प्रभाव था[२]। अन्तिम सन्तोष उसे रूसी आर्थोडाक्स चर्च की शिक्षाओं से ही प्राप्त हुआ। बोल्शेविकों के द्वारा निर्वासित होने पर बर्जाइभ फ्रांस में रहकर अपने महान् धार्मिक और समाजशास्त्रीय पुस्तकों का निर्माण करता रहा। बर्जाइभ के अनुसार इतिहास केवल वाह्य घटनाओं का एकत्रीकरण मात्र नहीं है। इतिहास चिरन्तनता

---

in dispute amongst us not only the ultimate character of the relationships of men but also the faith, or system of values to which those relationships give birth."

१. द्रष्टव्य—Kroeber (सम्पादित) *Anthropology to-Day*, विशेषतया 'The Concept of Value in Modern Anthropology" पृष्ठ ६८२-६९९.

२. Nicolas Berdyaev (१८७४-१९४८), *The Meaning of Histroy*, *The New Middle Ages*, *Christianity and Class struggle*, *Solitude and Society*, *The Russian Idea Slavery and Freedom*, *Spirit and Reality*, *The Destiny of Man*, *Freedom and the Spirit*.

का प्रबल सामयिक प्रवाह है[१]। किन्तु इतिहास में व्याप्त इस प्रकृष्ट आध्यात्मिक सत्य की अनुमति वैयक्तिक ज्ञानात्मक निदिध्यासन से ही हो सकती है। इस प्रकार इतिहास का अध्ययन एक आध्यात्मिक अनुमति है। विज्ञान और समाजशास्त्र द्वारा उपस्थित क्रमिक उन्नति के सिद्धान्त का बर्जाइभ खंडन करता है[२]। उन्नति भविष्य में होगी, इस प्रकार का विचार अनैतिक है, क्योंकि इस प्रकार की विचारधारा में समस्त भूत और वर्तमान भावी पीढ़ियों के द्वारा प्राप्तव्य उन्नति के साधन-मात्र हो जाते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से इतिहास के भूत और वर्तमान अंश को साधन मात्र मानने का कोई आधार नहीं है। प्राचीन काल में भी अनेक युग ऐसे थे, जिनकी तुलना में आधुनिक युग कई अंशों में पूर्ण मालूम पड़ता है। बर्जाइभ ने काण्ट और पिक्ट द्वारा प्रतिपादित नैतिक और आध्यात्मिक मापदण्ड को सभ्यता और संस्कृति में पृथक्करण के लिए उपयुक्त माना है। संस्कृति का लक्ष्य है—विराट् श्रेयों की प्राप्ति। आध्यात्मिक कर्तृत्वशक्ति का उन्मुक्त प्रवाह ही संस्कृति का मूल है[३]।

---

१. Nicolas Bredyaev : "The Will to Life and the Will to Culture", *The Meaning of History* (पृष्ठ २०७-२२४).

२. तुलनीय--Sri Aurobindo, The Life Divine II ; Carl Becker, "Progress", *Encyclopaedia of the Social sciences.*

३. N. Berdyaev : *Truth and Revelation* पृष्ट १४७-१५१ "Spirit is not the turning of one's back upon the world and its suffering, it is rather that which changes, enlightens and transforms the world. It begins as symbolization and ought to come to its conclusion in realization. All culture—and religion itself as a part of culture—lies in the domain of symbolization. But the prophetic spirit, which is disclosed in the elect creators of culture, demands realization, it require the transfiguration of life as a whole. Nature and Civilization are different degrees of the objectivization of spirit, but there is symbolization in them too. The symbolics of the really divine cosmos have a place too in the human attitude to nature, which is perceived externally as in chains and subject to

किन्तु जीवन की शक्ति के सहारे संचालित करना सभ्यता का प्रयोजन है। संसार की महती संस्कृतियाँ किसी शाश्वत और चिरन्तन सत्य की अभिव्यक्ति करती हैं। बाह्य या जागतिक दृष्टि से संस्कृतियों का पतन हो जाने पर भी यह चिरन्तन सन्देश वर्तमान रह सकता है। यूनानी कला, और प्लेटो, अरस्तू तथा डिमोक्रिटिस का दर्शन आज भी यूरोपीय संस्कृति की विस्मयकारी निधि हैं। रोम की विधि-व्यवस्था भी आजतक यूरोपीय सामाजिक और राजनीतिक जगत् पर अपना प्रभाव व्यक्त कर रही है। यूरोपीय संस्कृति में बर्जाइभ की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट काल मध्ययुग का था जब संस्कृति के महान् उन्नायक जोयाकिम आफ फ्लारिस, अक्वायनास तथा दान्ते के समान महान् व्यक्ति उत्पन्न हुए थे। तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी के बाद यूरोप में धर्मनिरपेक्षतावाद,

---

necessity......Civilization is also chained to necessity. It belongs to the sphere of law. ......The era of the spirit can be nothing but a revelation of a sense of spirit can be but a revelation of a sense of community which is not merely social but also cosmic, not only a brotherhood of man, but a brotherhood of men with all cosmic life, with the whole creation.... But the coming of a new aeon presupposes a change in the human mind and the liberation of that mind from the power of 'objectness'. This change, in the way men think, will not come to pass in a moment. It presupposes a complex process of preparation. This is above all, what is needed, a revolution in thought, a revolution in spirit, which gets rid of the desire to be alienated and ejected into the object world. The revelation which belongs to the new aeon can be none other than a divine-human revelation. It cannot be thought of nor expected without creative human activity. A process which makes ready for the era of the spirit is taking place in man and it will be the fulfilment and realization of Christianity."

विज्ञान और भौतिकवाद की उन्नति हुई। मध्ययुगीन ईश्वरवाद के स्थान पर मानववाद प्रतिष्ठित हुआ। मानववाद को यूरोपीय पुनरुत्थान से बहुत प्रश्रय मिला। किन्तु मानववाद का अन्त काण्ट, मार्क्स और नीत्शे की विचारधारा में हुआ। काण्ट ने बताया कि मानव-बुद्धि केवल बाह्य वस्तुओं की परीक्षा कर सकती है, विशुद्ध वस्तु-तत्त्व का ज्ञान इसके सहारे नहीं प्राप्त किया जा सकता[१]। इस प्रकार काण्ट का दर्शन मानववाद के अप्रतिहत आशावाद का खंडन करता है और विशुद्ध बुद्धि की असमर्थताओं को व्यक्त करता है। मार्क्स की दृष्टि में व्यक्ति की अपेक्षा समाज का महत्त्व अधिक है। मार्क्स व्यक्ति के स्थान पर वर्ग-चेतना से अतिशय प्रभावित मानव का राग आलापता है। उसकी दृष्टि में विलक्षण आत्मिक चैतन्य का वाहक मनुष्य नहीं, अपितु वर्ग-चेतना से प्रभावित सामाजिक मानव ही, इतिहास का अग्रदूत है। इस प्रकार सामाजिकता के नाम पर मार्क्स मानववाद का विरोधी है। जर्मन दार्शनिक नीत्शे तत्कालीन श्रेयों का रूपान्तर चाहता था[२]। दास-नैतिक वृत्ति के स्थान पर अभिजात-नैतिक-वृत्ति का वह समर्थक था। उसके विचार में मानव के स्थान पर

१. N. Bredyaev, *The Meaning of History* p. 162: "....Kant, in whom the symptoms of the declining Renaissance are well illustrated....This critical work, which begins to doubt man's infinite power of knowledge, precipitates a conflict with anthropology and the humanist principles of knowledge, and this dispute reaches a particularly acute stage in the work of Cohen and Hosserl."

२. N. Berdyaev, *The Meaning of History* p. 158 : "Karl Marx who was gifted with an extraordinarily fine mind and great powers but did not in the least resemble the creative personality of Nietzsche, also symbolizes the decline of the Renaissance and the crisis of humanism. Nietzsche had symbolized—the self-renouncement of both the individual and humanism. Marx, on the other hand, demonstrates the collective disintegration of humanism and man's image....Nietzsche and Marx exhausted the possibili-

अतिमानव की आवश्यकता है। समाजवाद, प्रजातंत्र और ईसाइयत का खंडन कर तथा अतिमानववाद को प्रतिष्ठित कर शक्तिवाद का दार्शनिक आधार नीत्शे ने प्रस्तुत किया। यद्यपि नीत्शे ज्ञान का पुजारी था और वह राष्ट्रवाद के स्थान पर यूरोपीय संस्कृति का समर्थक था, तथापि अतिमानववाद का प्रचार कर नीत्शे ने उस मानववाद का खंडन किया जो यूरोपीय पुनरुत्थान के समय से ही उद्घोषित हो रहा था। बर्जाइभ के अनुसार मानववाद आत्माहंकारवृत्ति को समर्पित करने का एक साधनमात्र है। संस्कृति की रक्षा तब हो सकती है जब मानव अपने सामाजिक जीवन के अन्दर दैवी भावनाओं का प्रवेश करायेगा। जब संस्कृति अपने आध्यात्मिक कर्तृत्वशक्ति का अन्त कर केवलमात्र व्यवस्था, शक्ति आदि का ही अनुसंधान करती है, तब उसका सभ्यता में रूपान्तर हो जाता है। रूस में पुश्किन का युग संस्कृति का चरम उत्कर्ष व्यक्त करता है। साम्यवाद रूस को सभ्यता के मार्ग पर ले जा रहा है। सभ्यता मूलतः नगरनिवासी पूँजीपतियों की देन है। किस प्रकार जीवन को संगठित कर सुख और परिग्रह का अत्यधिक विलास किया जा सकता है, यही पूँजीवाद का लक्ष्य है। किन्तु पूँजीवाद और मध्यवर्ग द्वारा प्रदर्शित सभ्यता का मार्ग ही संस्कृति के रूपान्तर का एकमात्र मार्ग नहीं है। संस्कृति के उन्नयन का एक विशालतर मार्ग है धार्मिक रूपान्तर[1]। दैवी कर्तृत्व और दैवी नियन्त्रणकारित्व का उत्कर्ष इतिहास में देखना तथा जागतिक व्यवहार में दैवी-तत्व का प्रकटीकरण करना ही इतिहास का धार्मिक रूपान्तर है। इस प्रकार का धार्मिक रूपान्तर उस समय व्यक्त हुआ था जब यूनान और रोम की सभ्यता का रूपान्तर ईसाइयत के रूप में व्यक्त हुआ। ईसाइयत के उदय ने मानवता और दिव्यत्व का सम्मेलन उपस्थित किया। उस समय से इतिहास में एक अद्भुत कर्तृत्वशक्ति व्यक्त हुई है। भारतीय दर्शन अव्यक्त कूटस्थ ब्रह्म की निर्विशेष सत्ता का पोषक है। यूनानी दर्शन गणितशास्त्र की पद्धति से प्रभावित है। इसीलिए भारतीय और यूनानी संस्कृति में इतिहास की सततप्रवहणशीलसत्ता का स्वीकार नहीं है। काल का अतिक्रमण कर ही मोक्ष या कैवल्य की प्राप्ति भारतीय

---

ties of humanism ; the former on the peaks of culture, the latter among the masses in the plain below."

१. तुलनीय—N. Berdyaev, *The Russian Idea*, पृष्ठ २ ; "The Russians have not been in any special sense a people of culture, as the peoples of Western Europe have been, they have rather been a people of revelation and inspiration."

दर्शन के अनुसार हो सकती है। बर्जाइभ का ऐसा मन्तव्य है कि पश्चिमी जातियों के अन्दर जो इतना विराट् कर्तृत्व व्यक्त हुआ है, जिसने उनके समस्त इतिहास को गतिशील बनाया है, उसका स्रोत यही ईसाइयत का कर्तृत्ववाद है। बर्जाइभ इस बात को मानता है कि अनेक अंशों में ईसाई चर्च पतित हो गया है और अपने उत्कृष्ट आदर्शवाद का पालन नहीं कर सका है। फिर भी उसका विचार है कि ईसाइयत की शिक्षा से ही धार्मिक रूपान्तर संभव है। इसी कारण उसने 'नूतन मध्ययुग' का सिद्धान्त बुलन्द रूप से व्यक्त किया है[१]।

यूरोप के अनेक विचारकों ने आधुनिक सभ्यता की प्रतिक्रिया में आवाज उठाई थी। रोमान्टिक विचारवाले, उस तर्कणात्मकता का विरोध करते हैं जो वैज्ञानिक यांत्रिकता की जननी है। शापनहावर अंशतः पश्चिमी सभ्यता का विरोधी था तथा उपनिषद् और बौद्धधर्म की शिक्षाओं से प्रभावित था। कार्लायल-रसकिन, थोरो, इमर-रसन, वाल्ट ह्विटमैन और टाल्सटाय ने आर्थिक, उपयोगितावादी तथा यांत्रिक सभ्यता

---

१. N. Berdyaev, *The Origin of Russian Communism*: पृ० १७६-१८०, "When I say that the world is moving towards a new Middle Ages, I certainly do not mean a return to the old Middle Ages, and least of all to feudalism. The phrase is only an indication of the type of society in which men will strive after wholeness and unity as opposed to the individualism of modern history....Russian creative religious thought has introduced the idea of God-humanity. As in Jesus Christ, the God-Man, there occurred an individual incarnation of God in man, so simliarly in humanity there should occur a collective incarnation of God. God-humanity is the continuation of the incarnation of God; it brings forward the problem of the incarnation of the truth and righteousness of Christ in the life of humanity, in human culture and human society. The idea of God-humanity as the essence of Christianity is but little developed in Western Christian thought, it is an original product of Russian Christian thought."

का विरोध किया। शोषणकारी सभ्यता के दिवालियेपन का उग्र चित्रण टाल्सटाय और डास्टाएभ्सकी साहित्य में हुआ है। पश्चिमी सभ्यता के विरोध में आध्यात्मिक बगावत करनेवाले भारतीयों में दयानद, विवेकानन्द, रामतीर्थ, तिलक, श्रद्धानन्द, गांधी का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। निकोलास बर्जाइभ के साहित्य में भी यही पश्चिमी सभ्यता विरोधिनी भावना उग्रतम रूप से व्यक्त हुई है। रूस में अनेक लेखकों ने प्राचीन स्लाभ सभ्यता तथा उसकी धार्मिक संस्कृति के महत्त्व के नाम पर अन्यत्र से आई हुई पश्चिमी सभ्यता का प्रचण्ड विरोध किया। पश्चिमीयकरण के समर्थक-दल के विरोध में स्लाभ संस्कृति का पोषक-दल प्रकटित हुआ। स्लाभ-संस्कृति के समर्थकों में रूसी लेखक डानिलाभ्सकी अत्यन्त प्रसिद्ध था। अपनी पुस्तक में उसने यह विचार व्यक्त किया कि यूरोप पतनोन्मुख है और रूसी संस्कृति का विजय ही भविष्य के द्वारा प्रकटित होगा। इस प्रकार रूस में जो सभ्यता के विरोध में संस्कृति का गुणानुवाद हो रहा था, उसी व्यापक ज्ञान-धारा में निकोलास बर्जाइभ भी एक महत्त्वपूर्ण विचारक है। बर्जाइभ ने बताया कि यदि सभ्यता यांत्रिक है तो संस्कृति आध्यात्मिक; यदि सभ्यता परिणगनात्मक और मापात्मक है तो संस्कृति गुणात्मक और यदि सभ्यता जीवन संगठन और भौतिक शक्ति का अनुसंधान करती है तो संस्कृति श्रेयों की पोषिका है। किन्तु संस्कृति की प्राप्ति से ही पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती है। जब संस्कृति को ठोस रूप प्राप्त हो जाता है तब उसमें सर्जनात्मिका शक्ति का अभाव हो जाता है। जब संस्कृति भी अपने रूप को व्यवस्थित और संगठित कर लेती है और आन्तरिक दिव्य-जीवन से उदासीनता व्यक्त करती है तथा मानव व्यक्तित्व के साथ रागात्मक सम्बन्ध का त्याग कर देती है, तब इसका भी अन्त हो जाता है।

निस्सन्देह निकोलास बर्जाइभ आज के अत्यन्त ही उत्कृष्ट, गम्भीर और महत्त्वपूर्ण विचारकों में थे। जो व्यापक मानव-सहानुभूति उनके ग्रन्थों में व्यक्त हुई है, वह अतिशय प्रभावोत्पादक है[१]। धार्मिक जगत् में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। जहाँ

---

१. *The Russian Idea*, पृष्ठ २४२-२८८ में बर्जाइभ ने जैकोब बोह्मे, काण्ट, डास्टाएभ्सकी, नीत्शे, इबसेन तथा टालस्टाय और मार्क्स का प्रभाव अपने विचार-निर्माण पर स्वीकार किया है। अपने विचारों का स्पष्टीकरण करते हुए उसने लिखा है: "....I have believed and I believe in the possibility of a new era in Christianity, an era of the Spirit, and that this will also be a creative era. To me Christia-

तक नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण का बर्जाइभ ने समर्थन किया है, वहाँ तक हमें उसकी विचारधारा अभिप्रेत है। बर्जाइभ का मुख्य सन्देश है कि धर्म के सहारे जीवन का रूपान्तर स्थापित करना। धार्मिक शक्ति के सहारे व्यापक जीवन-आधार का समग्र रूपान्तर करना ही उसका संदेश है। किन्तु किस प्रकार सामाजिक दृष्टि

---

nity is a religion of the Spirit.... In my view the fundamental philosophical problem is the problem of an objectivization which is based upon alienation, the loss of freedom and personality, and subjection to the general and the necessary. My philosophy is decisively personalist....I do not believe in the possibility of a metaphysics and theology based upon concepts and I have certainly no desire to elaborate on outology. Being is only the objectivization of existence............Metaphysics is only the symbolism of religious experience; it is expressionist. The revelation of the spirit is the revelation of spirituality in man. I affirm the dualism of the phenomenal world, which is the world objectivization and necessity, and the noumenal world which is the world of life and freedom. This dualism is resolved only eschatologically. My religious philosophy is not monistic and I cannot be called a platonist....Man, personality, freedom, creativity, the exschatological and messianic solution of the dualism of the two worlds are my basic themes....I have close affinity with the school of thought which in the West is called religious socialism, but the socialism is decisively personalist....I represent the extreme left in the Russian religious philosophy of the time of the Renaissance, but I have not lost and do not wish to lose my links with the orthodox Church."

से इस प्रकार का रूपान्तर सिद्ध किया जा सकता है, इस सम्बन्ध में कोई ठोस बात हमें बर्जाइभ के दर्शन में नहीं मिलती है। रहस्यमयी अनुभूति, और ईसाई धर्म-प्रोक्त धर्म-शास्त्रीय विश्वासों का समर्थन, केवल इनसे ही समस्या का समाधान नहीं हो सकता। धार्मिक आदर्शवाद का समर्थन करते हुए भी बर्जाइभ में आंशिक धर्मान्धता थी[१]।

१. N Berdyaev: *The Meaning of History*, पृष्ठ ३४-३७: History is a progression; it possesses an inner significance and mystery, a point of departure and a goal, a centre and a purpose. *It both begins and ends with the fact of Christ's Revelation.* This fact determines both the profound dynamism of history and its movement towards and away from the heart of universal history....History and its conception are possible only when the world process is conceived as a catastrophic one. The catastrophic interpretation of history postulates a central fact, that of the divine revelation, by which the interior becomes the exterior and the Spirit incarnate. Such a conception was foreign to the Hellenic consciousness and even more so to the profoundly spiritual consciousness of India, which had no presentiment whatsoever of a great central event in history. Compared with the destiny of the non-Christian peoples, whether ancient or contemporary, that of the Christian peoples is associated with all the important events in history and with its very core This is the result of the freedom and dynamism which Christianity introduced through its insistence upon the unique character of historical and metaphysical facts. It blightened the intensity of the historical process and introduced a particular violence of inner drama and rhythm which had been lacking in the history of all non-Christian peoples with the possible exception of the Jews. Consequently a great and distinct Christian

वह ईसाइयत को संसार का सबसे महत्तम धर्म मानता है। यूरोपीय संस्कृति की दृष्टि से प्राच्य धर्मों को, वह आध्यात्मिक रूप से भिन्न और पृथक् मानता है। स्पष्ट है कि धर्मविशेष में विश्वास रखते हुए भी जो उदारता रामकृष्ण, विवेकानन्द, गांधी और अरविन्द में प्राप्त होती है, उसका हम बर्जाइभ में अभाव पाते हैं। धर्मान्धता के कारण ही होली रोमन साम्राज्य और बाइजैन्टियन के पूर्वी रोमन साम्राज्य को उसने दिव्य साम्राज्यवाद की बड़ी उपाधि से विभूषित किया। यदि दिव्य साम्राज्यवाद संभव है तो इसलाम का उपासक, उम्मयद और अब्बासीद खलीफों के शासन-काल को दिव्यसाम्राज्यवाद कहा सकता है। जगत में यदि धर्म से कुछ विशिष्ट फल की प्राप्ति संभव है तो वह व्यापक सर्वधर्मसमभाव से ही हो सकती है। ईसा-मसीह सबसे बड़े अवतार और बुद्ध तथा कृष्ण उनसे छोटे, इस प्रकार का ढोंग आज की बुद्धिवादी परम्परा में असंगत मालूम पड़ता है।

बर्जाइभ का ऐसा विचार है कि संस्कृति की उन्नति के साथ व्यावहारिक जीवन की दरिद्रता तथा अव्यवस्था देखी जाती है। उसका कहना है कि जिस समय जर्मनी में हर्डर, गेटे, काण्ट, शेलिंग, हेगेल, शापेनहावर, श्लायरमाखर आदि महान् लेखक और विचारक पैदा हुए, उस समय जर्मनी का राजनीतिक और सामाजिक जीवन अत्यन्त तुच्छ और साधारण था। जब जर्मनी को बिस्मार्क ने एक महान् शक्तिशाली राष्ट्र बनाया, उस समय संस्कृति की दृष्टि से जर्मनी निम्न स्तर पर चला गया था। इटली की पुनरुत्थानकालीन संस्कृति के महान् उन्नायक मायकेल एंजिलो और लियोनार्डो अत्यन्त दरिद्रता का जीवन व्यतीत करते थे। जब उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में इटली ने प्रचुर राजनीतिक शक्ति प्राप्त की उस समय वह संस्कृति से शून्य था। ब्रिटेन में भी जब यंत्रवादी सभ्यता का विकास हुआ तब वह शेक्सपियर के समान कोई महाकवि उत्पन्न नहीं कर सका। बर्जाइभ यह सिद्ध करना चाहता है कि संस्कृति अल्पवर्गों के हाथ में ही सुरक्षित रह सकती है। किन्तु इस प्रकार के विचार का कोई तार्किक आधार नहीं है। अबतक मानव-इतिहास में धन और शक्ति को स्वायत्त करनेवाले अल्पसंख्यकों का प्राबल्य रहा है और संस्कृति के विकास में भी उन्हीं लोगों का प्राधान्य है। यद्यपि संस्कृति की विशिष्ट देनों का निर्माण उच्चाशय और महती प्रतिभा से समन्वित कुछ लोग ही कर सकते हैं; तथापि कोई कारण नहीं है कि उस देन का व्यापक उपयोग नहीं हो। आज इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि संस्कृति को कुछ लोगों की कठपुतली न बनने देकर, मानवमात्र को उसका

---

world evolved—a world that was dynamic by contrast with the static world of antiquity."

उपयोग करने का अवसर मिले। जब संस्कृति विशाल मानवता के साथ अपना संबंध स्थापित करती है, तब उसमें नूतन प्राणशक्ति का संचार होता है, जैसा कि बौद्ध संस्कृति और ईसाई संस्कृति के इतिहास में देखा जा सकता है। यदि बुद्ध और ईसा का सन्देश अल्पसंख्यकों के हाथ तक सीमित रहता तो उसमें मानव को रूपान्तरित करने-वाली शक्ति कदापि नहीं आ सकती थी। प्रजातंत्रीय सामाजिक न्यायवाद और समाज-वाद हमारे सामने मानव-जाति की सेवा में वैज्ञानिक साधनों के उपयोग का सन्देश प्रस्तुत करता है। कोई कारण नहीं मालूम पड़ता कि वैज्ञानिक और यांत्रिक उपायों का आश्रय लेकर जीवन का स्तर क्यों नहीं ऊँचा किया जाय? शंकर, न्यूटन, कालिदास, काण्ट के समान मानव-संस्कृति के उन्नायक किसी विशेष समयक्रम के अनुसार नहीं पैदा होते। महापुरुषों के ऐतिहासिक उद्भव का कोई अनिवार्य क्रम नहीं है। किन्तु इतना निश्चित है कि हमें मानव-समाज की शक्तियों का समुचित उपयोग विराट् श्रेयों की प्राप्ति के निमित्त, न कि वर्गविशेष के पोषण के लिए, करना है।

बर्जाइभ ने सभ्यता के पतन का कोई उचित कारण नहीं प्रस्तुत किया है। इतिहास के सामने यह एक महान् प्रश्न है। जो विचारक इतिहास की आध्यात्मिक व्याख्या करते हैं, उनके सामने यह महत्त्वपूर्ण और विचारणीय प्रश्न है कि यदि इति-हास की घटनाओं के पीछे किसी व्यापक चैतन्य का प्रकाश हो रहा है तो फिर संस्कृति का पतन कब, क्यों और कैसे होता है, इसकी व्याख्या करें। संत अगस्तीन, बोशिए, हेगेल, आदि के दर्शन में जो कुछ हो गया है, वही ईश्वराभीष्ट था और वही विस्तारक्रम सर्वोत्कृष्ट है—इस प्रकार के विचार मिलते हैं। किन्तु विश्वासी धार्मिक लोगों को मान्य होने पर भी समाजशास्त्र के विद्यार्थी को इन विचारों से सन्तोष नहीं होता है। संस्कृति क्यों अपने आध्यात्मिक तत्त्व को खो बैठती है और क्यों सामाजिक उन्मूलन तथा विशृंखलता का आरम्भ होता है, इसकी समुचित व्याख्या बर्जाइभ के दर्शनशास्त्र में नहीं मिलती है। आध्यात्मिक तत्त्व का समर्थक होकर संस्कृति के अन्तर्गत विनाशकारी अनुस्यूत द्वन्द्व को स्वीकृत करने का कोई आधार नहीं मालूम पड़ता है। बर्जाइभ का कहना है कि ऐतिहासिक नियतिवाद का यह सिद्धान्त है कि जगत की समस्त वस्तुएँ द्वन्द्व से ग्रस्त हैं और इसी आन्तरिक द्वन्द्व के कारण उनका विनाश होता है। किन्तु मुख्य प्रश्न तो यही है कि इस अनुस्यूत विनाशकारी द्वन्द्व का क्या कारण है? क्यों संस्कृति के अन्दर इस प्रकार का विनाशोत्पादक द्वन्द्व भरा पड़ा है? बर्जाइभ की विचारधारा उच्चाशय, उदात्त, गम्भीर और प्रकाण्ड होते हुए भी संस्कृति के पतन की व्याख्या करने में असमर्थ है। संस्कृति किस प्रकार अपनी

आत्मा की रक्षा करते हुए सतत आध्यात्मिक कर्तृत्व का निर्वाह कर सकती है, इसका कोई ठोस समाजशास्त्रीय विश्लेषण बर्जाइम के दर्शन में नहीं प्राप्त होता है।

सभ्यता और संस्कृति के प्रश्न पर गम्भीर विचार करने का प्रयत्न आधुनिक युग में आसवाल्ड स्पेंगलर में प्राप्त होता है[१]। स्पेंगलर के अनुसार संस्कृति का आध्यात्मिक स्रोत है[२]। जब यह आध्यात्मिक सर्जनात्मक तत्त्व समाप्त हो जाता है तब संस्कृति का सभ्यता में रूपान्तर हो जाता है। संस्कृति के सम्बन्ध में स्पेंगलर उग्रतम साम्यवादी था[3]। प्राणिशास्त्र से प्रभावित होने के कारण इतिहास की व्याख्या में भी उसने प्राणिशास्त्र द्वारा प्रवर्तित पद्धति को अपनाया। मिस्री, यूनानी रोमन, भारतीय और पश्चिमी संस्कृति का विशेषतया उसने अनुशीलन किया। उसके अनुसार प्रत्येक संस्कृति का एक प्रधान प्रतीक होता है जो एक प्रकार से उस संस्कृति का मौलिक आधारभूत तत्त्व है। संस्कृति के समस्त अंश, उसी प्रधान प्रतीक के द्वारा नियंत्रित होते हैं। कह सकते हैं कि समस्त अभिव्यक्तियों में उसी प्रधान प्रतीक की अभिव्यंजना होती है। यूनानी या अपोलोनियन संस्कृति का प्रधान प्रतीक

---

१. Oswald Spengler (१८८०-१९३६). *The Decline of the West*, दो खण्ड। स्पेंगलर की विवेचना के लिए द्रष्टव्य. V. P. Varma, *Irrationalism.*

२. O. Spengler: *Decline of the West* II, पृष्ठ ३०८: "Culture is ever synonimous with religious creativeness. Every great culture begins with a mighty theme that arises out of the pre-urban countryside, is carried through in the cities of art and intellect, and closes with a finale of materialism in the world-cities."

३ O. Spengler: *Decline of the West* II, पृष्ठ ३५-३६: "Within the primitive culture tribes and clans are the only quickened beings--other than the individual men of course. *Here, however the Culture itself is such a being.* Everything primitive is a sum—a sum of the expression-forms of primitive groupings. The high Culture, on the contrary, is the waking-being of a single huge organism which makes not only custom, myths, technique and art, but the very people and classes incorporated in itself the vessels of one single form language and one single history.

है--इन्द्रियप्रत्यक्षीकरणीय मानव शरीर। अनन्त आकाश पश्चिमी संस्कृति का प्रतीक है। इसी कारण भौतिक सौन्दर्य की उपासना करना, यूनानी जीवन के प्रत्येक भाग में दिखाई पड़ता है और इसी लिए ज्ञान की खोज में समस्त पृथ्वी-पर्यटन करने का उद्योग पश्चिमी देशवासियों में मिलता है[1]। कालातीत की कालापेक्ष अभिव्यक्ति का चिह्न, पत्थर, मिस्रदेश का प्रधान प्रतीक है। इसी कारण पिरामिडों के रूप में आत्मिक प्रकाशन का प्रयत्न उस देश में हुआ। चीनी संस्कृति का प्रधान प्रतीक है ताओ---जो अनिवर्चनीय, अनिर्दिष्ट मार्ग को व्यक्त करता है। स्पेंगलर के अनुसार प्रत्येक संस्कृति का आत्मिक आधार होता है, इसी लिए बड़ी संस्कृतियों का सम्मेलन या अन्य परिवहन सम्भव नहीं है। कालक्रम में समस्त संस्कृतियों का अन्त हो जाता है और उनके स्थान पर अन्य संस्कृतियों का उदय होता है। प्रत्येक संस्कृति के विकास की चार अवस्थाएं हैं---(१) सांस्कृतिक जीवन का वसन्त---इस समय ईश्वर-भावना को व्यक्त करनेवाले आख्यानों का जन्म होता है। जगत्-भय और जगत् के प्रति तीव्र आकर्षण इस समय मालूम पड़ते हैं। भारतीय संस्कृति में वैदिक युग इस अवस्था का द्योतक है। यूनान में होमर का युग इसका उदाहरण है। प्राचीन ईसाइयत और सन् ६०० से सन् १२०० ई० तक वर्तमान जर्मन कैथोलिकवाद में इस अवस्था का दर्शन होता है। स्पष्ट है कि प्रत्येक मुख्य संस्कृति में वसन्तकालीन इस प्राथमिक अवस्था का दर्शन होता है। आख्यानात्मक कृतियों का शनैः-शनैः धर्मशास्त्रात्मक दर्शन में रूपान्तर हो जाता है। इस प्रकार उत्तरवेदकालीन दर्शन, प्लोटायनस, मनी, अवेस्ता, तालमुड, टामस अक्वायनास तथा दान्ते की विचारधारा का प्रणयन होता है। इस वसन्तकालीन

---

१. O. Spengler: *Decline of the West* I, पृष्ठ १८६: "The longing for the words, the mysterious compassion, the ineffable sense of forsakenness—it is all Faustian and only Faustian. Every one of us knows it. The motive returns with all its profundity in the Easter scene of Faust 1.

A longing pure and not to be described
Drove me to wander over woods and fields,
And in a mist of hot abundant tears
I felt a world arise and live for me.

Of this world-experience neither Apollinian nor Magian-man, neither Homer nor the Gospels, know anything whatever."

सांस्कृतिक युग में शनैः-शनैः कला का विकास होता है। (२) सांस्कृतिक जीवन का ग्रीष्मऋतु—इस युग में धार्मिक-सुधार आन्दोलन होते हैं और वसन्तकालीन दर्शन-परम्परा के विपक्ष में जनता का विरोध दीख पड़ता है। जगत्-भावना को रूपात्मक करनेवाले दार्शनिक सम्प्रदाय का उद्भव होता है और विज्ञानवादी तथा यथार्थवादी मत उत्पन्न होते हैं। संख्या के विषय में नूतन गणितशास्त्रीय विचार इस समय उपस्थित किये जाते हैं। प्यूरिटन परम्परा का इस समय विकास होता है। तर्कणात्मक और रहस्यवादात्मक प्रणालियों से धर्म का शिथिलीकरण हो जाता है। इस ग्रीष्मकालीन सांस्कृतिक अवस्था के उदाहरण भारतीय संस्कृति में ब्राह्मणग्रंथ और उपनिषद् हैं। यूनान में आर्फिक सम्प्रदाय, डानोनिसियन मत, सुकरात के पूर्ववर्ती दार्शनिक पिथागोरस आदि इस अवस्था में उत्पन्न होते हैं। पश्चिमी एशिया की 'मगी' संस्कृति में अगस्तीन, नेस्टोरियन मत, मजदक तथा छठी और सातवीं शताब्दी का यहूदी, सिरिया का कापटिक, तथा फारसी साहित्य ; हजरत मुहम्मद आदि इस अवस्था के प्रतीक हैं। पश्चिमी संस्कृति की ग्रीष्मकालीन अवस्था निकोलास कूजानस, हस, सावोनारोला, लूथर, गैलिलियो, बेकन, डेकार्ट, लीबनिज, पास्कल, न्यूटन, अंग्रेजी प्यूरिटनमतवादी, आदि के द्वारा व्यक्त होती है। (३) सांस्कृतिक जीवन का शिशिर ऋतु—ग्रीष्मकाल में नगरों में जिस आलोचनात्मक चैतन्य का विकास हुआ था, इस समय वह परिपाक को प्राप्त करता है। यह प्रबोध का युग है। तर्कणा की सर्वशक्तिमत्ता में इस समय विश्वास रहता है और तर्कसंगत धर्म का विकास होता है। गणितसम्बन्धी विचारों को इस समय पराकाष्ठा प्राप्त होती है। इसी परिपाक की अवस्था में प्रचण्ड विश्वग्राही दर्शनों का उदय और पूर्णतम विकास होता है। भारतीय संस्कृति में सूत्रग्रंथ, सांख्य, बुद्ध का दर्शन, उत्तरकालीन उपनिषद्, योग, वेदान्त, वैशेषिक और न्याय इस शिशिरऋतु का प्रतिनिधित्व करते हैं। यूनान में सोफिस्ट सम्प्रदाय, सुकरात, डिमोक्रिटस, प्लेटो, अरस्तू आदि इस युग में उत्पन्न होते हैं। पश्चिमी एशिया की संस्कृति में यह युग सूफी सम्प्रदाय, मुताजिलाइत मत, अलफराबी और अविचेना के द्वारा व्यक्त होता है। पश्चिमी संस्कृति में लाक, वाल्टेयर, रूसो, लूथर, लाग्रान्ज, लाप्लास, गेटे, काण्ट, पिक्ट, शेलिंग, हेगेल इस शिशिरकालीन धारा के मुख्य प्रतीक हैं। राजनीतिक दृष्टि से इस समय प्रजातंत्र का विकास होता है। यह प्रजातंत्र उग्र एकतंत्रवाद की प्रतिक्रिया में उत्पन्न होता है। यूनान में यह शिशिरकालीन युग प्रायः सन् ६५० से सन् ३०० ई० पूर्व तक रहता है। इस समय क्लायसथेनिस, पेरिएन्डर, थेमिस्टोक्लिस, पेरिक्लिज उत्पन्न होते हैं। चौथी शताब्दी में कुछ सामाजिक क्रान्तियाँ होती हैं और फिर सिकन्दर के साम्राज्यवाद का उदय होता है। पश्चिमी सभ्यता में इस

समय राज्य की भावना का विकास होता है और मध्यवर्ग का उदय और उत्कर्ष होता है। क्रामवेल, चौदहवां लुई, फ्रेडरिक महान्, वाशिंगटन, राब्सपियर इस युग के राजनीतिक प्रतीक हैं। अन्ततः इस युग में नेपोलियन का उदय होता है। सामन्तवादी युग में ग्राम्य-भावना या देश-भावना का प्राधान्य रहता है, किन्तु इस युग में नगर-वाद का पूर्ण आधिपत्य हो जाता है। (४) संस्कृति का अन्तिम हेमन्तऋतु—विश्व-नगरों की सभ्यता का इस समय उदय होता है। जिस आध्यात्मिक सर्जनात्मक शक्ति ने संस्कृति को जन्म दिया था, उसकी इस समय प्रायः समाप्ति हो जाती है। जीवन इस समय संदिग्ध और प्रश्नवाचकता से ग्रस्त हो जाता है। अधार्मिक और अतत्वज्ञानात्मक विश्ववाद के इस युग में केवल नैतिक और व्यावहारिक प्रवृत्तियों का ही दर्शन होता है। इस युग में भौतिकवादी दर्शन का विकास होता है। विज्ञान की उपयोगिता और समृद्धि का विचार व्यक्त किया जाता है। अंगणितात्मक दर्शन की इस हेमन्त युग में उन्नति होती है। भारतीय सभ्यता में इस युग का प्रकटीकरण सांख्य, चार्वाक तथा अन्य शास्त्रीय दर्शनों के द्वारा होता है। यूनान में सिनिकमत, कायरेनायक मत, यूक्लिड, अपोलोनियस, आर्कामीडिज इस युग का विस्तार व्यक्त करते हैं। पश्चिमी एशिया की संस्कृति में इस हेमन्त काल को अब्बासीद युग के साम्य-वादी तथा नास्तिक मतों में, इसलाम के अनेक आन्दोलनों में, अलबेरुनी तथा बगदाद और बसरा के सम्प्रदायों में हम देख सकते हैं। पश्चिमी सभ्यता में बेंथम, कौम्ट, डार्विन, स्पेन्सर, स्टर्नर, मार्क्स, शापेनहावर, नीत्शे, हेगेल, वागनर, इब्सेन, गाउस, रायमान इस धारा का नेतृत्व करते हैं। हेमन्तकालीन सभ्यता के विश्व भावना-वाद का चरम उत्कर्ष बौद्धदर्शन, स्ताइक सम्प्रदाय तथा सन् १६०० ई० से वर्तमान नैतिक समाजवाद की धारा में मिलता है। राजनीतिक दृष्टि से यह जनपुंज का युग है। बड़े-बड़े शहरों का इस काल में पूर्ण विस्तार होता है। राजनीतिक निरवयवता इस युग में फैलती है। साम्राज्यवाद सभ्यता के युग की देन है। अन्ततोगत्वा इस युग में आर्थिक शक्तियों का प्रजातंत्र पर पूर्ण आधिपत्य हो जाता है और फिर प्रजातंत्रवाद और सीजरवाद में भीषण युद्ध होता है। इसके फलस्वरूप सभ्यता के ऊपर प्राथमिक मानव अवस्था का पुनरपि प्राधान्य हो जाता है।

स्पेंगलर इस प्रकार न केवल तत्त्वज्ञान, आध्यात्म, धर्म, गणित, कला और राज-नीतिक विकास का क्रमबद्ध दर्शन उपस्थित करता है, अपितु अनिवार्य गति से चलाय-मान भावी इतिहास की धारा की भी भविष्यवाणी करना चाहता है। समस्त इतिहास को प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन युग में बाँटकर यह विभिन्न संस्कृतियों में समान-विकास नियम का दर्शन करता है। उसके अनुसार सत्य में और वस्तु

में अन्तर है। निदिध्यासनात्मक मस्तिष्क सत्य को प्राप्त करना चाहता है। जो विचारवेत्ता कर्मयोग वा ऐतिहासिक प्रचण्ड कर्मों को करने में अक्षम हैं, वे ही ज्ञान-योग और विश्लेषण की पद्धति का आश्रय लेते हैं। ईसामसीह इस प्रकार के सत्यानुराग का दृष्टान्त उपस्थित करता है। वस्तु वह है जिसे कर्मशील मानव समझता है और क्रियान्वित करता है। ईसामसीह को दण्ड देनेवाला रोमन राज्यपाल पायलेट वस्तु का अनुरागी है। मानव-इतिहास में भाग्यवाद और नियतिवाद व्यक्त होता है। इतिहास को केवल कार्यकारणवाद के नियम से नहीं समझा जा सकता है। इसको समझने के लिए भाग्यशीलता तथा नियतिवाद का ग्रहण करनेवाले आन्तरिक ज्ञान की आवश्यकता है। स्पेंगलर के अनुसार पश्चिमी संस्कृति अब अपने आध्यात्मिक स्रोत को खोकर सभ्यता के युग से गुजर रही है। इस युग में दार्शनिक उन्नति संभव नहीं है और व्यावहारिक क्षेत्र में ही उत्कर्ष प्राप्त किया जा सकता है।

निस्सन्देह स्पेंगलर की विचारधारा बड़ी प्रकाण्ड, गम्भीर और कठिन है। अनेक आलोचकों ने उसके द्वारा वर्णित विषयों के विवेचन की अप्रामाणिकता की ओर ध्यान दिलाया है। किन्तु इतना निश्चित है कि स्पेंगलर का महान् ग्रंथ 'दि डिक्लाइन ऑफ दि वेस्ट' एक विलक्षण मस्तिष्क की कृति है। अनेक विचारकों पर स्पेंगलर का प्रभाव पड़ा और उसके खंडन में अनेक निबन्ध लिखे गये। स्पेंगलर की विचारधारा की अनेक कमजोरियाँ हैं। सर्वप्रथम उसके विचारों पर नियतिवाद का अतिशय प्रभाव है। प्रत्येक संस्कृति का पूर्वनिर्दिष्ट कालक्रम है और वृक्षों के समान संस्कृति का भी जन्म, परिपाक और अवसान होगा। इस प्रकार की विचारधारा इतिहास को एक पूर्वत: फलनिश्चित नाटक का रूप दे देती है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र मानव आत्मा के नैतिक और बौद्धिक चैतन्य में विश्वास कर ऐसा मानता है कि मानव की बौद्धिक शक्तियों के संगठन और विस्तार से संस्कृति के पतन को रोकना संभव है। वैज्ञानिक और तार्किक कार्य-कारण संबंध का खंडन कर इतिहास को नियति के द्वारा शासित बताकर स्पेंगलर राजनीतिक नेताओं और सेनानियों का ही प्राधान्य मानता है[१]। अवश्य ही राज-

१. Spengler: *Decline of the West*, खण्ड २, पृष्ठ १७: "Let us say frankly and without ambiguity: the understanding divorced from sensation is only one, and not the decisive side of life. A history of Western thought may not contain the name of Nepoleon, but in the history of actuality Archimedes, for all his scientific discoveries, was possibly

नीतिक घटनाओं को प्रकटित करने में वस्तु को पकड़नेवाले मनुष्यों की प्रधानता रही है, तथापि निस्संदेह विचारकों ने भी अपनी ज्ञानधारा से मानव-इतिहास के धरातल को बदलने में बड़ा उद्योग किया है[1]।

स्पेंगलर समस्त संस्कृतियों में चार अवस्थाएं देखता है। उसके अनुसार बौद्ध धर्म और दर्शन, स्ताइकमत और समाजवाद, संस्कृति के अन्तिम काल के द्योतक हैं[2]। किन्तु इस प्रकार का साधारणीकरण व्यक्तिविशेष की निराली विचारधारा पर आश्रित है। इसके लिए कोई वस्तुनिष्ठ ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। भारतीय संस्कृति का जो वर्णन स्पेंगलर ने किया है, वह अत्यन्त अपूर्ण है[3]। मेरी समझ में बौद्धधर्म भारतीय संस्कृति के पूर्ण उदय का प्रतीक था। भारतीय इतिहास में ही नहीं, अपितु एशिया के अन्य देशों में भी इसने आध्यात्मिक सर्जनात्मिका शक्ति का प्रवाह जारी किया। बौद्धधर्म को संस्कृति के अवसान के समय का विचार मानना कदापि संगत नहीं है। सौत्रांतिक, वैभाषिक, माध्यमिक और योगाचार दर्शन भी मूलतः नैतिक और तत्वज्ञानात्मक धार्मिकता का ही पोषण करते हैं। किन्तु जिस प्रकार हेगेल को, त्रिविधवाद मानने के कारण अनेक विषयों को अपनी पूर्व-निश्चित तार्किक रूपरेखा में येनकेन प्रकरेण घुसाना पड़ता है, उसी प्रकार की हालत स्पेंगलर के चतुर्विधवाद की भी है।

स्पेंगलर, नीत्शे और गेटे से बहुत प्रभावित था। किन्तु उसका यह कहना कि प्रत्येक संस्कृति का एक मूल प्रतीक होता है और जीवन के प्रत्येक विभाग में वही मूल प्रतीक अभिव्यक्त होता है, एक प्रकार का रहस्यवादात्मक विचार है। जिस प्रकार

---

less effective than that soldier who killed him at the storming of Syracuse"

१. Whitehead, *Science and the Modern World.* स्पेंगलर के मानववाद की दृष्टि से, खंडन के लिए द्रष्टव्य--James Gutman, Cassire's Humanism, *The Philosophy of E. Cassire.*

२. Spengler, "Buddhism, Stoicism, Socialism", *The Decline of the West* प्रथम खण्ड, पृष्ठ ३४१-३७४.

३ Spengler, *Decline of the West.* खण्ड १, पृष्ठ ३५६ : "Budhism was *not* a Puritan movement like, for instance, Islamism and Jansenism, *not* a Reformation as the Dionysiac wave was for the Apollinian world, and, quite generally, *not* a religion like religions of the Vedas or the religion of the Apostolic

हेगेल ने बताया था कि प्रत्येक जाति की अपनी 'आत्मा' होती है और वही उसके इतिहास का पूरा निर्धारण करती है, उसी प्रकार का अतिशय महत्त्व स्पेंगलर अपने मूल प्रतीक को प्रदान करता है। मेरा ऐसा विचार है कि संस्कृति के प्रत्येक विभाग में एक ही मूल आत्मा का प्रकाशन देखना, एक भावुकतापूर्ण विश्वासमात्र है। राजनीतिक अवस्था, दार्शनिक विचार तथा गणित और कला की उन्नति के स्तरों का एक ही मापदण्ड से मूल्य-निर्धारण करना अत्यन्त कठिन और शायद अनावश्यक विचार है। शंकर के दर्शन, आर्यभट्ट के गणित और अजन्ता की चित्रकला में क्या तार्किक सम्बन्ध है, इसकी कोई कार्यकारणात्मक बौद्धिक मीमांसा मेरी समझ में असम्भव है। तुलना और तारतम्य एक प्रकार की वस्तुओं में हो सकता है। मैं समझता हूँ कि जातीय आत्मा का जो विचार रोमांटिक दार्शनिकों ने प्रस्तुत किया था और जिसका उत्कृष्ट समर्थन हेगेल ने किया था, उसीका विस्तार स्पेंगलर कर रहा है। किन्तु सांस्कृतिक आत्मा की कल्पना, समाज-शास्त्रीय दृष्टि से, उतनी ही अपूर्ण और असंगत है, जितनी सामाजिक मन या श्रेणी-व्यक्तित्व की। सांस्कृतिक आत्मा इस शब्दद्वय का एकरूपकात्मक प्रयोग हो सकता है, न कि इससे वस्तुतत्त्व का याथातथ्य वर्णन। प्रत्येक संस्कृति एक पूर्ण वृत्त है, जिसका निश्चित जीवन-क्रम है और जो यथानिर्दिष्ट समय पर या तो समाप्त हो जायगी या इतिहासहीन शताब्दियों से गुजरेगी। इस विचार का कोई समाजशास्त्रीय समर्थन नहीं मिलता है। आधुनिक भारत और चीन का इतिहास बताता है कि जनसमूह की शक्तियों का पूर्ण उपयोग कर नूतन राष्ट्रीय व्यवस्था का निर्माण करना संभव है।

राजनीतिक दृष्टि से स्पेंगलर अनुदारवादी था और प्रशिया के जमीनपतियों की परम्परा का पोषक था। कुछ लोगों का कहना है कि उसने अपना महान् ग्रंथ कैसर-कालीन जर्मनी के समर्थन और फ्रांस तथा ब्रिटेन के विरोध में लिखा था। निश्चित ही स्पेंगलर का यह विचार कि पश्चिमी संस्कृति 'फाउस्टीय' संस्कृति है, जर्मनी की

Paul, but a final and purely practical world-sentiment of tired megalopolitans who had a closed-off culture behind them and no future before them. It was the basic feeling of the Indian civilization and as such both equivalent to and contemporary with Stoicism and Socialism. The quintessence of this thoroughly worldly and unmetaphysical thought is to be found in the famous sermon near Benaras, the Four Noble Truths."

परम्परा का पोषक है। उसका जीवन-तत्त्व तथा संघर्ष पर अतिशय बल देना जर्मनी की सांस्कृतिक परम्परा के ही अनुरूप है[१]। उसकी पुस्तक 'मेन ऐंड टेकनिक्स' में उसका वह उग्र राष्ट्रवाद जोरों से व्यक्त हुआ है जिसका समर्थन उसने 'प्रशियनिज्म एण्ड सोशलिज्म' में किया था[२]। जिस गम्भीर शास्त्रीय पद्धति को उसने अपनाया था, उसका और व्यापक और टिकाऊ प्रभाव होता यदि स्पेंगलर भयंकर जर्मन राष्ट्रवाद का पोषक न होता। किन्तु जिस प्रकार अनावश्यक रूप से अतिरंजित राष्टवाद ने फिक्ट, हगेल, टाइट्सके के दर्शन को कुछ अंश तक प्रचारात्मक रूप प्रदान कर दिया, वही बात स्पेंगलर के साथ भी हुई है। इसलिए यद्यपि स्पेंगलर की पुस्तक में समाजशास्त्रीय दृष्टि से अत्यन्त सूक्ष्म बातें भरी हैं और यद्यपि तानाशाही के आगमन के सम्बन्ध में स्पेंगलर की भविष्यवाणी सत्य निकली, तथापि विशुद्ध बौद्धिक प्रभाव स्पेंगलर की पुस्तक का न हो सका। ऐसा भी सन्देह उपस्थित किया गया है कि प्रत्यक्ष रूप से यद्यपि स्पेंगलर नात्सीवाद का समर्थक नहीं था, तथापि उसके विचारों से नात्सीवाद के विचारात्मक धरातल का पोषण ही हुआ[३]। विराट् श्रेयों

१. O. Spengler, *Decline of the West* II पृष्ठ ३३६ : "It follows that true history is not cultural in the sense of anti-political, as the doctrinaires of all commencing civilization assert. On the contrary, it is breed history, war history, diplomatic history, the history of being-streams in the form of man and woman, family, people, estate, state, reciprocally defensive and offensive in wave-beat of grand facts. Politics, in the highest sense is life, and life is politics. Every man is willy-nilly a member of this battle-drama, as subject or as object—there is no third alternative. The kingdom of the spirit is *not* of this world. True, but it presupposes it, as waking-being presupposes being."

२. Oswald Spengler, *Der Mensch and die Technick. Preussentum und Sozialisms.*

३. Oswald Spengler, *Th Hour of Decision*. स्पेंगलर की आलोचना के लिये द्रष्टव्य—Eric Bentley, *The Cult of the Superman Sorokin, Social Philosophies of an Age of Crisis.*

की प्राप्ति का समर्थक दार्शनिक राजनीतिशास्त्र मानव-समानतावाद का पोषक है। स्पेंगलर की, संस्कृति के हिमायती होकर भी, सहानुभूति अभिजात वर्ग के साथ थी। स्पष्ट है कि यद्यपि स्पेंगलर ने एक अतिशय प्रचण्ड बौद्धिक शास्त्र के निर्माण का प्रयत्न किया है तथापि अपेक्षित सफलता उसे नहीं प्राप्त हो सकी है।

स्पेंगलर के समान ही, आर्नाल्ड ट्वायनबी ने वृहत्काय इतिहास का एक अध्ययन उपस्थित किया है[१]। यदि स्पेंगलर की रचनाएँ अधिक बौद्धिक व्यापकता और तीक्ष्णता से पूर्ण हैं तो ट्ायनबी में इतिहास का स्पेंगलर की अपेक्षा अधिक व्यापक ज्ञान दिखाई पड़ता है। ट्वायनबी स्वयं स्पेंगलर से प्रभावित हुआ था। स्पेंगलर के ऐतिहासिक दर्शन की कमियों को पूरा करने के लिए उसने अपना ग्रंथ प्रणीत किया। स्पेंगलर का प्रस्ताव था कि सभ्यता और संस्कृति में जन्म, विकास और पतन का एक अनिवार्य समय-क्रम है। ट्वायनबी इस विचार से असहमत है। उसका कहना है कि यह एक स्वेच्छाचारपूर्ण कल्पना है। यदि उचित प्राकृतिक और सामाजिक चुनौतियाँ मिलें तो कोई कारण नहीं है कि बहुत दिनों तक सभ्यताएं जीवित न रह सकें। ट्वायनबी एक रहस्यवादी विद्वान् है और संत अगस्तीन के समान वह एक धर्मनिरपेक्ष समाज को, ईसामसीह का दिव्य सन्देश सुनाना चाहता है। जगत् की इक्कीस सभ्यताओं का उसने वृहद् अध्ययन किया है। यूनान और रोम के इतिहास के अध्ययन के आधार पर उसने ऐतिहासिक विकास-क्रम के विचार का निर्माण किया। इतिहास के अध्ययन की वास्तविक इकाई ट्वायनबी के अनुसार सभ्यता है, न कि राष्ट्र। सभ्यता के विकास में वह चुनौती के विचार को बहुत महत्त्व देता है। प्राचीन भारतीय सभ्यता की प्राकृतिक चुनौती के रूप में वह यहाँ के जलवायु को रखता है। मध्यकालीन भारतीय सभ्यता की सामाजिक चुनौती के रूप में वह भारतीय समाज की विश्रंखला को मानता है। यूनानी सभ्यता की प्राकृतिक चुनौती थी अनुर्वरा भूमि और समुद्र तथा सामाजिक चुनौती थी--मिनोयन समाज की विश्रृंखला। पश्चिमी सभ्यता की प्राकृतिक चुनौती है नई भूमि और सामाजिक चुनौती थी--यूनानी समाज की विश्रृंखला। चुनौतियों के फलस्वरूप सभ्यता का विकास होता है। एक निश्चित दूरी तक परिपाक प्राप्त करने के अनन्तर सभ्यता का पतन आरम्भ होता है। पतन का कारण यह होता है कि सर्जनात्मिका शक्ति के संदेशवाहक आध्यात्मिक नेतागण अपनी शक्तियाँ खोकर केवलमात्र भौतिक शक्ति को ही अपना आधार बना लेते हैं। इतिहास में आध्यात्मिक

१ Arnold J. Toynbee, *A Study of History* छः खण्डों में। D. C. Somervell ने इसका एक खंड में संक्षिप्त संस्करण उपस्थित किया है। द्रष्टव्य Arnold Toynbee, *Civilization on Trial.*

शक्ति का पूरा प्रभाव ट्वायनबी को स्वीकार है। सम्यता का पतन आन्तरिक कारणों से होता है न कि वाह्य आक्रमणों से। अन्य साधारण कारण आनुषंगिक रूप से वर्तमान हों भी तथापि आध्यात्मिक कर्तृत्वशक्ति का नाश ही मुख्य कारण सम्यता के पतन का है। जिस समय आध्यात्मिक शक्तिवाहकों के स्थान पर राजनीतिक शक्तिधर उपस्थित होते हैं, उस समय 'कठिनता का युग' आविर्भूत होता है। यदि नेतृगण का आध्यात्मिकीकरण हो तो सभ्यता का त्राण हो सकता है। हजरत मूसा, सीजर, ईसा मसीह, संत पाल, गौतम बुद्ध, मुहम्मद आदि के जीवन में ऐसे अवसर आते हैं जब समाज से अलग होकर इन लोगों ने आत्मिक शक्ति की प्राप्ति की थी। इस प्रकार के कार्य को ट्वायनबी आज सभ्यता के निमित्त भी आवश्यक मानता है। इतिहास में अनेक रक्षक समय-समय पर उत्पन्न होते हैं। आज जगत में ट्वायनबी के मतानुसार पश्चिमी सभ्यता ही एकमात्र शक्तिशाली जीवित सभ्यता है। रूस, चीन भारत और इसलाम की सभ्यता, पश्चिमी सभ्यता को अपनाकर ही अपने में नूतन जीवन संचार कर सकी है। ट्वायनबी मानता है कि ईसाइयत के मौलिक आध्यात्मिक उपदेशों को क्रियान्वित कर पश्चिमी सभ्यता बहुत दिनों तक जीवित रह सकती है। इस प्रकार स्पेंगलर के अप्रतिहार्यतामूलक निराशावाद की अपेक्षा कम-से-कम ईसाई धर्मावलम्बियों की दृष्टि में ट्वायनबी अधिक आशावाद का पैगम्बर है और यही कारण है कि आज उसका जोरों से प्रभाव बढ़ रहा है।

समस्त विश्व-सभ्यता के अध्ययन और व्याख्या का महान् प्रयत्न ट्वायनबी ने किया है। धर्मनिरपेक्षतावाद और वैज्ञानिक भौतिकवाद के युग में उसने धर्म को आधार मानकर सभ्यता की व्याख्या की है। यदि ईसाइयत का पुछल्ला छोड़कर व्यापक धर्मभावना का आश्रय वह ग्रहण करता तो शायद उसकी व्याख्या अधिक समीचीन और ग्राह्य होती। ईसामसीह की विलक्षण अवतारप्रक्रिया में विश्वास करना किसी भावुक विश्वासी के लिए ही सम्भव है। अतिरंजित धार्मिक विश्वास इतिहास को ईश्वर की नाट्यशाला मात्र समझता है। मानव का नैतिक कर्तृत्व इस प्रकार इतिहास में पूरा स्थान नहीं प्राप्त करता है। कार्यकारण सम्बन्ध का अनुसंधान करने के बदले जो कुछ इतिहास में हुआ है, उसीका समर्थन करना ही इतिहासकार का मुख्य कर्तव्य हो जाता है। ट्वायनबी के इतिहास की व्याख्या में इस प्रकार वस्तुनिष्ठता का अभाव पाया जाता है। उदाहरणार्थ जो वस्तुनिष्ठता परेटो, माक्सवेबर, दुर्खायम आदि में पाई जाती है, उसका हम ट्वायानबी में अभाव पाते हैं।

इतिहास-प्रक्रिया सम्बन्धी अपने विचारों का निर्माण ट्वायनबी ने मुख्यतः यूनान और रोम के इतिहास के आधार पर किया है। वाह्य सर्वहारा और आन्तरिक सर्व-

द्वारा, विश्वव्यापक राज्य और विश्वव्यापक धर्म-सम्बन्धी सारे विचार रोम के इतिहास से लिये गये हैं। केवलमात्र यूनान और रोम के इतिहास के आधार पर निर्मित प्रक्रिया का समस्त विश्वइतिहास की सभ्यताओं की व्याख्या के लिए उपयोग ट्वायनबी ने किया है। अतः यह पद्धति असमाजशास्त्रीय है। नियमों का निर्माण और उद्घटन, अध्ययन के निमित्त प्रस्तुत सामग्री के अनुशीलन के बाद होना चाहिए। किन्तु देश-विशेष के आधार पर प्रस्तुत नियमों को सब देशों के लिए प्रयोग करना, संगत नहीं है। इस असंगतता के अनेक उदाहरण ट्वायनबी में पाये जाते हैं। थेल्स, अनाक्जिमान्डर आदि के तर्कणावाद की उसने यूनानी सभ्यता के मूल्यांकन में उपेक्षा की है। भारतीय संस्कृति के पहले युग में उसने मौर्य साम्राज्य और गुप्त साम्राज्य को विश्वव्यापक राज्य का उदाहरण माना है, किन्तु राष्ट्रकूट, चालूक्य, चोल आदि राज्यों की उसने पूरी उपेक्षा की है; क्योंकि उनको स्वीकार करने से उसकी योजना की जो विकासात्मिका रूपरेखा है, वह शिथिल हो जायगी औल उसका प्रायः खंडन भी हो जायगा।

फिर भी ट्वायनबी के ग्रन्थ की यह विशषता है कि राष्ट्रीय और वांशिक परम्परा को छोड़कर सभ्यता के उदय और पतन का वह अध्ययन करता है। इस प्रकार केवल राज्यसम्बन्धी सीमित दृष्टि छोड़ने का वह संदेश देता है। राज्य को समझने के लिए हमें सभ्यता का अध्ययन करना पड़ेगा। सभ्यता की पृष्ठभूमि में ही राज्य का समुचित अध्ययन हो सकता है।

सभ्यता और संस्कृति का राजनीतिशास्त्र से घना संबंध है। सभ्यता के विकास का ही फल है कि राज्य का संगठन किया जा सका है। बर्बरता के युग में राज्य नहीं था। मानव-सभ्यता के विकास के क्रम में अनेक श्रेणियों, संगठनों, और संस्थाओं का विकास हुआ है। राज्य उनमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कह सकते हैं कि सभ्यता के विकास ने राज्य को दृढ़ किया है और फिर राज्य ने स्वयं सभ्यता के विकास में योगदान किया है। किन्तु सभ्यता और राज्य मानव इतिहास के बाहरी रूप हैं। इनका बड़ा महत्त्व है, किन्तु साथ-ही-साथ हमें कलात्मिका और नैतिक संस्कृति की भी आवश्यकता है। सभ्यता के विकास के साथ मानव का समाजीकरण संभव हुआ है, किन्तु उसका नैतिकीकरण भी पूर्ण अभिवांछित है। अतएव सभ्यता और संस्कृति दोनों की आवश्यकता है। जब आन्तरिक उन्नति को व्यक्त करनेवाली संस्कृति और वाह्य उन्नति को व्यक्त करनेवाली सभ्यता का पार्थक्य हमें ध्यान में रहता है तो हमारी शास्त्रीय वृत्ति स्वस्थ और हमारी बुद्धि ठीक-ठीक विश्लेषण कर सकती है। अन्यथा यांत्रिकता और विज्ञान की चकाचौंध में जगत् की उन महती संस्कृतियों का हम पूरा मूल्यांकन नहीं कर पायँगें जिनका सभ्यतामूलक आधार कमजोर है। अभी

सभ्यता की दृष्टि से भारत पश्चिमी राष्ट्रों की अपेक्षा पिछड़ा हुआ है, किन्तु भारतीय संस्कृति किसी भी संस्कृति की अपेक्षा आध्यात्मिक मानववाद की उपासना में श्रेष्ठ है। सभ्यता और संस्कृति में विश्लेषण करने से यह विचार दृढ़ होता है कि बाह्य सभ्यता को मानवहित में प्रयुक्त करने के लिए संस्कृति की अपेक्षा है। यदि अन्नमय और प्राणमय कोश की उन्नति सभ्यता के द्वारा होती है तो मनोमय तथा विज्ञानमय कोश की उन्नति का साधन संस्कृति है। इस दृष्टि से देखने पर मालूम पड़ता है कि संस्कृति के विस्तार का इतिहास मानव के आत्मप्रसारण का इतिहास है। अत्यन्त बर्बरता के युग में मानव केवल कबीले के निवासियों को अपना समझता था। आज कम-से-कम विचार में तो मानवतावाद की दुहाई दी जाती है। आज सब क्षेत्रों में कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व की भावना के विकास पर बल दिया जा रहा है और इस बात को समझा जा रहा है कि केवल राजनीतिक और आर्थिक सभ्यता से ही विशाल मानवोचित आदर्श सिद्ध नहीं हो सकता। संस्कृति की नितान्त अपेक्षा है। वर्गवाद और उग्र राष्ट्रवाद से आज मानव समाज पीड़ित है। विज्ञान और यांत्रिकता के कारण आज संसारव्यापी सभ्यता प्रचलित हो रही है।[१] किन्तु इसको दृढ़ और ठोस बनाने के लिए सांस्कृतिक उन्नयन अभिवांछित है। कुछ लोग संस्कृति के नाम पर अल्पसंख्यक वर्ग के मानसिक उत्कर्ष का पोषण करते हैं। संस्कृति अब पिंजड़ों और महलों में बन्द नहीं रह सकती है। संस्कृति से केवल यही मतलब नहीं है कि व्यास और कालिदास या मम्मट को समझने की शक्ति प्राप्त हो जाय। आज संस्कृति केवल सौन्दर्य की पोषिका नहीं रह सकती है। संस्कृति को मानवहित से अलग रखने का निश्चित परिणाम है शून्यवाद। एक रूसी विचारक का कहना था कि मानव कल्याण में शेक्सपियर और गेटे की अपेक्षा जूते बनानेवाले की देन अधिक है क्योंकि कविता की अपेक्षा जीवन में जूतों की अधिक आवश्यकता है। अतः आज की दुनिया में संस्कृति को दो दृष्टियों से विशालतर बनाना है। केवल सौन्दर्यमूलिका कलात्मिका अभिव्यक्ति से ऊपर उठकर हमें नैतिक प्रसारण का मार्ग अपनाना होगा। केवल सौन्दर्य के ऊपर संस्कृति नहीं टिक सकती, क्योंकि सौन्दर्य-उपासना की परिणति भोगवाद में होती है। अप्रतिहत भोगवाद निरंकुशता की उस प्रवृत्ति

1. **यांत्रिकता और सभ्यता के लिए द्रष्टव्य**—W. Sombart, "Technics and Kultur", *Archiv fur Sozibkrissenchaft und Sozialpolitik* १९११ ; T. Veblen, ***Imperial Germany and the Industrial Revolution,*** W. F. Ogburn, *Social Change*, R. M. MacIver, ***Society*** ; Ogburn, and Nimkoff, *Sociology*.

को[1] जन्म देता है जो संस्कृति और सभ्यता को रसातल में ले जाती है। रोमीय साम्राज्य और मुगल-साम्राज्य के पतन तथा द्वितीय महासमर में फ्रांस का लज्जा-जनक पराजय, इसी भोगवाद के कारण संभव हुए थे। अतः संस्कृति के रसात्मक आस्वादन के साथ-साथ साधना, आत्मनिग्रह और सर्वभूतहित का सन्देश देनेवाली संस्कृति के नैतिक रूप का भी अवबोध नितान्त आवश्यक है। आल्फ्रेड वेबर, मैकिवर आदि ने जो संस्कृति की समाजशास्त्रीय व्याख्या की है, वह नैतिकता पर आवश्यक बल न देने के कारण अपूर्ण है[2]। नैतिकता का पूरा विकास संस्कृति का उद्देश्य है। ऐसा विचार मानवता के कल्याण के लिए आवश्यक है। संस्कृति को विशालतर बनाने का यह पहला मार्ग है। संस्कृति को विशालतर बनाने का दूसरा मार्ग है— इसे जनता के कल्याण का वाहक बनाना। पीड़ित, शोषित जनता यावज्जीवन केवल पानी खींचने और चक्की चलाने का ही कार्य न कर संस्कृति का भी आस्वादन करे, इसके निमित्त अवसर उत्पन्न करना है। यह तभी संभव हो सकता है जब स्वतंत्रता, समानता, सामाजिक न्याय का पूर्ण क्रियान्वयन हो। इस प्रकार विशालतर संस्कृति के निर्माण का मार्ग राजनीति शास्त्र और श्रेयशास्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध की मीमांसा करना आवश्यक बनाता है।

---

१. Alfred Weber, "Prinzipielles Zur kultursoziologie", *Archiv fur Sozialwissenschaft und Sozialpolitik*, (१९२१); Robert MacIver, *The Modern State*, *Society*.

२. तुलनीय—Rousseau, *Social Contract* III, 4 : "....for luxury either comes of riches or makes them necessary; it corrupts at once rich and poor, the rich by possession and the poor by covetousness; it sells the country to softness and vanity and takes away from the state all its citizens, to make them slaves one to another, and one and all to public opinion."

चतुर्दश अध्याय

राजनीतिशास्त्र और श्रेयशास्त्र

(क) श्रेयों का तात्त्विक विवेचन

श्रेय का साक्षात्कार मानव के सांस्कृतिक विकास और नैतिक अभ्युत्थान का महान् मन्त्र रहा है। कठोपनिषद् में बताया है कि श्रेय और प्रेय के बीच विवेचन करना आवश्यक है। धीर आत्मतत्त्ववेत्ता श्रेयानुसंधान करता है। प्रमादयुक्त, योगक्षेममन्द मानव प्रेय की ओर अग्रसर होता है[1]। मानव-जीवन की सफलता सामयिक आकस्मिक भोगों के तोषण में नहीं है। किन्तु विचारपूर्ण परिगृहीत किसी व्यापक आदर्श को प्राप्त करने में ही अपनी शक्तियों का उपयोग करना यही ज्ञानान्वेषी नैतिक मानव का आदर्श हो सकता है। आदर्श ही श्रेय है। जिस मार्ग से आत्मिक और सामाजिक कल्याण की समन्वयात्मिका प्राप्ति हो सके, वही श्रेय का मार्ग है। श्रेयों की उत्पत्ति कहाँ से होती है, यह एक अत्यन्त गहन प्रश्न है। मुख्यतः अबतक यही विचार प्रचलित रहा है कि श्रेयों की उत्पत्ति धार्मिक चेतना में होती है तथा धर्मशास्त्रों से ही श्रेय का बोध हो सकता है। कार्याकार्यव्यस्थिति में शास्त्रविधानोक्त मार्ग का पालन ही भगवद्गीता में श्रेयस्कर प्रतिपादित किया गया है। यहूदी धर्मशास्त्र या ईसाइयों के बायबिल में जो धार्मिक और नैतिक नियम प्रतिपादित किये गये हैं, प्रायः उनके आधार पर ही पश्चिम में मानववाद, अधिकारवाद, प्रजातंत्र, साम्यवाद आदि महान् आदर्शों की रचना हुई है। सत्पुरुषों के द्वारा अनुमोदित मार्ग का सेवन महाभारत और मनुस्मृति में विहित है और इसी लिए मनु ने वृद्धोपसेवन को संगत और कल्याणकारी कहा है। आज की विश्रृंखलता को देखते हुए प्राचीन और मध्यकालीन मार्ग की ओर प्रत्यावर्त्तन की आवाज उठाई गई है। कुछ लोग वैदिक

---

१. अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
ततो श्रेयआददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमादृणीते ॥ (कठ० १।२।१–२)
तुलनीय—अञ्ञा हि लाभूपनिसा अञ्ञा निब्बाणगामिनी। (धम्मपद ५।१५)

कर्मयोग, कुछ वेदान्तोक्त अभय, कुछ लोग टामस अक्वायनास तथा फ्लौरिस के जोआकिम के मार्ग के पुनःअनुसरण को ही मानव-सभ्यता के त्राण के लिए आवश्यक मानते हैं। किन्तु धर्मशास्त्र की दुहाई या सदाचार का सार्वकालिकत्व और सार्वभौमत्व, या ईसाई संतों का मार्ग, धर्मावलम्बियों के लिए मान्य होते हुए भी अन्यों के लिए इष्ट नहीं हो सकते हैं। कन्फ्यूसियस, बुद्ध, ईसा, पतंजलि, व्यास, कृष्ण आदि के नामोद्धरण से ही आधुनिक दुनिया नहीं समझाई जा सकती है। आज का मुख्य प्रश्न है कि क्या प्रजातंत्र, समाजवाद, अधिकारवाद, सामाजिक न्याय, समानता, स्वतंत्रता आदि आदर्शों के लिए कोई ठोस, दृढ़, दार्शनिक भित्ति स्थापित की जा सकती है, या ये मूलतः कार्यान्वियन की प्रणालियाँ हैं जिनका मुख्य आधार है उनकी व्यावहारिकता।

अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में विज्ञान की सर्वविध उन्नति से मापात्मकता, भौतिकवादिता, यांत्रिकता आदि पर बल दिया गया। यूरोपीय पुनरुत्थान के समय में ही ज्ञानात्मक मानव के असीम नैतिक और कलात्मक कर्तृत्ववाद के प्रतिपादन की जो परम्परा चली थी, वह शनैः-शनैः कम हो गई। मानव के बदले में सृष्टि, ज्ञान का विषय बन गई। जैसे-जैसे मापात्मकतावाद की वृद्धि हुई, वैसे-वैसे गुणात्मक आवर्तों से विशिष्ट मानव का विचार मन्द होता गया। गुणात्मक विषयों का भी मापात्मक वर्णन प्रारम्भ हुआ और इस प्रवृत्ति की चरमकाष्ठा हम आज उन विचारधाराओं में देखते हैं जो समस्त मानव को अणु-परमाणु या इलेक्ट्रन-प्रोटन का प्रोटन का संगठन और संघात मानकर पूर्णतः उसकी गणनात्मक और मापात्मक व्याख्या करती हैं। मध्ययुग में धर्मशास्त्रों और ईश्वरवाद की प्रधानता थी। भारत में शंकर, रामानुज, मध्व, कबीर आदि तथा यूरोप में संत फांसिस, संत डोमिनिक, अक्वायनास आदि के ग्रन्थों और उपदेशों में ईश्वर को ही ज्ञान का विषय बताया गया और ईश्वरानुसंधान ही मानव का प्रकृष्ट पुरुषार्थ माना गया। यूरोपीय पुनरुत्थान ने ईश्वरवाद के स्थान पर मानववाद को प्रतिष्ठित किया। अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी के वैज्ञानिकतावाद के विकास से मानववाद दब गया। रूसो और काण्ट ने मानववाद की दुहाई दी थी। किन्तु पीछे चलकर मानव के स्थान पर अतिमानव या एक अज्ञात समष्टि को बैठाया गया जिसका भयंकर रूप जर्मन और इटालियन अधिनायकवाद में व्यक्त हुआ; जिसमें मानव को तिरस्करणीय और नेता के संकल्प का वाहनमात्र माना गया। वैज्ञानिक पद्धति शुष्क है और मानव हृदय की रागात्मकता की अभिव्यंजना के लिए इसमें स्थान नहीं है।[1] यों कह सकते हैं कि मानव-हृदय की वृत्तियाँ इसका

1. A. J. Ayer, *Language, Truth and Logic* (पृष्ठ १५८-१६१)

क्षेत्र नहीं हैं। किन्तु यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में अतिशय वैज्ञानिकता, यांत्रिकता आदि की प्रतिक्रिया में श्रेयशास्त्र पर फिर ध्यान दिया जाने लगा। श्रेयविज्ञान बहुत प्राचीन है, तथापि इस युग की समस्याओं को देखते हुए पुनरपि इसका अनुशीलन आवश्यक है[1]। यह भी देखना है कि राजनीतिक श्रेय क्या हैं किस प्रकार उनकी उत्पत्ति होती है और किस प्रकार वे क्रियान्वित हो सकते हैं?,

श्रेयों को पूर्णतः मनोवैज्ञानिक मानने का प्रस्ताव कुछ विचारकों ने रक्खा है[2]। इनके अनुसार मानव-भावना ही श्रेयों का आधार है। किन्तु मनुष्य की प्रवृत्तियों और संकल्पों को ही श्रेयों का मूल मानना समाज और मानवता की दृष्टि से ठीक नहीं है। प्रवृत्तियाँ सतत परिवर्तनशील हैं और श्रेयों को प्रवृत्तिनिष्ठ मानने पर मानव-चेतना या सामाजिक चेतना, कहीं भी उनका निश्चित आश्रय बताना कठिन हो जायगा। श्रेय की प्राप्ति भी तभी संभव है जब किसी विशिष्ट आदर्श का बहुत समय तक अनुवर्तन किया जाय। उदाहरणार्थ। सत्य—सत्य की प्राप्ति धार्मिक-साधना, सामाजिक शास्त्र और भौतिक विज्ञान, इन सबों का लक्ष्य है। यदि सत्य को एक सार्वकालिक आदर्श न मानकर व्यक्तिसापेक्ष या प्रवृत्तिसापेक्ष माना जाय तो दीर्घकालीन अध्यवसाय इसके अनुसंधान में संभव नहीं होगा। क्या विज्ञान और राज्य को केवल प्रवृत्तिसंश्रित मानने से काम चलेगा? मनुष्य के क्रियात्मक और भावनात्मक जीवन से प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं; किन्तु क्षणस्थायी आकस्मिक प्रवृत्तियों को संगठित सामाजिक व्यवस्था का आधार नहीं माना जा सकता। सदियों के मानव-इतिहास के क्रम में श्रेयों की उत्पत्ति हुई है और उनका समर्थन हुआ है।

---

१. **श्रेयशास्त्र** (Axiology or Philosophy of Values) के निमित्त **द्रष्टव्य**—W. M. Urban, *Valuation, Its Nature and Laws;* W. R. Sorley, *Moral Values and the Idea of God*; C. T. H. Walker, *The Construction of the world in terms of fact and value*; John Laird, *The Idea of Value*; John Reid, *A Theory of Value*:; Znaniecki, *The Social Role of the Man of Knowledge*; M. Koehler, *The Place of Value in a world of facts*; G. E. Moore, *Philosophical Studies*; M. Picard, *Values, Immediate and contributory*; J. F. Dashiell, *The Philosophical status of Value*; John Dewey, *A Theory of valuation.*

२. Bertrand Russell, *Religion and Science*, पृ० २३-२५.

सत्य, अहिंसा, करुणा, मानव की नैतिकता आदि महान् विचार क्षणिक प्रवृत्तियों पर आश्रित नहीं हैं। मानव-संस्कृति के विकास का रहस्य इनमें छिपा हुआ है। प्राकृतिक और विरोधी शक्तियों के साथ संघर्ष में इन्होंने मानव-समाज को अविशृंखलित रक्खा है। अतः अभिरुचि को ही श्रेयों का स्रोत मानना जैसा पेरी और एहरेन्फेल्स ने किया है, मैं सामाजिक हित के लिए घातक मानता हूँ[१]। वासनात्मक बुद्धि से नियंत्रित अभिरुचि मानवजीवन में तार्किकता और सामान्य हित के बदले स्वेच्छाचारिता को प्रतिष्ठित कर देगी। श्रेय कार्य करने की ओर प्रेरित करता है और श्रेय की संस्थिति इस बात को सिद्ध करती है कि उसके समक्ष वस्तुओं और उनके संगठन की एक दुनिया वर्तमान है; क्योंकि जागतिक वस्तुओं और अन्य मनुष्यों के सन्निकर्ष में ही श्रेयों का प्रकटन हो सकता है। वस्तुतः जिसको मानव अपनी प्रवृत्ति या अभिरुचि से उत्पन्न मानता है, वह श्रेय मानव-इतिहास में व्याप्त संगठन तथा धार्मिक शिक्षकों के अनुभव और प्रचार से प्रकाशित हुआ है। मानव की स्वाभाविक समूहशीलता के कारण, इतिहास की परम्परा द्वारा उद्घोषित मानव-समाज के कल्याण-प्रसाधक श्रेय, मानव के मस्तिष्क में अन्तश्चेतनीकृत होकर उसके कार्यों के द्वारा प्रकटित होते हैं। मानव, बहुत दूर तक सामाजिक शक्तियों के घात-प्रतिघात का एक विलक्षण एकीकरण और विशेषीकरण है। किन्तु उसकी अभिरुचियाँ और प्रवृत्तियाँ मूलतः नवीन नहीं हैं। सामाजिक और ऐतिहासिक परम्पराएँ केवल एक विलक्षण माध्यम से प्रकाशित होती हैं। व्यक्ति का उत्कर्ष इसी में है कि उसकी वर्तमान देशकालकार्यकारणोपाधिविशिष्ट रूप में पुनरावृत्ति नहीं हो सकती। अतः दार्शनिक राजनीतिशास्त्र मानव के नैतिक और आध्यात्मिक महत्त्व को स्वीकार करते हुए उसके अधिकारों का पोषक है। मानव के नैतिक और आध्यात्मिक महत्त्व का प्रकाशन इसी में है कि वह विराट् आदर्शों की प्राप्ति में कर्मयोगमय जीवन-यापन करे, न कि आकस्मिक अभिरुचियों और कृत्रिम वृत्तियों को ही जीवन का श्रेय समझे। श्रेय की साधना हमारे केवलमात्र प्राणात्मक प्रवर्तन और अविवेकपूर्णता की कदापि सूचिका नहीं है। मानव अन्तरात्मा में व्याप्त महत्ता, विराट् साध्यशीलता, सर्वकल्याणकामिता में ही श्रेय की उत्पत्ति होती हैं।[२]

---

१. Ehrenfels, *System der Werttheorie*; Meinong, *Zur Grundlegung der allgemeinen Werttheorie*; R. B. Perry, *General Theory of Value*; Howard O. Eaton, *The Austrian Philosophy of Values*.

२. Kant, *Preface to the Metaphysical Elements of Ethics*:

श्रेय का लक्ष्य है—किसी विशिष्ट साध्य की प्राप्ति या यों कहें कि श्रेय स्वयं ही लक्ष्य है। मानव के अनेक व्यापारों का निश्चित ही कुछ प्राप्तव्य साध्य रहता है। अपनी अभिरुचियों, इच्छाओं और प्रवृत्तियों से वह उन साध्यों को क्रियान्वित करना चाहता है। प्रारम्भिक अवस्था में ये साध्य सामाजिक वातावरण के द्वारा उपस्थित किये जाते हैं। मानव या तो कोई पद या धन चाहता है या अपना परिवार बनाना चाहता है। सामाजिक वातावरण ही उसे इन वस्तुओं की प्राप्ति करा सकता है। इनकी प्राप्ति के निमित्त जो व्यापार किये जाते हैं, उनसे ही श्रेयों की अभिव्यक्ति होती है। अतः श्रेय हमारे व्यापारों को गतिमान और हमारी वृत्तियों को चेतन करते हैं। श्रेयों की प्राप्ति में हमारी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को क्रियाशील रहना होता है। श्रेय निश्चित ही साध्य है, साधना नहीं। अन्य सभी व्यापार और सभी क्रियाएं इसीकी प्राप्ति में पर्यवसान प्राप्त करती हैं। साध्य-साधन-नियम से संक्रान्त समस्त वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध में श्रेय का प्रकाशन होता है। साधन, साध्य के द्वारा नियंत्रित होता है। साध्य को ध्यान में रखकर ही उपा-

"....*conscience is not a thing to be acquired, and it is not a duty to acquire it; but every man, as a moral being, has it originally within him.* To be bound to have a conscience would be as much as to say to be under a duty to recognise duties. For conscience is practical reason which, in every case of law, holds before a man his duty for acquittal or condemnation; consequently it does not refer to an object, but only to the subject (affecting the moral feeling by its own act); so that it is an inevitable fact, not an obligation and duty when, therefore, it is said: this man *has* no conscience what is meant is that he pays no heed to its dictates. For if he really had none, he would not take credit to himself for anything done according to duty, nor reproach himself for violation of duty, and therefore he would be unable even to conceive the duty of having a conscience."

दानों और साधनों का निर्वाचन होता है। पहले कुछ साधनों को काम में लाया जाता है। यदि वे विफल हो जाते तो हैं अन्य साधन व्यवहार में लाये जाते हैं। प्रवृत्तियाँ और अभिरुचियाँ, जीवनसंघर्ष में, उतनी ही दूर तक टिक पाती हैं जहाँ तक प्राकृतिक और सांसारिक वातावरण के घातप्रतिघात में वे हमारी सहायता करती हैं। अनेक प्रकार की अनावश्यक प्रवृत्तियाँ और नानाविध अभिरुचियाँ मानव-हृदय और मस्तिष्क में उपस्थित होती हैं; किन्तु कालक्रम में वे विलीन हो जाती हैं। जिनसे जीवन-धारण संभव होता है, वे टिकती हैं और शनैः-शनैः ऐसी प्रवृत्तियों का एक संगठन और नैतिक संध्वनि बनती हैं और उसी से हमारे व्यक्तित्व का निर्माण होता है। किन्तु प्रवृत्तियों और अभिरुचियों का उदय केवल आकस्मिक और निराधार नहीं होता है। जगत् में जो सतत शक्तिप्रवाह और शक्ति-संचालन हो रहा है, उसमें वैयक्तिक मानव के स्वतंत्र अवस्थान को बनाये रखने के लिए ही प्रवृत्तियाँ उद्‌भूत होती हैं। मानव एक जीवनधारी प्राणी है और प्राकृतिक शक्तियों के साथ प्रचण्ड संघर्ष करके भी 'आत्मानं सततं रक्षेत्' की नीति का वह समर्थन करना चाहता है। जीवनधारण, जैविकीय मौलिक सत्य है। कृमिकीटों से लेकर उच्चतम मानव के भीतर यह भावना वर्तमान है। श्रेयों का महत्त्व इसीमें है कि इस जैविकीय आवश्यकता को वे ज्ञानात्मक रूप प्रदान करते हैं। जो जीवन-संघर्ष सर्वत्र चल रहा है, मानव उसका ज्ञान प्राप्त करता है और इस संघर्ष में विजयरूपी श्रेय की सिद्धि के लिए अनेक, सभ्यताद्वारा उपस्थित उपकरणों का उपयोग करता है। मानव सभ्यता का इतिहास उन उद्योगों का इतिहास है जो मानवतनधारियों ने जीवन-संघर्ष के निमित्त किये हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह संघर्ष अनेक बार अनैतिक तथा अचेतन वृत्तियों से परिव्याप्त रहा है और इस धराधाम पर अनेक संघर्ष और कुकृत्य ऐसे हुए हैं जो मानव की नराधमता के द्योतक हैं। किन्तु कुकृत्यों, हत्याओं, हाहाकारों के बावजूद मानव-संस्कृति टिकी हुई है। यह प्रमाणित करता है कि आंशिक रूप से ही सही, श्रेय की संसिद्धि हो रही है या यों कहे कि मानव-संस्कृति श्रेयों का परिवहन कर रही है। केवल अभिरुचियों में श्रेयों की उत्पत्ति मानना संस्कृति और धर्म के उस व्यापक देन की उपेक्षा करना है जो इन्होंने मानव के सामाजिक उत्थान के लिए दिये हैं। बौद्धधर्म, जैनधर्म, ईसाईधर्म तथा संसार के अन्य धर्मों ने मानव वृत्तियों को सुसंस्कृत, समूहीकृत और नैतिक बनाने में अवश्य ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। एशिया की अनेक बर्बर जातियों को बौद्धभिक्षुओं ने अपनी जान को जोखिम में डालकर नैतिक रक्षा की थी। यूरोप की बर्बर ट्यूटन, स्लाव आदि जातियों को ईसाई धर्म ने दीक्षित किया और उन्हें श्रेय का महत्त्व बताया है। अतः केवल

मानव-प्रवृत्तियों और अभिरुचियों को श्रेय का स्रोत मानना या श्रेयों को केवल प्राणसंवर्तन का प्रकाशन मानना मानव-संस्कृति और मानव के धार्मिक इतिहास की उपेक्षा करना है। श्रयों के अभिरक्षण में मानव समाज के इतिहास का नैतिक रहस्य छिपा हुआ है। श्रेयों के तुलनात्मक अध्ययन से सामाजिक और धार्मिक उत्थान का स्तर और रहस्य मालूम पड़ना है।

मानव-व्यक्तित्व के संगठन में हमने श्रेयों का महत्त्व स्वीकार किया है। किसी वस्तु के प्रति रागात्मक अभिरुचि प्रकट करना, एक संकल्पात्मक कार्य है। अनेक संकल्पों और तत्पूरक क्रियाओं के संस्कार से ही व्यक्तित्व का निर्माण होता है। वस्तुओं को श्रेयस्कर या अश्रेयस्कर मानकर हम अपने व्यक्तित्व का परिचय और अभिज्ञापन करते हैं। मनुष्य का व्यक्तित्व वस्तुओं के द्वारा प्रभावित और वस्तुएँ उसके व्यक्तित्व से प्रभावित होती हैं। चार हजार वर्ष पहले जो दुनियाँ का स्वरूप था, वह आज से भिन्न था। जहाँ पहले घने जंगल थे, वहाँ अब लहलहाते हुए नगर बसे हैं। यांत्रिक साधनों का आश्रय लेकर नदियों, पहाड़ों और घाटियों के रूपों को मानव ने बदल डाला है। श्रेय की प्राप्ति में, मानव ने बर्बरता के स्थान पर, सभ्यता को जन्म दिया और फिर सभ्यता की उत्पत्ति ने उसके श्रेय-निर्वाचन का एक नया क्षेत्र प्रस्तुत किया। श्रेयात्मक दृष्टि से वस्तुओं का निर्वाचन और उनकी प्राप्ति का प्रयत्न ही मानव-इतिहास का स्वरूप है। जीवन-संघर्ष में आवश्यक आदर्श ही व्यवसायात्मिका बुद्धि से उन्नयन प्राप्त कर श्रेय का रूप धारण करते हैं। किन्तु इससे श्रेयों को निरा वैयक्तिक मानना ठीक नहीं होगा। निश्चित ही, कार्यविशेष और अवसर-विशेष पर श्रेयों का प्रकाशन होता है; किन्तु इस प्रकार श्रेयों का अनुभवात्मक आधार होने पर भी उनका निरा वैयक्तिक अवस्थान मानने से मानव-संस्कृति खतरे में पड़ जायगी। मानव की अपरिमार्जित स्वेच्छाचारिता में श्रेयों का बीज नहीं है। अवसरविशेष पर श्रेयों का प्रकाशन होता है, तथापि इन क्षणों में इनकी नूतन उत्पत्ति नहीं हो रही है। इन क्षणों में इनका प्रकाशन मात्र होता है। मानव के सामाजिक, सांस्कृतिक और अन्य रचनात्मक कार्यों से श्रेयों का ज्ञापन होता है। इतिहास की धारा के प्रवाह में निरन्तर श्रेयों का क्रियात्मक रूप प्रकटित होता है। कभी दासप्रथा को श्रेयस्कर सिद्ध करने का प्रयास मिलता है तो कभी सर्वमानव-समानतावाद का उद्घोषण प्राप्त होता है। कभी दूसरे कबीले के आदमी को मारने में कोई पाप नहीं समझा जाता तो कभी 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का उपदेश स्मरण करते हुए मानव दूसरे की रक्षा के लिए अपना जीवन भी बलिदान कर देता है। अतः केवल वैयक्तिक तथा मनोवैज्ञानिक स्रोत श्रेय

का नहीं माना जा सकता। इसका एक वस्तुनिष्ठ स्वरूप भी है।[1]

दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की यह स्थापना है कि श्रेय न तो मानव अभिरुचि-जनित है और न केवल सांसारिक संघर्षों से ही उसकी उत्पत्ति होती है। जीवन की समग्रता की जिससे संसिद्धि हो तथा मानव-कल्याण जिससे परिपुष्ट हो, वही श्रेय है। साधारण स्तर के श्रेय अनेक समाजों और अनेक श्रेणियों के भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, श्रमिक संघों तथा वणिक्संघों का श्रेय भिन्न-भिन्न होगा। किन्तु जब मानवकल्याण को ध्यान में रखकर व्यापक आदर्शों को क्रियान्वित करने का प्रयत्न होता है तब मानव प्रयत्नों की कृतार्थता होती है। मानव के नैतिक और ज्ञानात्मक विकास का यही लक्षण है कि वह निरन्तर अनासक्त कर्मयोग का पालन करे। जिन आवश्यक श्रेयों का समर्थन वह अविकसित अवस्था में केवल सामाजिक भय के कारण करता था, उन्हें सर्वसामान्य कर्तव्य का रूप मानना श्रेयात्मक अभ्युदय का मार्ग है। सर्व-सामान्यहित की परमार्थ भावना व्यवसायात्मिका बुद्धि से अनुप्रेरित हो जब मानव संकल्पों को संचालित करती है, तभी श्रेय की परमसिद्धि होती है। किन्तु इस प्रकार की उदात्त भावना का विराट् दिव्य रूप मानव-चेतना को संचालित करे, इसके लिए कर्मयोग का पालन आवश्यक है। सतत मनन और चिंतन से समग्र-दर्शिनी प्रज्ञा का उदय होता है। क्षुद्रता, स्वार्थपरता, पाशबद्धता, सीमितता आदि से ऊपर उठकर जब मानव, समष्टि की भावना और सर्वभूत की कल्पना से ओतप्रोत होता है तब निसर्गतः उसके आचारण से कल्याण और हित का प्रसवन होता है और उसकी क्रियाएँ न तो वैयक्तिक अभिरुचि से उद्भूत होती हैं और न अपनी वैयक्तिक सत्ता के निमित्त वह संघर्ष करता है। वह समष्टि के कल्याण में निरत होता है। जीवनधारणा का तात्पर्य इस प्रकार की प्रज्ञा का दर्शन ही है। इस प्रज्ञा द्वारा निर्दिष्ट कर्मयोग के क्रियान्वयन में जो विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती हैं, उनका वह अनासक्त होकर प्रतिरोध करता है। संसार के कल्याणसाधक मनुष्यों का जीवन इस बात को

१. तुलनीय,—F. H. Bradley, *Ethical Studies*, पृ० १६० : "There is an objective morality, in the accomplished will of the past and present, a higher self worked out by the infinite pain, the sweat and blood of generations, and now given to me by free grace and in love and faith as a sacred trust. It comes to me as the truth of my own nature, and the power and the law, which is stronger and higher than any caprice or opinion of my own."

प्रमाणित करता है कि श्रेय सत्य हैं। नचिकेता की ज्ञानाभीप्सा, शंकर का ज्ञान-प्रचार, और बुद्ध का करुणामय समस्त जीवन इस बात को प्रमाणित करता है कि श्रेय वास्तविक हैं। मानव-कल्याण की पोषिका सामाजिक संस्थाएँ भी आंशिक रूप में श्रेय का अनुवर्तन करती हैं। ज्ञानात्मक विकास से सद् और असद् का विवेचन करना, व्यवसायात्मिका बुद्धि का विकास करना और वासनात्मक वृत्तियों के संशोधन का उद्यम करना ही श्रेय का मार्ग है। अनेक तत्त्वचिंतकों और विशिष्ट मानवों ने इस प्रकार की संसिद्धि की है। यह संसिद्धि श्रेय की सत्ता का बोधक है। श्रेय केवल मानव-कल्पना के विकासमात्र नहीं है, उनकी स्वयं सत्ता है और उनकी तात्त्विक सत्ता का प्रमाण उनके, व्यवसायात्मिका बुद्धिनिर्दिष्ट विशिष्ट साधनों के प्रयोग से, अवश्यंसाध्यत्व में है। यदि कुछ निश्चित साधनों का उपयोग करके कोई व्यक्ति आत्मलाभ और सामान्यहित का साक्षात्कार कर सकता है तो अन्य मानव भी कर सकते हैं। सब मनुष्यों के लिए साधनगम्य होना ही श्रेयों की तात्विकता का सूचक है। काल्पनिकता और भावनात्मकता ही यदि श्रेयों की उत्पत्ति का केन्द्र होतीं तो किसी भी प्रकार से उनकी सर्वसामान्यप्राप्तव्यता नहीं स्थापित हो सकती थी। सभ्यता और संस्कृति के विकास का यही तात्पर्य है कि जो सन्मार्ग किसी एक मानव के लिए कल्याण का साधन बन सकता है, उसे अन्य लोगों के लिए भी सुलभ बनाया जाय। वैज्ञानिक उन्नति का यही मार्ग है। उदाहरणतः, यदि किसी एक बड़े औषध से एक रोग को हटाना आसान है तो यांत्रिक साधनों से अधिक-से अधिक मात्रा में उस औषध को प्रस्तुत कर उसे जनसुलभ बनाया जाय। उसी प्रकार यदि नैतिक और ज्ञानात्मक कल्याण का कोई मार्ग मानव समाज को श्रेयपथ का अनुसरण करानेवाला है तो कोई कारण नहीं कि उसका व्यापक प्रयोग क्यों नहीं किया जाय?

यूनान में जब आध्यात्मिक और राजनीतिक श्रेयों को कल्पनाप्रसूत तथा अनुबन्धप्रसूत माना गया तब प्लेटो ने 'शिव प्रत्यय' का दर्शन उपस्थित कर श्रेयों की वस्तुनिष्ठता या स्वयंसंस्थिति का समर्थन किया[१]। अरस्तू के अनुसार प्रत्येक वस्तु का एक अनुगत संप्रयोजन है। इसी संप्रयोजन का क्रियान्वयन, निमित्त और उपादन-कारणों से होता है[२]। परमशिव के प्रत्यय का विचार या अनुगतसंप्रयोजनवाद, श्रेयों को अतिशय महत्त्वपूर्ण सिद्ध करता है। मानव-जीवन की कृतार्थता भोगवाद में नहीं है; किन्तु राजनीतिक कर्मयोग और विचिन्तनात्मक जीवन में है। यद्यपि आधु-

१. *Republic* VI, 505-506.

२. Aristotle, *Metaphysics*, V, 4.

निक भौतिक शास्त्रों की उन्नति ने प्लेटो और अरस्तू के उन भौतिक-प्रक्रिया सम्बन्धी विचारों को, जिन्हें उन्होंने, 'टायमियस' और 'फीजीक्स' नामक ग्रंथ में क्रमशः व्यस्त किया है, असंगत बताया है तथापि मानव-जीवन और सामाजिक राजनीतिक जीवन को शीलवान् बनाने का जो उन्होंने सन्देश दिया है, वह अभी भी ठीक है। शील का परित्याग करने मे राजकीय जीवन का उद्देश्य ही समाप्त हो जाता है। शील का मतलब है—ज्ञानात्मक और नैतिक अभ्युदय। व्यापक शील की परिसाधना मानव सामूहिक जीवन को व्यवस्थित और संगठित बनाती है। केवल जिस किसी प्रकार जीना मानव का उद्देश्य नहीं, अपितु तर्कसंगत नैतिकता का अवबोध ही उसका लक्ष्य है।[१] आधुनिक विज्ञान के उदय के कारण यूनानी दर्शनप्रोक्त श्रेयों की वस्तुनिष्ठता का निरस्कार होने लगा। विज्ञान के द्वारा वस्तुओं के अन्तर्हित-संप्रयोजनतावाद का खंडन हुआ तथा यांत्रिकता का पोषण। विज्ञान के उदय के कारण ऐसा प्रस्ताव सामने आया कि सौन्दर्य, सत्य आदि गुण मानव-भावनाओं पर आश्रित हैं, वे वस्तुओं के धर्म नहीं हैं। अग्नि का उष्णत्व या जल का शीनलत्व अग्नि और जल के अन्तर्हित गुण हैं। किन्तु परीक्षणाश्रित विज्ञान की दृष्टि में वस्तुओं का श्रेय कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता था। आधुनिक विज्ञान की इस विचार-धारा के विरोध में काण्ट ने प्रतिक्रिया की। उसके अनुसार यद्यपि विशुद्ध बुद्धि के आधार पर श्रेयों को सिद्ध नहीं किया जा सकता, तथापि व्यावहारिक बुद्धि के क्षेत्र में नैतिक आदर्शों का प्रकृष्ट महत्त्व है। काण्ट ने नैतिक आदर्शों को सार्वजनीन रूप देने की चेष्टा की। व्यावहारिक नैतिक बुद्धि का यह तकाजा है कि श्रेयों को स्थापित कर मनुष्य की नैतिकता की अभिव्यंजना की जाय। इसी नैतिकता की घोषणा कर काण्ट ने विशुद्ध संकल्प और मानवतावाद का समर्थन किया।

श्रेयों का स्रोत मूलतः मानव की वैयक्तिक अभिरुचि या प्रवृत्ति में नहीं है। श्रेय केवल संघर्षों से उत्पन्न भी नहीं हैं। उदाहरणतः सत्य। किसी भी मानव-संघर्ष से पूर्ण सत्य की भावना का उदय नहीं हो सकता। सत्य की भावना व्यवसायात्मिका बुद्धि और विराट् नैतिक भावना से उदय होती है। जगत् के व्यापार को देखते हुए, मानव की व्यवसायात्मिका बुद्धि ने सत्य का सिद्धान्त घोषित किया। यह सत्य, समग्र का दर्शन कराता है। मानव जीवन की सफलता के लिए या प्राकृतिक

१. द्रष्टव्य—Bornard Bosanquet, *Some Suggestions in Ethics*, विशेषतया "Living for Others", The Social Good, 'Value and goodness" नामक अध्याय।

शक्तियों के साथ संघर्ष करने के लिए जो व्यावहारिक नियम प्रक्रियात्मक रूप मे निर्मित होते हैं, सत्य वैसा नियम नहीं है। आंशिक रूप से मानव-व्यवहारों द्वारा व्यक्त होते हुए भी, विशुद्ध बुद्धि की आदर्शवादिता का ही यह परिणाम है। जब ज्ञान और साधना के सहारे मनुष्य संकल्पशुद्धि प्राप्त करता है, और प्रज्ञा स्थित होती है तथा निष्काम कर्मयोग का जब-जब वह अनुसरण करता है तब व्यापक बिराट् आदर्शों का उसे बोध होता है। आदर्शों की उद्भावना का यह सिद्धान्त श्रेयों के वैयक्तिकता-प्रजनितत्त्ववाद का खंडन करता है। वैयक्तिक कल्पनामूलक प्रवृत्ति या सद्यः समुत्थित-अभिरुचि में सत्य का उद्भव नहीं होता है। अनेक देशों में, प्रायः सब काल में, ऐसे विचारक और महात्मा उत्पन्न होते हैं, जो सत्य का महत्त्व प्रकाशन करते हैं। अपनी बुद्धि से वे बताते हैं कि असत्य सार्वकालिक सार्वभौम आदर्श नहीं हो सकता; क्योंकि इसके व्यवहार से सार्वत्रिक अशान्ति छा जायगी तथा अव्यवस्था का साम्राज्य हो जायगा। केवल सामाजिक संघर्ष और सामंजस्य-स्थापना की प्रक्रिया में श्रेयों की उत्पत्ति होती है, यह विचार इस दृष्टि से असंगत है कि महान् श्रेय, संघर्ष में विजय-प्रदान करने की दृष्टि से नहीं बने हैं। उदाहरणार्थ, बलिदान या अहिंसा। जब एक कुत्ते की रक्षा करने के लिए एक बौद्धभिक्षु अपना जीवन बलि-दान करता है तब क्या वह जीवनसंघर्ष में विजय प्राप्त करना चाहता है? जब धर्म के प्रचार में संत पीटर या तेगबहादुर या लेखराम मृत्यु का आलिंगन करते हैं तब क्या वे जीवन-संघर्ष कर रहे हैं? क्या भगतसिंह, लाजपतराय आदि अपनी शहादत के द्वारा जीवनसंघर्ष कर रहे थे? महान् आदर्शों को सिद्ध करने का प्रयत्न जीवन-संघर्ष और अधिकारवाद से मनुष्य को ऊपर ले जाता है। जब माता, पुत्र की रक्षा के लिए लोकोत्तर स्नेह से आविष्ट हो, अपने जीवन का भी, आवश्यकता आने पर, बलिदान कर देती है तब क्या वह जीवन-संघर्ष करती है? अतः श्रेयों को न तो अभिरुचि-प्रजनित (जैसा पेरी, मायनोंग, एहरेन्फेल्स आदि की स्थापना है) और न केवल जीवनसंघर्ष और सामंजस्य-प्रजनित ही (जैसा डिवी, आदि की स्थापना है) हम मान सकते हैं। इन दो विचारधाराओं के विपरीत, श्रेयों को मानव व्यव-सायात्मिका बुद्धि, जो उच्चाशय-मानवों में प्रायः सामान्यतः व्याप्त रहती है, से उत्पन्न मानना ही ठीक होगा।

•

श्रेय की स्थापना विशालता की संसिद्धि करने में होती है। इस प्रकार श्रेय का मार्ग वही है जो ज्ञान का मार्ग है। जब कोई बच्चा स्कूल में इतिहास पढ़ता है तब अकबर, शिवाजी, क्लाइव आदि के बारे में कुछ बातों को जान लेता है। पीछे उसे अकबर, शिवाजी, क्लाइव भारतीय इतिहास की समष्टि के एक अंग मालूम

पड़ते हैं। और अधिक ज्ञान के बढ़ने पर भारतीय इतिहास ही उसे विश्व इतिहास का एक अविभाज्य अंगभूत मालूम पड़ता है। पुनश्च, दार्शनिक दृष्टि के विकास होने पर वह इतिहास में प्रकाशित सर्वसामान्य नियमों का अवबोध करना चाहता है और इन नियमों की खोज करने के समय इतिहास, दर्शन, विज्ञान आदि अपनी अलग-अलग सत्ता छोड़कर एकाकार हो जाते हैं। इस प्रकार प्रथम महासमर का मूल खोजते-खोजते स्पेंगलर को विश्वदर्शन, कला, गणित आदि की पूरी छानबीन करनी पड़ी और रोम के पतन को देखते हुए संत अगस्तीन 'दिव्यनगर' नामक महान् ग्रंथ लिख बैठा[1]। विज्ञान के क्षेत्र में यही बात होती है। आकर्षण शक्ति के महान् सिद्धान्त के प्रणयन का बीज, अंगूर के फल को नीचे गिरते हुए देखकर, न्यूटन के हृदय में प्रजनित कुतूहल में था। वैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, नैतिक और दार्शनिक ज्ञान का विश्लेषण बताता है कि किसी एक घटना या एक विषय को समझने के निमित्त उसे व्यापक नियम का एक उदाहरणमात्र बनाने के लिए ही शास्त्रीय ज्ञान का उद्भव और प्रयोजन संभव होता है। अबतक संसार के दार्शनिकों, तत्त्ववेत्ताओं, महात्माओं ने श्रेय की उद्भावना करने में महान् प्रयास किया है। काल-क्रम में अनेक कुरीतियों के आगमन के बावजूद धार्मिक आन्दोलनों का जन्म किसी व्यापक नैतिक नियम के समर्थन या प्रवर्तन के लिए होता है। व्यावहारिक क्षेत्र में, मानव-अज्ञानता और एषणा के प्रभाव के कारण वह नैतिक नियम भले ही अक्रियान्वित रहे या विस्मृत हो जाय अथवा उसके तथाकथित अनुयायी अपने आचरण में उसका अनुवर्तन न करें, तथापि यह निर्विवाद है कि प्रत्येक धार्मिक और नैतिक आन्दोलन के पीछे कोई विराट् श्रेय अवश्य रहता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धि और विराट् नैतिक चैतन्य के समन्वय से ही श्रेयों की उत्पत्ति होती है। श्रेयों को सर्वव्यापक मानना ही, मानव-इतिहास में एक अभूतपूर्व उन्नति की घोषणा है। जिस दिन बुद्ध ने कहा कि वैर से वैर नहीं शांत होता, अवैर से ही वैर शान्त होता है और यही सनातन धर्म है; उस दिन एक विशाल प्रगतिशील कदम मानव-विकास में उठाया गया। इस प्रकार का श्रेयोद्घोष न तो अभिरुचिप्रजनित था और न सामाजिक संघर्ष में सफलता निमित्तक। बुद्ध को बोधि में इसका ज्ञान हुआ था। बोधि का तात्पर्य है--बौद्धिक केन्द्रीकरण। किन्तु विराट् श्रेयों का ही उद्भव इस प्रकार की व्यवसायात्मिका बुद्धि और स्थितप्रज्ञता में होता है। जब विराट् श्रेय इस प्रकार उद्घोषित होते हैं तब फिर उनसे तार्किक उपपत्ति के सहारे साधारण श्रेय निकलते हैं। इस प्रकार श्रेयों के दो विभाग करना होगा--

(क) परम श्रेय या विराट् श्रेय, (ख) पृथक् श्रेय या साधारण श्रेय। परम श्रेय का उदाहरण है—सत्य, करुणा, स्वतंत्रता, समानता आदि। पृथक् श्रेय का उदाहरण है—भारत में अछूतपन को हटाना या अमरीका में शराबखोरी को हटाना।

श्रेयों को वस्तुनिष्ठ या व्यवसायात्मिकाबुद्धिप्रजनित मानना विरोधग्रस्त प्रस्ताव नहीं है। श्रेयों की वस्तुनिष्ठता से यह तात्पर्य नहीं है कि वे प्लेटो के प्रत्यय की भाँति किसी निराले लोक में विचरण करते हैं। वस्तुनिष्ठता से यह भी तात्पर्य नहीं है कि वे अव्यक्त निर्विशेष तथा लोकोत्तर हैं। भारत में वेदांत के अत्यधिक प्रभाव के कारण लोकोत्तरवाद का बड़ा जोर रहा है। और किसी भी विषय के वास्तविक परीक्षण से मुख मोड़कर बात-बात में ब्रह्मवाद की दुहाई देना एक बड़ी अच्छी कला हो गई है जिससे पार्थिव जगत् के विषय में अपने अज्ञान को छिपाया जा सके। व्यवसायात्मिका बुद्धि से मैं कोई लोकोत्तरवाद का समर्थन नहीं कर रहा हूं। व्यवसायात्मिका बुद्धि इस लोक में साध्य है और अनेक दार्शनिकों और तत्त्वविद् वैज्ञानिकों के पास वह है। मठाधीश और चर्चशाहों के पास व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं है। मेरी दृष्टि में, न्यूटन, काण्ट, मार्क्स, डार्विन आदि भी व्यवसायात्मिका बुद्धि से सम्पन्न थे। अनावश्यक प्राचीनतावाद का पोषण और लोकोत्तरवाद का ढकोसला हमें इष्ट नहीं है। बुद्धि को अत्यधिक परिमार्जित कर ही विशुद्ध ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इतिहास, राजनीतिशास्त्र, विज्ञान, दर्शन आदि में सर्वत्र ज्ञान-प्राप्ति की यही प्रक्रिया है कि हम बुद्धि के यथाशक्ति अतिशय प्रयोग से सत्य सिद्धान्त को प्राप्त करें तथा फिर अन्य विचारक उन सिद्धान्तों का खंडन-मंडन करें। इस प्रकार के संगठित आलोचन-प्रत्यालोचन से ही शास्त्रों और विज्ञानतत्त्वों का विकास हुआ है। श्रेयों की वस्तुनिष्ठता से हमारा तात्पर्य यह है कि श्रेय अपरिमार्जित वैयक्तिक मन और बुद्धि से नहीं उत्पन्न होते हैं। उनकी वस्तुनिष्ठता का यही प्रमाण है कि अनेक सदियों और अनेक देशों में विभिन्न विचारक, उदाहरणार्थ उपनिषद् के मुण्डक ऋषि, बुद्ध, ईसा, अरस्तू, न्यूटन आदि सभी सत्य का महत्त्व स्वीकार करते हैं। अतः श्रेय वस्तुनिष्ठ इसी कारण है कि वैयक्तिक वासनात्मक संकल्प से ऊपर विशिष्ट मानवों की निष्णात बुद्धि में उनकी प्रवर्तनक्रिया हम देखते हैं। ये विशिष्ट मानव श्रेय की घोषणा करते हैं। सामाजिक परम्परा और क्रिया में इनकी व्यावहारिकता सुरक्षित की जाती है। सामाजिक परम्परा और मानव इतिहास में इन श्रेयों को क्रियान्वित करने के प्रयास का इतिहास छिपा है। वैज्ञानिकों का विचार द्वारा सत्य को प्राप्त करना तथा मानसिक, वाचिक और कार्मिक एकता के सहारे नीतिमान् का सत्य को प्राप्त करना, मानव-इतिहास में, व्याप्त समग्रता

तथा पूर्णता को प्राप्त करने के महान् प्रयास को अभिव्यक्त करते हैं[1]।

(ख) सामाजिक शास्त्र और श्रेय

श्रेय को आदर्शात्मक मानकर पश्चिमी विचारकों ने श्रेय और वस्तु में व्यवधान की स्थापना की है[2]। अलब्रेख्ट रित्शल ने वस्तु-सम्बन्धी निर्णय और श्रेय या अर्थ सम्बन्धी निर्णय के अन्तर को उपस्थित किया। रित्शल के अनुसार धर्मशास्त्रों के द्वारा वेदितव्य विषयों का सम्बन्ध श्रेय से है। किन्तु इससे उनकी प्रामाणिकता और निश्चयात्मकता में अन्तर नहीं होता। विन्डेलवाण्ड ने भी निर्णयीकरण और श्रेयीकरण में पार्थक्य बताया। उसके अनुसार प्रत्येक निर्णयीकरण या तो समर्थन करता है या खंडन। अतः प्रत्येक निर्णय-सम्बन्धी प्रस्ताव में श्रेय का सन्निवेश रहता है। डिलथाई, विन्डेलबाण्ड, रिकर्ट आदि ने सामाजिक और सांस्कृतिक शास्त्रों तथा दूसरी ओर प्राकृतिक शास्त्रों में अन्तर बताया। प्राकृतिक शास्त्र भावना-निरपेक्ष होते हैं। श्रेय और अश्रेय का प्रश्न ही वहां नहीं रहता है। दूसरी ओर सामाजिक और सांस्कृतिक शास्त्रों में मानव-जीवन के दर्शन की अभिव्यंजना होती है। मानव-जीवन-सम्बन्धी तत्वज्ञान श्रेयों के विभिन्न स्तर-सम्बन्धी मीमांसा पर आश्रित है। माक्सवेबर ने श्रेयनिरपेक्ष समाजशास्त्र के निर्माण का प्रयास किया। वेबर के अनुसार समाजशास्त्री का यह कार्य नहीं है कि वह अपनी शास्त्रीय प्रख्याति का आश्रय लेकर लक्ष्यों और श्रेयों का प्रवर्तन और प्रचार करे। वेबर के विचार में शास्त्रीय चिंतन, प्रचारकार्य से भिन्न है। निरपेक्ष भाव से वस्तुओं का स्वरूपनिर्णय करना शास्त्र का कार्य है। जर्मनी के कुछ अध्यापक अपने सामाजिक सम्मान का फायदा उठाकर कुछ सिद्धान्त-विशेष का प्रतिपादन कक्षाओं में करते थे। वेबर इसे असंगत मानता है। साध्यसाधन सूत्र के अनुसार अपेक्षित साध्यों की संसिद्धि में कौनसे साधन उपयुक्त होंगे, उनका निर्णय करना और उनके खर्च का व्योरा बताना ही उसके मत में सामाजिक शास्त्रों का कार्य है। दूसरी ओर, प्रचलित श्रेयों की मीमांसा करना वेबर को इष्ट था। इसी पद्धति का आश्रय लेकर 'अर्थव्यवस्था और

१. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः
सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥ (मुण्डकोपनिषत् ३।१।५-६)

२. E. Cassirer, *Zur Logik der Kulturwissenschaften* (1942).

समाज' नामक दो बड़ी जिल्दों में उसने पूँजीवादी-व्यवस्था की मीमांसा की और तीन जिल्दों में संसार के महान् धर्मों का उसने समाजशास्त्रीय विश्लेषण उपस्थित किया[१]। वेबर इस प्रकार श्रेयतत्वों को शास्त्रीय विचिंतन का विषय बनाना चाहता था; किन्तु उसकी ऐसी मान्यता थी कि समाजशास्त्री को स्वयं अपने श्रेयों का प्रवर्तन और प्रचार नहीं करना चाहिए अन्यथा विज्ञानोचित शास्त्रीय गाम्भीर्य, पक्षपातरहितता और वस्तु-निष्ठता को वह नहीं प्राप्त कर सकेगा। वेबर वैज्ञानिक व्याख्यापद्धति का अनुमोदन करने का पक्षपाती होते हुए भी सामाजिक शास्त्रों में तदाकारवृत्तिमूलक पद्धति का समर्थक था। अर्थात् किसी भी श्रेय की मीमांसा में प्रयोक्ता के साथ रागात्मक सम्बन्ध बनाये विना उसकी बातों को समझना कठिन है[२]।

किन्तु जिस श्रेयनिरपेक्ष अनुशीलन का समर्थन वेबर ने किया, वह वास्तविकता में निरपेक्षता का समर्थन नहीं, कायरता का समर्थन है। जब कोई अध्यापक या शास्त्रान्वेष्टा निरपेक्षता का दावा करता है, तब वह दम्भ का प्रचार करता है। क्या वेबर के अनुयायी इतना साहस रखते हैं कि अमरीका में रुपया प्राप्त करते हुए 'निरपेक्ष' होकर मार्क्सवाद का अनुशीलन करें? सामाजिक और राजनीतिक प्रश्न इतने संजटिल हैं, उनके साथ भावनाएँ इतनी संश्रित हैं कि उनके अनुशीलन में निरपेक्षता असंभव है। अधिकारवाद और सत्तावाद, स्वतंत्रता और परतंत्रता आदि प्रश्नों के उपस्थित होने पर जिस किसी व्यक्ति का एक अपना व्यक्तित्व है, वह अवश्य ही पक्ष ग्रहण करेगा। जब निरपेक्ष होकर मनुष्य अनुशीलन करता है तब वह अवश्य ही अपने मौन द्वारा प्रचलित श्रेयों का समर्थन करता है। कौरव-पाण्डव युद्ध के समय धृतराष्ट्र, कर्ण, दुर्योधन आदि को भीष्म और द्रोणाचार्य ने युद्ध करने से न रोककर अपने मौन द्वारा कौरवों का पक्ष समर्थन ही किया। निरपेक्षता, इस अर्थ में अवश्य ग्राह्य है कि अध्ययन और लेखन के समय हमारी भावनाएं हमारे विचार को आक्रान्त न कर दें। आवश्यक है कि हिन्दुस्तान का इतिहास लिखते समय हम झूठी देशभक्ति में आकर यह न सिद्ध करने का प्रयास करें कि पानीपत की पहली लड़ाई में बाबर हार गया। अपनी भूलों तथा पराजयों को व्यक्त करनेवाली घटनाओं को इतिहास से हटाना आत्मघात करना है। यदि हमें अपने विरोधी देशों की आर्थिक

---

१. Max Weber, *Wirtschaft und Gesellschaft* इसके कुछ अंशों का अनुवाद Parsons ने किया है, जिसका नाम है—*The Theory of* Social and Economic Organization; द्रष्टव्य—Marx Weber, *Essays in Sociology*.

२. *Verstchen Soziologie*.

शक्ति का विवेचन करना है तो आवश्यक है कि हम भावुकता को छोड़कर विचार करें। किन्तु निरपेक्षता का यह तात्पर्य नहीं है कि हम कहें कि राजनीतिशास्त्र या अन्य समाजशास्त्र के अध्यापक अपनी रचनाओं के द्वारा संदेशाभिज्ञापन न करें। इस प्रकार का मन्तव्य आज की सभ्यता और संस्कृति के लिए खतरे से पूर्ण है। विज्ञान अत्यन्त निरपेक्षता का दावा करते हुए भी सत्य को आदर्श मानता है। प्रमाणिकता और तर्कसंगतता की खोज में, सत्य ही विज्ञान के लिए परम श्रेय का रूप धारण करता है। पुनश्च, समस्त सामाजिक शास्त्रों के तात्विक उद्देश्य की एकता कम-से-कम इस बात से प्रमाणित होती है कि वे सब स्वतंत्र नैतिक मानव की उत्तरदायित्वपूर्ण कार्मिकता का समर्थन करते हैं। इस प्रकार शास्त्रानुचिंतन में श्रेय अनुगत है। भारतीय संस्कृति में शास्त्र का प्रणयन इसीलिए होता है कि सत्य, असत्य, कर्माकर्म-विकर्म या श्रेय-प्रेय आदि का सम्यक् बोध हो। निरपेक्षता, वस्तुनिष्ठता, विधेयात्मकता आदि के नाम पर सामाजिक शास्त्रों को नीति और श्रेय से अलग रखना हानिकर है। सामाजिक शास्त्रों की श्रेयनिरपेक्षता का प्रतिपादन बौद्धिक और आत्मिक नष्ट-निधित्व का सूचक है।

अध्ययन करनेवाले मनुष्य को और शास्त्रप्रणेता को चाहिए कि वह भावना-ग्रस्त हो ठोस विचार से अलग न हट जाय। उदाहरणार्थ, स्वतंत्रता का समर्थक होते हुए भी अरस्तू, अत्याचारकारी शासनतंत्र (टिरैनी) का गहरा अध्ययन प्रस्तुत करता है। मार्क्स के 'कैपिटल' ग्रंथ में अनेक स्थानों पर—जैसे जहाँ उसने मिल, बेंथम आदि का मखौल उड़ाया है—हमें यह अनुभव होता है कि शास्त्रीय मार्ग को छोड़कर मार्क्स एक जनप्रचारक का रूप धारण कर लेता है। प्रजातंत्र का जो वर्णन लेनिन के 'राज्य और क्रान्ति' नामक ग्रंथ में मिलता है, उसे हम कह सकते हैं कि वह प्रचारक का कथन है, शास्त्रदर्शी का नहीं[१]। भावुकता हमें शास्त्र के प्रति उदासीन बनाती है और किसी प्रकार वह ग्राह्य नहीं हो सकती है। शास्त्रानुचिंतन के समय हमें प्राचीनकालीन और अर्वाचीन, अपनी और दूसरी संस्कृति के, श्रेय के अध्ययन का अवसर पड़ सकता है[२]। इस प्रकार का अध्ययन सामाजिक शास्त्रों में अभि-

---

१. Lenin, *State and Revolution.*

२. L. T. Hobhouse, *Morals in Evolution*; Westarmarck, *The Orgin and Development of the Moral Ideas*: Kropatkin, *Ethics: Origin and Development*; Wundt, *Philosophiche Studien* (खण्ड ४); John Dewey, "Anthropology and

वांछित है। उदाहरणार्थ– मैडागास्कर, न्यूजीलैण्ड और प्रशान्तमहासागर द्वीपसमूहवासी आदिम मनुष्यों के पारिवारिक श्रेय का हम अध्ययन कर सकते हैं। प्राचीन फिलस्तीनवासी यहूदियों के नैतिक श्रेय तथा आधुनिक ब्रिटिश समाज के नैतिक श्रेय का भी तुलनात्मक अध्ययन करना, समाजशास्त्र का एक आवश्यक अंग है। इस प्रकार श्रेयों का अध्ययन अवश्य अभिवांछित है। किन्तु सामाजिक शास्त्रों की शास्त्रीयता और सैद्धान्तिकता की इसीमें रक्षा है कि वे भावना और संकल्प के ऊपर उठकर ज्ञान-प्राप्ति की एकान्त अभिलाषा से कार्य करें। लियोपोल्ड फौनमीज का यह प्रस्ताव कि-- समाजशास्त्र से श्रेयप्रतिपादक निर्णयवाक्यों को पूर्णत: निष्कासित करना चाहिए--दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से असंगत है[१]। वैयक्तिक अभिनति को हटाना चाहिए; उदाहरणार्थ, अमरीका की प्रजातांत्रिकता किसी की दृष्टि में अपूर्ण हो सकती है, किन्तु केवलमात्र उसका भद्दा खंडन करना, जैसा एंगल्स ने किया है, अनभिवांछित है। किन्तु वैयक्तिक अभिनति और शास्त्रीय अनुचिंतन-प्रजनित श्रेयप्रतिपादक वाक्य दोनों एक नहीं हैं। जो ग्रंथ वैयक्तिक अभिनति और रागद्वेष से प्रभावित हो लिखे जाते हैं, उनका 'मदर इन्डिया' ग्रंथ के समान ही भाग्य होता है। दूसरी ओर मेगास्थनीज, इब्नबतूता, ट्रैभर्नियर आदि के ऐतिहासिक यात्रावर्णनों की आज भी कीमत है।

शास्त्र का प्रणयन इसीलिए होता है कि मानव-समाज के सुधार के साधनों का अनुशीलन और प्रकाशन किया जाय। साधनों का लेखाजोखा इसीलिए किया जाता है कि उनसे साध्य की सम्प्राप्ति हो। मानवता के जो महान् साध्य हैं--उदाहरणार्थ--जन-एकता या सांस्कृतिक सातत्य,--किस प्रकार बौद्धिक और तर्कसंगत साधनों से इनका परिरक्षण और संवर्धन किया जाय, इस व्यापक आदर्श को सामने रखना और उनके व्यवहारीकरण का मार्ग बताना, शास्त्रीय विवेचना का आधारभूत है। अमरिका के समाजशास्त्रियों--डूवी, मेरियम, मीड, डनिंग, हाकिंग आदि--ने इसी प्रकार विचिंतन के सहारे प्रजातान्त्रिक श्रेयों को क्रियान्वित करने का उपदेश किया है। अभी हाल में जो नीग्रो-रंगभेदनीति का विश्लेषण मिरडल ने अपने विशालकाय ग्रंथ 'अमेरिकन डायलेमा' में प्रस्तुत किया है अथवा मैकिवर ने 'दी मोर पर्फेक्ट यूनियन' में उपस्थित किया है। उनमें एक व्यापक मानववादी श्रेय का दर्शन मिलता है[२]।

Ethics", Ogburn तथा Goldenweiser (सम्पादित), *The Social Sciences and their Interrelations.*

१. Leopold von Wiese, *Systematic Sociology.*

२. G. Myrdal, *An American Dilemma*; R. M. MacIver, *The More Perfect Union.*

इस मानववादी श्रेय के क्रियान्वयन का मार्ग भी इन ग्रंथों में बताया गया है। सामाजिक शास्त्रों की समर्थता इसीमें है कि नीति के जो विशाल रूप धर्मग्रंथों और दर्शनग्रंथों में उपस्थित किये गये हैं, उनके सामाजिक क्रियात्मक रूप प्रस्तुत करने का वे मार्ग बतावें। काण्ट के नीतिशास्त्र में विशाल दार्शनिक आधारशिला पर यह महती कल्पना उपस्थित की गई है कि मानव साधन नहीं, साध्य है। इस आदर्श को किस प्रकार क्रियान्वित किया जाय, इसे बताना राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र का काम है। आल्बियन स्माल, हाबहाउस, हेज, लेस्टरवार्ड आदि समाजशास्त्रियों का यही प्रस्ताव था कि तर्कसंगतता के आधार पर राजकीय व्यवस्था का आश्रय लेकर एक स्वस्थ, सबल समाज के निर्माण का मार्ग-दर्शन कराना समाजशास्त्र का कार्य होना चाहिए[१]। अतिप्राकृतिकतावाद, कल्पनावाद और शास्त्रीयवाग्जाल के कारागार से नीतिशास्त्रों को हटाकर, समूह का किस प्रकार व्यापक उन्नयन हो सकता है तथा सामाजिक न्याय और आर्थिक कल्याण का किस प्रकार व्यावहारिक रूप प्रस्तुत किया जा सकता है, इसे बताना समाजशास्त्र का कार्य है। कितनी दूर तक राजकीय व्यवस्था इस कार्य में सहायता प्रदान कर सकती है, उसे बताना राजनीतिशास्त्र का कार्य है। डुर्खायम के मतानुसार व्यावहारिक या प्रायोगिक समाजशास्त्र का यह कार्य है कि सामाजिक आदर्शों की प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट उपाय वह बतावे और समाजोचित लक्ष्यों का चुनाव करे। यह लक्ष्यनिर्वाचन शब्दविन्यासात्मक प्रत्ययमूलक दार्शनिक तत्वज्ञान पर आश्रित न होकर इतिहास और अनुभव द्वारा प्रस्तुत सामग्री के वैज्ञानिक अध्ययन पर आधारित होना चाहिए।

केवलमात्र राजनीतिक व्यवहार और व्यापार का वर्णन करना ही राजनीतिशास्त्र का अभीष्ट नहीं है[२]। राजनीतिक दर्शन का यही लक्ष्य है कि मानव, समाज

---

१. A small, *The Significance of Sociology for Ethics.*; E. C. Hayes, *Sociology and Ethics*; L. T. Hobhouse, *The Rational Good*, *The Elements of Social Justice*. पुनश्च द्रष्टव्य—H. Hoffding, "On the Relation between Sociology and Ethics" *A. J. S. X.*; H. Sidgwick, "The Relation of Ethics to Sociology", *International Journal of Ethics* (१८९९).

२. राजनीतिशास्त्र और आचारशास्त्र की सम्बन्ध-मीमांसा के लिए द्रष्टव्य—Norman Wilde, *The Ethical Basis of the State* (१९२४); W. W. Willoughby, *The Ethical* Basis of Political

और राज्य किस प्रकार विशिष्ट कल्याणकारी जीवन की सिद्धि कर सकते हैं, इसे बतावे। जीवन और शास्त्र में कृत्रिम व्यवधान ठीक नहीं है। राज्य को मानवजीवन के व्यापक लक्ष्यों से दूर नहीं हटाया जा सकता[१]। राज्य की व्यवस्था जीवन को आनन्दपूर्ण बनाने के लिए ही है। अतः राजकीय नीति किस प्रकार नैतिक और कल्याणसंगत बन सकती है, इसे बताना राजनीतिशास्त्र का कर्तव्य है। केवल नौकरशाही और वेतनभोगी अफसरों के आधार पर जनकल्याणवादी राज्य नहीं चल सकता। मानव मशीन नहीं है। आवश्यकता है कि मानववाद का ध्यान रखते हुए व्यापक जनसमूह का सहयोग प्राप्त कर किस प्रकार सुखी और कल्याणकारी समाज की स्थापना हो, इस कार्य में शास्त्रज्ञान-सम्पन्न राजनीतिशास्त्रियों की सहायता प्राप्त की जाय। प्लेटो का यही कहना था कि विशुद्ध ज्ञान ही शासन का अधिकारी है। जब किसी विषय पर हम शास्त्रीय अध्ययन आरम्भ करते हैं, तब किसी न-किसी प्रकार हमारे श्रेय अपना प्रभाव व्यक्त करते हैं। जब कोई विद्वान् बौद्धधर्म और दर्शन का वर्षों अध्ययन करता है तब इस साधना को चलानेवाला कोई महान् श्रेय अवश्य चाहिए। मैक्समूलर ने अपना सारा जीवन प्राचीन भारतीय आर्यों की संस्कृति के अनुशीलन में बिताया। इस प्रकार की साधना इसी कारण सफल हुई कि शास्त्रानुचिंतन ही उसका श्रेय था। अतः शास्त्रीय विषयों के निर्वाचन में कुछ महान् श्रेय अवश्य कार्य करते रहते हैं। संभव है कि निर्वाचन के समय वे विस्पष्ट न हों और काल-

---

Authority (१६३०); Jack Levin, *Power Ethics*; T. D. Weldon, *States and Morals*; B. Crocs, *Politics and Morals*; *American Political Science Review* खण्ड ३८, अगस्त १६४४ तथा खण्ड ४०; ; Carritt, *Politics and Morals*.

१. **तुलनीय,**—Aristotle, *Politics* VII : "He who would duly inquire about the best form of a state ought first to determine which is the most eligible life.... ....for in the natural order of things those may be expected to lead the best life who are governed in the best manner of which their circumstances admit .. ..Thus the courage, justice and wisdom of a state have the same form and nature as the qualities which give the individual who possesses them the name of just, wise or temperate.

क्रम में ही उनका स्पष्ट रूप निर्धारित हो। सामाजिक शास्त्रानुचिंतन की महत्ता इसी में है कि सामाजिक और आर्थिक प्रश्नों के समाधान में निष्णात बुद्धि की क्या देन होनी चाहिए और किस प्रकार संसर्जनात्मिका नागरिकला का विकास हो सकता है, इन्हें हमारे सामने स्पष्ट करें।

राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र से नितान्त अलग रखने का प्रस्ताव जार्ज कैटलिन ने रखा है[१]। राजनीतिशास्त्र को वह साधन या पद्धति का विज्ञान बनाना चाहता है और उसका कहना है कि श्रेयों के विषय में समझौता प्राप्त किये विना भी पद्धति विज्ञान का जबरदस्त विकास सम्भव है। कैटलिन के अनुसार, मूर्तिकला का शिक्षक, कलात्मिका अभिव्यक्ति के आदर्शों और तत्वों का ज्ञापन नहीं कराता है। वह पद्धतियों का शिक्षक है और उपस्थित उपकरणों से क्या निर्मित हो सकता है और क्या नहीं, यह बताना उसका काम है। उसी प्रकार राजनीतिशास्त्रवेत्ता भी राजनैतिक श्रेयों का विज्ञापन नहीं करता है। यूनानी राजनीतिशास्त्र की यही कमजोरी कैटलिन के मत में है कि जननीतिशास्त्र के क्षेत्र और राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र का पार्थक्य उसमें नहीं मिलता है। पूर्ण राज्य के स्वरूप के नैतिक आधार और विशुद्ध और निर्वाच्य जीवनशैली के संबंध में विवेचन उपस्थित कर, यूनानी राजनीतिशास्त्रविचारक राजनीति को एक अनभिवांछित अभिनति प्रदान करते हैं। राजनीतिशास्त्र मानव के समूहात्मक अन्तस्सम्बन्धों का शास्त्र है। यह नीतिशास्त्र का विरोधी नहीं, अपितु नीतिशास्त्रनिरपेक्ष है। मानव को सन्मार्गानुयायी बनाना इसका तात्पर्य नहीं है। जिस प्रकार भेषजविद्या में नीतिनिरपेक्ष होकर मानवशरीर का अध्ययन और विवेचन किया जाता है, उसी प्रकार राजनीतिशास्त्र को नीतिनिरपेक्ष होकर राजनीतिक साधनों का अध्ययन करना चाहिए। आचारशास्त्र श्रेयसम्बन्धी निर्णयों का क्षेत्र है और राजनीतिशास्त्र अनुभवात्मक साधनों का। आचारशास्त्र सिद्धान्तों का शास्त्र है, राजनीतिशास्त्र पद्धतियों और साधनों का शास्त्र है। दोनों शास्त्रों को पृथक् रखने से दोनों का महत्व विज्ञापित होता है और स्पष्टता फैलती है।

इस प्रकार राजनीतिशास्त्र और आचारशास्त्र को पृथक् पृथक् रखने का प्रस्ताव कैटलिन ने रखा। जिस जमाने में कैटलिन ने अप्रयोजनमूलक राजनीतिशास्त्र का प्रस्ताव रखा था उस समय वह टामस हाब्स से प्रभावित था। उस काल में भी उसका विश्वास था कि राजनीतिशास्त्र और राजनीतिविज्ञान के अन्तिम निष्कर्षों में तात्त्विक अन्तर नहीं रह सकता। आज जब कैटलिन ने 'महात्मा गांधी के मार्ग में'

---

१. George Catlin, *The Science and Method of Politics, Principles of Politics.*

नामक पुस्तक लिखी है, तब आशा की जाती है कि वह अपने विचार को शायद परिवर्तित करेगा, क्योंकि गांधी के पथ में तो राजनीति, आचारशास्त्र को क्रियान्वित करने का मार्ग बताती है[१]। मैं मानता हूँ कि राजनीतिशास्त्र को प्रयोजन या अन्तिम प्रस्तावों से पृथक् रखने का उपदेश शून्यवादी प्रस्ताव है। विभिन्न राजनीतिशास्त्रज्ञों के विचारों में तुलनात्मक अध्ययन के सहारे तारतम्य बताने के लिए, तथा उचित आदर्शों की प्राप्ति के लिए, नीतिशास्त्र का अवलम्बन आवश्यक है[२]। यदि आज

१. G. Catlin, *In the Path of Mahatma Gandhi.*

२. तुलनीय—Kant, *Perpetual Peace* (New York, (१६४८) पृष्ठ ३२–४४ : "In an objective sense, morals is a practical science, as the sum of laws, exacting unconditional obedience, in accordance with which we *ought* to act. Now, once we have admitted the authority of this idea of duty, it is evidently inconsistent that we should think of saying that we *cannot* act thus. For, in this case, the idea of duty falls to the ground of itself.........Hence there can be no quarrel between politics as the practical science of right, and morals, which is also a science of right but theoretical......Hence objectively, in theory, there is no quarrel between morals and politics. But subjectively, in the self-seeking tendencies of men which we cannot call their morality as we would a course of action based on maxims of reason, this disagreement in principle exists and may always survive, ...Politics in the real sense cannot take a step forward without first paying homage to the principles of morals. And, although politics, *per se* is a difficult art, in its union with morals no art is required; for in the case of a coniflct arising between the two sciences, the moralist can cut asunder the knot which politics is unable to untie. Right must be held

मैकियावेली के उग्र शक्तिवाद या नीत्शे के उग्र मानव असमानतावाद का त्याग कर मानव-एकता और शांति का हम प्रस्ताव रखते हैं तो निश्चित ही हम श्रेय का प्रतिपादन करते हैं। अन्य वर्ग, मुख्यतया शासकवर्ग, श्रेयों का निर्वाचन करे और राजनीतिशास्त्र या तो केवल उनके क्रियान्वित करने का साधन बतावे या मानव के राजनीतिक व्यापारों का नीति-निरपेक्ष अनुशीलन करे, ऐसा विचार राजनीतिशास्त्र को इसके महान् पद से स्खलित करानेवाला है। राजनीतिशास्त्र का जो विशाल रूप प्लेटो, अरस्तू, सिसेरो, अक्वायनास, ग्रीन, भीष्म, मनु आदि ने बताया है, उससे अत्यन्त निम्न स्तर इसका हो जायगा, जब श्रेय-प्रतिपादन के उत्कृष्ट कर्म से संन्यास लेकर केवल साधन, पद्धति या व्यापार की ही यह मीमांसा करेगा। राजनीति नीति और प्रस्ताव के आलोचन के सम्बन्ध में सर्वदा ही शिव और अशिव, कल्याण-साधक या स्वार्थसाधक, इनका विचार करना होता है। इस प्रकार का निर्णय जब हम देते हैं तब श्रेय के क्षेत्र में हम पदार्पण करते हैं। कलिंगविजय के बाद अशोक का नीति परिवर्तन भारत के लिए हितकर हुआ या अहितकर, इसके सम्बन्ध में विचार प्रकाशित नहीं करना, एक महान् उत्तरदायित्व से मुख मोड़ना होगा। अवश्य ही, अध्ययन के सिलसिले में समस्त प्राप्तव्य सामग्री का उपयोग करना तथा भावनानिरपेक्ष होकर उनका विचार करना इष्ट है; किन्तु इस अध्ययन की परिणति निष्कर्ष के उपस्थित करने में ही होती है। निष्कर्ष उपस्थित करना कभी-कभी जोखिम को उत्पन्न कर सकता है। किन्तु जिसने सत्य की साधना को ही विराट् आदर्श में गृहीत किया है, वह कदापि इससे विमुख न होगा। उपनिषद् में और बौद्ध ग्रन्थों में बताया है कि सत्य की साधना तेजस्विता को प्रदान करती है। ज्ञान का तेज एक प्रकार की दाहिका शक्ति से सम्पन्न होता है। जो उत्साह, जो शक्ति और जो स्फूर्ति हमें रूसो का 'सामाजिक अनुबन्ध' या मार्क्स का 'कैपिटल' पढ़ने से प्राप्त होती है, वह कदापि आज के अमरीकी और यूरोपीय तथाकथित सामाजिक शास्त्रियों के ग्रन्थों में नहीं मिलती है। दुनिया को हिलानेवाली पुस्तकों में एक तेजस्वी सन्देश रहता है। धम्मपद, गीता,

---

sacred by man, however great the cost and sacrifice to the ruling power. Here is no half-and-half course. We cannot devise a happy medium between right and expediency– a right pragmatically conditioned. But all politics must bend the knee to the principle of right, and may, in that way, hope to reach, although slowly perhaps, a level whence it may shine upon men for all times."

गांधी के 'मंगलप्रभात' और मार्क्स-एंगल्स के 'कम्यूनिस्ट घोषणापत्र' में एक महान् मंत्र का दर्शन होता है। क्या भावना-निरपेक्ष, श्रेयनिरपेक्ष साधनशास्त्र का प्रणयन मार्क्स करता तो उसे कोई विशेष सफलता मिलती? आर्त्त, पीड़ित जनता के त्राण का साधन खोजने का श्रेय ही आज के सामाजिक शास्त्रों को जीवनतत्त्व प्रदान कर सकता है। जब हम विराट श्रेयों से मुख मोड़ लेते हैं, तब राजनीतिशास्त्र चैतन्यहीन, पंगु और सड़ा-गला मालूम पड़ता है। अमेरिका के 'फेडरलिस्ट' ग्रंथ के प्रणयन में जो उत्साह हेमिल्टन और मैडिसन ने दिखाया है, उसका रहस्य उनका एक शक्तिशाली सांघिक राज्यस्थापन के श्रेय में निष्ठा ही है। अतः राजनीतिशास्त्र को सर्वदा श्रेयप्रतिपादक और श्रेयनिष्ठ रहना होगा। श्रेय के तत्त्व को भुलाना, नारों और प्रचारों के हाथ अपने को सौंपना होगा। राजनीतिक बल और शक्ति का मानवकल्याण के श्रेयसाधन में प्रयोग हो, इसके सम्बन्ध में शास्त्रज्ञान और साधन बताना ही राजनीतिशास्त्र का लक्ष्य होना चाहिए।

प्राचीन भारतीय शास्त्रों में समग्रज्ञान और सम्यक् विज्ञान का आदर्श उपस्थित किया गया था। उस समय मनोविज्ञान, आचारशास्त्र और संवित्शास्त्र का पृथक्करण नहीं हुआ था। प्रत्येक आवश्यक प्रश्न पर अनेक प्रकार के दृष्टिविन्दु का आश्रय लेकर मीमांसा करना उस समय संगत माना जाता था। राजनीतिशास्त्र और आचारशास्त्र के सम्बन्ध में भीष्म, बृहस्पति, मनु आदि का विचार था कि उनके द्वारा स्वधर्म-स्थापन होना चाहिए। अर्थात् प्रत्येक कर्म का एक विराट् आदर्श से सम्बन्धज्ञापन करना उस समय इष्ट था। कौटिल्य के अनुसार राजा का स्वधर्म भी स्वर्ग और आनन्त्य के लिए है। इस प्रकार की विशालता का आश्रयण, इस प्रकार की सीमित दृष्टि, कि केवल साधन और प्रक्रिया का अनुशीलन करना चाहिए, का खंडन करता है। घोर युद्धकाल उपस्थित होने पर भी हिंसात्मक स्वकर्म का समर्थन करने के लिए वेदान्त के अद्वैतवाद और सांख्य के प्रकृतिपुरुषपृथक्तावाद का आश्रय लेना यह बताता है कि गीतोक्त दृष्टि राजनीतिशास्त्र को दर्शनसम्मत बनाना चाहती है। शांतिपर्व में राजनीतिशास्त्र को श्रेयानुमोदित बनाने का प्रयास पाया जाता है। प्राचीन भारतीय दर्शनों में प्रज्ञा, अन्तर्ज्ञान और ऋत्-चित् का आश्रय लिया जाता था और अंशतः सामाजिक विवेचन पर भी उनका प्रभाव मालूम पड़ता है। प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र में श्रेय का वर्णन मिलता है। अर्थात् विशुद्ध साधनात्मकता अर्थशास्त्र और दण्डनीति उन्हें ग्राह्य नहीं है। किन्तु भारतीय अर्थशास्त्र को श्रेयप्रतिपादक मानने का यह कदापि तात्पर्य नहीं है कि उनके निष्कर्ष हमें अभीष्ट हैं। सिर्फ इस एक बात में अर्थात् श्रेयसमन्वित पद्धति के विषय में यहाँ सादृश्य बताना

हमें अभीष्ट है। प्रस्तुत पुस्तक में हमने मार्क्सवादी समाजशास्त्र को भी श्रेयप्रतिपादक कहा है; किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि मार्क्सवाद द्वारा प्रतिपादित श्रेय हमें इष्ट हैं। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र के क्या श्रेय हैं, इसका वर्णन प्रस्तुत पुस्तक में आगे हुआ है। जहाँ तक राजनीतिशास्त्र के स्वरूप का सम्बन्ध है, वहाँ तक प्राचीन भारतीय दण्ड-विज्ञान तथा मार्क्सवाद नितान्त भिन्न श्रेय रखते हुए भी पद्धतितः इतनी दूर तक सदृश हैं कि दोनों मानते हैं कि सामाजिक शास्त्रों में श्रेयतत्त्व, (चाहे वह जो कुछ भी क्यों न हो) का वर्णन अवश्य होना चाहिए। घोर चातुरन्त राज्य का पोषक कौटिल्य और ब्राह्मण धर्म के हामी मनु दोनों राजकीय श्रेयों का विन्यास करते हैं। वस्तु-सम्बन्धी निर्णय और अभिरुचि तथा श्रेय-सम्बन्धी निर्णय में जो अन्तर नव-काण्टीय दर्शन में पाया जाता है, वैसा पृथक्करण भारतीय शास्त्रों में नहीं हुआ है। जब विज्ञान, तांत्रिकता तथा यांत्रिकता की अभूतपूर्व उन्नति पश्चिमी सभ्यता में हुई, तब वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग सामाजिक शास्त्रों में भी होने लगा। जो धर्मशास्त्र से निराशा और अनभिरुचि आज के वैज्ञानिक युग में संभव है, वही प्राचीन भारतीय सभ्यता में नहीं पाई जाती है और इसलिए राजनीतिशास्त्र को प्रयोजन-निरपेक्ष बनाने का कोई प्रस्ताव उस समय उत्पन्न नहीं हो सकता था।

यह ठीक है कि प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र और दण्ड-विज्ञान ब्राह्मणवाद से अतिशय आक्रान्त है। कौटिल्य, मनु, कामन्दक, शुक्र आदि में ब्राह्मणवाद समर्थित है। आज-कल की प्रजातंत्रीय व्यवस्था और मानव समानतावाद के युग में इस प्रकार का वर्णवाद और जातिवाद नितान्त असंगत है, तथापि स्वधर्म पर बल देकर भारतीय अर्थशास्त्र ने उस कर्मयोग की पुष्टि की है जो दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की भी स्थापना है[1]।

---

१. अर्थशास्त्र में 'स्वधर्म' की यह सूची है—

(क) ब्राह्मण :—अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह।

(ख) क्षत्रिय :—अध्ययन, यजन, दान, शस्त्रजीवी, और भूतरक्षण।

(ग) वैश्य :—अध्ययन, यजन, दान, कृषि, पशुपालन और वाणिज्य।

(घ) शूद्र :—द्विजातिशुश्रूषा, वार्ता, कारु और कुशीलव का कर्म।

(ङ) गृहस्थ :—अपने कर्म से जीविकार्जन, विवाह, देवता-पितृ-अतिथि-भृत्य के प्रति त्याग।

(च) ब्रह्मचारी :—स्वाध्याय, अग्निहोत्र, भैक्षव्रत, आचार्य की सेवा।

(छ) वानप्रस्थ :—ब्रह्मचर्य, तपस्या, अग्निहोत्र, देवता-पितृ-अतिथि-पूजा, वन्य-आहार।

(ज) परिव्राजक :—संयतेन्द्रियत्व, अनारम्भ, निष्किंचनत्व, संगत्याग, भिक्षावृत्ति, शौच, अहिंसा, सत्य, अनसूया, और क्षमा।

प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र में अनुभव, इतिहास, पुराण, अनुश्रुति तथा दर्शनशास्त्र का उपयोग किया गया है[१]। किन्तु वैज्ञानिक विधेयात्मकता तथा परीक्षण उस समय उपलब्ध नहीं थे। अपने अनुशीलन में भारतीय अर्थशास्त्र ने शील, विनय, इन्द्रियजय और स्वधर्म के श्रेय का समर्थन किया है। निरा कोरा विश्लेषण उनका अभीष्ट नहीं है अपितु लोकव्यवस्था का सुरक्षण उनका इष्ट है। अर्थशास्त्र निश्चित रूप से श्रेय-प्रतिपादन करे, यही उस समय का आदर्श था। कौटिल्य ने कहा है कि जिससे लोक-यात्रा सम्पन्न हो सके, यही करना चाहिए। लोकपोषण और संवर्धन उस समय का आदर्श माना जाता था[२]। किन्तु श्रेय के प्रतिपादन करने का यह तात्पर्य नहीं था

दार्शनिक राजनीतिशास्त्र को स्वधर्मपालन का सिद्धान्त अभीष्ट है। किन्तु विराट् श्रेयों की प्राप्ति में अपने स्वाभावनियत कर्म का पालन ही स्वधर्म है। वंशपरम्परा से जाति निर्णय और ऊँच-नीच का किसी प्रकार का भेद हमें अभीष्ट नहीं है। स्वधर्म के नाम पर परम्परापोषण और ब्राह्मणवाद का जो घोर पक्षसमर्थन पुराणों में हुआ है, वह वर्तमान जगत् में सर्वथा अनभिवांछित है। मानवश्रेयों की क्रियात्मक संसिद्धि सततश्रद्धानुसेवित कर्मयोग से ही हो सकती है। दक्षता और नैपुण्य इसी प्रकार प्राप्तव्य हैं। भावना-संशुद्धि और आत्मनिग्रह पर जो बल मनु और कौटिल्य ने दिया है वह निस्सन्देह विराट् भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति का एक निर्मल सन्देश है।

१. आन्वीक्षकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः। ....चतस्र एव विद्या इति कौटिल्यः। ताभिर्धर्मार्थौ यद्विद्यात्तद्विद्यानां विद्यात्वम्। कौ० अ० १।२ सामर्ग्यजुर्वेदास्त्रयस्त्रयी। अर्थर्ववेदेतिहासवेदौ च वेदाः। शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो विचितिर्ज्योतिषमिति चांगानि। ऐष त्रयी धर्मश्चतुर्णां वर्णानामाश्रमाणां च स्वधर्मस्थापनादौपकारिकः। .....स्वधर्मः स्वार्गायानन्त्याय च।

तस्मात्स्वधर्मं भूतानां राजा न व्यभिचारयेत्।
स्वधर्मं संदधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति।
व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ॥ (कौटिल्य अर्थशास्त्र' १।२३)

२. "आन्वीक्षकीत्रयीवार्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डः। तस्य नीतिर्दण्डनीतिः। अलब्धलाभार्था लब्धपरिरक्षणी रक्षितविवर्धनी वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादनी च। (कौटिल्य अर्थशास्त्र, १।४, ।)

कि अनुशीलन अतर्कसंगत हो जाय। जो गाम्भीर्यपूर्ण और ठोस विचिंतन करने का संदेश भारतीय न्यायशास्त्र ने दिया है, वह सर्वथा उपादेय है। श्रेयवाद और गम्भीर तार्किक उपपत्ति का समन्वय भारतीय अर्थशास्त्रों की विशेषता है।

भारतीय विचिंतन में सत्य का सर्वथा प्रकृष्ट महत्व स्वीकृत किया गया है। सत्य की अनवरत साधना करना यह एक महत्तम श्रेय है और अनेकों श्रेय इससे उत्पन्न होते हैं। यदि ब्रूनो, गेलिलियो, दयानन्द, गांधी, आदि सत्य की विराट् कल्पना से ओत-प्रोत न होते तो कदापि वे अपने जीवन को जोखिम में डालकर अपनी अन्तरात्मा की आवाज को अभिव्यक्त नहीं करते। सत्य की साधना को आदर्श मानकर सामाजिक शास्त्रों का अनुशीलन संस्कृति के उन्नयन का प्रशस्त पथ है। भारतीय संस्कृति सदा मानती है कि सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है[1]। सत्य ही परम कल्याण का मार्ग है। सत्य की साधना से ही विज्ञान की उन्नति सम्भव हुई है। विज्ञान द्वारा सत्य की साधना एक श्रेयप्रतिपादक नैतिक व्यापार है। सत्य की साधना के निमित्त आर्जव, दाक्ष्य और ज्ञान पूर्णतः अपेक्षित हैं। इस प्रकार देखने से मालूम पड़ता है कि सामाजिक और तात्त्विक प्रश्नों का समाधान, विज्ञान के आश्रमण के सहारे, मानव को सामाजिक कल्याण और बौद्धिक स्वातंत्र्य का दर्शन कराता हैं। बौद्धिक स्वातंत्र्य की सम्यक् प्राप्ति राजनीतिशास्त्र, भौतिक विज्ञान और आचारशास्त्र तीनों का समन्वित लक्ष्य है। अतः राजनीतिशास्त्र, नीतिशास्त्र और श्रेयशास्त्र से कदापि अपना सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं कर सकता। विनयनिष्ठ राजनीति[2]

चतुर्वर्णाश्रमो लोको राज्ञा दण्डेन पालितः।
स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु वेश्मसु। कौ० अ० १।४

स्वधर्म की महत्ता के प्रतिपादन में कौटिल्य कहता है—

तस्मात्स्वधर्मं भूतानां राजा न व्यभिचारयेत्।
स्वधर्मं संदधानो हि प्रेत्य चेह च नन्दति ॥ (१।३)

राज्ञः स्वधर्मः स्वार्गाय प्रजा धर्मेण रक्षितुः।
अरक्षितुर्वा क्षेप्तुर्वा मिथ्यादण्डमतोऽन्यथा ॥ (३।१)

१. अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् इदमहमनृतात् सत्यमेपैमि।
(यजुर्वेद १।५)

२. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, १।५ :—"विनयमूलो दण्डः प्राणभृता योगक्षेमावहः। कृतकः स्वाभाविकश्च विनयः। क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यम्। शुश्रूषाश्रवणग्रहण-

की जो महती परम्परा भारतीय इतिहास और संस्कृति में प्रचलित रही है, उस विराट् आदर्श को ध्यान में रखते हुए पश्चिमी सामाजिक शास्त्रों ने जो सामग्री हमारे सामने उपस्थित की है, उसका विश्लेषण और अनुशीलन होना चाहिए। राजनीतिक दर्शन की एक नूतन परम्परा इस प्रकार कायम हो सकती है और उसीसे नवोत्थित एशिया के राष्ट्रों का कल्याण होगा।

(ग) राजनीतिशास्त्र और नीतिशास्त्र

आचारशास्त्र या नीतिशास्त्र--ये शब्द श्रेयशास्त्र की अपेक्षा कम व्यंजक हैं। श्रेयशास्त्र के अन्तर्गत समस्त श्रेयों का ग्रहण होता है। आर्थिक श्रेय, सामाजिक और राजनीतिक श्रेय, कलात्मक श्रेय, तर्किक और सैद्धान्तिक श्रेय, नैतिक श्रेय तथा धार्मिक श्रेय--सभी इसके अन्तर्गत हैं। ऊपर विराट् श्रेय या परम श्रेय तथा साधारण श्रेय या पृथक् श्रेय में अन्तर बताया गया है। जो श्रेय मानव-जीवन से पूर्णतः सम्बद्ध तथा सर्वसामान्यहितप्रसाधक हैं, उन्हें विराट् श्रेय; और जो कुछ समय या कुछ लोगों के निमित्त अपेक्षित हों, उन्हें साधारण श्रेय कहा गया है। नैतिक श्रेय विराट् श्रेय के अन्तर्गत हैं।

बहुत से समाजशास्त्रियों की ऐसी मान्यता है कि नैतिक आदर्श सार्वजनीन और सार्वकालिक नहीं है। वेस्टरमार्क के अनुसार नैतिक निर्णयकारी वाक्यों का आधार वैयक्तिक तथा भावनामूलक है[1]। मानव-हृदय में वर्तमान भावनाओं का साधारणीकरण नैतिक मूल शब्दों के द्वारा व्यक्त किया जाता है। देश, काल, मानव-स्वभाव और श्रेणी-परम्परा से अनवच्छिन्न नैतिक आदर्शों की स्वीकृति समाजशास्त्रियों

धारणविज्ञानोहापोहतत्त्वाभिनिविष्टबुद्धिं। विद्याविनयति नेतरम्। विद्यानां तु यथा-स्वमाचार्यप्रामाण्याद्विनयो नियमश्च।...अस्य नित्यश्च विद्यावृद्धसंयोगो विनयवृद्ध्यर्थं तन्मूलत्वाद्विनयस्य।"

दार्शनिक राजनीतिशास्त्र विनय का भी व्यापक अर्थ करता है। किसी भी कर्म काण्ड का अनुवर्तन यहाँ समर्थित नहीं है। विनय का अर्थ है--कर्मयोग का श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान। बौद्ध-दर्शन में भी, विशेषतया विनयपिटक में, विनय का सीमित अर्थ किया है। विराट् श्रेयों की साधना में कर्मयोगमूलक स्वभावनियत स्वधर्म का पालन आत्मनिग्रह के विना संभव नहीं है। इसी आत्मनिग्रहात्मिका तपस्या का नाम विनय है।

१. Westermarck, *The Origin and Development of the Moral Ideas*, *Christianity and Morals*.

के लिए कठिन प्रतीत होती है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की यह मान्यता है कि विराट् श्रेयों की उत्पत्ति व्यवसायात्मिका बुद्धि में होती है। सामाजिक परम्पराओं और ऐतिहासिक प्रथाओं में उनका परिवहन होता है। व्यवसायात्मिका बुद्धि के द्वारा नैतिक श्रेयों के प्रणयन का सबसे बड़ा प्रमाण बौद्धधर्म के द्वारा प्राप्त होता है। यदि तत्कालीन ब्राह्मण धर्म के इतिहास पर ध्यान दिया जाय तो मालूम पड़ता है कि कर्मकाण्ड देवोपासन, यज्ञयाग आदि ही उस समय नैतिक और धार्मिक कर्म की इतिश्री थी। मुण्डकोपनिषद् में इसका वर्णन किया गया है। गीता में भी कामात्मा, स्वर्गपर, वेदवादरत पुरुषों का वर्णन किया गया है। किन्तु व्यवसायात्मिका बुद्धि के प्रयोग द्वारा ब्राह्मण कर्मकाण्ड से उदात्ततर नैतिक आदर्श का प्रणयन बुद्ध ने किया था। ईसा और संतपाल ने भी इसी व्यवसायात्मिका बुद्धि का आश्रय लेकर तत्कालीन यहूदी नैतिक व्यवहारों से उच्च स्तर का नीतिमार्ग प्रदर्शित किया। व्यवसायात्मिका बुद्धि, वैयक्तिक अभिरुचि और संकल्प से भिन्न है। व्यवसायात्मिका बुद्धि सम्यक्दर्शिनी और समग्रविज्ञापिनी है। मानव अन्तरात्मा के संकल्पन मनन और निदिध्यासन की समस्त वृत्तियों का पूर्णतः एकीकरण ही व्यवसायात्मिका बुद्धि का जनिता है। इस प्रकार का एकीकरण समग्र का दर्शन कराता है। योगदर्शन में इसे 'तत्प्रत्यैकताननाध्यानम्' कहा है। निरन्तर सम्यक्दर्शन और सतत वृत्तिकेन्द्रीकरण से वस्तुओं के आंशिक प्रविभक्तरूप से विशालतर उनके तात्विक रूप का अवबोध होता है। यही व्यवसायात्मिका बुद्धि विराट् नैतिक चैतन्य से समन्वित हो श्रेयों का प्रजनन करती है। सामाजिक परम्पराओं और ऐतिहासिक प्रथाओं से ऊँचे स्तर पर यह व्यवसायात्मिका बुद्धि कार्य करती है। व्यवसायात्मिका बुद्धि के निर्दशित मार्ग का प्रायः पूर्ण पालन समाज के सर्वसामान्य जन द्वारा सम्भव नहीं है। किन्तु सामाजिक उन्नयन के निमित्त यह अतीव आवश्यक है कि व्यवसायात्मिका बुद्धिसम्पन्न प्रकृष्ट मानव युग-युग में धाराधाम पर अवतीर्ण हो मानव चेतना को विशालतर पथ का दर्शन करावें। अनेक देशों में इस प्रकार के दैवी सम्पद्विभूषित, त्रिगुणातीत, स्थितप्रज्ञ व्यवसायात्मिका बुद्धिसम्पन्न मानव उत्पन्न होते हैं। व्यवसायात्मिका बुद्धि का उल्लेख अनेक प्रकार से किया जाता है। रूसो, दयानंद आदि ने इसे 'अन्तरात्मा' कहा है। सुकरात इसे 'डेयमन' कहता था। गांधी इसे 'आन्तरिक आवाज' कहते थे। काण्ट इसे अवश्यंकर्तव्य नैतिक नियम का प्रदाता विशुद्ध संकल्प मानता था। व्यवसायात्मिका बुद्धि के द्वारा प्रवर्तित नियमों का अनेक-वर्गों ने तथा अनेक स्वार्थी मनुष्यों ने अपने निजी स्वार्थ की अभिपूर्ति में प्रयोग किया है। किन्तु इस प्रकार का उनका प्रयोग उनकी तात्विक सत्ता का खंडन नहीं करता है।

नैतिक तत्त्वों का राजनीति में अनुप्रवेश बड़ा ही कल्याणकारी है। सामाजिक और राजनीतिक सम्बन्धों का नैतिकीकरण मानव संस्कृति की रक्षा का एक मूलसूत्र है, अन्यथा पाशविकता, शक्तिवाद और एषणावाद का अतिरंजित रूप हमारे सामने आ जायगा। प्रजातंत्र, समाजवाद, शांतिवाद और विश्वमानवएकतावाद आदि सिद्धान्तों के अभ्युदय में नैतिक श्रेयों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह ठीक है किसी नैतिक आदर्श के क्रियान्वयन के लिए वातावरण और अन्य भौतिक आधारों की आवश्यकता है, किन्तु आदर्शों के सम्यक् ग्रहण का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र मानव को नैतिक तथा आध्यात्मिक वृत्ति से युक्त मानता है। अतः भोगवाद या शक्तिवाद को ही वह मानवजीवन का आदर्श नहीं मानता। भोगवाद और शक्तिवाद ही मानव की पाशविकता के प्रतीक हैं, न कि उसकी नैतिकता के संदेशवाहक। नैतिक और आध्यात्मिक चैतन्य से सम्पन्न मानव की कल्पना, मनुष्य को एक उत्तरदायित्वपूर्ण व्यक्ति मानती है। मनुष्य का उत्तरदायित्व समष्टि के प्रति भी है तथा अपने आत्मिक कल्याण के प्रति भी है। समाजशास्त्रीय दृष्टि से अन्तश्चेतनाभिमुखी नीतिशास्त्र और उत्तरदायित्वाभिमुखी नीतिशास्त्र में अन्तर या पृथक्करण करना भ्रामक है।[1] जबतक

---

१. इस प्रकार के अन्तर के लिए, Karl Mannheim, *Ideology and Utopia* पृष्ठ १७०–१७१: "The world of social relations in no longer inscrutable or in the lap of fate but, on the contrary, some social relations are potentially predictable. At this point the ethical principle of responsiblity begins to dawn. Its chief imperatives are, first, that action should not only be in accord with the dictates of conscience, but should take into consideration the possible consequences of the action in so far as they are calculable, and, second.... that conscience itself should be subjected to critical self-examination in order to eliminate all the blindly and compulsively operating factors."—दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की यह स्थापना है कि उत्तरदायित्व की भावना का आरम्भ ही आचारशास्त्र की आधारशिला है। परिवार, जनपद, समाज, राज्य और आत्मा के प्रति अपने कर्तव्य का ज्ञान ही मानव को नीतिमान् बनाता है। मानहायम के अनुसार आचारशास्त्र की तीन अवस्थाएँ हैं--(क) भाग्य

उत्तरदायित्व की भावना का विकास नहीं होता तबतक नैतिकता का प्रारम्भ नहीं होता है। किसी बालक या पशु में उत्तरदायित्व न होने से उसकी नैतिकता का प्रश्न नहीं उठता है। जब कोई दास, भृत्य या वेतनभोगी अफसर, अपने मालिक की आज्ञा का अनुवर्तन करता है तब कानूनी दृष्टि से भी हम मालिक को ही उत्तरदायी ठहराते हैं न कि दास, भृत्य या वेतनभोगी अफसर को। अतः उत्तरदायित्व की भावना का विकास नैतिकता का प्रारम्भ है। जो उत्तरदायी नहीं, उसकी नैतिकता का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता है। मनुष्य अपने आत्मा के प्रति उत्तरदायी है और आत्मोद्धार उसका परम कर्त्तव्य है। दूसरी ओर अपनी स्थिति और रक्षा के लिए वह समाज का ऋणी होकर समाज के प्रति भी उत्तरदायी है।

मनुष्य के नैतिक चैतन्य के लिए ज्ञान आवश्यक है। सुकरात और बुद्ध दोनों ने नैतिकता को ज्ञान पर आधारित करने का प्रयास किया। वास्तविक ज्ञान होने पर मनुष्य अनैतिक आचरण नहीं कर सकता है। जब हमें ज्ञान हो जाय कि अग्नि से हाथ जलता है तब हम कदापि उसमें अपना हाथ नहीं डालते हैं। अचेतनावस्था में ही हम अग्नि में हाथ डालते हैं। अतः अग्नि का ज्ञान, अग्नि के प्रति हमारा क्या कर्त्तव्य है, यह हमें बताता है। जब हमें ज्ञान हो जाय कि इस कमरे में भयानक विषधर सर्प है, तब हम उसमें कदापि निवास नहीं करेंगे। अतः सत्यज्ञानवान् मनुष्य कभी असत्कर्म में प्रवृत्त नहीं होता है; यदि होता है तो उसमें ज्ञान का अभाव है। इसीलिए ज्ञान की प्रचण्ड शक्ति को देखते हुए, ज्ञानाग्नि शब्द का प्रयोग गीता में किया गया है। विभ्रम, विकल्प, मिथ्याज्ञान के वशीभूत हो आत्महनन या समष्टिघात करनेवाले मनुष्य को कुछ शाब्दिक वागृजाल से भले सम्बन्ध हो, रूपान्तरित करनेवाले ज्ञान से उसका सम्बन्ध नहीं है। अतः आर्य आष्टांगिक मार्ग का अनुशीलन करने के निमित्त दुःख, दुःख समुदय और दुखःनिरोध-सम्बन्धी आर्य सत्यों का साक्षात्कार बुद्ध ने अपेक्षित बताया है। प्लेटो के मतानुसार जब साहसिक, राजसिक तथा भोगात्मिका वृत्तिओं का सात्विक तर्क से समीकरण होता है तभी सम्यक् न्याय की अवस्था उत्पन्न होती है।

रूसो का ऐसा विचार था कि कला और विज्ञान की उन्नति से नैतिकता का पतन होता है[१]। उसका कहा है कि जिस-जिस देश में कला और विज्ञान की उन्नति

वाद का नीतिशास्त्र, (ख) अन्तश्चेतनाभिमुखी नीतिशास्त्र और (ग) उत्तरदायिवाभिमुखी नीतिशास्त्र। अगले पृष्ठों में आचारशास्त्र, श्रेयशास्त्र और धर्मशास्त्र के ऐतिहासिक विकास के सम्बन्ध में दार्शनिक राजनीतिशास्त्र के मंतव्यों का स्पष्टीकरण किया गया है।

१. Rousseau, *A Discourse on the Arts and Sciences* (Everyman

हुई, वहाँ-वहाँ मनुष्य विलासी, विषयभोगी और कमजोर होते गये। किन्तु सभ्यता और विज्ञान के विपरीत रूसो का जिहाद अनावश्यक है। कुछ दूर तक स्वयं उसने अपना विचार बदल डाला। उसके कथन में अनेक असंगतियाँ भी हैं। सुकरात को 'मूर्खता का प्रशंसक' मानना सरासर गलत है[१]। जहाँ तक विज्ञान और कला से विलासिता फैलती है और मनुष्य कर्मयोग का प्रशस्त पथ छोड़कर मौज और आराम चाहते हैं, वहाँ तक वे अवश्य ही नाशकारी हैं। किन्तु दूसरी ओर यह न भूलना चाहिए कि एशिया की अध्यात्ममदमस्त सभ्यताओं को विज्ञान की शक्ति से समन्वित यूरोपीय साम्राज्यवाद के सामने सर झुकाना पड़ा। दोष विज्ञान का नहीं है, मनुष्य के अपूर्ण नैतिक उन्नयन का है। विज्ञान एक साधन है। साधन की गुलामी साध्य की कमजोरी का सूचक है। मानव साधन की ही आराधना में अपना आत्मिक साध्य-स्वरूप यदि भूल जाता है तब इसका मतलब है कि उसका आत्मिक विकास हुआ ही नहीं है।

आज नैतिक आदर्शों की जागतिक राजनीति में बड़ी आवश्यकता है। केवल सांसारिक सफलता मनुष्य का पुरुषार्थ नहीं है। जर्मन अर्थशास्त्री सोम्बार्ट कर्म की व्याख्या करने में वातावरणात्मिका अवस्थिति की अपेक्षा श्रेयतत्त्वों को अधिक महत्त्व-पूर्ण मानता था। उसके अनुसार पूँजीवाद के विकास में अर्थाधिपतियों का श्रेय बड़ा प्रभावशाली था। किन्तु उद्योग, कला और विज्ञान की उन्नति में आज जिन श्रेयों की अभिव्यक्ति हो रही है, वे मुख्यतया वैयक्तिक लाभ और परिग्रह से संबंध रखते हैं। आज वस्तुओं की बाह्य-पूजा का साम्राज्य छाया हुआ है। विज्ञान, यंत्रवाद, पूँजीवाद,

---

edition) p. 123 "Our minds have been corrupted in proportion as the arts and sciences have improved. Will it be said that this is a misfortune peculiar to the present age? No, gentlemen, the evils resulting from our vain courisity are as old as the world. The daily ebb and flow of the tides are not more regularly influenced by the moon than the morals of a people by the progress of the arts and the sciences. As their light has risen above our horizon, virtue has taken flight, and th same phenomenon has been constantly observed in all times and places."

१. Rousseau, *A Discourse on the Arts and Sciences*, पृष्ठ १२७

और तानाशाही अधिकारवाद वस्तुओं की पूजा सिखाते हैं। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र का ऐसा प्रस्ताव है कि पुनरपि व्यक्तिनिष्ठता के उद्घोषण की आवश्यकता है। मनुष्य की स्वतंत्रता, मानसिक शक्ति, बौद्धिक विकास तथा उसके सम्मान और चरित्र की गरिमा पर ध्यान देना आवश्यक है। केवल संस्थाओं की निर्माणक्रिया में परिवर्तन करने से काम नहीं चलेगा। लीग ऑफ नेशन्स, संयुक्त राष्ट्र-संघ आदि संस्थाएँ जहाँ तक थीं और हैं, वहाँ तक ठीक हैं; किन्तु सच्चा कल्याण तब सिद्ध होगा जब व्यक्तिनिष्ठ स्वतंत्रता का व्यावहारिक रूप सामने आयगा। राजनीतिक समस्याओं का समाधान केवल राजनीतिक स्तर पर नहीं हो सकता। उसके लिए संस्थाओं से परे जाकर मानव का रूपान्तर करना होगा। संस्थापरिवर्तन आवश्यक है, परम आवश्यक है; किन्तु सम्पूर्ण कार्य इतना ही नहीं है। सम्पूर्ण कार्य की सिद्धि के लिए संस्थाओं को और व्यक्तियों को नैतिक आदर्शों से आप्लावित करना होगा। जर्मन दार्शनिक हेगेल, राज्य को स्वतंत्रता का मूर्तिमान् रूप मानते हुए भी कुछ दूर तक शक्तिवाद का समर्थक था। राज्य को नैतिकतत्त्व का घनीभाव मानते हुए भी हेगेल का यह कहना था कि वैयक्तिक नैतिक आदर्शों से महामानव नियंत्रित नहीं है। इस प्रकार की स्थापना दार्शनिकता नहीं, शक्तिवाद की चाटुकारिता है। ठीक है कि सिकन्दर, सीजर, नेपोलियन आदि ने नैतिक नियमों की परवाह न की। शक्ति के प्रचारक और वाहक वे अवश्य थे; किन्तु उनका भयंकर पतन बताता है कि नैतिकता का हनन इतिहास के रंगमंच पर सफलता पाने के लिए भी अनपेक्षित है। नैतिक नियमों का यदि कुछ शक्तिसम्पन्न मानवों ने उल्लंघन किया है तो इससे नीतिनियम का ही महत्त्व कम नहीं हो जाता है। यदि नियम की अवमानना कर भी कोई मानव सांसारिक सफलता प्राप्त कर सका है, तो इसका तात्पर्य है कि अन्य प्रकार की शक्तियाँ उसके पास थीं जिनसे नैतिक नियम के अपमर्दन का उचित दण्ड उसे प्राप्त नहीं हो सका। मदान्ध हिटलर और मुसोलिनी ने भी नेपोलियन और सीजर का अनुकरण किया और कितना भयावह उनका पतन हुआ? स्टालिन भी शक्तिवाद का पुजारी था। कहा जाता है कि शक्ति को अपने हाथ में बनाये रखने के लिए हिटलर आदि की अपेक्षा भी क्रूरतर और नृशंसतर कर्म उसने किये। तब क्यों नहीं कहा जाय कि राजनीति में नैतिकता की आवश्यकता नहीं है? यहाँ पर यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि स्टालिन, अनेक प्रकार की क्रूरताओं और अमानवोचित हत्याओं का विधाना होते हुए भी बहुत दूर तक साम्यवाद की नैतिक शिक्षाओं का समर्थक था। देशभक्ति उसकी जबरदस्त थी। धैर्य, साहस, अभय आदि नैतिक गुण उसमें भरपूर थे। लड़कपन से ही किसी आदर्श के साथ अपना तादात्म्य कर उसके

लिए प्राणों की भी बाजी लगाना उसका स्वभाव हो गया था। लेनिन के मरने के बाद स्टालिन ही ऐसा व्यक्ति था जो रूसी साम्यवाद को विछिन्न होने से बचा सकता था। अतः स्टालिन के जीवन मे यह सिद्ध करना कि इतिहास अनियंत्रित बलवाद का क्रीड़ाक्षेत्र है और नीतिशास्त्र कल्पनाशील दार्शनिकों का वाग्जाल है, सर्वथा निराधार है। मानव का वैयक्तिक और सामूहिक जीवन सम्यक् रूप मे चल सके, इसलिए नीतितत्त्व की स्थापना हुई है। निश्चित ही मैकियावेली, नित्शे ने ईसाइयत की निन्दा की है; क्योंकि यह क्षमा, शान्ति और दया आदि इतिहास के लिए अनुपयुक्त कायरता-समर्थक गुणों का प्रचार करता है। स्पेंगलर भी शक्तिवाद का उत्कृष्ट पोषक था और अपनी प्रतिभा का अतिरंजित बलवाद के समर्थन में उसने दुरुपयोग किया। जर्मन लेखकों का, अतिरंजित शक्तिवाद का समर्थन, जर्मनी के पतन का पूर्व रूप था। आश्चर्य है कि काण्ट और गेटे की जर्मनी में असभ्यतापूर्ण, पाशविकतापूर्ण बलवाद के आधार पर इतिहास की व्याख्या करने का कुप्रयत्न किया गया। शक्ति का रहस्य बौद्धिक विकास, संयम, विनय आदि में है, यह बात जर्मन समाजशास्त्री नहीं समझ सके।

शक्ति को दीर्घकालीन बनाने के लिए केवल बलवत्ता अपेक्षित नहीं है[1]। शक्ति का आधार, जनता की आशा, अभिलाषा, ऐतिहासिक परम्परा, सामाजिक प्रथा आदि की समन्वित राशि है जिसे संक्षेप में जनकल्याणकामिता कह सकते हैं। बल, शक्ति का एक कारक है, सर्वस्व कदापि नहीं। राजनीतिक शक्ति को आचारनिष्ठ बनाना उसकी सुरक्षा के लिए आवश्यक है। जापान के साम्राज्यवाद की तुलना में, रोम और ब्रिटेन के साम्राज्यवाद अधिक दिनों तक टिक सके, इसका एक बड़ा कारण यह था कि इन दो पिछले साम्राज्यों में जनहित का अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व था। नीतिशीलता वैयक्तिक विकास के ही लिए नहीं, अपितु सामाजिक संस्थापन और राजनीतिक संघटन

---

१. Aristotle, *Politics I*, 13, : "Hence the ruler ought to have moral virtue in perfection, for his function, taken absolutely, demands a master artificer". *Politics III*, 12, : "In all science and arts the end is a good, and the greatest good and in the highest degree, a good in the most authoritative of all this is the potitical science of which the good is justice, in other words, the common interest."

के लिए भी नितान्त आवश्यक है[1]। वेदान्त दर्शन, प्लेटो और फिक्ट आदि का यही कहना है कि राजनीतिक बल का नैतिक आदर्शों के आधार पर परिमार्जन होना चाहिए। बृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णित जनक का राजर्षिवृत्त प्रायः सर्वदा के लिए भारत में एक बड़ा आदर्श उपस्थित कर गया। यूनानी दार्शनिक अरस्तू के अनुसार भी आचारशास्त्र के जो महान् तत्त्व हैं—न्याय, मैत्री, जीवन-दर्शन आदि, उन्हीं के आधार पर राजनीतिशास्त्र का निर्माण हुआ है।

जब हम सामाजिक संसार के स्वरूप पर विचार करते हैं तब हमें सर्वत्र प्रक्रिया और अन्तस्सम्बन्ध का दर्शन होता है। मानव की इन प्रक्रियाओं और अन्तस्सम्बधों का ही नाम समाज है। किन्तु समाज की प्रक्रियाओं में हमें प्रयोजनशीलता का भी दर्शन होता है। हम देखते हैं कि ये प्रक्रियाएँ स्वयंसापेक्ष न होकर किसी प्रयोजन को सिद्ध करती हैं। अरस्तू आदि का विचार था कि समस्त पदार्थों में अनुगत शक्तिशाली प्रयोजनशीलता है जिसका वे क्रमशः साक्षात्कार करती हैं। आधुनिक विज्ञान, वस्तुओं की अनुगत प्रयोजनशीलता का खंडन कर यांत्रिकता का समर्थन करता है। व्यापार-वादी मनोविज्ञान (विहेभियरिज्म) भी मन की केवल प्रक्रियाओं का रूप खड़ाकर किसी विशिष्ट लक्ष्यवाद का अनुमोदन नहीं करता। किन्तु भले ही लक्ष्य किसी तात्त्विक स्वयंसिद्ध सत्ता के रूप में वर्तमान न हो, किन्तु मानव-क्रिया और प्रक्रिया से कोई-न-कोई लक्ष्य अवश्य सिद्ध होता है। नैतिक आदर्श इस अर्थ में तात्त्विक हैं कि वैयक्तिक और सामाजिक क्रियाओं से उनकी प्राप्ति का यत्न किया जाता है तथा वैयक्तिक और सामाजिक स्मृति में उनका परिरक्षण होता है। अतः प्लेटो के प्रत्यय और स्पाय-नोजा के वस्तुतत्त्व के समान स्वयंसापेक्ष सत्ताधारी न होते हुए भी, नैतिक आदर्श

१. तुलनीय——

तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः ।
विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित् ।।
बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः ।
वनस्थाश्चैव राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे ।।
वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः ।
सुदासो यवनोश्चैव सुमुखो निमिरेव च ।।
पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च ।
कुबेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्यं चैव गाधिजः ।।
इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः । (मनुस्मृति ७।३९–४२,४४)

सत्य हैं। उनकी भौतिक इन्द्रियगम्य सत्ता नहीं होते हुए भी अभौतिक वास्तविकता ठीक है। कह सकते हैं कि राजनीतिक दर्शन में इन दो विषयों का अनुशीलन होना चाहिए—(क) राजनीतिक क्रिया, व्यापार आदि और (ख) नैतिक आदर्श।[1] राजनीतिशास्त्र वर्णित पदार्थों और वस्तुओं की एक देशकालकार्यकारणभावबद्ध सत्ता है। उदाहरणार्थ, किसी स्थान-विशेष और किसी समय-विशेष में ही कोई राजनीतिक दल रह सकता है। व्योमवर्त्ती और कालातीत उसकी सत्ता नहीं हो सकती है। किन्तु देश और काल में एक भौतिक सत्ता रहने ही से अर्थात् कुछ मनुष्यों का एक कमरे और एक मैदान में इकट्ठा होना, इतने से ही एक राजनीतिक दल की सृष्टि नहीं हो जाती है। उसके लिए कुछ नियामक आदर्श अपेक्षित है। जबतक कोई राजनीतिक दल ऐसे आदर्शों को सामने नहीं रखता जिनसे जनहित की वह सिद्धि करना चाहता है और इन आदर्शों से अपने कार्यक्रम को नियंत्रित नहीं करता तबतक दल का निर्माण अपूर्ण कहा जायगा। अतः कह सकते हैं कि राजनीतिक सत्ता या वास्तविकता एक परस्परसम्बद्ध सावयव वास्तविकता है। एक ओर इसके यांत्रिक या भौतिक देशकाल्व्यापी रूप और कारक हैं तथा दूसरी ओर इसके भौतिक प्रयोजनमूलक आदर्श हैं जिनका आंशिक क्रियान्वयन कर जनहित की पूर्ति होती है।

नैतिक आदर्श या नियामक लक्ष्य चेतन मानवों के द्वारा ही अभिव्यक्त होते हैं। आदर्श वैयक्तिक हों या सामाजिक, दोनों व्यक्ति के द्वारा ही प्रकटित होते हैं। समाज का एक अविभाज्य ईकाई होकर व्यक्ति, सामाजिक दृष्टि से, नैतिक आदर्शों

१. Aristotle : *Nicomachean Ethics* I, 12, ; : "Since happiness is an activity of the soul in accordance with virtue, we must consider the nature of virtue.... *The true student of politics, too, is thought to have studied virtue above all things* ; for he wishes to make his fellow-citizens good and obedient to the laws......But clearly the virtue we must study is human virtue ; for the good we were seeking was human good and the happiness human happiness. By human virtue we mean not that of the body but that of the soul; and happiness also we call an activity of soul. ***But if this is so, clearly the student of politics must know somehow the facts about soul.***"

की अभिव्यक्ति करता है। राजकीय व्यवस्था की प्रकृष्टता तभी सिद्ध हो सकती है जब अधिकतम मात्रा में विराट् श्रेयों को क्रियान्वित किया जाय। जो राज्य श्रेयों का उल्लंघन कर शक्ति और वित्त की एषणा का एकमात्र उपासक बन जाता है, उसका शीघ्र पतन हो जाता है। राज्य का लक्ष्य है – समस्त नागरिकों के लिए एक सम्पूर्ण शक्ति विकासकर्त्री सशक्त सबल व्यवस्था को उत्पन्न करना। जबतक विराट् श्रेयों को व्यावहारिक बनाने का लक्ष्य राज्य की क्रियाओं को संचालित नहीं करता तबतक राज्य आन्तरिक आर्थिक असंगतियों और वैयक्तिक संघर्षों को हटा नहीं सकता। जितने ऊँचे स्तर पर राज्य के साथ आत्मीयता का विकास प्रत्येक मानव कर सकेगा, उतनी ही दूर तक राज्य नैतिक श्रेयों को चरितार्थ करेगा। श्रेय ही सत्ता का संवर्धक है। वेदान्त और प्लेटो के मतानुसार श्रेय और सत्ता में तादात्म्य है। अतः जब पारस्परिक सहयोग से सामाजिक मनुष्य नैतिक आदर्शों की सिद्धि करते हैं तब उच्च स्तर के जीवन का विकास होता है और राज्य श्रेयों का वाहक बन जाता है। नैतिक श्रेय और विराट् संप्रयोजनशीलता का यही तकाजा है कि राजनीतिक जीवन के समस्त अंश, सामाजिक न्यायमूलक अभ्युन्नति को प्राप्त करें। अध्यात्म केवल हिमालय की कन्दराओं में नहीं रहा करता, अपितु सामाजिक और राजनीतिक कल्याण के आदर्शों को क्रियान्वित करना ही परम पुरुषार्थ है। राजनीतिक कर्मयोग की सिद्धि में वैयक्तिक कर्मशीलता और आत्मसाक्षात्कार के साथ-साथ अन्य मानवों तथा समाज के लिए अपेक्षित आनन्द की वृद्धि होती है। अबतक जो समाज हम देख रहे हैं, वह नागरिक समाज है। विनिमय, आर्थिक लक्ष्यसिद्धि आदि पर वह आधारित है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र, मानवता और सर्वविध सामाजिक तथा आर्थिक न्याय और हितसाधन के विराट् श्रेय से प्रभावित हो, वैयक्तिक कर्मयोग को आदर्श मानता है। श्रेय संसिद्धि के लिए कर्मयोग अत्यन्त आवश्यक है। कर्मयोग वह महती सन्धि-वेला है जहाँ वैयक्तिक आत्मदर्शन और सामाजिक कल्याण का महान् समन्वय प्राप्त होता है[1]। इसके सहारे वैयक्तिक कर्म तथा राजनीतिक कर्म का सामंजस्य प्राप्त किया जाता है।

---

१ यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः विशिष्यते॥
नियतं कुरु कर्मत्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येत् कर्मणः॥
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ (भगवद्गीता ३। ७–९)

नैतिक आदर्शानुमोदित कर्मयोग की सिद्धि के लिए आवश्यक है कि लाभप्रदता और उपयोगिता के विचार से मानव ऊपर उठ सके। उपयोगिता एक मापात्मक और प्रतिसंख्यानात्मक विचारधारा है। इसमें आर्थिक विचारों का प्राधान्य रहता है। उपयोगिता के अनुसंधान में स्वार्थ की साधना अभिप्रेत हो जाती है। किन्तु हित का श्रेय एक विराट् आदर्श उपस्थित करता है। हित की विचारधारा का सम्बन्ध उस व्यवसायात्मिका बुद्धि से है जिसके चरम उत्कर्ष में श्रेयों की सिद्धि होती है। नैतिक आदर्श, हित-साधन या विराट् श्रेयसाक्षात्कार, इनका पर्यवसान आत्मिक कल्याण और जनकल्याण में होता है। इस कल्याण की साधना के फलस्वरूप ही सर्वतोभावेन उत्कृष्ट सर्वभूतात्मभूतत्व का उदय होता है। वैयक्तिक भावना, संवेग, संकल्प आदि का जब विराट् श्रेय के बौद्धिक चैतन्य मे नियंत्रण होता है, तभी वैयक्तिक कल्याण सिद्ध होता है। इस प्रकार के निष्णात चैतन्य का जनकल्याणात्मक उपयोग ही सच्चा कर्मयोग है। मानव की समस्त वृत्तियों का विकास इसके निमित्त आवश्यक है। केवलमात्र वृत्तियों का निरोधात्मक दमन और उन्मूलन अभिप्रेत नहीं है, किन्तु उनका विराट् श्रेयों की साधना में प्रयोग ही सम्यक् प्रयोग है। यदि एक ओर वृत्तियों का उन्मूलन अपेक्षित नहीं है, तो दूसरी ओर उनका अराजकतापूर्ण, अनियंत्रित वैलासिकता और भोगवादिता में अतिरेक भी नितांत असंगत है। मानव की वृत्तियाँ, उसके संकल्प, उसकी निष्पन्न क्रियाएँ, आत्मसाक्षात्कार के विराट् श्रेय से नियंत्रित हों, यही दमनात्मक उन्मूलन और अराजकता की मध्यवर्तिनी मध्यमप्रतिपदा है।[1] जब समस्त भावना, कर्म और अनुभूति को एकीकृत कर मानव समग्र शक्ति से आत्मिक कल्याण की साधना करेगा, तब कोई प्रतिबन्ध उसके मार्ग में नहीं टिक सकता। उसके आतिशय्यपूर्ण संकल्पशक्ति के सामने समस्त विघ्न-बाधाओं को हटना पड़ेगा। दयानन्द, नेपोलियन, बुकर टी० वाशिंगटन आदि का जीवन इस सत्य का समर्थक है। फिर, आत्मिक कल्याण-साधना से परिनिष्पन्नबुद्धि और परिमार्जित वृत्ति जब सामाजिक और राजनीतिक कल्याण और चैतन्य की साधना करेगी, तब निश्चय ही सामाजिक परामर्श सिद्ध होकर रहेगा।[2]

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर॥ (गीता, ३।१९)

× × × ×

१. नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैवचार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ (भगवद्गीता, ६।१६–१७)

२. Max Weber, *Essays in Sociology*, पृष्ठ १२८ : "Politics is

आत्म-कल्याण-साधना का यह मतलब नहीं है ऐसा मनुष्य अकेलापन का ही नैष्ठिक-व्रती हो जायगा। समाज के व्यक्तियों को सहयोग या सहायता प्रदान करना भी उसका कार्य होगा; क्योंकि आत्मकल्याण और सामाजिक कल्याण दोनों अलग-अलग रहनेवाली वस्तुएँ तो हैं नहीं। सामाजिक साहाय्य के बिना जीवन-धारण असंभव है[१], आत्मकल्याणसाधन तो दूर रहे। दूसरी ओर समाज या राज्य की सत्ता व्यक्तियों से ही बनती है। अतः आत्मकल्याणसाधक मनुष्य विराट् श्रेय की निष्पन्नता इसी में समझता है कि राजकीय और सामाजिक सामंजस्य स्थापित हो। किसी वर्गविशेष या

---

a strong and slow boring of hard boards. It takes both passion and perspective. Certainly all historical experience confirms the truth--that man would not have attained the possible unless time and again he had reached out for the impossible......Only he has the calling for politics who is sure that he shall not crumble when the world from his point of view is too stupid or too base for what he wants to offer. Only he who is the face of all this can say "In spite of all, has the calling for politics."

१. St. Thomas Acquinas, *De Rigimine Principum I*, i: "But it is the nature of man to be a social and political animal, living in a multitude,—more so than other animals, as natural necessity makes manifest. For other animals nature has prepared food, coverings of hair, and means of defense—such as teeth, horns, and claws; or at least they have speed for flight. Man was created with none of these things prepared for him by nature; in place of them all reason was given him by which he might provide them for himself with the work of his hands. But to obtain such things, one man is not sufficient; for one man alone could not live an adequate life. It is, therefore, natural to man to live in the society of many."

गिरोहविशेष का निजी स्वार्थ नहीं, अपितु समष्टि का कल्याण उसका परम व्रत हो जाता है। व्यक्तित्व के सम्यक् विकास की परिणति आत्मकल्याणकारिता के साथ सामाजिक करुणा में भी होती है। सामाजिक करुणा मनुष्य को बाध्य करती है कि वह अन्य लोगों के सुखदुख में हिस्सा ले। प्लेटो ने कहा है कि आत्मज्ञानान्वेषी मानव, स्वभावतः ही परम शिव के ज्ञानार्णव में निमज्जित रहना चाहता है। राजनीतिक कल्याण के लिए उसकी शक्तियों को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। किन्तु एक सरल तरीका है। यदि वह स्वयं शासनकार्य में भाग न लेगा तो अन्य अधम मनुष्यों से शासित होने की दुरवस्था का त्याग करने के लिए उसे स्वयं राजकार्य में भाग लेना पड़ेगा। यह एक अच्छी बात है। अन्यथा ज्ञानी और महात्मा पुरुष राजनीतिक दलदल में कदापि नहीं फँसते। किन्तु दुःख का विषय यही रहा कि बुद्ध, शंकर, दयानन्द आदि ने अपने जीवन में इस आदर्श को क्रियान्वित नहीं किया। अरविन्द भी सन् १९१० में यह घोषणा कर पांडिचेरी गये थे कि वे योगशक्ति का विकास कर देश का कार्य करेंगे; किन्तु परमविज्ञान के अवरोहण के महान् श्रम ने उनको फिर क्रियात्मक राजनीति में भाग लेने का अवसर नहीं दिया। राज्य-व्यवस्था के सुधार के लिए व्यक्तिगत स्वार्थ से अप्रभावित, श्रेयसाधक न्यायप्रेमी मनुष्यों की आवश्यकता है। अतः राजनीतिक कल्याण और आर्थिक सामाजिक न्याय तभी प्रकृष्ट रूप से सिद्ध हो सकेंगे जब मानव की वृत्तियों का नैतिक संशोधन और उनका सामाजिक उपभोग किया जायगा। निरा व्यक्तिवाद अकृत्रिम है; क्योंकि समाजनिरपेक्ष मानव एक असम्भव कल्पना है। निरा समूहवाद संस्कृतिविरोधी है; क्योंकि यह समाज के अवयवभूत व्यक्ति का कल्याण भूल कर मानव को साधन के रूप में परिवर्तित कर देता है। वैयक्तिक संकल्प का विकास अत्यन्त अनिवार्य है। किन्तु आत्मविनिर्णय का केवलमात्र आत्माभिमुखी प्रयोग निरी भावनात्मकता में परिणत हो जायगा। सामाजिक श्रेय को वस्तुनिष्ठ करने का प्रयास ही आत्मविनिर्णय को मूर्तिमान् और साधारण बनाता है। केवलमात्र आत्मनैष्ठिक निश्चयात्मकता सावयव कल्याण का एक अंश है। इसका दूसरा रूप है—सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं के निमित्त स्वकर्त्तव्यपूर्ति से नैतिक चेतना का घनीभाव। इन दोनों का व्यापक समीकरण और समन्वय ही आत्मकल्याण तथा परमार्थ का साधक है। किन्तु सामाजिक हित-साधना का पर्यवसान व्यक्ति के उन्मूलन में कदापि नहीं हो सकता। मानववाद के विरोधी अतिरेकपूर्ण समूहवादी राज्य की सावयवता के नाम पर व्यक्तित्वहानि का संदेश देते हैं। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र इस प्रकार के समूहवाद का, चाहे समूहवाद नगरराज्य या साम्यवाद या राष्ट्रवादात्मक राज्य के नाम पर प्रचारित किया जाय, घोर विरोधी है। व्यक्ति का वैलक्षण्य एक आवश्यक

परम सत्य है। मरणधर्मा होते हुए भी व्यक्ति विराट् आदर्शों के क्रियान्वयन का एक अपुनरावर्तनीय विलक्षण केन्द्र है और आवश्यकता पड़ने पर व्यवसायात्मिका बुद्धि का आश्रय लेकर सामाजिक प्रतिबन्धों और राजकीय कानूनी व्यवस्था का विरोध करने का अधिकार इस मानव का है। किन्तु राजकीय कानूनी व्यवस्था का विरोध एक अन्तिम अस्त्र है। सतत रूप से प्रवाहित क्रियात्मक नागरिकता का यह तकाजा है कि मानव अपना कल्याणसाधन करे और अपनी संसर्जनात्मिका शक्तियों का सम्यक् उपयोग करता हुआ अपनी वृत्तियों को समाजाभिमुखी प्रवाहित करे। इस प्रकार से ही परमार्थ परमहित का प्रकृष्ट साधन सम्भव है। इस प्रकार मानव-वृत्तियों को ठोस सामाजिक धरातलों से सन्निकर्ष और एकता प्राप्त होती हैं। परिवार, संस्थाएँ, राज्य आदि इस प्रकार के वाह्य ठोस धरातल हैं। दूसरी ओर इन वाह्य ठोस धरातलों को संचालित करनेवाले समग्रदर्शी चैतन्य का भी उदय होता है। इस प्रकार यह ठीक है कि राज्य विना नैतिक आदर्शों के लँगड़ा है और नैतिक आदर्श विना राज्य के धरातलहीन है। मानव की सर्वसामान्य सुरक्षा का प्रश्न राज्य हल करेगा। नैतिक कल्याणसाधक आदर्शों को परिनिष्पन्न करने के आवश्यक वाह्य समस्त उपकरणों को राज्य प्रस्तुत करेगा। नीतिमान् मानव आत्मिक चैतन्य के सहारे राज्य को निर्देशन, मार्गाभिज्ञापन और उसकी शक्तियों का स्वस्थ स्रोतों में सर्जनात्मक प्रवाहण करेगा।

नैतिक आदर्श और राज्य के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि नीतिमान् चैतन्ययुक्त मानव को दृष्टिगत कर इन दोनों को अलग-अलग रखना असंगत है। नैतिक विकास की दो अवस्थाएँ हैं। पहली अवस्था में मानव पारिवारिक और सामाजिक व्यवस्था से निर्दिष्ट कर्मों का पालन करता है। इस प्रकार की नैतिकता सर्वत्र और मानव-विकास की सारी अवस्थाओं में पाई जाती है। इस अवस्था को हम साधारण शील की अवस्था कह सकते हैं। किन्तु नैतिक विकास की प्रकृष्ट अवस्था में ज्ञानाधारित कर्मयोग का पालन किया जाता है। कर्मयोग की चरितार्थता इसी में है कि अनासक्त परमार्थसाधक नैतिक चैतन्य का सतत यादृच्छिक प्रभाव उसमें हो। इस अवस्था को उच्चस्तरीय परम शील कह सकते हैं। दूसरे शब्दों में नैतिक विकास की इन दो अवस्थाओं को कर्मकाण्ड और कर्मयोग की अवस्था कह सकते हैं। जो मनुष्य नीतिशास्त्र और राजनीति को अलग-अलग रखने का प्रस्ताव करते हैं, उन्हें राजनीतिक व्यापार के पीछे वर्तमान नैतिकता का पूरा पता नहीं है। राज्य का आधार क्या है, राज्य की आज्ञा का अनुवर्तित्व क्यों होता है, प्रजातंत्रीय जनसम्मति क्या वस्तु है, ये सब प्रश्न मूलतः नैतिक

हैं। हाब्स का यह विचार कि विशेषतया भय ही राज्य की आज्ञा को मानने के लिए विवश करता है, दासयुग के लिए भले ही ठीक हो, किन्तु एक स्वस्थ चेतन समाज के लिए नहीं[१]। थ्रौसिमाक्स का यह प्रस्ताव कि शक्तिशालियों की निजस्वार्थप्रेरित व्यवस्था ही न्याय है, एक असंगत बात है[२]। नीतिमान चेतन मानव, राज्य की आज्ञा का अनुमोदन इसीलिए करता है कि उससे कोई भूतहित सिद्ध होता है। कल्याणकामिता की भावना से अनुमोदित राज्यवर्त्मानिवर्तन की व्यवस्था क्षणस्थायी भले ही हो, दीर्घकालव्यापिनी नहीं बन सकती। राज्य की शक्ति और उसकी व्यवस्था,

१. Hobbes, *Leviathan*, एकादश अध्याय: "Desire of ease and sensual delight, disposeth men to obey a common power,; because by such desires a man doth abandon the protection might be hoped for from his own industry, and labour. *Fear of death and wounds disposeth to the same, and for the same reason*......Desire of knowledge and arts of peace, inclineth men to obey a common power ; for such desire, containeth a desire of leisure, and consequently protection from some other power than their own."

२. *Republic*, Book I : "I declare that justice is nothing else than that which is advantageous to the stronger......Well, every government lays down laws for its own advantages--a democracy democratic, a tyranny tyrannical laws, and so on. On laying down these laws they have made it plain that what is to their advantage is just. They punish him who depart from this as a law-breaker and an unjust man. And, this, my good sir, is what I mean. In every city justice is the same. It is what is advantageous to the established government. But the established government is master, and so sound reasoning gives the conclusion that the same thing is always just—namely, what is advantageous to the stronger."

यह राजनीतिशास्त्र का मुख्य विषय है। दूसरी ओर व्यक्ति का सदाचार नैतिक-शास्त्र का मुख्य विषय है। किन्तु व्यावहारिक जगत् में दोनों के प्रश्न परस्पर मिले जुले हैं। जैसे-जैसे कर्मकाण्ड से कर्मयोग के आदर्श की ओर मानव अग्रसर होता हैं, वैसे वैसे वह नागरिकता के तात्त्विक आधार पर विचार करता है और शनै शनै: समाज और राज्य के प्रति उसका अनुराग बौद्धिक आधार से युक्त बनता है और इनका उचित महत्त्व अपने नैतिक विकास में वह स्वीकार करता है। प्रत्येक मनुष्य को राज्यकार्य में भाग लेने का अधिकार है, उसको सब प्रकार की उचित स्वतंत्रता है; विशाल मानवहित को ध्यान में रखना चाहिए; इस प्रकार की स्थापनाएं नैतिक आधार से ही संचालित होती हैं। नैतिकता का विकास उस समय का विकास है जिसके सहारे मानव अपना नैतिक कर्तव्य और राजकीय कर्त्तव्य भय से नहीं प्रत्युत उन्हें नैतिकता और राजकीय कर्मयोग का तात्त्विक ज्ञान सर्वभूतहितग्राहिणी व्यापक संकल्पशीलता में है[१]।

---

१. तुलनीय--

Kant, *Critique of Practical Reason* (Abbott edition) पृष्ठ १८० : "Duty, Thou sublime and mighty name that dost embrace nothing charming or insinuating, but requirest submission and yet seekest not to move the will by threatening aught that would arouse natural aversion or terror, but merely holdest forth a law which of itself, finds entrance into the mind, and yet gains reluctant reverence (though not always obedience), a law before which all inclinations are dumb, even though they secretly counter-act it; what origin is there worthy of thee, and where is to be found the root of they noble descent which proudly rejects all kindred with the inclinations; a root to be derived from which is the indispensable condition of the only worth which men can give themselves...... *Thus power is nothing but personality, that is freedom and independence on the mechanism of nature.*"

नैतिकता की शक्तिशालिता को ध्यान में रखते हुए ही यूरोपीय राजनीतिशास्त्र में नैसर्गिक नियम का और भारतीय राजनीतिशास्त्र में ऋत् और धर्म का उदात्त महत्त्व स्वीकार किया गया था। वर्तमान राजनीतिक वास्तविकता का, नैसर्गिक नियम, आलोचनसूत्र प्रदान करता था। यह ठीक है कि ह्यूम के अनुभववाद, हेगेल के द्वन्द्ववाद तथा आधुनिक विज्ञान के परीक्षणवाद ने नैसर्गिक नियम का खंडन किया है। दूसरी ओर स्टैमलर तथा मैरिटान आदि ने उसके आंशिक पुनरुद्धार का भी सन्देश दिया है[1]। प्रकृति में वर्तमान किसी विराट् नियम या ऋत् या धर्म की कल्पना जो बाह्य होते हुए भी जागतिक व्यापारों को मार्गनिर्देश करती है, आधुनिक विज्ञान को सम्मत नहीं है। किन्तु भले ही वाह्यस्थित या जगदतीत विराट् ऋत् आज की वैज्ञानिक दुनिया के लिए असंगत है; तथापि सांसारिक व्यवहार को व्यवस्थित रखने के लिए कुछ विश्वव्यापक आदर्शों की आवश्यकता प्रायः सभी स्वीकार करेंगे। प्रजातंत्र के समर्थन में आदर्शों की आवश्यकता है। प्रजातंत्रीय प्रणाली निर्णय-केंद्रों का बाहुल्य उपस्थित करती है और इसलिए आवश्यक है कि इन केन्द्रों पर निर्देशक नीतिसम्पन्न मानव हों, अन्यथा केवल संस्थापरिवर्तन नितान्त अपूर्ण होगा। प्रजातंत्र एक अतिशय विशाल प्रयोग है। प्रत्येक वयस्क नागरिक को राजनीतिक आत्मनिर्णय का अधिकार देना मानव इतिहास में एक अपूर्व घटना है। अनेक कमियों के होते हुए भी आदर्शवाद का यह एक निर्मल उदाहरण है। अन्य राज्यतंत्रों की अपेक्षा प्रजातंत्र का सम्यक् निर्वाह बड़ा कठिन है। इसके निमित्त आवश्यक है कि नैतिक आदर्शों पर बल दिया जाय। अन्धविश्वासरहित, मानवसाध्यवाद प्रचारक नैतिक आदर्शों की आज बड़ी आवश्यकता है। दूसरी ओर अनेक देशों में आर्थिक और राजनीतिक योजनाएँ बन रही हैं और नागरिकों के जीवनस्तर को ऊँचा उठाने का व्यापक प्रयास हो रहा है। यह एक बड़ा जबरदस्त कार्य है। इसकी सफलता के लिए त्याग, कर्मशीलता तथा समाजानुराग आदि गुणों की आवश्यकता है। अतः प्रजातंत्रीय योजनाओं को पूर्ण करने के लिए नैतिक पुनरुद्धार आवश्यक है। व्यक्तिवादी समाज प्रतियोगिता, स्वार्थ और संस्पर्धा पर आश्रित है। किन्तु योजनामूलक प्रजातंत्रीय समाज, जनकल्याणवाद पर आश्रित है। जनकल्याणवाद मूलतः एक नैतिक आदर्श है और

---

१. Rudolf Stammler, *The Theory of Justice*, *Wirtschaft Und Recht nach der materialistischen Geschichtsauffasung*, *Lehrbuche der Rechtsphilosophie*; Jacques Martain, *The Right of Man and Natural Law*; Ebenstein (ed.) *Man and the State* (पृष्ठ ७१-७४)

गीताप्रोक्त 'सर्वभूतहितेरताः' का ही राजनीतिक रूपान्तर है[१]। जनकल्याणवाद तभी क्रियान्वित हो सकता है जब प्रत्येक नागरिक आंशिक रूप से अपने स्वार्थ को छोड़कर सामाजिक और राजकीय आदर्शों को सिद्ध करे। इस प्रकार पूर्णतः स्पष्ट है कि जिस प्रकार प्राचीन धार्मिक और नैतिक सम्प्रदायों में स्वार्थ को छोड़ने का उपदेश दिया जाता था, उसी प्रकार आज प्रजातंत्रीय योजनाओं को सफल बनाने के लिए भी स्वार्थत्याग अपेक्षित है। पिछले विश्वमहासमर में भी, देश की विजय के नाम पर, संम्मिलित स्वार्थत्याग के अनेकों उदाहरण देखे गये। पुरुषों और स्त्रियों ने समानरूप से इस यज्ञ में भाग लिया। स्वार्थत्याग वह मूल शब्द है जो नैतिक कल्याण और राजनीतिक कल्याण दोनों का साधक है।

राज्य का क्या लक्ष्य होना चाहिए, इस पर प्राचीन काल से लेकर आजतक विचार हो रहा है। समष्टि में शीलवादी आदर्शों का पूर्णतम अनुप्रवेश हो, ऐसी मान्यता प्लेटो, अरस्तू, सिसेरो, अक्वायनास आदि की थी। पिवट आदि भी राजकीय शक्ति पर दार्शनिकों का नियंत्रण चाहते थे। जबतक विश्वराज्य का निर्माण नहीं होता तबतक बाह्य आक्रमणों में रक्षा करना राज्य का प्रथम उद्देश्य होना चाहिए[२]। जबतक बाह्य आक्रमणों से रक्षा नहीं होगी तबतक नागरिक अपना नैतिक व्यवहार नहीं संचालित कर सकते। अतः सुरक्षा अत्यन्त आवश्यक है। जो राज्य नागरिकों की आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा नहीं कर सकता, उसका शीघ्र नाश कर दूसरे राज्य की स्थापना करनी चाहिए। आन्तरिक और बाह्य सुरक्षा के विना किसी प्रकार का नैतिक और सामाजिक जीवन संभव नहीं है। जो सरकार योजना, जनहित आदि के नाम पर सुरक्षा के प्रश्न की अवहेलना करती हो, उसे शीघ्रातिशीघ्र पदच्युत करना नीतिमान नागरिक का पहला कर्तव्य होना चाहिए। सुरक्षा के आधार पर ही अन्य श्रेय—स्वतंत्रता, समानता, न्याय आदि—की स्थापना हो सकती है। जीवन को उन्नत और तेजस्वी बनाना तभी संभव है जब देश स्वतंत्र हो, गुलाम जाति का कोई स्वतंत्र आदर्श नहीं हो सकता। अतः सुरक्षा और सम्यक् व्यवस्था तो राजकीय आदर्श का प्रारम्भ सूत्र है। एशिया के देश अभी गुलामी से मुक्त हुए हैं। एशियाई राज्यों को सर्व-

---

१. Pigcu, *Economics of Welfare.*

२. तुलनीय—

इत्था हि सोम इन्मदे ब्रह्मा चकार वर्धनम् ।
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निःशशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम् ।
सत्वामदद्वृषा मदः सोम श्येनाभृतः सुतः ।
येना वृत्रं निरद्भ्यो जघन्थ वज्रिन्नोजसार्चन्ननु स्वराज्यम् ॥ (ऋग्वेद १।८०।१-२)

प्रथम ऐसी व्यवस्था करनी है कि इनकी स्वतंत्रता किसी भी साम्राज्यवाद के खतरे में न पड़े। दूसरी ओर मैं पाँच विराट् श्रेयों को भी मानवजीवन के लिए आवश्यक मानता हूँ --(क) स्वतंत्रता एक महान् आदर्श है और इसकी पूर्णप्राप्ति सर्वप्रथम अभीष्ट है। (ख) समानता, मानवता का तकाजा है। आज वर्णद्वेष और तानाशाही से काम नहीं चल सकता। (ग) प्रत्येक नागरिक के लिए सामाजिक और आर्थिक न्याय भी अपेक्षित है। (घ) आज मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक विकास की यह माँग है कि मनुष्य के अधिकार को समझा जाय। जाति, रंग और देश से ऊपर जाकर भातृत्व और मानववाद का प्रचार हो। राजनीतिशास्त्र दार्शनिक दृष्टि से संगत हो, इसके निमित्त मानव के नीतिमान् चैतन्य का बोध परम वांछित है। स्वतंत्रता, समानता, सामाजिक और आर्थिक न्याय तथा भ्रातृत्व या मानवता, ये चार विराट् श्रेय प्रायः आज की सभ्य दुनिया में सर्वत्र घोषित किये जा रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक में भी इसका पूर्णतः समर्थन हुआ है। (ङ) परन्तु आज की दुनिया की गति को देखते हुए मैं अभय को भी एक पाँचवा विराट् श्रेय मानता हूँ। अभय का अर्थ है सम्पूर्ण रूप से भय का त्याग। गीता में अभय को दैवी सम्पत्ति में माना गया है। स्वामी रामतीर्थ का कहना कि वेदान्त और अभय, ये समानार्थक हैं। वेद में अभय का बड़ा उत्कृष्ट वर्णन है। आज मानव अनेक भयों से आक्रान्त होकर अपनी स्वतंत्र सत्ता खो बैठा है। आज आवश्यकता है कि अभय का संदेश उद्घोषित हो। भय का त्याग कर कर्मयोग का पालन कैसे हो सकता है[1]? अनावश्यक भय से युक्त व्यक्ति सन्मार्ग का पालन कैसे करेगा? स्वतंत्रता की रक्षा में वह कैसे उठ खड़ा होगा? सामाजिक अन्याय होने पर अभयहीन व्यक्ति कैसे प्रतिरोध करेगा? अनुचित राजकीय कानून का विरोध करने के लिए अभय की आवश्यकता है। कर्मयोग की तो आधारशिला ही अभय है। मानव के नीतिमान् चेतन आध्यात्मिक रूप का सार्वत्रिक प्रकटीकरण अभय से ही संभव है[2]। सम्पूर्ण अभय का पालन तो वही

---

१. ऐतावानेव पुरुषो यदमर्षी यदक्षमी।
क्षमावन्निरमर्षश्च नैव स्त्री न पुनः पुमान्॥ (महाभारत १, १३२)

× × ×

न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा। (महाभारत, वन० २८।६)

२. अथर्ववेद के समय से ही 'अभय' भारतीय संस्कृति का एक निर्मल आदर्श रहा है--

यत इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि।
मघवञ्छग्धि तव त्वं न ऊतिभिर्विद्विषो वि मृधो जहि॥

मनुष्य कर सकता है जो पूर्ण त्रिगुणातीत और वीतराग हो। एषणाओं से भय उत्पन्न होता है। किन्तु परम अभय न सही तो मानव-जीवन में शनैः-शनैः अभय का प्रवेश अवश्य होना चाहिए। तभी पशुत्व के जीवन से ऊँचे मानव जीवन का लाभ हो सकता है। जिस राजकीय व्यवस्था में आन्तरिक और वाह्यपूर्ण सुरक्षा के अतिरिक्त, नागरिकों की स्वतंत्रता, समानता, सामाजिक और आर्थिक न्याय, भ्रातृ-भावना और अभय को व्यावहारिक रूप प्रदान करने का अवसर मिल सके, उसी को दार्शनिक राजनीतिशास्त्र अपना लक्ष्य मानता है।

(घ) राजनीति और धर्म

धर्म एक व्यापक शब्द है। वेदों में धर्म का व्यापक नियम के अर्थ में प्रयोग होता था। बृहदारण्यक उपनिषद् में धर्म को क्षत्र का क्षत्र कहा गया है। अर्थात् राजकीय शक्ति से भी अधिक शक्तिशाली धर्म माना गया है। धर्म का अर्थ पिछले काल में स्वधर्म अर्थात् वर्णाश्रममर्यादायुक्त कर्म हो गया। धर्म का तात्पर्य मीमांसा-दर्शन में वैदिक कर्मकाण्डानुवर्तन स्वीकार किया गया है। प्राचीन भारत, यूनान और यहूदियों में कर्मकाण्ड की प्रधानता थी। किन्तु वाह्यक्रिया-कलापों और पूजन अर्चन को ही धर्म समझना अपूर्ण है। जब धर्म का केवल यही वाह्य रूप ग्रहण किया जाता है तब साम्प्रदायिक झगड़े खड़े होते हैं। मसजिद के सामने बाजा बजाने, ताजिया उठाने, तथा मूर्ति जुलूस आदि, के सम्बन्ध में झगड़े इसीलिए होते हैं कि मनुष्य बाह्य कर्मकाण्डों और प्रतीकों को ही धर्म का वास्तविक स्वरूप समझता है। चन्दन और त्रिपुण्ड के सम्बन्ध में विवाद और संघर्ष इसी दृष्टि के फल हैं। धर्म का एक विश्वास-मूलक रूप है जिसमें स्वर्गनरक, देवीदेवता, फरिश्ते और पैगम्बर के सम्बन्ध में विश्वास और ईमान लाना सिखाया जाता है। इस प्रकार का धर्मवाद अन्धविश्वास पर टिका हुआ है। विज्ञान और तर्कशीलता के विकास के साथ-साथ इस प्रकार का अन्धविश्वास कम होता जाता है। पैगम्बर और तीर्थंकर, कृष्ण और मुहम्मद, राम और ईसा का युद्ध विज्ञान के विकास के साथ इतिहास की निधिमात्र बन जायगा। काबा, काशी, रोम और यरूशलम को ही धर्मद्वार मानना बन्द होगा और तलवार

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥
अभयं मित्रादभयमित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥

(अथर्ववेद, १९।१५।१, ५–६)

के बल पर और रुपयों के प्रलोभन से लोगों को धर्मपरिवर्तन कराने की दानवीय नीति का परित्याग होगा। हिन्दू-मुसलिम दंगे, क्रूजेड्स, यूरोपीय तीस वर्षीय युद्ध आदि पर दृष्टि डालने से मनुष्य की कमजोरियों पर तरस आता है। धर्म के नाम पर मनुष्य ने क्या नहीं किया? पत्थर, गोबर, तुलसी, धतूरा, क्रास, कब्र, आदि सबके सामने मानव धर्म के कारण माथा टेकता है। मृतकों को कब्र में शान्ति देने के लिए जीवित मानव का खून करता है और सातवें आसमान के विषयभोगों के लिए जीवित जाग्रत सभ्यता का सत्यानाश कर डालता है। सचमुच धर्म के इस वाह्य कर्मकाण्डात्मक और अन्धविश्वासात्मक रूप की रक्षा करने के लिए विज्ञान और बुद्धिवाद के तेज अस्त्र की आवश्यकता है।

किन्तु वाह्य कर्मकाण्ड, स्वर्गनरकवाद, प्रेतपूजा और पैगम्बर में ईमान लाना ये ही धर्म नहीं हैं। अनेक सभ्यताओं में इन्हीं पर जोर दिया गया है[1]। ऐतिहासिक महापुरुषों को धार्मिक गुरु मानकर उनकी पूजा करने का उपदेश अनेक सम्प्रदायों में पाया जाता है; परन्तु ऐतिहासिक, अर्ध-ऐतिहासिक और काल्पनिक पुरुषों की गाथाओं का स्मरण करना धर्म नहीं है। मानव को सन्मार्ग, पूर्णता, सत्य का दर्शन कराना ही धर्म है। मानव किस प्रकार नीतिमान् बनेगा, इसका मार्ग बताना धर्म है। विशुद्ध नैतिक संकल्पों के सहारे अपने जीवन को संचालित करना धर्म है। ऊहापोहात्मक धर्मशास्त्र और पुराणशास्त्र धर्म का असली रूप सामने नहीं रखते हैं। यजुर्वेद में शिवसंकल्प को प्राप्त करना मानव का पुरुषार्थ बताया गया है[2]। आत्मकल्याण और सामाजिक हित की प्राप्ति के लिए जो नियम आवश्यक हैं, उन्हें जानना और तद-

---

१. Hobbes, *Leviathan*, अध्याय १२: And in these four things, opinions of ghosts, ignorance of second causes, devotion towards what men fear, and taking of things casual for prognostiques, consisteth the natural seed of *religion*; which by reason of the different fancies, judgements and passions of several men, hath grown up into ceremonies so different, that those which are used by one man, are for the most part ridiculous to another."

२. यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्नऽऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥ (यजुर्वेद ३४।३६)

नुकूल आचरण करना ही धर्म है। संस्कृति का परम पुरुषार्थ इसीमें है कि वैयक्तिक और सामाजिक दृष्टि से पूर्णता की ओर मानव अग्रसर हो। प्रत्येक मानव इसी प्रकार आत्मकल्याण कर सकता है कि शनैः-शनैः पूर्णता की भावना उसके जीवन का नियन्त्रण करे। सीमित दृष्टि रखना और संकुचित स्वार्थों का साधन, इनसे ऊपर उठकर जब पूर्णता की सामान्य भावना से मानवजीवन संचालित होता है, तब कह सकते हैं कि नैतिकता का उदय और क्रियान्वयन हो रहा है। किन्तु केवलमात्र सन्मार्ग या स्वधर्म का पालन ही नीतिमत्ता नहीं है। जब भावनासंशोधन के सहारे स्वधर्म का पालन अनासक्त बुद्धि से और पूर्णता की भावना को क्रियान्वित करने के लिए होता है, तब कह सकते हैं कि नैतिक व्यवहार हो रहा है। अतः केवलमात्र स्वधर्मपालन नहीं, अपितु अनासक्त कर्मयोग की ओर बढ़ना नैतिक मार्ग है। इस मार्ग की चरमनिष्पत्ति पूर्णता के साक्षात्कार में होती है। कुछ पश्चिमी विचारकों ने केवलमात्र अवश्यंकर्तव्यता के विश्वव्यापक नैतिक नियम से अनुचालित होने को ही नैतिक स्वतंत्रता का मार्ग बताया है। किन्तु केवल शिवसंकल्प ही अपेक्षित नहीं है। सामाजिक कल्याण के निमित्त उपयोगी कर्मों को करना भी आवश्यक है। नैतिकता की प्रारम्भिक अवस्था में उन कर्मों को करने से ही शिवसंकल्प के उद्भव में भी सहायता मिलेगी। नैतिक वैशारद्य की प्राप्ति के बाद भी लोकसंग्रह की दृष्टि से, सृष्टियज्ञ को संचालित रखने के उद्देश्य से कर्मयोग का पालन आवश्यक है। यही नैतिकता का सच्चा स्वरूप है।

नैतिकता को ही धर्म का असली रूप अनेक विचारक मानते हैं। मेथ्यू आर्नल्ड ने कहा कि भावनासंश्रित नैतिकता ही धर्म है। पातंजलदर्शनोक्त यम, नियम (जो ईश्वरप्रणिधान के अतिरिक्त नैतिक श्रेयों और कर्मों की ही सूची है) का पालन ही गांधी के मत में धर्म का मार्ग है। मंगल प्रभात में जिस धर्म की व्याख्या गांधी ने की है, वह मूलतः नीतिधर्म ही है। प्रतीत्यसमुत्पाद के दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक नियम के अतिरिक्त, प्राचीन बौद्धधर्म मुख्यतः नैतिकता का ही अनुमोदन करता है। धम्मपद और सुत्तनिपात में नीतिधर्म का ही विशेषतया वर्णन है। हजरत ईसा के गिरिप्रवचन में भी नैतिकता की प्रधानता है। काण्ट ने भी रहस्यमूलक धर्म के स्थान में तर्कसंगत शुद्ध संकल्पपूर्ण नीति नियम को प्रतिष्ठित किया है।

किन्तु केवलमात्र नैतिकता ही धर्म नहीं है[१]। यदि धर्म केवलमात्र नीतिमार्ग का

---

१. तुलनीय–F. H. Bradley, ***Ethical Studies***, पृष्ठ ३३४–३३५. "..What in morality only is to be, in religion somehow and somewhere really is, and what we are to be is done.....The

अवलम्बन ही हैं तो फिर दो शब्दों की आवश्यकता नहीं होती। नैतिकता धर्म का आवश्यक अंग है; किन्तु सर्वस्व नहीं है। अवश्य ही नैतिकता धर्म का प्राण है, तथापि नैतिकता का चरम उदात्त स्वरूप धर्म में व्यक्त होता है। परन्तु धर्म के प्राण होते

importance for practice of this religious point of view is that what is done is to be approached, not with the knowledge of or doubtful success, but with the fore-felt certainty of already accomplished victory. Morality the process of realization thus survives within religion. It is only as mere morality that it vanishes as an element it remains and is stimulated. Not only is strength increased by assurance of success, but in addition the importance of success is magnified. The individual life for religion is one with the divine; it possesses infinite worth, a value no terms can express....It is the same objective will, which in 'My Station' we see accomplished, in ideal morality know should be accomplished, and in religion by faith believe accomplished, which reflects itself into itself on the subjective side, and then reasserts itself explicitly as the real identity of the human and divine will. And so the content of religion and morality is the same, though the spirit in which it is done is widely different." *Ethical Studies* पृष्ठ ३४१: "It is religion only when the divine will, of which for faith the world is the realization, reflects itself in us, and with the personal energy of our own and its self-conciousness, carries out both its and our will into the world, which is its own and ours, and gives us, in the feeling which results from function, that inner assurrance of identity which preceeds and accomplishes the action of our will. And thus for morality and religion the content of the will is the same, though the knowledge and the spirit are widely different."

हुए भी नैतिकता ही धर्म नहीं है। नैतिकता की अवस्था में अहं की भावना रहती है। आत्मिक और सामाजिक संबंधों को सुव्यवस्थित करने के लिए ही नैतिकता की उद्भावना होती है। जब अहं का विचार छोड़कर केवलमात्र कल्याण, पूर्णता आदि की साधना हो तब उसे धर्म की अवस्था कहते हैं। इस प्रकार की अवस्था की प्राप्ति के लिए ज्ञान और विराट् भावापन्नता का कर्म में अनुप्रवेश होना चाहिए। जब नैतिक कर्म को सम्पन्न करने के लिए पुरुषार्थ न करना पड़े, जब वे स्वभावनियत हो स्वतः निस्सृत हों, जब उन्हें करने में कोई आलस्य या श्रम न मालूम पड़े तब धर्म की अवस्था व्यक्त होती है। नैतिकता की अवस्था में सत्य और ज्ञान प्राप्तव्य रहते हैं, धर्म की अवस्था में वे प्राप्त होते हैं[१]। उस अवस्था में सत्य और ज्ञान का बोध स्वाभाविक हो जाता है। नैतिकता की अवस्था में समाजशीलता और परम्परा-परायणता का अंश रहता है। अर्थात् नैतिक नियमों का निर्माण और पालन समाज की आवश्यकताओं और रूढ़ियों से भी अंशतः प्रभावित रहता है। कुछ कर्म भारतीय परम्परा के अनुसार अनैतिक होते हुए भी अमरीकी परम्परा में ग्राह्य और विहित हो सकते हैं। परन्तु धर्म के नियम देशनिरपेक्ष हैं। मानव-जीवन को पूर्ण नैतिक बनानेवाले जो नियम हैं, यदि उन्हें पूर्णाभिमुखी मानकर उनका अनासक्त दृष्टि

१. तुलनीय—

A. N. Whitehead, Religion and Science, *Science and the Modern World* पृष्ठ १९१–१९२. "Religion is the vision of something which stands beyond, behind, and within, the passing flux of immediate things; something which is real and yet waiting to be realised, something which is a remote possibility, and yet the greatest of present facts; something that gives meaning to all that passes, and yet eludes apprehension, something whose possession is the final goal, and yet is beyond all reach; something which is the ultimate ideal, and the hopeless quest.... The fact of the religious vision, and its history of persistent expansion is our one ground for optimism. Apart from it human life is a flash of occasional enjoyments lighting up a mass of pain and misery, a bagatelle of transient experience."

से पालन हो तो धर्म की अवस्था व्यक्त होती है। नैतिकता की अवस्था में वैयक्तिकता का विकास होता है। नैतिकता की अवस्था में, मानव अपनी चेतना के अनुसार अपने समस्त राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकारों की माँग करता है, जो, वह जनकल्याण के निमित्त अपनी शक्तियों का विकास और अर्पण कर सके, इसके लिए अपेक्षित हैं। अतः नैतिकता अधिकारवाद पर आधारित है। धर्म की अवस्था कर्त्तव्य की पूर्ति पर अधिक ध्यान देती है। धार्मिक मनुष्य अपने लिए किसी वस्तु की माँग नहीं करता, वह अपना उचित कर्म करता है और दूसरों का सदा कल्याण ही सोचता है। धर्म की अवस्था, अधिकाराभिव्यंजना की नहीं, अपितु कर्त्तव्य-निष्पत्ति की अवस्था है। इससे मानव-हृदय में संस्थित महाकरुणा की भावना जागरित होती है। करुणा के उदय के साथ धार्मिक मानव समस्त प्राणिमात्र से तादात्म्य प्राप्त करना चाहता है। अतः वैयक्तिकता का पूर्ण प्रसारण कर मानवमात्र और प्राणीमात्र के साथ करुणा प्रदर्शित करना ही धर्म का चरम लक्ष्य है।

धर्म एक महान् और उदात्त श्रेय है और इसको व्यावहारिक बनाने के लिए बड़े श्रम की आवश्यकता है। जब हम जगत् के ऊपर दृष्टि डालते हैं तब सर्वत्र लोभ, पाप, भ्रम, विकल्प, असौंदर्य और कृत्रिमता का हमें दर्शन होता है। अखबार जब हम प्रभातकाल में पढ़ते हैं तब कभी हत्या, कभी षड्यन्त्र, कभी खतरा या कभी दारुण हाहाकार उत्पन्न करानेवाली घटनाओं का वर्णन मिलता है। ऐसी अवस्था में स्वभावतः नैतिकता और धर्म दार्शनिकों के कोरे कल्पनामात्र प्रतीत होते हैं। किन्तु विपरीत प्रतीत होनेवाली घटना के बावजूद नैतिकता और धर्म का अवलम्बन हमें विराट् तत्त्व का परिचय देता है। ऐसा ही अनुभव अनेक महात्माओं और तपस्वियों का है। हम जागतिक घटनाओं को बदल नहीं सकते, किन्तु वृत्तिपरिवर्तन के सहारे हमें नूतन सत्य का दर्शन हो सकता है। आंशिक दृष्टि से ऊपर उठना ही नैतिकता का पथ है। इस प्रकार हमें समग्रग्राहिणी अनुभूति प्राप्त होती है। इस अनुभूति के सहारे शनैः शनैः इतिहास केवल हत्याकाण्ड, पक्षपात, आक्रमण आदि का रूप छोड़कर, एक प्रकृष्ट सत्य के प्रकाशन का माध्यम मालूम पड़ता है। राजनीतिक विकासक्रिया, छिटपुट घटनाओं का योगमात्र न रहकर एक सातत्य और क्रम की प्रदर्शिका हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि जगत् में सुसम्बद्धता है और केवल अंश तथा विभक्त का ग्रहण एक सीमित दृष्टिमात्र है। जगत् की वस्तुओं और घटनाओं में पारस्परिक सन्निकर्ष तथा अन्योन्याश्रयिणी प्रभावोत्पादकता के दर्शन होने से नैतिकता में विश्वास होता है। धर्म का आधार है—नैतिक सत्यों की चिरन्तनता का साक्षात्कार। नैतिक कर्म और अध्यवसाय को जब हम फलदायक और शक्तिशाली

मानकर व्यापक रूप में उनकी सामाजिक चरितार्थता का अवलोकन करते हैं, तब इतिहास केवलमात्र घटनाओं का पुनरावृत्तिचक्र न होकर वैलक्षण्य और नूतनता का अभिदर्शक बन जाता है। हमें विश्वास होता है, जिस प्रकार वैयक्तिक अभ्युदयजनित वैलक्षण्य का दर्शन करने के लिए नीतिमार्ग और धर्ममार्ग अभिप्रेत हैं, उसी प्रकार जातियों और सभ्यताओं के लिए भी। ऐतिहासिक और राजनीतिक क्षेत्र में नैतिकता और धर्मनीति के अवलम्बन का तात्पर्य हो जाता है, एक सामान्य मानवहित की कल्पना से अपने व्यावहारिक कर्मों को अनुप्राणित करना। धर्म की दृष्टि नैतिकता का पर्यवसान इस अर्थ में है कि यह नीतित्व की चिरन्तनता को, विशाल बुद्धिवाद और दीर्घ दृष्टिवाद पर आधारित कर मानव सभ्यता को एक नये प्रकृष्ट रूप का दर्शन कराना चाहती है। नैतिकता का अपहरण पतन का मार्ग रहा है। रोम के साम्राज्य-वाद के पिछले काल के इतिहास से यह बात प्रमाणित होती है। जिस प्रकार नैतिकता और धर्म से वैयक्तिक शक्तियों का आत्मनैष्ठिक केन्द्रीकरण होता है, उस प्रकार जातीय दम्भ, अहंकार आदि के वशवर्ती होने से सभ्यताओं का पतन भी अनिवार्य है। नेपोलियन और हिटलर का जो लज्जाजनक अन्त हुआ, वह नहीं होता यदि उनमें अपेक्षित नैतिकता और धैर्य—जो मनु के अनुसार धर्म का पहला लक्षण है—ह ने।

धर्म [illegible] [illegible]पक अर्थ हमने स्वीकार कि[illegible] है। धर्म एक विराट् श्रेय है और [illegible] [illegible]ना मानव की व्यवसाया[illegible]मका बुद्धि में हुआ है। यह ठीक है कि प्रारम्भिक काल में धर्म का तत्त्व पूरा निखरा हुआ नहीं था। प्राचीन मानवशास्त्र-वेत्ताओं ने आदिम मनुष्यों की अवस्था को देखते हुए प्रेतपूजा या मृतकपूजा या जादू-टोना आदि में धर्म की उत्पत्ति बताई है[१]। अवश्य ही प्रारम्भिक मानवचेतना में धर्म व अने[illegible] सामाजिक प्रथाओं से आवृत्त रहता है[२]। मानव प्राकृतिक शक्तियों से [illegible]र्त होकर उनकी उपासना करता है। इस प्रकार के प्रकृति अनुरक्तामूलक

१ [illegible]er, *Principles of Sociology* खण्ड तीसरा; Sigmund F[illegible]d, *Totem and Taboo*; M. H. G. Sumner और A. G. Keller, *The Science of Society* दूसरा खण्ड; E. Durkheim, *Elementary Forms of the Religious life.*

२. Paul Radin, *Primitive Religion*; S. H. Hooke, *The Origins of Early Semitic Ritual*; A. B. Keith, *Religion and Philosophy of the Vedas and Upanishads*; A. Mac-Donell, *Vedic mythology.*

धर्म की स्थिति का प्रमाण मिस्रदेश, बाबुल, भारत और मिस्र के साहित्य और अवशेषों में प्राप्त होता है[1]। प्राकृतिक शक्तियों की उपासना, अवश्य ही एक ज्ञानप्रवृत्ति को सूचित करती है जिसमें मानव प्रेरित रहता है; किन्तु वह उसका आरम्भिक और अस्पष्ट रूप है। जब मानव-चैतन्य का अधिक विकास होता है तब वह प्राकृतिक पूजा से ऊपर उठकर आत्मनिष्ठता का अनुसरण करता है। आत्मनिष्ठता की अवस्था में नैतिक तत्वों का विशेष प्रकाशन होता है। प्रकृतिनिष्ठता की अवस्था में विस्मय और भय का प्राधान्य रहता है। आत्मनिष्ठता की अवस्था में आदर्शवादिता, सामंजस्य, कल्याण आदि भावनाओं का प्रकटीकरण होता है। सुकरात का नीतिवाद, स्ताइक विचारधारा आदि इसी व्यक्तिनिष्ठता के सूचक हैं। जब इस नीतिमूलक व्यक्तिनिष्ठता का चरम विकास होता है, तब धर्म की परम अवस्था व्यक्त होती है। बौद्धधर्म के ग्रन्थों में इस महत्तर अवस्था का वर्णन आता है। नैतिकता का चरम केन्द्रीकरण और परिपाक ही धर्म है। ऐसी अवस्था में व्यवसायात्मिका बुद्धि की प्रकृष्टता का दर्शन होता है। मानव जीवन को प्रशस्त बनानेवाले तत्त्वों का पूर्ण प्रकटीकरण व्यवसायात्मिका बुद्धि से ही होता है। आरम्भिक काल में इस व्यवसायात्मिका बुद्धि का अभाव न था; किन्तु यह पूर्ण विकसित नहीं थी। धीरे-धीरे इसका विकास होता है[2]। बुद्ध की शिक्षाओं में, इस व्यवसायात्मिका बुद्धि का निखरा हुआ

---

१. Hegel, *Philosophy of Religion* तीन खण्ड. Edward C..., *The Evolution of Religion.*

२. तुलनीय—

F. H. Bradlly, *Ethical Studies* पृष्ठ १६२ : "......if evolution is more than a tortured phrase, and progress to a goal no mere idea but an actual fact, then history is the working out of the true human nature through various incomplete stages towards completion, and, 'my station' is the one satisfactory view of morals. Here all morality is and must be relative, because the essence of realization is evolution through stages, and hence existence is some one stage which is not final; here, on the other hand, all morality is absolute, because in every view every stage the essence of man is realized, however imperfectly;

रूप मालूम पड़ता है, यद्यपि ऋग्वेद के कुछ ऋषियों, विशेषकर दीर्घतमा तथा उपनिषत्कालीन सनत्कुमार, उद्दालक, याज्ञवल्क्य आदि में भी उसका प्रकाशन हुआ है। इस प्रकार कह सकते हैं कि मोहजोदारों की सभ्यता और पूर्ववर्ती वैदिक काल में प्रकृतिनिष्ठता की प्रधानता थी जो धर्म का पाहला रूप है। इस समय अतार्किकता, भयमूलकता आदि से प्रेरित हो प्राकृतिक शक्तियों का उपासन होता है। उत्तरवर्ती वैदिक-काल और उपनिषत्काल में व्यवसायात्मिका बुद्धिजनित आत्मनिष्ठता का विकास हुआ। इस काल में नैतिकता तथा आत्मवाद का विशेष उदय हुआ। इस समय 'आत्मानं विद्धि' का संदेश पाया जाता है। इस प्रकार की आत्मनिष्ठता यहूदी पैगम्बरों की शिक्षाओं में तथा ईसा और संत पाल की शिक्षाओं में भी पाई जाती है। इस प्रकार की आत्मनिष्ठता का आदेश डेकार्ट में भी मिलता है। आत्मानुभव को ही प्रामाणिक मानकर दार्शनिक विचार-प्रणयन का वह आरम्भ करता है। नीतिमूलक आत्मनिष्ठता की इस धारा का उत्कृष्ट रूप सिसेरो और काण्ट में भी व्यक्त होता है। धार्मिक विकास की तीसरी धारा को हम धर्मतत्त्व की अवस्था या भूमावस्था कहते हैं, जब आत्मवाद का रूपान्तर भूतकल्याणवाद में हो जाता है। इस अवस्था में विराट् श्रेयों की सिद्धि होती है और नैतिक चैतन्य का पूर्णतम उदय व्यवसायात्मिका बुद्धि का चरम प्रकाशन करता है। इस विराट् नैतिकता का संदेश हमें धम्मपद में मिलता है। किन्तु धम्मपद में इसका पूर्ण विकास नहीं किया गया है। इसका रूप संकेत तो वहाँ किया गया है; किन्तु उसकी विस्तृत रूप से प्रकृष्ट अभिव्यक्ति वहाँ नहीं की गई है। किन्तु निस्सन्देह वहाँ धर्मतत्त्व के विराट् श्रेय का निदर्शन है। यदि इस तत्त्व को, दार्शनिक राजनीतिशास्त्र के द्वारा अभिमत सामाजिक अनासक्त कर्मयोग के साथ मिलाया जाय तो हमें आज की सभ्यता को समझने तथा इसकी समस्याओं को सुलझाने में सहायता मिलेगी। आज केवल चार आर्य सत्य तथा भिक्षुवाद का उपदेश देने से कार्य न चलेगा। दूसरी ओर नीतिधर्म की उपेक्षा भी विनाशकारी है। अतः आवश्यक है कि आज जगत् की सामाजिक, राजनीतिक

---

and yet again the distinction of right in itself against relative morality is not banished, because, from the point of view of a higher stage, we can see that lower stages failed to realize the truth completely enough, and also, mixed and one with their realization, did present features contrary to the true nature of man as we see it."

और आर्थिक समस्याओं को देखते हुए एक ऐसे परिपूर्ण दर्शन का निर्माण हो जो साथ-ही-साथ आत्मिक, सामाजिक राजनीतिक और भूतात्मवादी कल्याण का साधन करा सके। केवल भिक्षुवाद असंगत है, इसमें ऐतिहासिक प्राणशीलता की कमी होती है। केवल समष्टिवाद अपूर्ण है। आज आवश्यकता है—एक विशाल समन्वय की। अबतक विश्व की विभूतियों के द्वारा जो साहित्य, कला, विज्ञान, दर्शन, धर्म आदि आदि के क्षेत्र में हमें योगदान मिला है, उसकी कदापि उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। अपने देश का अतिरंजित राग आलापनेवाले हेगेल प्रभृति दार्शनिकों के विचार अपूर्ण हैं। मानव-कल्याणवाद के अभाव में केवल प्रजातंत्र या केवल साम्यवाद से भी नहीं चलेगा। ऐसी अवस्था में एक ऐसे समन्वय की आवश्यकता है जो विश्वधर्म और विश्वदर्शन की अक्षुण्ण मौलिक निधियों की रक्षा करता हुआ, विशाल नैतिक और आध्यात्मिक मानववाद को क्रियान्वित करने के वैज्ञानिक और राजनीतिक आधारों की उपेक्षा न करे। इस विशाल समन्वय का आदर्श ही दार्शनिक राजनीतिशास्त्र का नियामक आदर्श है। यही इस युग की मानव और समाजगत समस्याओं का समाधान बता सकता है। इस प्रकार का समन्वय स्थापित करने में विश्व की अनेक विभूतियों ने अनवरत साधना की है। विभिन्न युगों और स्थानों में ऐसे प्रयत्न होते रहे हैं। मानव-इतिहास की नैतिक और धार्मिक विकासधारा को देखते हुए हम इस प्रकार का वर्गीकरण कर सकते हैं:—

(क) **प्रकृतिनिष्ठा की अवस्था**—मिस्र, बाबुल, प्राचीन यूनान, मोहंजोदारो और पूर्ववर्त्ती वैदिक काल की सभ्यता और संस्कृति।

(ख) **आत्मनिष्ठता की अवस्था**—उत्तरवर्ती वैदिक काल, उपनिषद्, कपिलसांख्यशास्त्र, यहूदी पैगम्बर, स्ताइक धर्म, ईसा और संत पाल के उपदेश, डेकार्ट, स्पायनोजा, काण्ट आदि के विचार।

(ग) **भूमा या विराट् श्रेय की अवस्था**—धर्म, भूतकल्याणवाद, मानव-स्वतंत्रता, मानव-समानता और प्रजातंत्रवाद, सामाजिक और आर्थिक न्याय, भ्रातृत्व, अभय तथा व्यवसायात्मिका बुद्धि का पूर्णोदय। इस अवस्था का निदर्शन धम्मपद में हुआ है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र के पूर्वनिर्दिष्ट चार युगों में केवल इसका आंशिक वर्णन हुआ है।

(१) वेद और वेदान्त का आध्यात्मवाद।

(२) प्लेटो, अरस्तू, सिसेरो का शीलवाद।

(३) काण्ट, हेगेल, ग्रीन, बोसांक्वेट का विज्ञानवाद।

(४) दयानन्द, तिलक, गांधी आदि का नैतिक मानववाद।

आज मानव-संस्कृति की रक्षा के लिए आवश्यक है कि नैतिक और आध्यात्मिक मानव के चेतनस्वरूप का पूर्ण निदर्शन हो और इस मानववाद को व्यावहारिक बनाने के लिए मानव-सभ्यता के समस्त उपलब्ध उपकरणों का उपयोग किया जाय। यही दार्शनिक राजनीतिशास्त्र का चरम उद्देश्य है। विराट् श्रेयों का जागतिक परिपाक ही इसका अभीष्ट है।

यद्यपि धर्म का मूलाधार व्यवसायात्मिका बुद्धि है, तथापि इसकी अभिव्यक्ति-क्रिया में अनेक अन्तर हो सकते हैं। ठीक है कि संकल्पन, मनन आदि के समग्र एकीकरण से व्यवसायात्मिका बुद्धि का उदय होता है, किन्तु पूर्ण सत्य किसी एक बुद्धि की ग्राह्यता से परे है। आज पूर्वकालीन व्यवसायात्मिका बुद्धि प्रजनित तत्त्वों का उन्मूलन या नितान्त बहिष्करण कदापि अपेक्षित नहीं है। यह अज्ञान का मार्ग है। ज्ञान की पद्धति समन्वयात्मिका है। जो जितनी अधिक बातों और घटनाओं की व्याख्या कर सके, वह सत्य उतना ही अधिक उपादेय है। अतः सत्य को प्राप्त करने का यही मार्ग है कि अधिक-से-अधिक प्रस्तावों और विचारों का समन्वय हो। आलोचन-पर्यालोचन और समन्वय तथा सामंजस्यस्थापन से ही ज्ञान का अभ्युदय होता है। ज्ञान की इस विशाल समन्वयात्मिका पद्धति का ग्रहण करने से ही हम शनैः शनैः ज्ञान के तात्त्विक स्वरूप का दर्शन कर सकते हैं। इस प्रकार विचार करने से दर्शन और विज्ञान, परा और अपरा विद्या आदि का मौलिक भेद हमें असंगत और कृत्रिम मालूम पड़ता है। शनैः-शनैः हमें मालूम पड़ता है कि जितने अधिक स्रोतों से ज्ञान प्राप्त हो सके, उनको ग्रहण कर उनका समन्वय करना ही श्रेय पथ है। ज्ञान के क्षेत्र में 'यह या वह' की पद्धति ठीक नहीं। आवेश में आकर हठधर्मिता के कारण एक मार्ग को ही श्रेय का परम प्रदर्शन मानना संकुचित मनोवृत्ति का सूचक है। यद्यपि इसलाम, रोमन-कैथोलिक चर्च और मार्क्सवाद ने इस संकुचित मार्ग को ग्रहण कर ज्ञानविरोधी दृष्टि अपना ली है, तथापि दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की यह मान्यता है कि इसलाम के द्वारा उपदिष्ट समानता, रोमन-कैथोलिक चर्च द्वारा समर्थित नैतिकता तथा मार्क्सवाद द्वारा उपस्थित सामाजिक और आर्थिक न्याय की विचारधारा को हमें अपना लेना चाहिए। इस प्रकार विशाल ज्ञान के मार्ग का हम अवलम्बन करते हैं। धर्म के पूर्ण नैतिक स्वरूप का तभी हमें तात्त्विक बोध होता है।

किन्तु धर्म के दो रूप हैं। एक तो इसका तात्त्विक रूप है जिसका अन्तिम साक्षात्कार व्यवसायात्मिका बुद्धि की अवस्था में होता है। धर्म का एक दूसरा व्यावहारिक रूप है जिसका अभिदर्शन हमें अबतक के ऐतिहासिक धर्मों में होता है। इन ऐति-

हासिक धर्मों में आंशिक रूप से व्यवसायात्मिका बुद्धि का प्रकटीकरण आंशिक रूप से सामाजिक रूढ़ियों, मतों, परम्पराओं का अनुप्रवेश दीख पड़ता है। प्राचीन काल की सभ्यताओं में राजकीय शक्ति को दैवीतत्त्व से आविष्ट मानने की परम्परा भारत, सुमेर, चीन और मिस्र में प्राप्त होती है। मिस्र देश और बाबुल में तो कुछ समय तक पुजारियों के वंश ने अपना राज्य भी स्थापित किया था। प्राचीन काल की सभ्यताओं में ऐसा विश्वास प्रचलित था कि एक राज्य का दूसरे पर विजय, देवताओं की कृपा का फल है। इसी कारण मिस्र देश में आमन-रे, बाबुल में मारडूक, फिलिस्तीन में महोभा और ऋग्वेदकालीन भारत में इन्द्र की अभ्यर्थना की जाती थी। उस समय एक राज्य दूसरे राज्य के ऊपर अपनी विजय को अपने देवता का दूसरे राज्य के देवता पर विजय का चिह्न मानता था। इस समय कभी-कभी घोर धार्मिक असहिष्णुता के दर्शन भी होते हैं। यहूदियों के अन्दर इस प्रकार की असहिष्णुता का उग्ररूप देखा जा सकता है। जिस प्रकार अकबर ने भारत में 'दीन-इलाही' चलाने का प्रयास किया था, उसी प्रकार मिस्रदेशीय राजा अखनातेन ने ऐटन अर्थात् सूर्यदेव की उपासनापरक एक एकेश्वरवादी धर्म प्रचारित करने का प्रयास किया। ये दो राजकीय शक्ति के धर्म-क्षेत्र में प्रवेश के प्राचीनकालीन उदाहरण हैं।

धर्म के नैतिक रूप की अभिव्यक्ति भगवान् बुद्ध के उपदेशों में हुई। ब्राह्मण-यज्ञयाग और अनर्गल कर्मकाण्ड का खंडन कर नैतिक और आत्मिक उन्नयन के आर्य-अष्टांगिक मार्ग का समर्थन बुद्ध ने मानव-इतिहास में एक विशाल कार्य किया। उनके निर्मल तपस्वी जीवन और महान् त्याग ने जगत् के इतिहास को प्रभावित किया। बुद्ध के धर्म के व्यावहारिक रूप का भारतीय इतिहास पर बड़ा विशुद्धकारी प्रभाव रहा। अशोक, कनिष्क, हर्षवर्धन आदि सम्राट् इसके राजनीतिक आदर्शवाद के मूर्त संदेश-वाहक थे। कर्मयोग और ज्ञानयोग तथा आत्मिक और प्राणिमात्रव्यापी कल्याण का समन्वय कर बुद्ध ने नैतिक और धार्मिक उत्कर्ष को परिवर्धित किया। बौद्धभिक्षुओं ने चीन, जापान, पूर्व एशिया, पश्चिमी एशिया आदि अनेक भूखण्डों में मानव समानता और चारित्रिक संशोधन का संदेश सुनाया। अशोक ने जान लाक से प्रायः दो हजार वर्ष पूर्व धार्मिक सहिष्णुता का पाठ पढ़ाया। बौद्ध धर्म की नीतिशीलता का मूर्तिमान राजनीतिक आदर्श उसने उपस्थित किया। बुद्ध ने प्रकृतिनिष्टता और सामाजिक परम्परा के स्थान पर मानव चैतन्य को प्रतिष्ठित करने का जो महान् उद्योग किया, वह मानव को आत्मिक विश्वास और स्वातंत्र्य का पाठ पढ़ाने में बड़ा कृत-कार्य हुआ।

ईसाई धर्म का ऐतिहासिक रूप यद्यपि अनेक काले कारनामों से युक्त है, तथापि

इस धर्म के प्रचार का महत्त्वपूर्ण नैतिक परिणाम भी अवश्य स्मरणीय है। जब ईसाई धर्म के आन्दोलनात्मक और संगठित रूप का रोम के साम्राज्यवाद से समझौता हुआ तब अवश्य इसमें शक्ति और सैन्यवाद का रूप आ गया तथापि ईसाई धर्मप्रचारकों ने जो प्रेम, आत्मनिष्ठता, समानता आदि की शिक्षा दी, उसका उल्लेखनीय प्रभाव हुआ है। ईसाई नीतिशास्त्र ने धार्मिक व्यक्तिवाद के उदय में बड़ा कार्य किया है। संत फ्रांसिस, संत टामस आदि पुरुषों का पश्चिमी संस्कृति के नैतिक और बौद्धिक उन्नयन में महत्त्वपूर्ण हाथ है। कुछ विचारकों ने साम्यवाद, प्रजातंत्र, अधिकारवाद के पीछे भी ईसाइयत का प्रभाव खोजा है। हेगेल और बर्जाइभ का खयाल था कि ईसाइयत ने पश्चिमी मानवता को मानव के नैतिक व्यक्तित्व का महत्व दिखाया है। लिंडसे के अनुसार सत्रहवीं शताब्दी के प्यूरिटन धर्मप्रचारकों ने प्रजातंत्र को पल्लवित करने में महत्त्वपूर्ण भाग लिया है[१]। मार्क्स वेबर विकसनशील पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का नैतिक आधार ईसाइयत में, विशेषतः जान काल्विन की शिक्षाओं में, पाता है। ईसाइयत की शिक्षाओं से प्रभावित होकर दान्ते, काण्ट और मेजिनी आदि ने मानव-एकता का संदेश व्यक्त किया है। इसलाम ने अनेक ऐतिहासिक कुकृत्यों को करने के बावजूद मानव-समानता का आंशिक प्रचार और व्यवहार कर, मानव इतिहास में एक बड़ा कदम उठाया है[२]।

भारतीय वेदान्त का भी ऐतिहासिक प्रभाव बड़ा जबरदस्त रहा है। इसने मानव एकता की भावना को प्रचारित करने में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। मध्य-कालीन साधु-संतों ने वेदान्त के आधार पर मानव-समानता का प्रचार किया और उन्हें अपने प्रचार-कार्य में सफलता भी मिली। आधुनिक युग में, राममोहन, राम-कृष्ण, विवेकानन्द, रामतीर्थ, तिलक, गांधी, रवीन्द्रनाथ, लाजपतराय, मालवीय आदि गीता और वेदान्त से प्रभावित होकर कर्मयोग, समाजसुधार, देशप्रेम आदि का प्रचार करने में समर्थ हुए हैं और इन्हें बहुत सफलता प्राप्त हुई है।

आधुनिक युग में अनेक राजनीतिक आन्दोलन धार्मिक भावनाओं से अनुप्राणित रहे हैं। वैदिक सभ्यता के पुनरुद्धार का संदेश देकर एक प्रचण्ड राष्ट्रवाद को मज-बूत करने में आर्यसमाज का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। बंगाल के स्वदेशी आन्दोलन में वेदान्त का आदर्श कार्य कर रहा था। समस्त भारत को माता के रूप में कल्पित

१. A. D. Lindsay : *The Essentials of Democracy*; *The Modern Democratic State.*

२. Amir Ali, The Spirit of Islam ; M. Iqbal, *Reconstruction of Religious Thought in Islam.*

करनेवाला बंकिमचन्द्र का महान् गान 'वन्देमातरम्' देश को दुर्गा, कमला आदि के रूप में वर्णित कर देशभर का प्रिय बन गया। भारतीय राष्ट्रवाद के अतिरिक्त, आयरलैण्ड का राष्ट्रीय आन्दोलन भी नैतिक और सांस्कृतिक भावनाओं से प्रभावित था। रूसी समाजशास्त्रियों और दार्शनिकों ने उन्नीसवीं शताब्दी के अपने देश के आन्दोलनों में आर्थोडाक्स चर्च की धार्मिक शिक्षाओं का प्रभाव स्वीकृत किया है। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में इसलाम का पुनरुद्धार आरम्भ हुआ और मिस्र तथा अन्य मुसलिम देशों में चैतन्य उत्पन्न करने में इस नव-इसलाम का अच्छा स्थान रहा है। इस प्रकार राजनीतिक आन्दोलन को आदर्शवान् और तेजस्वी बनाने में धार्मिक शिक्षाओं का ऋण स्वीकार करना चाहिए[1]।

धर्म समग्रदर्शी है। यह मनुष्य को नीतिमान् और आध्यात्मिक बनने की शिक्षा देता है। आज की सभ्यता को प्रत्यक्ष और शीघ्र भावी खतरे से बचाने के लिए अनेक विचारकों ने धार्मिक चेतना के पुनरुद्धार और प्रसारण का सन्देश दिया है। विवेकानन्द एक विश्वव्यापी सर्वमानवोपयोगी धर्म का व्यवहारीकरण चाहते थे। उनका विश्वव्यापी धर्म मानव को चैतन्ययुक्त और उत्कृष्ट मनुष्य बनाना चाहता है। रामकृष्ण ने अपने आध्यात्मिक अनुभवों के आधार पर यह कहा था कि सब महान् धर्म सत्य की अभिव्यक्ति करते हैं। उसी को आधारभूत मानकर विवेकानन्द ने अपने प्रसिद्ध शिकागो व्याख्यान में यह कहा था कि सत्यरूपी समुद्र को प्राप्त करने के लिए विभिन्न धर्ममार्ग नदियों के समान हैं। वेदान्त को शक्तिप्रद मानकर 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' को ही उसका मूल रहस्य स्वीकार कर वेदान्त का इस युग में प्रचार विवेकानन्द, रामतीर्थ आदि ने किया। रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी उपनिषद्प्रोक्त, आध्यात्मिक मानववाद का प्रसार चाहते थे। 'अयमात्माब्रह्मवाद' उनकी शिक्षाओं का सार था। धर्म की नीतिधर्म के रूप में व्याख्या कर, गांधीजी धर्म और राजनीति को अलग करना असंगत मानते थे। सत्याग्रह का पथ उनके मत में प्रशस्त धार्मिक और राजनीतिक मार्ग का समन्वय है। धर्म की प्राणप्रद शिक्षाओं के बिना वे राजनीति को मृतवत् मानते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त से ही काण्ट के दर्शन का यूरोप में नूतन अध्ययन आरम्भ हुआ। हरमान कोहेन, पाल नाटराय, फोरलाण्डर, कैसिरेर आदि इस आन्दोलन के सूत्रधार थे। काण्ट के विचारों के पुनरुद्धार का राजनीतिक आन्दोलन पर भी प्रभाव पड़ा। जर्मन समाजशास्त्रीय और विचारक बर्न्सटायन ने कहा कि मार्क्सवाद को काण्ट की नैतिक शिक्षाओं से समन्वित

१. Hans Kohn, *A History of Nationalism in the East*; Zacharias, *Renascent India*; लाजपतराय, तरुण भारत।

करना होगा। मार्क्स आडलर भी ऐसा ही मानता था। रूसी दार्शनिक और धर्मशास्त्रवेत्ता वर्जायभ का ऐसा प्रस्ताव है कि जो दिव्य समग्रदर्शी मानववाद यूरोपीय मध्ययुग में प्रचलित था उसको फिर व्यवहार में लाना चाहिए। उसकी मान्यता है कि धार्मिक अनुभूति ही क्रियात्मिका शक्तियों का स्रोत है और इसलिए आज कोरे मानववाद की खोज में थकी हुई श्रान्त यूरोपीय मानवता को फिर ईसाइयत के आध्यात्मिक स्रोत से आप्लावित करने का उसने जोरों से प्रस्ताव किया है। सोरोकिन का कहना है कि आज पश्चिमी सभ्यता भौतिकवाद, यंत्रवाद, मापात्मकतावाद आदि के छ: सौ वर्षव्यापी युग की सान्ध्यवेला से गुजर रही है। यदि क्रान्ति, युद्ध, पारिवारिक विशृंखला और सर्वविध उन्मूलन से त्राण पाना है तो फिर उस संसर्जनात्मिका परमार्थवृत्ति का उदय और व्यापक प्रसारण होना चाहिए, जिसका संदेश संतों, महात्माओं और रहस्यवादी सम्प्रदायों ने दिया है। अंग्रेजी इतिहासकार ट्वायनबी का ऐसा प्रस्ताव है कि आज मानव-सभ्यता भयंकर खतरे से गुजर रही है। आज के भयानक संकट का मुख्य कारण है धार्मिक शिक्षाओं का अभाव। धर्मभावना के अभाव में मानव दुखी, पीड़ित और आतंकित है।

यदि एक ओर धार्मिक अनुभूति और धर्म की कल्याणकारिणी भावना के पुनरुद्धार का स्पष्ट संदेश अनेक विचारक दे रहे हैं[1], तो दूसरी ओर ऐसे अनेक दार्श

१. Benedetto Croce, *Politics and Morals*, पृष्ठ ९५ "It is therefore necessary, in lay society as well as in the Church, that from time to time apostles, martyrs and saints intervene; these certainly cannot be made artificially, but must be trusted to Providence, which will continue to send them on earth, as it has always done. For this reason, many think that the fundamental problem of our times is a religious one; I, too, am of this opinion, but with the added comment that the problem of all times is religious and that our problem is not a matter of inventing a new religion for our times, but of making ever stronger and more profound the existing religion, which once used to be called inborn or natural religion and now, might be called historical religion."

निक और समाजशास्त्रीय सम्प्रदाय खड़े हुए हैं जो स्पष्टतः धार्मिक न होते हुए भी धर्म के मूल मंत्र आध्यात्मिक और नैतिक मानववाद का समर्थन करते हैं। अगस्ट कौम्ट का विधेयात्मकतावाद यद्यपि एक धार्मिक चर्च का रूप नहीं धारण कर सका, तथापि इसने मानववाद का बड़ा प्रचार किया। लास्की अपने पिछले जीवन में मार्क्सवादी हो गया था तथापि मानव के व्यक्तित्व पर सर्वदा उसने बल दिया है। मैकिवर भी स्वतंत्र श्रेयों को महत्त्व प्रदान करता है। यद्यपि मैकिवर और लास्की धर्म का नाम नहीं लेते तथापि जिस मानववाद का वे समर्थन करते हैं, उसकी व्यापक तार्किक व्याख्या यदि की जाय तो मानना पड़ेगा कि मनुष्य किसी विराट् आध्यात्मिक चेतना का प्रकाश कर रहा है और इसी आधार पर ही उसके प्रकृष्ट महत्त्व का समर्थन हो सकता है। प्रजातंत्र के द्वारा प्रवर्तित अर्घों और श्रेयों का जोरदार समर्थन मैकिवर और लास्की करते हैं किन्तु मेरे विचार में प्रजातंत्र के मुख्य श्रेय—स्वतंत्रता और समानता—धार्मिक और नैतिक भावनाएँ हैं। कार्ल मानहायम का ऐसा विचार था कि प्रजातंत्रीय योजना को सबल बनाने के लिए धार्मिक पुनरुद्धार की बड़ी गहरी आवश्यकता है।

मानव सभ्यता और संस्कृति की रक्षा के लिए मैं धर्म को आवश्यक मानता हूँ। किन्तु धर्म से मेरा मतलब रविवार को चर्च में जाना या नमाज पढ़ना या मन्दिर में हरिकीर्तन करना नहीं है। धर्म का अर्थ है पूर्णता की ओर अभिगमन। क्षुद्र स्वार्थों से दूर हट कर अनासक्त कर्मयोग का पालन मैं धर्म का रहस्य मानता हूँ। स्वार्थहानि और व्यापक करुणा को मैं धर्म का प्राण समझता हूँ और इसीलिए बुद्ध के जीवन को मैं सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ। इस प्रकार का परमार्थमूलक धर्म ही मानव को पशुत्व से ऊपर खींच कर देवत्व का दर्शन करा सकता है। पूर्णता की ओर बढ़ना ही सत्य है। दुनिया के संगठित धर्मों ने मानव-सभ्यता को उत्कृष्ट बनाने में बड़ा कार्य किया है, यद्यपि संकुचित मनोवृत्ति के कारण अनेक दुष्कृत्य भी धर्म के नाम पर किये गए हैं। किसी संगठित धर्म विशेष को जगत् का धर्म बनाना, इस विचार को मैं छिपे हुए या प्रत्यक्ष स्वार्थसाधक देशप्रेम का ही रूप मानता हूँ। मैं किसी के विश्वास पर धक्का नहीं देता। जो असंगत विश्वास हैं वे विज्ञान और तर्कणात्मक दर्शन के प्रचार और प्रसार से स्वतः शिथिल हो जायँगे। धार्मिक विश्वासों को लेकर लड़ना पागलपनमात्र है। मेरी दृष्टि में समस्त मनुष्य समान हैं। समस्त धार्मिक आन्दोलन आज यदि आध्यात्मिक नैतिक मानववाद का भाव दृढ़ नहीं करते तो मानव-कल्याण के लिए जो प्रजातंत्रीय नैतिक समाजवाद अपेक्षित है उसकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। मेरा विश्वास है कि समस्त धर्म, स्वार्थहानि की शिक्षा देते हैं।

बौद्धधर्म और वेदान्त धर्म सांसारिक पदार्थों की तात्विक असारता का वर्णन कर हमारे सामने पाशबद्धता को छोड़कर विराट् श्रेय प्राप्ति का मार्ग उपस्थित करते हैं। जो मनुष्य, अपनी आत्मा की आवाज को सुनकर सच्चे हृदय से मानव-पीड़ा को हटाने में सहायता करता है, वही धार्मिक है। हृदय-संशोधन धर्म का रहस्य है न कि वाह्य चिन्हों और प्रतीकों का धारण। धर्म हृदय की वृत्ति है। अहर्निश धार्मिक विषयों पर व्याख्यान देनेवाला, किन्तु स्वार्थलोलुप अनैतिक आचरण करनेवाला, मनुष्य कदापि धार्मिक नहीं है। यदि कोई नास्तिक साम्यवादी अपने शुद्ध हृदय से मानव जाति की सेवा करता है तो वह तेल और युद्धास्त्र बेचकर महती पूँजी इकट्ठी कर उसका एक हिस्सा चर्च को दान करनेवाले धनाधीश की अपेक्षा अधिक ईश्वरभक्त है। समग्रदर्शिणी बुद्धि का अभ्युत्थान और मानव-कल्याणकारिता के सहारे पूर्णता या भूमा की ओर बढ़ना ही धर्म का मार्ग है। स्पष्ट है कि इस प्रकार विराट् श्रेयों का--जिन्हें छांदोग्य उपनिषद् में वर्णित भूमा नाम मैंने दिया है--सतत प्रकाशन, अनुचिंतन और क्रियान्वयन ही संस्कृति के त्राण का एकमात्र मार्ग है[1]। यही सृजनात्मिकता का रहस्य है। नूतन संसर्जन का मूल आधार है अभिनवता या वैलक्षण्य की सृष्टि। पूर्णता की ओर अभिमुख होने से ही यह शक्ति प्राप्त होती है। इसी शक्ति का नाम है प्रतिभा और निष्णात होने पर यही प्रतिभा प्रज्ञा का रूप धारण करती है। बुद्धिव्यतिरिक्त यह कोई वृत्ति नहीं है, अपितु संकल्पन, मनन आदि के नितान्त एकीकरण की ही यह अवस्था है।

धर्म का अर्थ भूमा या विराट् श्रेय कर, अथवा इसे पूर्णता को प्राप्त कराने वाली परमार्थाभिमुखी वृत्ति कहकर, हम इसका विशाल तात्पर्य स्वीकार कर रहे हैं। किन्तु राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से हमें यह भी विचार कर लेना है कि वैयक्तिक और सामाजिक विकास में संगठित धार्मिक आन्दोलनों का क्या स्वरूप रहा है। आधुनिक युग में धर्म और धार्मिक संगठनों का भयंकर खण्डन मार्क्सवाद ने प्रस्तुत किया है। इसकी मीमांसा भी आवश्यक है। मार्क्स और ऐंगल्स के मत में धर्म की उत्पत्ति किसी विराट् प्रज्ञा में नहीं होती है। जिन उत्पादन शक्तियों के सहारे मानव का दैनिक जीवन नियंत्रित होता है उन्हीं का असंगत प्रकाशन धर्म है। आरम्भिक अवस्था में उत्पादन-प्रक्रिया की सरलता के कारण मानव का ज्ञानक्षेत्र सीमित था। इसलिए मनुष्य प्रकृति की शक्तियों का रहस्य समझने में अत्यन्त अक्षम था। अतः

१. यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं . . . यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यति अन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यं।

वह उनकी पूजा करता था। ऐंगल्स का कहना है कि इस प्रकार बर्बरता और जंगलीपन के जमाने में धर्म की उत्पत्ति हुई। आज की दुनिया में पण्य द्रवों की पूजा होती है। मनुष्य इन पण्य-द्रव्यों को अपने श्रम से उत्पन्न नहीं समझकर इनको स्वतंत्र पदार्थ मानता है। जिस प्रकार प्राचीन काल में प्रकृति के समक्ष असमर्थता थी उसी प्रकार पूँजीवादी समाज में पूँजी की अज्ञात भयंकर शक्तियाँ मानव को अपना दास बनाती हैं। इस प्रकार मार्क्स के शब्दों में पण्य-द्रव्योपासन होता है[१]। लेनिन ने कहा है कि पूँजी के भय और अनिश्चितता से वर्तमान युग में धर्म की उत्पत्ति होती है[२]। इस प्रकार धर्म की उत्पत्ति अबुद्धिवाद में होती है। दूसरी ओर

१. Marx, *Capital I*, पृ० ८३: "But it is different with commodities. There, the existence of things *qua* commodities and the value relation between the products of labour which stamps them as commodities, have absolutely no connection with their physical properties and with the material relation arising therefrom. There it is a definite social relation between men, that assumes in their eyes, the fantastic form of a relation between things. *In order, therefore, to find an analogy, we must have recourse to the mist-enveloped regions of the religious world. In that world the productions of the human brain appear as independent beings endowed with life, and entering into relation both with one-another and the human race.* So it is in the world of commodities with the products of men's hands. This I call the Fetishism which attaches itself to the products of labour."

२. Lenin, *Religion* (न्यूयार्क, १९३३) पृष्ठ १४-१५ : "In modern capitalist countries the basis of religion is primarily *social.* The roots of modern religion are deeply embedded in the social oppression of the working masses, and in their apparently complete helplessness before the blind forces of capitalism, which every day and every hour causes a

धार्मिक आन्दोलन में भाग लेनेवाले चर्चशाह और पुजारी अज्ञान फैलाकर जनता से धन लेते हैं और राजनीतिक सत्ताधारियों का पृष्ठपोषण करते हैं। सांसारिक सुख और न्याय को प्राप्त करने का उपदेश देने के बदले स्वर्गलोक की कल्पनाओं में विचरण करना धर्म सिखाता है। छब्बीस वर्ष की अवस्था में लिखे हुए अपने निबंध 'हेगेल के राजनीतिक दर्शन का आलोचन' में मार्क्स ने कहा था कि धर्म अफीम है[१]। उसके अनुसार मनुष्य को सच्चा आनन्द प्रदान करने के लिए धर्म का अपाकरण नितान्त आवश्यक है। पुरातन साम्यवाद के अन्तिम दिनों में धर्म वर्तमान था। उस समय कबीलों के अलग-अलग देवी-देवता होते थे। शनैः-शनैः एक देव महादेव घोषित किया गया। ईसाइयत की उत्पत्ति के पीछे मार्क्सवाद ऋणग्रस्त कृषकों, दासों और पीड़ित प्रान्तवासियों का आन्दोलन देखता है। जब पूँजीवाद उत्पन्न हुआ तो उसके अनुरूप प्रोटेस्टेन्ट धर्म उत्पन्न हुआ जिसने मानव का अत्यन्त अमूर्त भावमय रूप कल्पित किया। काल्विन के पूर्व नियतिवाद की सामाजिक व्याख्या करते हुए एंगल्स ने बताया कि व्यापारिक और औद्योगिक अनिश्चितता को तर्कसंगत बताकर मनुष्य को आत्मविश्वास देने के लिए ही इसकी उत्पत्ति हुई है। काल्विनवाद प्रजातंत्रात्मक था और उसके गणतंत्रीय और प्रजातंत्रीय प्रभाव को, हालैण्ड को एकराज्यवाद से मुक्ति प्रदान करने में एंगल्स ने स्वीकार किया है। मार्क्सवाद के अनुसार साम्यवाद के विकास से जब प्रचुरमात्रा में उत्पत्ति होगी तथा जब विज्ञान के विकास से जीवन तर्कसंगत हो जायगा तब स्वतः ही धर्म की मृत्यु हो जायगी।

---

thousand times more borrible suffering and torture for ordinary working folk than are caused by exceptional events such as war, earthquake etc. 'Fear created the gods.' Fear of the blind forces of capital--blind because its action cannot be foreseen by the masses—a force which at every step in life threatens the worker and the small businessman with sudden, unexpected, accidental destruction and ruin, bringing in their beggary, pauperism, and deaths from starvation—this is the taproot of modern religion."

१. Marx "Introduction to a Critique of the Hegelian philosophy of Law", published in the *Deutsche-Franzosische Jahrbucher.* द्रष्टव्य--Adams, *Karl Marx in his Earlier Writings.*

इसलाम और ईसाइयत दोनों को ही आर्थिक आन्दोलनों का छद्म या आवरण एंगल्स ने कहा है। मार्क्सवादीय, समाजशास्त्रीय आधार पर धर्म की उत्पत्ति का सिद्धान्त हाइनरिख क्यूनो तथा अन्यों ने निर्भित किया है। क्यूनो के अनुसार धार्मिक मतों की उत्पत्ति में प्राकृतिक वातावरण तथा सामाजिक जीवन दोनों का प्रभाव पड़ता है[१]। कुछ दिन तक क्यूनो का विचार मार्क्सवादियों में प्रचलित था किन्तु ब्रिटिश प्राचीन मानवशास्त्रवेत्ता टायलर के भूतवाद (एनिमिज्म) पर आधारित होने के कारण वोल्शेविकों ने इसका खंडन किया है और रूसी साम्यवादी क्षेत्रों में क्यूनो की अब कोई पूछ नहीं है[२]।

धर्म का जोरदार खंडन अवश्य ही मार्क्सवाद ने किया है। जिस समय मार्क्स विद्यार्थी अवस्था में था उसी समय और पहले भी बायबिल का आलोचन करने का आन्दोलन चल रहा था। एक प्रकार से फ्रांसीसी भौतिकवाद के समय में ही ईसाइयत के धर्मशास्त्र का खंडन शुरू हो गया था। मार्क्स इस परम्परा से फ्वारबाख के सहारे परिचित था। सन् १८४१ ई० में फ्वारबाख की पुस्तक 'ईसाइयत का मूल तत्त्व' प्रकाशित हुई।[३] फ्वारबाख के अनुसार लोकोत्तरवाद का खंडन कर विधेयात्मक और भौतिकवादी दृष्टि से ईसाइयत का मूलतत्त्व —ईश्वर की मानव के रूप में पूजा, प्रकाशित होना चाहिए। फ्वारबाख का भौतिकवाद उसके इस विचार में व्यक्त हुआ कि मनुष्य जो खाता है उसी के अनुसार उसके आत्मा का निर्माण होता है। इस प्रकार फ्रांसीसी भौतिकवाद, ट्यूबिनजेन स्कूल का बायबिल-परीक्षणवाद[४] और फ्वारबाख का लोकोत्तरवादविरोधी भौतिक वाद—इन तीन धाराओं से परिचित होने के कारण मार्क्स का यथार्थवादी और तर्कप्रधान मस्तिष्क धर्म के प्रतिकूल हो गया था। दूसरी ओर यह भी न भूलना चाहिए कि उस समय यहूदियों के खिलाफ अनेक कारवाइयाँ होती थीं। यद्यपि सन् १८१३ के बाद से प्रशिया में यहूदियों को नागरिक अधिकार दिये गये, तथापि यूरोपीय मानवता संकीर्ण ईसाइयत के कारण यहूदियों के प्रतिकूल जबरदस्त भेदभाव की नीति को अपनाती थी। मार्क्स का कोमल यहूदी हृदय इसके विपरीत प्रतिक्रिया कर बैठा। उसने देखा कि जबतक धर्म

---

१. H. Cunow, *Ursprun gder Religion und des Gottesglawbens* (Berlin, 1920).

२. N. Berdyaev, *The Origin of Russian Communism*, पृष्ठ १६३.

३. L. Feuerbach, *The Essenco of Christianity*.

४. D. F. Strauss, *Das Laben Jesu*, ट्यूबिनजेन १८३५-३६। द्रष्टव्य· Mehring, *Life of Marx*, पृष्ठ १६-१७, २१-२२, २७, ६०-६१, ६६.

के पचड़े से मनुष्य को न हटाया जायगा तबतक सामाजिक और राजनीतिक समस्याएँ नहीं सुलझ सकतीं। इन कारणों से मार्क्स धर्म और विशेषतः संगठित धर्मों का घोर शत्रु बन गया। लेनिन ने देखा कि रूस का आर्थोडाक्स चर्च जारशाही का खुलेआम समर्थन करके जनता को उत्पीड़ित और त्रस्त रखने में सहायता कर रहा था। स्वार्थलोलुप पादरियों और मठाधीशों का जीवन बिलकुल निकम्मा और अनाध्यात्मिक हो गया था। इन सब कारणों से लेनिन ने कहा कि धर्म मनुष्य को कायरता, झूठे संतोष और लोकलोकान्तर के गपोड़े, आदि के सहारे क्रान्ति के पथ से विमुख करता है। लेनिन की मान्यता थी कि राज्य और चर्च में कोई अफसरी ढंग का सम्बन्ध नहीं रहना चाहिए। रूसी जारशाही और आर्थोडाक्स चर्च का गठबंधन छिन्न भिन्न होना चाहिए। उसने आह्वान किया कि साम्यवादी पार्टी जोरशोर से नास्तिकता का प्रचार करे। किन्तु एंगल्स के अनुसार वह भी मानता था कि जैसे-जैसे वर्ग-संघर्ष तीव्र वेग धारण करेगा और साम्यवाद में उसकी परिणति होगी वैसे-वैसे धर्म स्वतः ही मृतप्राय हो जायगा। इस प्रकार मार्क्सवादी लेनिन साम्यवाद को ही रूसी जनता के मानसिक शोषण को हटाने का सच्चा मार्ग मानता था।

मार्क्सवाद द्वारा उपस्थित इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या ने निश्चित ही समाज और राजनीति के क्षेत्र में वर्तमान धर्म के पचड़े को दूर हटाने का एक जबरदस्त सन्देश दिया है। संगठित धार्मिक आन्दोलन के नेताओं और उनके अनुयायियों ने लोकोत्तरवाद, फरिश्तावाद, स्वर्गवाद, दिव्यशक्तिवाद आदि का आश्रय लेकर मनुष्य को कितनी तकलीफें दी हैं और कितना उसका शोषण किया है, यह इतिहास के विद्यार्थियों को विदित है। जनता के अज्ञान का फायदा उठाकर वैतरणी पार कराने का और स्वर्ग में सीट दिलाने का ढोंग भी मठाधीशों ने किया है। वैयक्तिक शक्ति प्राप्त करने के लिए हजारों मनुष्यों को धर्म का नशा पिलाकर अनेक युद्ध और हत्याएं की गई हैं। यदि खैबर की घाटी से आसाम तक की जमीन को आवाज हो तब वह बोल उठेगी कि धर्मान्ध आततायियों ने किस-किस क्रूरता का उपयोग किया है। अत्याचार, अनाचार, क्रूरता, दम्भ, पागलपन से धार्मिक इतिहास भरा हुआ है। निश्चित ही नरकवाद और देववाद की अफीम पिलाकर अनावश्यक रूप में जनमस्तिष्क को विकृत किया गया है। प्रत्येक देश के इतिहास में इस प्रकार के काले कारनामें भरे पड़े हैं। इस प्रकार के घोर असत्य के प्रति जो आक्रमण मार्क्स ने किया है और उसे अफीम कहा है उसमें अवश्य ही सचाई है। पादरीवाद की पोल खोलने में लेनिन का महत्त्व अवश्य ही स्वीकार करना होगा।

किन्तु मार्क्सवाद के ऋण को स्वीकार करते हुए भी दार्शनिक राजनीतिशास्त्र

उसके विचारों को अपूर्ण मानता है। मार्क्स के आक्षेप प्रचलित धर्मावलम्बियों के लिए उपयुक्त होते हुए भी अपूर्ण हैं। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र धर्म को विराट् श्रेय का वाहक और नीतिमत्ता का संदेशज्ञापक मानता है और इस श्रेय के बिना मानव प्रयत्न अधूरा और साध्यहीन हो जायगा। प्रचलित धार्मिक संगठनों का पर्दाफाश कर मार्क्सवाद ने विराट्श्रेयमूलक धर्म के लिए जमीन प्रशस्त कर दी है। तार्किकता तथा बौद्धिकता के आधार पर ही दार्शनिकराजनीतिशास्त्र का मूलतत्त्व, पूर्णताभिमुखी आध्यात्मिक नैतिक मानववाद प्रतिष्ठित हो सकता है। आज आवश्यकता है कि संगठन, चर्च-शाही, मठपूजा आदि के पाश से जनता को मुक्त किया जाय। इन्होंने निश्चित ही अज्ञानी और भोलीभाली जनता को अफीम पिलाई है। आज जनता को मानव-कल्याणप्रसारक, पूर्णताप्राप्तिसाधक, विराट्श्रेयमूलक धर्मतत्त्व के भूमाशब्दवाच्य, अमृत की आवश्यकता है। मठों, गिरजों, मन्दिरों और मसजिदों की अफीम के बदले, उस धर्मामृत की आवश्यकता है जो सर्वभूतों से तादात्म्य प्राप्त करानेवाले आत्मिक और लोककल्याण का संदेश देता है। आज की समस्याएँ इसी महान् धर्म से हल होंगी।

मार्क्सवाद का ऐसा विचार है कि धर्म, उत्पादनक्रिया का एक प्रकाशनमात्र है[१]। प्रारम्भिक काल में उत्पादनक्रिया की अविकसितावस्था में ज्ञान का प्रकाश कम

१. Karl Marx, Capital I पृष्ठ ६१ : "*The religious world is but the reflex of the real world.* And for a society based upon the production of commodities, in which the producers in general enter into social relations with one another by treating their products as commodities and values, whereby they reduce their individual private labour to the standard of homogeneous human labour—for such a society, Christianity with its *cultus* of abstract man, more especially in its bourgeoid developments, Protestanism, Deism, etc., in the most fitting form of religion. ......Those ancient social organisms of production.... can arise and exist only when the development of the productive power of labour has not risen beyond a low stage, and when, therefore, the social relations within the sphere of material life, between man and man, and

था और इसीलिए प्राकृतिक शक्तियों के ऊपर निर्भरता थी। यह ठीक है कि मिस्र देश, ऋग्वेद और होमरपूर्ववर्ती यूनान में हमें प्राकृतिक उपासना के प्रमाण मिलते हैं। किन्तु प्राकृतिक उपासना के ज्ञान की अल्पता, तथा ज्ञान की अल्पता का बीज उत्पादन क्रिया की सरलता में खोजना, यह क्रम सर्वत्र उपयुक्त नहीं है। धर्म का सम्बन्ध मानव की रागात्मक वृत्तियों से है। जागतिक सुखभोग की असारता को देखते हुए किसी पूर्णतर सत्य की खोज का यह परिणाम है। धार्मिक श्रेय का बीज हमने व्यवसायात्मिका बुद्धि में माना है। प्रारम्भिक अवस्था में यह बुद्धि अनेक आवरणों से आवृत्त रहकर अपना प्रकृष्ट प्रकाश नहीं कर पाती है। किन्तु जो ज्ञान-वृत्ति अन्ततः व्यवसायात्मिका बुद्धि का रूप ग्रहण करती है, वह प्राचीन मानव हृदय में थी, परन्तु पूर्ण विकसित नहीं थी। संस्कृति के विकास के साथ उसका विकास हुआ है। स्मरण रहे कि धार्मिक वृत्ति के मूल में व्यवसायात्मिका बुद्धि को मान रहा हूँ, धार्मिक प्रतीकों तथा धार्मिक वाह्य कर्मकाण्डों का नहीं। संस्कृति के उत्थान के साथ मानव के ज्ञान में बहुत विकास हुआ है; किन्तु उसके हृदय की मूलप्रवृत्ति वैसी ही है। व्यवसायात्मिका बुद्धि की अवस्था मानव की समस्त वृत्तियों के केन्द्रीकरण की अवस्था है। अतः प्रारम्भिक अवस्था में धार्मिक माने जानेवाले उपकरण, पदार्थ, प्रतीक, पताका आदि भले ही मानव के अविकसित ज्ञान के सूचक हों, तथापि मानव-हृदय में वर्तमान धर्मवृत्ति स्वतंत्र और महत्त्वपूर्ण है। इसी धर्मवृत्ति से प्रेरित हो मानव कल्याणकारी कार्य करता है। संस्कृति और ज्ञान के विकास के साथ-साथ इस धर्मवृत्ति के वाह्य प्रकाशनों में महान् अन्तर आ जाता है और पीछे चलकर केवल आन्तरिक अनुसंधान से भी इसे सन्तोष हो सकता है। यह धर्मवृत्ति सर्वदा वर्तमान है। इस धर्मवृत्ति का सम्बन्ध जगत् में वर्तमान मृत्यु, विनश्वरता, असारता आदि से ज्ञानपूर्ण परित्राण में है। प्राचीनकाल में भी ये घटानाएँ वर्तमान थीं। अतः धर्मवृत्ति को अज्ञानप्रजनित मानना ठीक नहीं है। इस वृत्ति के कुछ वाह्य प्रकाशनों के अज्ञानसूचक होते हुए भी यह वृत्ति स्वतंत्र वर्तमान है। आज के अश्रेयवादी, भौतिक जगत् में भी हम देखते हैं कि लोग देश, नेता, दल आदि को ही अपनी पूर्ण उपासना का केन्द्र बना रहे हैं। धर्म की वृत्ति शाश्वत और सर्वत्र वर्तमान है; क्योंकि मानव को सर्वदा अनित्यता से पाला पड़ता है। जागतिक अनित्यता से धर्म-

---

between man and nature, are correspondingly narrow. *This narrowness is reflected in the ancient worship of nature,* and in the other elements of the popular religions."

वृत्ति उद्बुद्ध होती है[१]। कन्फ़ुसियस, बुद्ध, संत फ्रांसिस का जीवन इसको प्रमाणित करता है। माता की मृत्यु के कारण उद्विग्न हो कन्फ्युसियस तीस वर्षों तक इस घटना पर विचार करता रहा। मृतक, पीड़ित, वृद्ध को देखकर ज्ञान की खोज में बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण सर्वविदित है। भयंकर रोग से पीड़ित होकर संतफ्रांसिस विलासी युवक से संत हो गये। अतः संसार में वर्तमान अनित्यता ही मानवहृदय में वर्तमान धर्मवृत्ति को जागरूक बनाती है। स्वामी दयानन्द को भी बहन और चाचा की मृत्यु से ही धार्मिकता और योग का अनुसंधान करने की प्रेरणा मिली।

मार्क्सवाद इतिहास की उत्पादन-क्रिया-सम्बन्धमूलक व्याख्या उपस्थित करता है और इसका विचार है कि धार्मिक आन्दोलन इसी उत्पादन-क्रिया और समबन्धों के अनुरूप होते हैं। किन्तु इतिहास का अध्ययन बताता है कि जगत् के अनेक महान् धार्मिक आन्दोलनों के पीछे उत्पादन-क्रिया में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का दर्शन नहीं होता। उदाहरणार्थ बौद्धधर्म का आन्दोलन किसी महान् उत्पादनात्मक परिवर्तन, जैसे दासप्रथा से सामन्तप्रथा या कृषक दासप्रथा आदि में रूपान्तर की अनुरूपता में नहीं हुआ था। इसलाम के उद्भव के पूर्व भी किसी महान् उत्पादनात्मक या आर्थिक परिवर्तन का आभास नहीं मिलता। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वातावरण या सामाजिक परिस्थिति के प्रभाव की हम उपेक्षा कर रहे हैं। किसी धर्म को सफलता मिली या कोई धर्म लुप्त हो गया, इसमें ऐतिहासिक परिस्थितियों का महान् प्रभाव है। बौद्धधर्म, जैनधर्म और आजीवक सम्प्रदाय अथवा कापिलमतावलम्बियों के तुलनात्मक ऐतिहासिक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। किन्तु धार्मिक आन्दोलनों के

---

१. तुलनीय-Spengler, *Decline of the West* II पृष्ठ २६५ : "Religion may be described as the Waking—Being of a living creature in the moments when it overcomes, masters, denies, and even destroys Being. Race-life and the pulse of its drive dwindle as the eyes graze into an extended, tense, and light-filled world, and Time yields to space. Not hate and love, but fear and love are the basic feelings of religion......There are two sorts of deeper fear—one is fear *in presence of* microscopic freedom in space, before space itself and its powers, before death; the other is fear *for* the cosmic current of being for life, for directional Time."

पीछे किसी उत्पादन-प्रक्रिया के कारणात्मक कारकत्व का स्वीकार हमें अभीष्ट नहीं है। आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज या रामकृष्ण आन्दोलन के पीछे उत्पादनक्रिया-सम्बन्धी कोई रूपान्तर कार्य नहीं कर रहा था। धर्म का उद्भव प्रकृष्ट महात्माओं और तत्त्वदर्शी पुरुषों की व्यवसायात्मिका बुद्धि में होता है और ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुरूप ही धार्मिक शिक्षाओं और आन्दोलनों को साफल्य मिलता है। इतिहास में ऐसा भी देखा गया है कि अनेक देशों में उत्पादन-प्रक्रिया समान रहने पर भी उनका धार्मिक विकास भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। उदाहरणार्थ, मिस्रदेश, बाबुल और प्राचीन यूनान तीनों में दास-प्रथा वर्तमान थी; किन्तु इनके धार्मिक विश्वासों में महान् अन्तर है।

मार्क्स प्रोटेस्टेन्ट मत को पूँजीवाद के पूर्णतः अनुरूप मानता था; क्योंकि इसमें भावमूलक मानव का विचार पाया जाता है। मार्क्स के मरने के बाद पूँजीवाद और प्रोटेस्टेन्ट तथा काल्विनवाद के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में अनेक अनुसंधान हुए हैं। माक्स वेबर तथा सोम्बार्ट ने पूँजीवाद के पीछे वर्तमान आदर्शों तथा श्रेयों के अनुसंधान का महान् प्रयास किया है। वेबर, ऐतिहासिक भौतिकवाद की आलोचना करते हुए ऐसा मानता है कि धार्मिक श्रेयों की उपेक्षा मार्क्सवाद की भूल है। विकसित पूँजीवाद में कार्यकरणात्मक स्वतः प्रसूत वृत्तियां होती हैं जो व्यक्तिगत पूँजीपतियों को अनुप्रेरित करती हैं; क्योंकि उनके अनुकूल आर्थिक कार्यों पर ही उनकी सुरक्षा आश्रित होती है। विकसित पूँजीवादी व्यवस्था में आर्थिक क्रिया की अनुप्रेरणा-शक्ति के विषय में मार्क्स और माक्स वेबर में एकमत्य है। किन्तु प्रारम्भिक-पूँजीवाद के निमित्त प्रोटेस्टेन्ट मतों और सम्प्रदायों—उदाहरणार्थ बैपटिस्ट, कैल्विनवादी, क्वेकर, मेथोडिस्ट आदि के--द्वारा प्रचारित ऐहलौकिक तपोभावना, माक्स वेबर के मत में आवश्यक थी। ऐहलौकिक तपोभावना आर्थिक कर्मों से प्रोत्पन्न धनराशि को ईश्वरानुग्रह का चिह्न मानती है। यह परिग्रह का समर्थन करती है और इस प्रकार अर्थानुसंधानकारिणी क्रिया तात्पर्यवती और फलवती बनती है। किन्तु यद्यपि नैतिक और धार्मिक श्रेयों को एकमात्र, पूँजीवाद का कारणभूत वेबर नहीं मानता है तथापि उसका निश्चित विश्वास था कि प्रोटेस्टेन्ट आचारशास्त्र पूँजीवाद को उत्पन्न करने में एक प्रचण्ड आधार था। वेबर का आंशिक खण्डन करते हुए भी अर्थशास्त्री सोम्बार्ट आर्थिक क्रिया में अर्थव्यवस्था और उपकरण के अतिरिक्त आर्थिक श्रेय अर्थात् मूलभूत आदर्शों का महत्त्व प्रकृष्ट रूप से स्वीकार करता है। मार्क्स की इस स्थापना के—कि प्रोटेस्टैन्ट धर्म का मानव-सम्बन्धी विचार पूँजीवाद के पूर्णतः अनुरूप है—विपरीत हम देखते हैं कि लूथर, मेलांकथन आदि का धार्मिक पुनरुद्धार-आन्दोलन जर्मनी में हुआ

जो पूँजीवादी दृष्टि से अविकसित था और इंगलैण्ड और इटली के नगरों में नहीं, जो जर्मनी की अपेक्षा पूँजीवादी दृष्टि से बढ़े-चढ़े थे। काल्विनमत का प्रकृष्ट रूप भी स्काटलैण्ड में व्यक्त हुआ जो पूँजीवाद की दृष्टि मे उस समय अविकसित था। दूसरी ओर, पश्चिमी देशों के साथ राजनीतिक संघर्ष के कारण भारत, रूस और जापान में भी पूँजीवाद का विकास हुआ; किन्तु इन देशों में प्रोटेस्टैन्ट मत का प्रभाव नहीं है। कृषकदासप्रथा के समय के रूस और पूँजीवादी रूस में किसी प्रकार का धार्मिक परिवर्तन नहीं देखा गया। अतः अर्थव्यवस्था का प्रकाशन या छायाचित्र धर्म को मानना ठीक नहीं है।

दार्शनिक राजनीतिशास्त्र धार्मिक वृत्ति को मौलिक और मानव-हृदय में वर्तमान मानता है। इतिहास के अनेक उदाहरण इसका समर्थन करते हैं। ईसाई धर्म-शहीदों का बलिदान, सिक्ख गुरुओं का आश्चर्यकारी त्याग, लेखराम, श्रद्धानन्द आदि का बलिदान, बताता है कि अनेक देश और काल में धर्मभावना को मौलिक मानने के उदाहरण प्राप्त हैं। धर्मशहीदों की गाथाओं से इतिहास तेजस्वी बनता है। राजपूत वीरांगणाओं का मध्ययुग में विस्मयकारी आत्मबलिदान इस बात का ज्वलंत प्रमाण है कि अनेक अवसरों पर धार्मिक अनुप्रेरणा, आर्थिक और राजनीतिक स्वार्थों और प्रलोभनों पर विजय पाती है। वित्तैषणा के त्याग से ही धर्मवृत्ति विकसित होती है। लगातार तीन हजार वर्षों तक भयंकर अत्याचार और कष्ट का सामना करते हुए भी यहूदियों ने अपने धार्मिक नेताओं और पैगम्बरों के संदेश को बनाये रखने की कोशिश की है। भारतीय संस्कृति ने सर्वदा ही सांसारिक सुखभोग और एषणा-तुष्टि को धर्ममर्यादा के सामने तुच्छ माना है। अतएव धार्मिक वृत्ति और धार्मिक क्रिया को आनुषंगिक और आर्थिक तथा उत्पादनात्मक वृत्ति को मौलिक मानने के लिए कोई ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। धर्म के खण्डन में कभी-कभी मार्क्सवादी आवश्यक मर्यादा का उल्लंघन कर जाते हैं। लेनिन का विचार था कि टाल्सटाय का साहित्य, पूँजीवाद के विरोध में पितृमूलक ग्रामीण सभ्यता के पक्ष में प्रतिक्रिया उपस्थित करता है[१]। टाल्सटाय के साहित्य में जो यथार्थवाद व्यक्त हुआ है और पूँजीवादी सभ्यता का जो नग्न चित्र दिखाया गया है, उसका समर्थन करता हुआ भी लेनिन टाल्सटाय के नीतिधर्म का उपालम्भ करता है। स्मरण रखना चाहिए कि टाल्सटाय के इस नीतिधर्म का ही महात्मा गांधी पर प्रभाव पड़ा था[२]।

१. Lenin, *Religion*.

२. Leo Tolstoy, *The Kingdom of God is Within You*; *The Gospel in brief*.

लेनिन ने कहा है कि टाल्सटाय राजकीय पादरियों के स्थान में नैतिक विश्वास के पादरियों को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं और यह उनका अत्यन्त घृणित प्रकार की पादरीशाही प्रचलित करने का प्रस्ताव है[१]। अपने कथन के समर्थन में कोई युक्ति लेनिन ने नहीं दी है। स्पष्ट है कि एक मतविशेष से अपनेको बाँध देने के बाद निष्पक्षपात होकर अन्य विचारकों का अनुशीलन करना अत्यन्त कठिन हो जाता है। धर्म की जिस महती भावना ने पतनोन्मुख टाल्सटाय को शांति दी और विलासी युवक को ऋषि बनाया, उसका सम्प्रदायमदान्ध लेनिन की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं है। मानव जीवन को आदर्शयुक्त और नैष्ठिक बनाने में हम धर्म का महत्त्व स्वीकार करते हैं।

प्रजातंत्रीय व्यवस्था में धर्म और धार्मिक आन्दोलनों के प्रति क्या नीति व्यवहार में आनी चाहिए, यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। प्रायः अब ऐसा विचार उपस्थित किया गया है कि राज्य का किसी धर्मविशेष से कोई सम्बन्ध नहीं रहना चाहिए[२]। यूरोपीय धार्मिक सुधार-आन्दोलन के बाद कई देशों में, पोप के स्थान

---

१. Lenin, "Leo Tolstoy as a mirror of the Russian Revolution", *Religion* पृष्ठ ३६-४१ : "On the one hand, the soberest realism, and the tearing away of all and every kind of mask. On the other hand, *the advocacy of one of the most corrupt things existing in the world, religion*—the attempt to replace the official state priests by priests of moral conviction, i.e., the cultivation of the most subtle, and therefore the most especially loathsome kind of clericalism......Tolstoy as a prophet discovering new recipes for the salvation of humanity is merely amusing—and therefore those Russian and foreign "Tolstoyans who seek to transform this, the very weakest side of his teaching into a dogma are thoroughtly contemptible."

२. सामाजिक प्रवृतियों के दृढ़ीकरण के लिए रूसो ने एक 'नागरिक धर्म' का विचार प्रस्तुत किया। उसके निम्नलिखित सूत्र थे:—

(क) एक शक्तिशाली करुणामय ईश्वर की सत्ता में विश्वास।

(ख) भविष्य-जीवन में विश्वास (the life to come)

(ग) न्यायशीलों को और अन्यायकारियों को क्रमशः आनन्द और दण्ड मिलेगा, इसमें विश्वास।

में राजा ही, धर्मनेता बन बैठा। इंगलैण्ड में आठवें हेनरी ने यह परम्परा स्थापित की। यूरोप के तीस-वर्षीय युद्ध के बाद यह प्रस्ताव रक्खा गया कि जो धर्म राजा का हो, प्रजा भी उस धर्म को ही माने। किन्तु इतिहास ने अनेक बार इस प्रस्ताव को भ्रामक और असिद्ध प्रमाणित किया है। यूरोप-विजयी नेपोलियन को भी फ्रांस की प्रजा को सन्तुष्ट करने के लिए रोमन कैथोलिक चर्च से समझौता करना पड़ा। धीरे-धीरे यूरोपीय समाज में सहिष्णुता की नीति का अवलम्बन किया गया। सन् १५९६ ई० में हेनरी चतुर्थ ने नानटिज का अनुशासन जारी कर फ्रांसीसी ह्यूरान सम्प्रदाय को बहुत नागरिक और धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की। सन् १८१९ ई० में इंगलैण्ड ने रोमन कैथोलिक लोगों को नागरिकता का अधिकार प्रदान किया। धार्मिक सहिष्णुता के विकास में अनेक शक्तियों का माहात्म्य है। विज्ञान और तर्कणात्मक तथा भौतिक-वादी दर्शन के विकास से धर्म के प्रति जो कट्टरपन और मुल्लापन की भावना थी, उसमें बड़ी कमी हुई है। सृष्टिशास्त्र और तुलनात्मक इतिहासशास्त्र के विकास ने धर्मग्रन्थों में वर्णित अनेक बातों को असंगत सिद्ध कर, उदारवाद की वृद्धि की है। तुलनात्मक समाजशास्त्र के विकास के साथ अन्य सभ्यताओं का ज्ञान प्राप्त हुआ है और दूसरों की प्रथाओं, परम्पराओं आदि को सहानुभूतिपूर्वक समझने की प्रवृत्ति का उदय हुआ है। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में ऐसे विचारक उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने कर्मकाण्डात्मक और विश्वासमूलक धर्म के स्थान पर आध्यात्मिक अनु-भूति को प्रश्रय दिया है। भारतवर्ष में परमहंस रामकृष्ण, विवेकानन्द, दयानन्द, महात्मा गांधी, अरविंद आदि ने धर्म को मानसिक उदाराशयता को प्रदान करनेवाली अनुभूति के रूप में समझने की कोशिश की है। गांधी का आश्रम संसार में पहला स्थान था जहाँ संसार के प्रत्येक धर्मग्रन्थ से उद्धरण पढ़े जाते थे। अमरीका में विश्व धर्मों का महान् सम्मेलन या संसद बुलाया गया। इन प्रचारकों और आन्दो-लनों के फलस्वरूप समस्त संसार में ऐसी लहर फैल गई कि धर्म का असली तात्पर्य उस समग्रग्राहिणी व्यापक अनुभूति से है जो मानव के हार्दिक और बौद्धिक अभ्युदय का पथ है, न कि कर्मकाण्डविशेष से। आज संसार में अनेक आर्थिक और राजनीतिक

(घ) सामाजिक अनुबन्ध और विधियों की पवित्रता में विश्वास।

(ङ) असहिष्णुता का निराकरण।

दार्शनिक राजनीतिशास्त्र की यह स्थापना है कि धर्म एक विराट् श्रेय है और इससे सामाजिक कल्याण की संसिद्धि होती है। किन्तु सामाजिकता के प्रवर्धन के लिए ही नागरिक धर्म की उद्भावना का प्रस्ताव इसकी दृष्टि में कृत्रिम है।

प्रश्न उपस्थित है और मध्ययुगीन, यूरोप, भारत और अरब में धार्मिक प्रश्नों का जो प्राय: एकमात्र साम्राज्य था, उसकी परिसमाप्ति हो चली है। धार्मिक प्रश्न आज बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं समझे जाते हैं। धार्मिकता के प्राचीन गढ़ भारतवर्ष में भी आज राजनीतिक और आर्थिक अभ्युदय का मार्ग ही प्रशस्त समझा जाता है और धर्म 'कम फैशनेबुल' हो गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सहिष्णुता आज के युग की आवश्यकता हो गई है। अब कोई देश यदि देवराज्य के नाम पर राज्य और धर्मविशेष का सम्बन्ध स्थापित करना चाहे तो हम उसे प्रतिक्रियावादी समझते हैं। अत: जिस धार्मिक सहिष्णुता का सन्देश भगवान् बुद्ध, अशोक, जान लौक और विवेकानन्द तथा गांधी ने दिया है, वह आज की समस्याओं के समाधान के लिए उपयोगी है। यद्यपि इंगलैण्ड में अभी राज्य द्वारा संचालित ऐंगलिकन चर्च वर्तमान है, तथापि यूरोपीय और अमरीकी देशों ने धर्मनिरपेक्षता और सर्वधर्मसहिष्णुता की नीति का अवलम्बन किया है। अभी भी इस नीति का व्यवहार में पूरा पालन नहीं होता है। संयुक्त राज्य अमरीका में अभी भी यहूदियों के प्रति घोर विद्वेष और भेदभाव की नीति का यद्यपि अवलम्बन होता है, तथापि सिद्धान्तरूप में यह मान लिया गया है कि प्रजातंत्रीय समाज को किसी धार्मिक आन्दोलन से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। हाब्स तथा स्पायनोजा का ऐसा प्रस्ताव था कि राज्य को चर्च के ऊपर नियंत्रण करना चाहिए। अशोक के धर्मलेखों से मालूम पड़ता है वह बौद्धसंघ पर आंशिक नियंत्रण रखता था; किन्तु आज प्रजातंत्रीय समाज के अनुरूप यही ठीक है कि धर्म को नागरिकों का वैयक्तिक विषय माना जाय।

किन्तु धर्मनिरपेक्ष राज्य को भी शांति और सुरक्षा के नाम पर यदाकदा धार्मिक प्रश्नों में हस्तक्षेप करना ही पड़ेगा। विश्वास और अनुभूति का सम्बन्ध मानव की रागात्मिका वृत्ति से है। धर्म के उस रूप में राज्य कोई दखल नहीं दे सकता[1]।

---

१. तुलनीय—Rousseau, *Social Contract*, नागरिक धर्म नामक अन्तिम अध्याय: "Now, it matters very much to the community that each citizen should have a religion. That will make him love his duty; but the dogmas of that religion concern the State and its members only so far as they have reference to morality and to the duties which he who professes them is bound to do to others. Each man may have, over and above, what opinions he pleases, without its being the Sovereign's business to take cognizance

किन्तु धर्म के नाम पर सामाजिक कुरीतियों, उदाहरणार्थ —बहुपत्नीत्व या बहुपतित्व या नरहत्या आदि को कोई राज्य नहीं सह सकता। राज्य और धार्मिक आन्दोलन के सम्बन्ध का बड़ा बृहद् रूप तब उपस्थित होता है जब कोई मनुष्य या कोई गिरोह धर्म के नाम पर युद्ध नहीं करना चाहता। प्रथम और द्वितीय महासमर में प्रजातंत्रीय देशों में अनेक मनुष्य इसलिए कारगार के अन्दर रक्खे गये; क्योंकि राज्याज्ञा के प्रतिकूल उन्होंने युद्ध में जाने से इनकार कर दिया। इस सम्बन्ध में केवल यही कहा जा सकता है कि जिसे सिद्धान्ततः अहिंसा में विश्वास हो, उसे युद्धक्षेत्र में बल-प्रयोग के द्वारा भेजना किसी भी सभ्य राज्य के लिए लज्जा का विषय है। किन्तु राजकीय सुरक्षा का यह तकाजा है कि ऐसा मनुष्य सचमुच में अहिंसक हो। खतरे से बचने के लिए अहिंसा का आश्रय लेना, इस नीति को राज्य नहीं सह सकता। धर्मनिरपेक्षता की नीति का आश्रय लेते हुए भी, धार्मिक संस्थाओं की सम्पत्ति के सम्बन्ध में यदा-कदा राज्य को हस्तक्षेप करना पड़ेगा। केवल व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार का आश्रय लेकर सम्पत्ति का घोर संग्रह करना प्रजातंत्रीय सामाजिक न्याय के प्रतिकूल है। राज्य को यह भी देखना है कि धर्म के नाम पर किसी असमाजोचित कार्य में धार्मिक सम्पत्ति का अपव्यय तो नहीं होता है। अतः प्रजातंत्रीय राज्य की यही नीति हो सकती है कि जहाँतक अनुभूति और वृत्ति का सम्बन्ध है, उसे धर्म में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, किन्तु जहाँ तक धार्मिक संस्थाओं का प्रश्न है, वहाँ उनके आन्तरिक प्रश्नों में हस्तक्षेप न करते हुए भी राज्य को उनके संस्थात्मक रूप का प्रश्न आने पर, जैसा वह अन्य संस्थाओं से व्यवहार करता है, वैसा ही कार्य करना होगा।

राज्य को धर्मनिरपेक्ष रखना आज के युग की माँग है। जिस प्रकार अन्य क्षेत्रों में विचारस्वातंत्र्य की आवश्यकता है, उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भी। किन्तु धर्मनिरपेक्षता के नाम पर पाठशालाओं में नैतिक और धार्मिक शिक्षण को हटा देना मैं असंगत मानता हूँ। यह कहा गया है कि धार्मिक और नैतिक शिक्षा घर पर मिलनी चाहिए; किन्तु यह अपूर्ण है। शिक्षा और राज्य के सम्बन्ध पर मीमांसा करते हुए प्लेटो ने बताया है कि राज्य की रक्षा करने के लिए सुयोग्य निष्णात नागरिकों की आवश्यकता है। इसके लिए कुमारावस्था में तेजस्वी बनानेवाली वीर-

---

of them; for as the Sovereign has no authority in the other world, whatever the lot of its subjects may be in the life to come, that is not its business, provided they are good citizens in this life."

गाथाओं और धर्मशिक्षाओं की आवश्यकता है। भारतवर्ष ने सर्वदा आदर्शवाद को प्रधानता दी है। प्रारम्भिक अवस्था में धर्मशिक्षा नहीं देने से राम, भीष्म, कृष्ण, शंकर, दयानन्द, गांधी आदि की जो अक्षुण्ण सांस्कृतिक परम्परा इस देश में रही है, वह समाप्त हो जायगी। भारतवर्ष और जगत् के लिए वह दुर्दिन होगा। मैं धर्म के नाम पर किसी मतवाद का प्रचार नहीं चाहता हूँ। धर्म का अर्थ है—नैतिक-आध्यात्मिक मानववाद का पोषण। मैं समझता हूँ कि धम्मपद और भगवद्गीता इस कार्य के लिए पर्याप्त हैं। स्कूलों में कल्याणकारिणी मानववादपोषिणी धार्मिक और नैतिक शिक्षा मिलने से चरित्र, नैतिकता आदि की पुष्टि होगी। प्राचीन भारतीय शिक्षा का आदर्श था—ब्रह्मचर्य। अथर्ववेद में कहा है 'ब्रह्मचर्येण राजा राष्ट्रं विरक्षति।' कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कहा है—'श्रुतादि प्रज्ञोपजायते प्रज्ञया योगो योगादात्मवत्तेति विद्यासामर्थ्यम्।' कौटिल्य ने विद्या और विनय को राजकीय शक्ति का मूल माना है। अतः प्रजातंत्रीय राज्य व्यवस्था में चारित्र्यवर्द्धक, नागरिकतापोषक, आदर्शवाहक, नैतिकतामूलक धार्मिक शिक्षण का आरम्भिक स्कूलों और पाठशालाओं में प्रबन्ध अवश्य होना ही चाहिए।

धर्म का व्यापक और उदात्त स्वरूप है। इसके व्यावहारिक और क्रियात्मक रूप का सम्बन्ध राजनीति से भी है। सामाजिक शांति, सुरक्षा और व्यवस्था के नाम पर राज्य उचित अंश तक धार्मिक संस्थाओं का नियंत्रण कर सकता है। किन्तु जहां तक धर्म के दार्शनिक और अनुभवात्मक पक्ष का सम्बन्ध है, वहां तक वह राज्य की व्यवस्था से स्वतंत्र है। राजकीय दण्डशक्ति का आधार लेकर वैज्ञानिक और दार्शनिक प्रश्नों पर निश्चयात्मक निर्णय प्रकट करना उपहासास्पद है। स्वतंत्र विवेचन-बुद्धि से ही दर्शन की उन्नति सम्भव है। वैयक्तिक अनुभूति का जहां तक सम्बन्ध है, वह निजी और व्यक्तिसापेक्ष है। धर्म का प्राण है— परमार्थसाधिका आध्यात्मिक अनुभूति की प्राप्ति। रूपान्तरकारिणी अनुभूति के अभाव में धर्म वाग्जाल और शब्दाडम्बर का रूप धारण कर लेता है। किन्तु इस अनुभूति का प्रदेश राज्य का अगन्तव्य है। अतः धर्म के सैद्धान्तिक और आनुभूतिक प्रदेश से राज्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। जहां तक धर्मविशेष को माननेवाला समुदाय सामूहिक रूप से कोई कार्य करता है, वहाँ तक राज्य से उसका सम्बन्ध हो सकता है।

धर्म के प्रश्न की मीमांसा करते हुए हमें राजनीति और दर्शन की समन्वयशीलता का ज्ञान होता है। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र का आधारभूत सिद्धान्त है, आध्यात्मिक मानववाद। मानव केवल भौतिक और रासायनिक तत्त्वों का संघातमात्र नहीं, अपितु चिन्मयतत्त्व का विलक्षण प्रतिनिधि है। इसी चेतन मानव को लक्ष्यभूत

कर, उसकी पूर्णतम परिपाकावस्था की प्राप्ति के निमित्त, दार्शनिक राजनीतिशास्त्र, प्रजातंत्र और सामाजिक न्याय की व्यवस्था समाज में करना चाहता है। विराट् श्रेयों का पूर्णतः क्रियान्वयन हो सके, इसके लिए अपेक्षित है कि मानव को कर्मयोग और ज्ञानयोग की शिक्षा मिले। कर्मयोग और ज्ञानयोग के समन्वय का आदर्श ही स्वस्थ सशक्त समाज की रचना कर सकता है और मानव को भी उदात्ततर जीवन का दर्शन करा सकता है। जैसे-जैसे मानव व्यवसायात्मिका बुद्धि का अनुसंधान करेगा, वैसे वैसे अहंभाव का अवसान होगा और इस प्रकार सामाजिक लोकयात्रा के विघ्न समाप्त होते जायेंगे। केवल उत्पादनराशि को बढ़ाने से ही प्रश्नों का समाधान नहीं होगा। मनुष्य की अतिरंजित और अपरिमार्जित एषणाओं का नियन्त्रण अवश्य करना होगा। स्वस्थ समाज की रचना का प्रश्न कोई स्वतंत्र प्रश्न है नहीं। मानव के जीवन-सुधार और सामाजिक परिष्कार, दोनों अन्योन्याश्रित हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि दार्शनिक राज-नीतिशास्त्र हमारे सामने एक सर्वतोभावेन पुष्ट, व्यापक, सम, विराट् श्रेय उपस्थित करता है। आध्यात्मिक नैतिक मानववाद का पोषण कर यह हमारा तुच्छ भौतिक-वाद से त्राण करता है। सामाजिक और नैतिक श्रेयों का उत्कृष्ट महत्त्व प्रतिपादन कर निरा लोकोत्तरवाद और प्रत्ययवाद से भी यह हमें मुक्ति प्रदान करता है। दर्शन का जो व्यापक अर्थ हमने किया है, वह भारतीय संस्कृति की समग्रदर्शिनी दृष्टि से प्रभावित है। भारतीय आर्यों की संस्कृति सर्वदा विशालता और व्यापकता को प्रश्रय प्रदान करती है। विचारों का दमन और सैद्धान्तिक एकतन्त्रवाद इसको कदापि अभीष्ट नहीं है। राज्य और संस्कृति के क्षेत्र में इसने सर्वदा व्यवधान उपस्थित रक्खा है। राज्य को संस्कृति का वाहक बनना होगा। राज्य को संस्कृति का परिचालक और नियंत्रणकर्ता मानना संस्कृति का हनन करना होगा। सर्वविध स्वतंत्रता की प्राप्ति ही आर्य संस्कृति का परमोद्देश्य है। संस्कृति का परम लक्ष्य है—सर्जनात्मिका स्वतंत्रता का परिपोषण। संस्कृतिप्रश्रयसमन्वित स्वतंत्रता का आध्यात्मिक नीतिमान् मानव के द्वारा अनुसंधान, राजनीतिशास्त्र को केवलमात्र दण्डनीतिशास्त्र में परिणत होने से बचावेगा। मानव-उन्नति का स्रोत आध्यात्मिक है। मानव की परिनिष्णात तर्कणा-शील बुद्धि जब निष्काम भाव से विराट् श्रेयों को चरितार्थ करेगी तब शासनतंत्र निर्मल आदर्शों से युक्त होगा। पद और वित्त की एषणा से ऊपर उठकर, मानव-कल्याण को सिद्ध करने के लिए, ज्ञान और विज्ञान का नैतिकीकरण और आध्यात्मिकी-करण करना होगा। दार्शनिक राजनीतिशास्त्र का यही महान् सन्देश है। यह परम निर्भयता का मार्ग है।

अनुक्रमणिका

अ

आ

इ

ख

ग

च

छ

ज

ट

थ

द

फ

म

ल

श

ह

परिषद्-प्रकाशनों पर बहुमूल्य सम्मतियाँ

थोड़े-से ही समय में 'परिषद्' ने आशातीत सफलता प्राप्त की है। विशेष महत्त्व की बात यह है कि परिषद् के उद्देश्य उसकी उदार वृत्ति और व्यापक दृष्टि के द्योतक हैं। इसके द्वारा हिन्दीसाहित्य सर्वांगपूर्ण होगा और सच्चे साहित्य को प्रोत्साहन मिलता रहेगा। —आचार्य नरेन्द्रदेव

आपकी पुस्तकों को देखकर प्रसन्नता होती है और गर्व भी होता है। आप हिन्दी के भण्डार को सर्वांग-सम्पन्न बनाने का काम जिस सफलता से कर रहे हैं, उसको देखकर यह विश्वास होता है कि शीघ्र ही हमारा वाङ्मय ऐसे स्तर पर पहुँच जायगा कि किसी को उसपर आक्षेप करने का साहस न हो सकेगा। --डाक्टर सम्पूर्णानन्द

परिषद् ने ग्रन्थ-प्रकाशन के जिस आयोजन का श्रीगणेश किया है, यह देश-भर में निस्सन्देह अनूठा है। देश की ज्ञानगरिमा और उच्च शिक्षा की आवश्यकता की पूर्ति के लिए, यह ज्ञानदान की शास्त्रीय विवेचनात्मक परम्परा का-टोटे का-धन्धा कोई अन्य प्रकाशक कर भी तो नहीं सकता। इन पुस्तकों के प्रकाशन से 'बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्' एक विद्यापीठ बनती चली जा रही है। प्रभु करे, 'बिहार की ज्ञान-साधना' तथा आपका सम्मिलित यज्ञ उत्तरोत्तर उन्नत, विस्तृत तथा सफल हो। —('कर्मवीर'-सम्पादक) माखनलाल चतुर्वेदी

आजकल कुछ विरोधियों के द्वारा यह बात कही जाती है कि हिंन्दी में ऊँचे साहित्य की न्यूनता है। ऐसी बातों का उत्तर हमें विवाद करके नहीं, विनयपूर्वक ऐसे कार्य करके ही देना है, जैसा कार्य बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् कर रही है। ऐसे प्रकाशनों से कोई भी साहित्य गौरवान्वित हो सकता है। --राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त

हिन्दी के प्रत्येक पुस्तकालय, शिक्षालय और अध्येता के पास परिषद् के प्रामाणिक ठोस और उपयोगी सद्ग्रन्थों का रहना अति आवश्यक है। —मासिक 'नया समाज' (कलकत्ता)

आशा है कि परिषद् अपने प्रकाशनों से भारतीय वाङ्मय की प्रतिष्ठा बढ़ायगी।
--डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

परिषद् की ग्रन्थ-निधि देखकर चित्त गद्गद् हो गया। --डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को प्रकाशित करके परिषद् ने हिन्दी के पाठकों और अनुसंधान-विद्यार्थियों के प्रति बड़ा उपकार किया है। इस समय हिन्दी की जो सेवा परिषद् से हो रही है, वह अद्वितीय और मुक्तकण्ठ से सराहनीय है। ---डा० त्रिलोकीनाथ दीक्षित

बिहार राष्ट्रभाषा की ठोस सेवा कर रहा है। —पं० रामनरेश त्रिपाठी

परिषद् राष्ट्रभाषा की जो सेवा कर रही है, उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए हर्ष होता है। —डा० अमरनाथ झा

परिषद् निश्चय ही देश की एक प्रधान संस्था बनेगी और उसके द्वारा उपयोगी कार्य होंगे। जहाँ हिन्दी की अन्य संस्थाएँ आपसी मतभेद से खिन्न हो रही हैं, वहाँ परिषद् ने नया आदर्श और नया संदेश दिया है। ---डा० रामकुमार वर्मा

परिषद् के प्रकाशन अभूतपूर्व हैं। बिहार वर्त्तमान में राष्ट्रभारती की जो श्रीवृद्धि कर रहा है, वह औरों के लिए अनुकरणीय है। —जैनाचार्य मुनिकान्त सागर

'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल'

भारतीय वाङ्मय के प्रकाण्ड विद्वान् लेखक ने अपने संस्कृत-अपभ्रंश साहित्यों तथा भाषाओं के विशिष्ट ज्ञान तथा परम्परा-शोधक ऐतिहासिक दृष्टि का पूर्ण मनोयोग के साथ सदुपयोग किया है और उसके परिणामस्वरूप जो अध्ययन प्रस्तुत किया है, वह निस्सन्देह अत्यन्त उपादेय है। यह ग्रन्थ हमारे आदिकाल के संबंध में अनेक समस्याओं का समाधान करता है, अनेक महत्त्वपूर्ण रहस्यों का उद्घाटन करता है, और उस बीहड़ में प्रवेश करने के लिए नवीन सरणियों का निर्देशन करता है। —डा० नगेन्द्र

'विश्वधर्म-दर्शन'

धर्म और दर्शन के इतने व्यापक क्षेत्र की एक ही स्थान पर सामग्री प्रस्तुत करनेवाली हिन्दी में यह अपने ढंग की सर्वप्रथम पुस्तक है। —मासिक 'कल्पना', हैदराबाद (दक्षिण)

'हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन'

डा० वासुदेवशरण ने तत्कालीन समाज और संस्कृति का इन ढाई सौ पन्नों में एक सजीव चित्र खींचा है जो देखते ही बनता है। इस प्रकार का अध्ययन अंग्रजी आदि विश्वविख्यात भाषाओं में भी प्राप्त नहीं है, अन्य भारतीय भाषाओं का तो कहना ही क्या ? —डा० बाबूराम सक्सेना

'सार्थवाह'

हिन्दी में अपने विषय की यह अद्वितीय पुस्तक है। भारत के सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ लेखक ने भारत और विदेशों के भी प्राचीन साहित्य का गहरा अध्ययन करके हमें अनेक ज्ञातव्य बातें बताई हैं। पुस्तक से हमें मालूम होता है कि प्राचीन काल में किस प्रकार भारतीय 'सार्थ' अनेक कठिनाइयों को भोगते हुए जल-स्थल मार्गों का अतिक्रमण करके दूर दूर तक जाते थे और भारत की संस्कृति का प्रचार करते थे। — पं० रामनरेश त्रिपाठी

'वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा'

इसमें भारतीय आविष्कारों की गौरव-गाथा वैदिक तथा प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाण के साथ प्रतिपादित है। अनेकानेक यन्त्रों के साथ अन्नों, ओषधियों, रसायनों विविध धातुओं, गणित, संगीत शास्त्र आदि के आविष्कारों का भी रोचक अन्वेषण दिया गया है। —प्रो० फूलदेवसहाय वर्मा

'संतकवि दरिया : एक अनुशीलन'

बिहार के निर्गुण संत दरिया साहब के जीवन, दर्शन और साहित्य पर अनुसंधानपूर्ण प्रकाश डाला गया है। यह अध्ययनपूर्ण ग्रन्थ हिन्दी के अनुशीलन-क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण देन है। —'सरस्वती', प्रयाग

'काव्य-मीमांसा'

यह अनुवाद हिन्दी-पाठकों की सीमाओं को देखते हुए किया गया है। मूल इतना सरस और अनुवाद इतना उत्तम है कि एक बार ग्रन्थ खोलने पर मन वहीं विरम जाता है। जहाँ भी साहित्य की ऊँची कक्षाओं की पढ़ाई होती है, वहाँ ऐसे ग्रंथ की एक प्रति अवश्य पहुँचनी चाहिए। —मासिक 'अवन्तिका', पटना

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के तेइस अनमोल ग्रन्थ